UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182841

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—880—5-8-74—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80·1/S71A Accession No. H 3701

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना

हमारे चुने हुए आलोचना-ग्रन्थ

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास	डा० वेंकट शर्मा	२०.००
आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प	डा० कैलाश वाजपेयी	१२.००
गोरखनाथ	डा० रांगेय राघव	८.००
सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य	डा० विमलकुमार जैन	८.००
हिन्दी कविता में युगान्तर	डा० सुधीन्द्र	८.००
आलोचना के सिद्धान्त	व्यौहार राजेन्द्रसिंह	४.००
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी	४.००
प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व	हंसराज रहबर	८.००
प्रसाद: जीवन, कला और कृतित्व	महावीर अधिकारी	८.००
प्रगतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त	७.००
साहित्य की समस्याएँ	शिवदानसिंह चौहान	१०.००
काव्य के रूप	गुलाबराय	५.००
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय	६.००
अध्ययन और आस्वाद (पुरस्कृत)	गुलाबराय	७.००
हिन्दी काव्य विमर्श	गुलाबराय	४.००
मन की बातें (पुरस्कृत)	गुलाबराय	३.५०
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय	८.००
साहित्य समीक्षा	गुलाबराय	२.००
साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	डा० राजेन्द्रप्रसाद	५.५०
भारतीय शिक्षा	डा० राजेन्द्रप्रसाद	३.५०
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति	स्नातक : सुमन	३.५०
आधुनिक हिन्दी साहित्य	स्नातक : सुमन	२.००
साहित्य-विवेचन	सुमन : मल्लिक	७.००
साहित्य विवेचन के सिद्धान्त	सुमन : मल्लिक	३.५०
हिन्दी नाटककार	जयनाथ 'नलिन'	७.००
कहानी और कहानीकार	मोहनलाल जिज्ञासु	४.००
नाटककार उदयशंकर भट्ट	मनोरमा शर्मा	४.००
वैचारिकी	शचीरानी गुर्टू	१०.००
हिन्दी के आलोचक	शचीरानी गुर्टू	८.००
महादेवी वर्मा	शचीरानी गुर्टू	६.५०
सुमित्रानन्दन पन्त	शचीरानी गुर्टू	६.५०
सुमित्रानन्दन पन्त : कला, काव्य और दर्शन	नीरज	३.००
साहित्य के स्वर	उदयशंकर भट्ट	३.५०

आत्माराम एण्ड सांस, दिल्ली-६

आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना

दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

लेखिका
डा० मधुरमालती सिंह
इन्द्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भूमिका
आचार्य विनयमोहन शर्मा

१९६३
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

ADHUNIK HINDI-KAVYA MEN VIRHA-BHAWNA

by

Dr. Madhur Malti Singh

Rs. 15.00

COPYRIGHT © 1963, ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

शाखाएँ
हौज़ खास, नई दिल्ली
माई हीरां गेट, जालन्धर
चौड़ा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
महानगर, लखनऊ-६

मूल्य : पन्द्रह रुपए
प्रथम संस्करण : १९६३

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दल्ली

भूमिका

विरह-भावना की व्याप्ति अपरिमित है, साहित्य-शास्त्र उसे अपनी परिधि में नहीं बाँध सका है, मानव-जीवन की अनेक दशाएँ व्याख्यायित हैं, इसमें संदेह नहीं, पर वह इतना जटिल है—उसकी मानसिक तहें परस्पर इतनी गुम्फित हैं कि उन सबका ज्ञान मानसशास्त्रियों को अद्यापि नहीं हो पाया।

दृश्य जगत् में घटित होने वाले वर्तमान जीवन के विरह का तो मानव अनुभव करता ही है पर रहस्यमय अज्ञात गत-जीवन के विरह की गुप्त अनुभूति भी कभी-कभी मन के किसी पर्दे को स्पन्दित करने लगती है और वह उदास हो उठता है। शाकुन्तल में कालिदास ने इस प्रकार की विरहानुभूति की ओर निम्न श्लोक में इंगित किया है—

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।'

मनुष्य सब प्रकार से सुखी होकर भी क्यों सहसा खिन्न हो उठता है? किस जन्म के संस्कार उसके अचेतन मन को विषण्ण बना देते हैं? कवि कुलगुरु का यह अनुभव ठीक ही प्रतीत होता है कि वर्तमान जीवन में घटित होने वाली कोई घटना हमारे पूर्व जन्म के अनुभूत संस्कार को निश्चय जगा देती है।

श्रीमती मधुरमालतीजी ने अपने प्रस्तुत प्रबन्ध में विरह के प्रत्येक प्रकार का शास्त्रीय विवेचन किया है। मम्मट ने अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप हेतुक विप्रलम्भ का विवेचन किया है। परन्तु विश्वनाथ ने पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण नामक भेद ही स्वीकार किए हैं।

प्रबन्ध का विषय यद्यपि आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना है तो भी लेखिका ने वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी साहित्य का भी मनोयोग पूर्ण मंथन कर उसमें उच्छ्वसित विरह-भावना की विभिन्न दशाओं पर प्रकाश डाला है। और इस प्रकार विषय का शृंखलाबद्ध इतिहास ही प्रस्तुत कर दिया है। यह प्रबन्ध की एक विशेषता कही जा सकती है।

विरह की अवस्थिति शृंगार रस के अन्तर्गत मानी गई है, जो प्राय: आश्र-

नायिका के शारीरिक वियोग का परिणाम होती है। परन्तु विरह की एक दशा और भी है जिसे भक्तों और सन्तों ने अनुभव किया है। वह अशरीरी है और आत्मा से सम्बद्ध है। उनका विश्वास है कि 'आत्मा' अपने 'अंशी' से बिछुड़कर 'शरीर में बँध जाने के कारण व्याकुल होती रहती है और उससे पुनः मिलने के लिए आतुर बनी रहती है। इस आस्था-जन्य अनुभूति में भी लौकिक विरह की प्रत्येक दशा अभिव्यक्त होती है। कवि रवीन्द्र की धारणा रही है कि उनके अन्तर् में कोई विरहिणी नारी है जो अहर्निश अश्रु-मोचन करती रहती है।

आत्मा का विरह शरीर के माध्यम से ही अनुभूत होता है और जब हम सृष्टि के अणु-अणु में अंशी (परमात्म-शक्ति) का ही विलास देखते हैं तब विरह का सशरीर और अशरीर नामक भेद कहाँ रह जाता है? स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व वस्तुतः दो हैं भी नहीं। विज्ञान भी इनके भेद की दीवार को ढाता दिखाई देता है। जयदेव के राधा-माधव के विरहोत्पीड़न की मधुर परिणति भले ही शरीर-मिलन में हुई हो पर भक्तों को उसमें अंश और अंशी का ही एकात्म भाव दृष्टिगोचर हुआ है। इसी को शृंगार का उदात्तीकरण कहा जा सकता है। स्वयं कवि जयदेव कहते हैं—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुर कोमल कान्त पदावलीं शृणु तदाजयदेव सरस्वतीम्।
(यदि हरि-चिन्तन-रस आतुर मन, यदि रति-भाव हुलासे।
तो मधु कोमल कान्त पदावलि सुनौ, स्वर्ग-सुख भासे।)

कवि के शब्दों में उनका गीत गोविन्द लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के रति-भाव को जागृत कर सकता है। भाव विशेष का उद्रेक तो आँख और मन का खेल है। यद्यपि लौकिक जगत् में विरह दुःख रूप है पर साहित्य में उसकी अनुभूति सुखमय ही होती है क्योंकि भावक का उससे व्यक्तिगत लगाव नहीं रहता। यह नहीं कि वह उससे उत्पीड़ित नहीं होता, करुण काव्य को पढ़कर उसकी आँखें नहीं भीगतीं। वह उत्पीड़ित होता है, साश्रु भी होता है। पर उनका पर्यवसान सुख में ही होता है। यहाँ अरस्तु का विरेचन-सिद्धान्त हमारी सहायता करता है। हमारे जीवन का वास्तविक दुःख साहित्य में वर्णित दुःख से उद्बुद्ध हो आँखों के मार्ग से निःसृत हो जाता है। परिणामतः हम सुख अनुभव करने लगते हैं। भारतीय आचार्य धनञ्जय और विश्वनाथ ने भी उचित ही दुःख को सुख रूप माना है।

विदुषी लेखिका ने शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस-विवेचन करने के उपरान्त हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में अभिव्यंजित विरह-भावना का सिंहावलोकन कर आधुनिक हिन्दी कवियों की कृतियों से उन मार्मिक प्रसंगों का चयन और समीक्षण किया है जिनमें विरह का उच्छ्वास है। हरिश्चन्द्र से लेकर धर्मवीर भारती के काव्य में विरह का मानवीय रूप ही अधिक प्रकट हुआ है। छायावादी काव्य में यद्यपि कहीं-कहीं 'रहस्य' की संकेतात्मक झलकियाँ मिलती हैं पर मूलतः उसमें भी स्थूल का स्थूल के प्रति राग ही

रंजित हुआ है, जो लेखिका को भी मान्य है। प्रबन्ध की भाषा और प्रतिपादन शैली क्रमशः विषय के अनुरूप कोमल, ललित और तर्क सम्मत है। इसके प्रकाशन से निश्चय ही हिन्दी के शोध और समीक्षा साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। विप्रलम्भ शृंगार पर प्रथम बार ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अतः लेखिका धन्यवादार्ह है।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

—विनयमोहन शर्मा

प्राक्कथन

साहित्य सृजन के प्रारम्भिक युग से स्त्री-पुरुष के प्रेम के साथ गुंथे हुए मानव-जीवन की विविध स्थितियों का अंकन और विश्लेषण कवियों का विषय रहा है। प्रेम के वर्णन में भी संयोग की अपेक्षा उसके अभाव की वेदना अर्थात् विरहानुभूति के वर्णन में ही उनका मन अधिक रमा है। इसका कारण यह है कि एक तो संघर्षमय मानव-जीवन में मिलन की अपेक्षा वियोग का अवकाश अधिक है, दूसरे वियोग से उद्भूत विरह-भावना मानव-हृदय के कोमलतम अंग को स्पर्श करके उसके व्यक्तित्व को अधिक सजल और संवेदनशील बनाती है।

ऋग्वेद से लेकर आज तक के काव्य में विरह-भावना की अभिव्यक्ति प्रचुर रूप से होती रही है। विरह के मर्म की अनेकरूपिणी परिस्थितियों ने काव्य-रसिक के हृदय को समय-समय पर उद्वेलित-मथित करके उसे मानव-वेदना के अपेक्षाकृत अधिक सन्निकट ला बैठाया है। किन्तु फिर भी उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन का अभाव-सा रहा है। कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमें इस भावना का तारतम्यपूर्ण विवेचन शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक पद्धतियों पर किया गया हो। विविध कवियों की स्फुट आलोचनाओं और शोधप्रबन्धों के अंगोपांगों के रूप में यद्यपि वह उपलब्ध होता है किन्तु उनमें तथ्य-निरूपण पर लेखकों की दृष्टि अधिक केन्द्रित दिखाई पड़ती है, तत्त्व-निरूपण पर नहीं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में काव्यशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक पद्धति पर विरह-भावना के तत्त्व की खोज तथा पुरातन साहित्य की पृष्ठभूमि में आधुनिक काव्य की विरह-भावना के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। विरही जीवन की विविध मनःस्थितियों के शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ विरह-भावना के प्रभाव से विभिन्न कवियों की चिन्तना के दिशामोड़ के अंकन का प्रयत्न भी किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खण्डों के छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में, प्रबन्ध के विषय का सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक निरूपण तथा पृष्ठभूमि के रूप में आलोच्यकाल से पूर्व की विरह-भावना का संक्षिप्त अध्ययन क्रमशः प्रथम और द्वितीय अध्याय में किया गया है। द्वितीय खण्ड के चार अध्यायों में आलोच्य काल की विरह-भावना का अध्ययन-विवेचन है।

भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक होने वाले विभिन्न संस्कृत-काव्य-

शास्त्रियों के शृंगाररस-सम्बन्धी लक्षणों का अध्ययन और विवेचन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत है । इसमें शृंगाररस के विस्तृत और दाम्पत्य रूपों की विवेचना तथा दाम्पत्य-शृंगार का शास्त्रीय अध्ययन है। 'दाम्पत्य-शृंगार' के दो रूपों, संभोग और विप्रलम्भ के अध्ययन और विवेचन के उपरान्त विप्रलम्भ-शृंगार और उसके विभिन्न भेदों से सम्बद्ध शास्त्रीय लक्षणों की विस्तृत व्याख्या करके उनमें विरह-भावना की अवस्थिति का दिग्दर्शन इस अध्याय में किया गया है । इसके पश्चात् विप्रलम्भ की विभिन्न काम-दशाओं का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन है तथा आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विरह-भावना की अवस्थिति की खोज का प्रयत्न भी है ।

द्वितीय अध्याय में वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों की विरह-भावना का संक्षिप्त अध्ययन, विप्रलम्भ के विभिन्न भेदों के अनुसार किया गया है । हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य से लेकर रीतिकाल के काव्य तक की विरह-भावना का संक्षिप्त अध्ययन और विवेचन भी इसके अन्तर्गत है ।

भारतेन्दु काल का विरह-काव्य किन्हीं अर्थों में भी आधुनिकता से प्रभावित न था । रीतिकालीन विरह-काव्य का अवशेष रूप यह काव्य आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों में किसी के अन्तर्गत भी न आ सकता था । अतः उसका विवेचन पृथक् रूप से द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में किया गया है ।

२०वीं शताब्दी के आगमन के साथ पाश्चात्य विचारों और संस्कृति के सम्पर्क से भारतीयों में संस्कृति के पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ हुआ । जहाँ इस काल में एक ओर राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक आन्दोलन हुए, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक क्षेत्र में भारतीय संस्कृत के पुनर्जागरण के हेतु अनेक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए जिनकी परम्परा द्विवेदी-युग से प्रारम्भ होकर अब तक चली आ रही है । मुख्य सांस्कृतिक प्रबन्ध-काव्यों में अभिव्यक्त विरह-भावना का अध्ययन-विवेचन द्वितीय खण्ड के द्वितीय अध्याय में है ।

जहाँ एक ओर सांस्कृतिक प्रबन्ध-काव्यों में समष्टिगत स्तर पर विरहाभिव्यक्ति सम्भव थी, वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक स्तर पर स्व की सुख-दुःखानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का अवकाश इस शताब्दी के प्रारम्भ में न था । अतः प्रवृत्तियों के अन्तर्मुखी होने के कारण छायावादी काव्य का उदय हुआ । छायावादी काव्य के प्रमुख प्रतिनिधि कवियों की विरह-भावना का विवेचन तीसरे अध्याय के अन्तर्गत किया गया है ।

सन् १९३५ ई० के आसपास छायावादी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई । छायावाद-परवर्ती काव्य चिन्तना और शैली के दृष्टिकोण से अनेक वादों में विभाजित है किन्तु वैयक्तिक विरहानुभूति के स्तर पर कोई वर्गगत अथवा वादगत तात्त्विक अन्तर इस काव्य में उपलब्ध नहीं है । अतः रंगीन क्षणवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के अन्तर्गत इस काव्य का विभाजन न करके उनके मुख्य प्रतिनिधि कवियों के काव्य में प्राप्त समस्त विरहानुभूति का विवेचन, छायावाद-परवर्ती हिन्दी-काव्य में विरह-भावना के

नाम से चतुर्थ अध्याय में कर दिया गया है।

विरह-भावना की भावलहरी में डूबकर यदि कुछ उज्ज्वल बहुमूल्य मुक्ताएँ लेखिका को प्राप्त हो सकी हैं तो उनका सम्पूर्ण श्रेय श्रीमती सावित्री सिन्हा और श्रद्धेय महामहिम नगेन्द्रजी को है। श्रीमती सिन्हा, जिनके स्नेहसिक्त वात्सल्यपूर्ण अंचल की छाया में मैंने अबोध बालक की भाँति ही क, ख, ग, घ से प्रारम्भ करके काव्यरसाम्बुधि में अवगाहन करना सीखा और श्रद्धेय नगेन्द्रजी, जिनकी कृपा और नीरक्षीर-विवेचन की सहज-क्षमता का अमूल्य परामर्श मुझे समय-समय पर मिलता रहा। अन्य गुरुजनों के प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे सहायता देने की कृपा की है।

—मधुरमालती सिंह

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—सिद्धान्त-निरूपण और पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय : विरह-भावना : शास्त्रीय विवेचन १

शृंगार रस १

शृंगार आदि रस ७

शृंगार रस (दाम्पत्य अर्थ में) ९

शृंगार से मिलते-जुलते अन्य रस २१

शृंगार रस के भेद २३

शृंगार रस के दो भेद : संभोग और विप्रलम्भ २४

संभोग-शृंगार २४

विप्रलम्भ-शृंगार २८

विप्रलम्भ के प्रकार ३४

(प्रथमानुराग (पूर्वराग) ३४, मान ३७, प्रवास ४२, करुण विप्रलम्भ ४४)

राजा हरिपाल का विप्रलम्भ-सम्बन्धी दृष्टिकोण ४६

काम-दशाएँ ४८

विरह का मनोवैज्ञानिक विवेचन ५४

द्वितीय अध्याय : भारतीय साहित्य में शृंगार और विरह-भावना ६०

वैदिक, बौद्ध, पौराणिक साहित्य में शृंगार की अवस्थिति और विरह ६०

वैदिक साहित्य ६०

बौद्ध साहित्य ६३

पौराणिक साहित्य ६३

संस्कृत-साहित्य में विरह-भावना (संक्षिप्त विवेचन) ६८

(पूर्वराग ६८, मान विप्रलम्भ ७०, प्रवास विप्रलम्भ ७२, करुण विप्रलम्भ ७५)

अपभ्रंश काव्य में विरह-भावना ८४

(पूर्वराग ८५, मान विप्रलम्भ ८५, प्रवास विप्रलम्भ ८७, करुण विप्रलम्भ ९३, परपीड़न ९५, रहस्यवादी विरह-भावना ९६)

अपभ्रंश का विरह-काव्य और प्रकृति ९६
(बारहमासा ९८, अपभ्रंश विरह-काव्य में प्रकृति का अन्य रूप ९९)
प्रारम्भिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना ✓ १००
(पूर्वराग १००, मान विप्रलम्भ १०८, प्रवास १०९, करुण विप्रलम्भ ११९)
भक्ति-काव्य में विरह-भावना (जायसी के काव्य में) १२०
(पूर्वराग १२१, मान विप्रलम्भ १२२, प्रवास १२३, करुण विप्रलम्भ १२७)
अन्य सगुण-निर्गुण काव्य में विरह-भावना १२७
(पूर्वराग १२८, मान १३०, प्रवास १३८, करुण विप्रलम्भ १४१)
रीतिकालीन विरह-काव्य और उसकी पूर्व परम्परा १४४

द्वितीय खण्ड—विषय-विवेचन

प्रथम अध्याय : प्रारम्भिक आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना १५७
आधुनिक युग का प्रारम्भ, युग चेतना और भारतेन्दुयुगीन कविता १५७
आधुनिक युग में उत्तर मध्यकालीन विरह-भावना का अवशेष (भारतेन्दु युग) १६४
(पूर्वराग १६६, मान १७०, प्रवास १७३, करुण विप्रलम्भ अथवा संबध विच्छेद १७८, षट्ऋतु-वर्णन १८०)
द्वितीय अध्याय : सांकृतिक प्रबन्ध-कविता में विरह-भावना १८९
रामनरेश त्रिपाठी २००
हरिऔध २०६
मैथिलीशरण गुप्त २२०
जयशंकर प्रसाद २५७
निराला २६६
डा० बलदेवप्रसाद मिश्र २६९
द्वारकाप्रसाद मिश्र २७५
हरदयालुसिंह २८४
रामानन्द तिवारी शास्त्री २८८
गुरु भक्तसिंह २९४
विरह अथवा विरहाभास २९५
निष्कर्ष ३०२
तृतीय अध्याय : छायावादी काव्य में विरह-भावना ३०२
रहस्य भावना का उद्गम और उसकी भारतीय परम्परा तथा आधुनिक रहस्यवाद ३०६
आधुनिक रहस्यवाद ३१०
रहस्य भावना के विविध संस्थान ३१०

प्रसाद रहस्यवादी विरहानुभूति ३१३
प्रसाद लौकिक विरहानुभूति ३२१
महादेवी की विरहानुभूति ३२७
सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में विरहानुभूति ३४२
निराला के काव्य में विरहानुभूति ३६३
पार्थिव विरह-भावना ३६३
प्रकृति के प्रतीक रूप में व्यक्त हुई विरह-भावना ३६९
निराला के काव्य में रहस्यवादी विरह-भावना ३७२
चतुर्थ अध्याय : छायावाद-परवर्ती हिन्दी-काव्य में विरह-भावना ३७८
बच्चन ३८२
नरेन्द्र शर्मा ३९४
भगवतीचरण वर्मा ४१२
शिवमंगलसिंह 'सुमन' ४१७
अंचल ४२४
अज्ञेय ४३१
गिरिजाकुमार माथुर ४३२
धर्मवीर भारती ४३६
उपसंहार ४५७
ग्रन्थानुक्रमणिका ४६३

उदय (टोनी)

को

जिसके मधुर शैशव के प्रति इस प्रबन्ध का अक्षर-अक्षर कृतज्ञ है। जो माँ के श्रम-सीकरों को अपने छोटे-छोटे हाथों से सहलाकर दुलरा देता था, जिसको गोद में उठाकर वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को भूल हर्ष-विह्वल विस्मृत-सी हो उठती थी···

प्रथम खण्ड

सिद्धान्त-निरूपण और पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय

विरह-भावना : शास्त्रीय विवेचन

'राग' और 'द्वेष' की दो मूल विरोधी वृत्तियों से प्राणीमात्र का जीवन स्पन्दन-युक्त है। इनमें भी 'राग' ही विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही जीवन और उसके आकर्षणों के प्रति आसक्ति का मूल कारण है। 'राग' से प्रेरणा प्राप्त करके प्राणीमात्र और विशेषतः मानव कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इसी से इसको जीवन की मूल प्रवृत्ति कहा गया है। सृष्टि का सर्जना-स्रोत भी 'राग' है। इससे प्रेरित होकर विरोधी-लिंग — नर और मादा, स्त्री और पुरुष परस्पर आकर्षण का अनुभव करते हुए मन और शरीर के एकत्व की अनुभूति करते हैं, प्रजनन की ओर प्रवृत्त होकर वे भावी प्रजा की जीवन-शृंखला को जीवित रखते हैं। स्त्री और पुरुष के परस्पर उन्मुखी भाव में, किसी अवरोध के कारण जब एक पक्ष दूसरे पक्ष की अभाव-पीड़ा का अनुभव करता हुआ उसकी प्राप्ति और प्राप्ति के सुख के लिए विकल हो उठता है तब उसकी वेदना को विरह-भावना के नाम से अभिहित किया जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से विरह-भावना का सम्बन्ध शृंगार रस से है। अतः विरह-भावना की काव्य-शास्त्रीय स्थिति से परिचित होने के लिए शृंगार रस के लक्षणों और उसके विभिन्न भेदों-उपभेदों का विस्तृत विवेचन अनिवार्य है।

शृंगार रस

नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ की ४६वीं कारिका में शृंगार रस का लक्षण भरत ने इस प्रकार किया है—"रति स्थायी भाव से उत्पन्न शृंगार रस उज्ज्वल वेष संयुक्त है। लोक में जो कुछ पवित्र एवं दर्शनीय है, वह शृंगार ही है। जिस प्रकार लोक में परम्परा और रीति के अनुसार व्यक्तियों का नामकरण किया जाता है, उसी प्रकार नाटक में मनोविकारों और भाववृत्तियों का भी होता है। शृंगार रस उज्ज्वल वेष और वातावरण से सम्बन्धित होने के कारण वैसा कहा जाता है। स्त्री और पुरुष इसके हेतु हैं और यह यौवन समृद्धि से सम्बन्धित है।

इसके दो अनुष्ठान हैं—संभोग और विप्रलम्भ। यह अनुकूल वातावरण में प्रिय व्यक्तियों के संसर्ग से उपस्थित होता है। प्रियजनों के साथ उपवन आदि में दर्शन, स्पर्श, श्रवण और क्रीड़ा आदि से इसकी उद्दीप्ति होती है। रंगमंच पर इसे मृदुल कटाक्षों और

अभिनय के साथ उपस्थित करना चाहिए। इसमें उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा—यह चार संचारी नहीं होते। विप्रलम्भ में निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, सुप्ति, स्वप्न, विव्वोक (संभ्रम जाग जाना), व्याधि, उन्माद, जड़ता (मूर्छा), मरण आदि अवस्थाएँ आती हैं।

इसके आगे ही भरत ने विप्रलम्भ और करुण रस के अन्तर को स्पष्ट किया है। करुण रस में शाप के कारण इष्ट जन, वैभव आदि के नाश से वियोग का जो दुःख उत्पन्न होता है, उसमें आशा नही रहती, निरपेक्ष भाव होता है। किन्तु वियोगजन्य दुःख में प्रेमी को मिलने की आशा बँधी रहती है। अतः विप्रलम्भ करुण रस से भिन्न है, वह सापेक्ष है।[1]

भरत के शृंगार रस सम्बन्धी लक्षणों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

स्थायी भाव—(हृदय में वासना रूप से स्थित भाव) रति।

आलम्बन विभाव—(जिनके सहारे भाव प्रकट होता है) यौवन-समृद्ध स्त्री-पुरुष (स्त्रीपुंसहेतुक उत्तम युवति प्रकृतिः) अर्थात् नायक नायिका।

उद्दीपन विभाव—भाव को रस कोटि तक पहुँचाने में सहायक, उसको उद्दीप्त करनेवाले गुण—ऋतु, उपवन और प्रियजन का श्रवण, दर्शन आदि हैं अर्थात् शृंगार रस के उद्दीपन विभाव प्राकृतिक भी हो सकते हैं और मानवी भी।

अनुभाव—(भाव के अनुकर्म) भ्रू निक्षेप, कटाक्ष आदि जो नायक-नायिका में परस्पर दर्शन-स्पर्श आदि से मृदुल अभिनय के द्वारा रंगमंच पर प्रकट होते हैं। यह अनन्त हो सकते हैं।

संचारी भाव—(भाव के रस कोटि तक पहुँचने की अवधि में समय-समय पर उठने-

---

१. (तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृंगारवानित्युच्यते) यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नायाप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धा ह्युज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृंगारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च) तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालंकारेष्टजन विषयवरभवनोपभोगोपवन-गमनानुभवन श्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

तस्य नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसंचार ललितमधुराङ्गहार वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशंकासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रा स्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मार जाड्य मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः।

... ...

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः।

भरत—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, कारिका ४६।

गिरने वाले अनेक भाव, जो स्थायी भाव को पुष्ट बनाकर रस कोटि तक पहुँचाते हैं)।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति कहा गया है। नाट्यशास्त्र के 'सामान्याभिनय' नामक अध्याय में शृंगार रस के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए भरत ने काम-शृंगार की व्याख्या की है और उसका ही स्थायी भाव रति बताया है—"स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले काम को काम-काम अथवा काम-शृंगार कहा जाता है। यह स्त्री-पुरुष के संयोग में रति का संयोग उत्पन्न कराता है।"[1]

दाम्पत्य भाव में होने वाले इस शृंगार के अतिरिक्त भरत ने शृंगार के एक और व्यापक रूप की ओर भी संकेत किया है; जिसमें उन्होंने जीवन के चारों पुरुषार्थों की पूर्ति का समन्वित होना कहा है—"पृथक्-पृथक् कर्मों के योग से विधिज्ञों द्वारा विधिपूर्वक किया गया शृंगार धर्म, अर्थ और काम के कारण तीन प्रकार का है। जब धर्म में प्रार्थित मात्र हित (Longed for object) साधना द्वारा प्राप्त हो जाता है तो वह धर्म शृंगार है; जो नियम तप आदि से पूर्ण है।

जब अर्थ की (बहुधा) इच्छा से शृंगार होता है तो उसे अर्थ शृंगार कहते हैं।

स्त्री संयोग जन्य विषय में अभिरति को काम-शृंगार करते है। वह केवल कल्पना में भी हो सकती है। कन्या को आकृष्ट करना अथवा प्राप्त करना; अथवा स्त्री-पुरुषों का शृंगार या एकान्त मिलन अथवा आवेग काम-शृंगार कहलाता है।"[2]

यह स्पष्ट है कि यहाँ भरत ने शृंगार को बहुत व्यापक अर्थ में लिया है। शृंगार का स्थायी भाव 'रति' कहा जाता है। शास्त्रों मे 'रति' की व्याख्या इस प्रकार है—'रति मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' अर्थात् मनोनुकूल वस्तु में सुख-प्राप्ति का ज्ञान ही रति है। यह मनोनुकूल वस्तु जीवन के किसी भी क्षेत्र की हो सकती है; वह जीवन के चारों पुरुषार्थों में से किसी से भी सम्बन्धित हो सकती है। धर्म, अर्थ और काम के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति की इच्छा भी शृंगार का ही एक रूप है। वहाँ मोक्ष मनोनुकूल वस्तु है और

---

१. स्त्री पुंसयोस्तु संयोगः यः स तु काम इति संस्मृतः ॥६६॥
यः स्त्रीपुरुषसंयोगो रति संभोगो कारकः।
स शृंगार इति ज्ञेय उपचार कृतः शुभः ॥६८॥
भरत—नाट्यशास्त्र सामान्याभिनय अध्याय २२।

२. त्रिविधाश्चात्र विधिज्ञैः पृथक् पृथक् कार्ययोग विहितार्थः।
त्रिविधकृतःशृंगारो ज्ञेयो धर्मार्थकामकृतः ॥७२॥
यत्र तु धर्मेप्रार्थितमात्महितं भवति साधितं बहुधा।
प्रातिनियमतपोयुक्त ज्ञेयोऽसौ धर्मशृंगारः ॥७३॥
अर्थस्येच्छायोगात् बहुधा चैवार्थतोऽर्थशृंगारः।
स्त्रीसंप्रयोगविषयेष्वर्थार्थमपीष्यते हि रतिः ॥७४॥
कन्याविलोभनंकृतं प्राप्तं स्त्री पुंसयोस्तु रम्यं वा।
निभृतं सावेगं वा जानीयात् कामशृंगारः ॥७५॥
भरत—नाट्यशास्त्र, अध्याय १८।

उसकी प्राप्ति के प्रति रति विद्यमान रहती है। इसीलिए भरत ने कहा भी है—"धर्म-कामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।" (नाट्यशास्त्र सामान्याभिनय, अध्याय २२. कारिका ६१)।

इस व्यापक अर्थ में शृंगार को आत्मतुष्टि का पर्याय समझना चाहिए।

शृंगार का मूल तत्त्व काम है, रति को कामदेव की पत्नी कहा गया है। काम और रति के संयोग से ही शृंगार उत्पन्न होता है। भरत ने कहा है कि प्रायः सभी भावों की उत्पत्ति काम से होती है—"प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।" इस रूप में काम स्वयं जीवनेच्छा ही है। उससे ही विभिन्न भाव अस्तित्व में आते है।

काम के इस व्यापक अर्थ का उल्लेख हमें अन्य आप्त ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। वृहदारण्यक के अनुसार, "पुरुष काममय ही है।"[१] मनु कहते हैं—"इस संसार में कहीं भी अकामता नहीं है। व्यक्ति जो कुछ करता है, वह काम की ही चेष्टा होती है। कोई भी क्रिया कहीं भी अकाम नहीं देखी जाती।"[२] शिवपुराण के अनुसार, "जो आनन्द अमृत और दिव्य है, उसीको परब्रह्म कहते हैं और परमात्मा भी कहते हैं। उसी के विकार को काम कहते हैं।"[३] अर्थात् ब्रह्म का विकार अथवा जगत् काम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

हम देखते भी हैं कि जगत् के समस्त कार्य व्यापार प्राणी की जीवनेच्छा पर ही अवलम्बित हैं। आधुनिक समय में 'प्रसाद' ने इस भाव को अपने कवित्वमय शब्दों में व्यक्त किया है :

"मैं काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था;
हँसता था और हँसाता था
उनका मैं *कृतिमय जीवन* था।"[४]

'कृतिमय जीवन' अर्थात् समस्त कार्यों की प्रेरणा।

तथा—

"जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही;

---

१. काममय एवायं पुरुषः —वृहदारण्यक।

२. न चैवेहास्त्यकामता। मनुस्मृति —अध्याय २/२।
यद्यद्धि कुरूते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।
मनुस्मृति—अध्याय १/४।
अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कार्हिचित्॥
मनुस्मृति—अध्याय २/४।

३. आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः कामसंज्ञिकाः॥
शिवपुराण, धर्मसंहिता ८।

४. कामायनी, काम सर्ग, पृष्ठ संख्या ७१, अष्टम् संस्करण।

अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अन्तर में उसकी चाह रही।"[1]

'रति जीवन-आकर्षण है, वह अव्यक्त प्रकृति (पुरुष) को नामरूपात्मक जगत् के रूप में प्रकट करती है।' जो भी कुछ काम हम संसार में करते हैं, वह किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए। अतः रति सर्वत्र ही व्याप्त है।

महाभारत में काम की मुमुक्षु पर विजय प्राप्ति की योग्यता में बड़ा सुन्दर श्लोक कहा गया है। काम मुमुक्षु पर अपनी विजय घोषित करता हुआ कहता है—

"जो मोक्ष इच्छुक पण्डित मोक्ष-प्राप्ति में ध्यान लगाकर मुझको नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, उनमें भी मैं मोक्ष रति के रूप में स्थित रहकर नृत्य करता हूँ और हँसता हूँ। अथवा मोक्षकामी उस व्यक्ति को मैं नचाता हूँ और उसका उपहास कराता हूँ।"[2]

कामसूत्र के मंगल श्लोक में भी काम को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब प्रकार का बताया गया है—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सभी प्रकार के कामों को मैं नमस्कार करता हूँ।"[3]

भगवद्गीता में भी धर्म-अर्थ आदि कामों की ओर संकेत है—"जिसका भजन करते हुए धर्म, अर्थ और कामों की इच्छा करने वाले लोग अभीष्ट गति को प्राप्त करते हैं।"[4]

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

"काम कुसुमधनुसायक लीन्हे, सकल भुवन अपने बस कीन्हें।
मोह न अन्ध कीन्ह कहि केही, को जग काम नचाव न जेही॥"[5]

अर्थात् इच्छा व्यक्ति को मनमाना नाच नचाती है। विश्व पूर्ण रूप से काम के वश में है। संसार का कोई भी कार्य-व्यापार काम की स्थिति के बिना सम्भव नहीं है।

शृंगार की इस व्यापक अर्थ में व्याख्या महाराज भोज की शृंगार विषयक विवेचना में अपने पूर्ण प्रकर्ष को पहुँच गई थी। महाराज भोज के अनुसार—"अहं भाव के आत्मस्थित गुण विशेष को शृंगार कहते हैं। उसका ही आत्मशक्ति की रसनीयता के कारण रसत्व है। अर्थात् आत्मा का अहं भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है। इसीके कारण रसिक

---

१. कामायनी, काम सर्ग, पृष्ठ संख्या ७२।

२. यो मां प्रयत्ते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः
तस्यमोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
—महाभारत, अश्वमेध पर्व, अध्याय १३।

३. नमोधर्मार्थकामेभ्य तत्कामेभ्यो नमोनमः।
.....त्रिवर्ग मोक्ष कामेभ्यः॥
—जयमंगल का मंगल श्लोक, कामसूत्र।

४. यं धर्मार्थविमुक्तिकामाः भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
—भगवद्गीता

५. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा २५६, चौपाई १ (गीता प्रेस, गोरखपुर : आठवाँ संस्करण)।

शब्द का प्रयोग भी है।"[1]

इस प्रकार भोज के अनुसार शृंगार अहंकार का पर्याय है। अहंकार मानवीय आत्मा में बीज रूप से स्थित वह गुण विशेष है, जिसके कारण अनेक प्रकार के भावों का उदय मानव हृदय में होता है अर्थात् रत्यादि भावों की उत्पत्ति मानवीय आत्मा में स्थित अहंकार-तत्त्व के कारण होती है। यह अहकार तत्त्व क्या है ? भोज के अनुसार यह आत्मा का अन्तिम सत्य है। यही रस है जिसमे आत्मा को चरम आनन्द की उपलब्धि होती है। वह आत्मा का अपने प्रति प्रेम है। इसे आत्मारक्ति अथवा आत्मकाम भी कह सकते हैं।

अपने प्रति प्रेम के कारण ही आत्मा अपने अहं की संतुष्टि के लिए अनेक भाव-क्षेत्रों में विचरण करती है। अहं के वाह्य-जगत् के सम्पर्क में आने से हृदय में अनेक भावों का उदय होता है और उन भावों का आनन्द आत्मा अपनी अहं की शक्ति के द्वारा लूटती है, उसके कारण ही उसे दुःखमय अनुभव भी सुखमय प्रतीत होने लगते हैं। दुःखमय अनुभवों का सुखमय रूप में प्रकट होना इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है कि रस आत्मा में ही रहता है वस्तु अथवा अनुभव मे नहीं।

मानव आत्मा में अहं भाव की स्थिति व्यक्ति की आत्मिक, मानसिक और चारित्रिक उन्नति की द्योतक होती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति रसिक अथवा सहृदय नहीं होता। जिस व्यक्ति में सस्कारों के कारण अहं की चेतना जागृत रहती है, रस का अनुभव उसी व्यक्ति को होता है। समस्त भावक्षेत्र को यह अहंकार रस अपनी परिधि में ले लेता है, क्योंकि भावोत्पत्ति के पूर्व भी आत्मा में यही एक अहं की चेतना रहती है और समस्त भावों के पूर्ण प्रकर्ष की स्थिति में भी वही एक आनन्दमयी चेतना अवशिष्ट रह जाती है।

भोज का शृंगार स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला दाम्पत्य शृंगार ही नहीं है। वह आत्मा के चेतनतत्त्व अह के वाह्य जगत के सम्पर्क से उत्पन्न हुए सभी प्रकार के भाव-प्रकर्षों का प्रतिनिधित्व करता है। वह मानवोचित पूर्णता के शृंग पर मानव को पहुँचाता है, उसके चरम आनन्द की स्थिति भी वही है। इसी से उसको शृंगार कहते हैं। 'येन शृगं रीयते स शृंगारः।' अतः रत्यादि स्थायी भावों से उत्पन्न होने वाले अनेक रस इसके अंग है और यह उन सबका अगी है।

भागवत में भी कहा है—"हे राजन अपनी आत्मा ही सब प्राणियों को सबसे अधिक प्रिय होती है। अपने प्रति प्रेम के कारण ही प्राणी को सन्तान और धन आदि भी प्रिय

---

१. (आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः
तस्यात्मशक्तिरसनीयतथारसत्वं
युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः ॥३॥)

—भोज कृत शृंगारप्रकाश, प्रथम प्रकाश।

होते हैं।"[1]

यह अहंकार तत्त्व शृंगार केवल इसलिए ही नहीं कहलाता कि यह प्राणी को पूर्णता के शृंग पर पहुँचा देता है बल्कि इसलिए भी इसको शृंगार कहते हैं, क्योंकि यह ही अन्तिम रति है, जो प्राणी के अपने प्रति प्रेम के कारण अन्य विषयों के प्रति भी उसके राग का कारण बनती है। वह आत्मयोनि अर्थात् काम का स्वयं जीवन ही है। काम से हमारा यहाँ तात्पर्य स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण से उत्पन्न होने वाला काम नहीं है। वरन् जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया है, काम स्वयं जीवनेच्छा है जिसके द्वारा प्राणी का प्रत्येक कार्य जीवन की स्फूर्ति पाता है तथा जीवन के विभिन्न अनुभवों में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अनेक रसों का अनुभव करता है।

शृंगार आदि रस

शृंगार रस को इस व्यापक रूप में समझ लेने के पश्चात् हम निश्चयात्मक रूप से आचार्यों के उस विचार को पूर्णतः स्पष्ट समझ पाते हैं कि शृंगार ही प्रथम रस है। रस उत्पत्ति के विषय में अग्निपुराण में लिखा है—

"अक्षर, अज सनातन विभु या सहज आनन्द कभी-कभी प्रकट हो जाता है, यह अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कार और रसमयी होती है। उसके आदि विकार को अहंकार कहते हैं। उसके अहं भाव से अभिमान का प्रादुर्भाव हुआ जो भुवन में व्याप्त है। अहं भाव संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई, इसी रति से शृंगार का जन्म हुआ।"[2]

आत्मा के अहंकार तत्त्व से अहं भाव और अभिमान की उत्पत्ति तथा इन दोनों के संकलित होने से राग तत्त्व की उत्पत्ति होने के भाव की पुष्टि हमें पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की राग तत्त्व सम्बन्धी खोजों से भी मिल जाती है। फ्रायड के मतानुसार आत्मा का अहं तत्त्व दो रूपों में प्रकट होता है। अह तत्त्व से हमारा अभिप्राय absolute love या

---

१. सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः
इतरेऽपत्यवित्ताद्याः तद्वल्लभतयैव हि।
—भागवत।

२. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्,
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते सद्वदाव्यन,
व्यक्तिः सातस्यचैतन्य चमत्कार रसाह्या,
आधस्तस्य विकारो यः सोहंकार इति स्मृतः,
ततोभिमानस्तत्रेदं समासं भुवन्नयम्,
अभिमानाद्रति सा चपरिपोषमुयेयिपु,
रागाद्भवति शृंगारो रौद्रस्तेण मान् अजायते,
वीरोवष्टम्भजः संकोचभूर्वो भत्स इष्यते,
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रातु करुणो रसः
वीराच्यादद्भतनिष्पत्तिः स्याद्वीभत्साद्भयानकः।

फ्रायडियन भाषा के libido से है। यह libido दो रूपों में विभाजित होता है—१. Subject libido अथवा Ego libido अथवा Interned libido, (२) Object libido। Subject libido अथवा Interned libido में आत्मा का प्रेम अपने तक ही सीमित होता है, यही हमारे रसशास्त्रियों का अहं भाव है। अपने प्रति इस अहं भाव के कारण आत्मा जब अपनी संतुष्टि के लिए बाह्य जगत की ओर उन्मुख होकर उसके विषयों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है तो मनोवैज्ञानिक उसे Object libido कहते हैं और रसशास्त्री अभिमान। Interned libido और Object libido अथवा अहं भाव और अभिमान के संकलित होने से राग तत्त्व या Love उत्पन्न होता है। अर्थात् राग में दो बातें अपेक्षित रहती हैं—(१) आत्मा का अपने ही प्रति प्रेम जहाँ स्वार्थ ही प्रबल रहता है अहंभाव, (२) अभिमान, जब वह अपने 'स्वार्थ' की संतुष्टि के लिए उसे स्वकीयार्थ तक विस्तृत कर देती है। जीवनेच्छा अथवा शृंगार के लिए अहं भाव और अभिमान दोनों ही तत्त्वों का विद्यमान रहना अनिवार्य है।

इस रति में तीक्ष्णता उत्पन्न होने से रौद्र की, गर्व से वीर की, संकोच से वीभत्स की सृष्टि हुई। फिर शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत और वीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ।

रति की परिभाषा शास्त्रों में पहले हमने इस प्रकार देखी थी—'रति मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' अर्थात् मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति का ज्ञान ही रति है। इस सुख प्राप्ति में बाधा उपस्थित होने पर जब अहं भाव उस बाधा को दूर करने के लिए उत्तेजित होता है तो रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। यदि बाधा प्रबल है तो मन कभी-कभी उससे दूर जाने का प्रयत्न करता है। उससे संकोच में वीभत्स की और यदि बाधा पर प्रयत्न विजयी हो जाता है अथवा रौद्र की सहायता से विजयी होने का प्रयत्न करता है तो वीर रस की उत्पत्ति होती है। बाद को इन चार रसों—शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स से ही हास्य, अद्‌भुत, करुण और भयानक रसों का क्रमशः आविर्भाव हुआ।

भारतीय शास्त्रों में काम की व्यापकता का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। अथर्ववेद में लिखा है—"हे काम तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ। कोई भी तुझसे नहीं बचा। तू विश्व में व्यापक व महान् है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।"[१]

शृंगार को इस व्यापक अर्थ में ग्रहण करके भोज ने मानव के 'कृतिमय जीवन' काम का अस्तित्व बहुत स्पष्ट कर दिया। मानव आत्मा में स्थित यह अहंकार अथवा

---

१. कामो जज्ञे प्रथम नैनं देवा,
आयुः पितरो न मर्त्या।
तत्त्वमसि ज्यायानं विश्वाहा महांस्ते।
काम नमः इति करोमि॥

—अथर्ववेद, ९, २, १९

शृंगार रस किन-किन दिशाओं में मनुष्य को क्रियाशील बनाता है, इस विषय का विवेचन भी भोज ने किया है। पूर्वोक्त आचार्यों के समान भोज भी जीवन के चार पुरुषार्थों के अनुकूल चार प्रकार के शृंगारों का अस्तित्व बताते हैं—धर्मेच्छा, अर्थेच्छा, कामेच्छा और मोक्षेच्छा। स्त्री-पुरुष की परस्पर रमणेच्छा से उत्पन्न शृंगार को भोज काम-शृंगार कहते हैं—"विभाव अनुभाव व संचारी के संयोग से रति स्थायी भाव प्रकर्ष को प्राप्त होकर काम-शृंगार के नाम को प्राप्त होता है।"[१]

भोज के परवर्ती आचार्यों में शारदातनय ने ही शृंगार को उसके व्यापक अर्थ में ग्रहण किया। भावप्रकाश के द्वितीय अधिकार में शृंगार की व्याख्या करते हुए शारदातनय कहते हैं—"बाह्यार्थ अवलम्बन वाला मन रजोगुण निष्ठ होकर जब साहंकार होता है तो उसके विकार को शृंगार कहते हैं।"[२]

इस परिभाषा का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—अहंकार मन में आवश्यक रूप से स्थित रहता है, मन के अहं का दूसरा गुण यह है कि वह बाह्य संसार में अवलम्बन खोजता है। इस अवलम्बन की खोज में जब वह रजोगुण से सन्निविष्ट होता है अर्थात् भाव, विभाव और व्यभिचारी भाव से समन्वित होता है तो उसके उस विकार को शृंगार कहा जाता है।

शारदातनय की परिभाषा में भोज का ही आधार है, उसमें कोई मौलिकता नहीं है। यह उसके विश्लेषण से स्पष्ट ही है। शारदातनय ने इतना और स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि मन बाह्यार्थ अवलम्बन वाला है, अर्थात् मन अपने अहं की संतुष्टि बाह्य संसार में ढूंढ़ा करता है।

शारदातनय के पश्चात् शृंगार की इस अर्थ में कोई उल्लेखनीय व्याख्या नहीं हुई। यद्यपि अहं की संतुष्टि ही शृंगार का पर्याय है, यह गौण रूप से सभी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। शृंगार को रसराज बताया गया, उसके अन्तर्गत और रसों का समाहित होना भी कहा गया किन्तु शृंगार को उसके काम-शृंगार (दाम्पत्य) अर्थ में ही ग्रहण किया गया और उसकी ही विशद विवेचनाएँ हमारे यहाँ के संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने प्रस्तुत कीं।

शृंगार रस (दाम्पत्य अर्थ में)

शृंगार के जिस दाम्पत्य अर्थ की भरत ने व्याख्या की थी, वही उनके परवर्ती

---

१. विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् (वि) प्रकर्षमापद्यमानः प्रधान···
(भा) वो रतिर्नाम कामशृंगाराख्या लभते।
—शृंगारप्रकाश, पृ० १३३, प्रति ४, अध्याय ३२।

२. बाह्यार्थलम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात्।
साहंकारद्विकारो यः स शृंगार उदीरितः॥
—भाव प्रकाश, पृष्ठ ४७, पंक्ति १३, १४
गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, द्वितीयो अधिकारः।

सभी आचार्यों को भी मान्य हुआ। "स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले काम को काम-काम या काम-शृंगार कहा जाता है। यह स्त्री-पुरुष के संयोग में रति का संयोग उत्पन्न करने वाला है।"[१]

अर्थात् स्त्री और पुरुष का परस्पर उन्मुखी भाव रति है। वही प्रकर्ष को प्राप्त होकर शृंगार रस के नाम से अभिहित होता है।

रति की परिभाषा काव्य-शास्त्रियों ने इस प्रकार की है—"मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति का ज्ञान ही रति है।" अतः अपने संकुचित अर्थ में स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को अनुकूल समझकर जब परस्पर सुख प्राप्त करने की आशा में प्रयत्नशील होते हैं तो उनके उस भाव को 'रति' कहा जाता है।

भरत के बाद सस्कृत काव्य-शास्त्रियों में सबसे प्रथम नाम भामह का है। भामह मूलतः अलंकारवादी हैं। उन्होंने रस का विवेचन नही किया, केवल रसवदालकार को माना है और रसवदालंकार की व्याख्या करते हुए ही उन्होंने 'शृंगार रस' केवल इस नाम का उल्लेख किया है—"जहाँ शृंगारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते है, वहाँ रसवद् अलंकार होता है।"[२]

विभिन्न रसों के अग-प्रत्यंगों का विवेचन भामह ने नही किया।

प्रेय अलंकार का विवेचन करते हुए भामह ने उसके उदाहरण में विदुर के कृष्ण के प्रति इन वचनों को रखा है—"हे गोविन्द ! मेरे यहाँ आपके आने से जो प्रीति हुई है, वही समय व्यतीत होने पर, आपके पुनः पदार्पण पर फिर भी वैसी ही होगी।"[३]

भामह के पश्चात् दण्डिन ने अपने 'काव्यादर्श' में विदुर की कृष्ण के प्रति इसी उक्ति को देने के पश्चात् वासवदत्ता को पुनः जीवित पाने पर उदयन की हर्षसंयुक्त उक्ति का उल्लेख किया है और उसको रसवद् माना है। उसका विवेचन उन्होने इस प्रकार किया है—"पहले जो प्रीति दिखाई गई थी वही रति, रूप बाहुल्य के योग से जब शृंगारता को प्राप्त होती है तो उसे रसवद् अलंकार कहते हैं।"[४]

---

१. स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगः यः स तु काम इति संस्मृतः ॥१६॥
यः स्त्रीपुरुषसयोगो रतिसंयोगकारकः
स शृंगार इति ज्ञेय उपचारकृतः शुभः ॥१८॥
भरत—नाट्यशास्त्र, सामान्याभिनय अध्याय २२

२. रसवद् दर्शितस्पष्ट शृंगारादि रसं यथा ॥६॥
—काव्यालकार, परिच्छेद ३, काशी संस्कृत सीरीज, अलंकार विभाग।

३. अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥५॥
—काव्यालंकार, परिच्छेद ३, काशी सस्कृत सीरीज, अलंकार विभाग।

४. प्राक् प्रीतिदर्शिता सेयं रति शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥२८१॥
—काव्यादर्श, सम्पादक पं० रंगाचार्य रेड्डी, परिच्छेद २, गवर्नमेंट ओरिएण्टल सीरीज।

भामह ने प्रेय का लक्षण इस प्रकार दिया था—"एक वाक्य में सौजन्य से अधिक आत्मीयता हो तो उसको प्रेय कहा जाएगा।" अर्थात् सामान्य सौजन्य से अधिक आत्मीयता प्रेय का लक्षण है।

दण्डिन ने कहा कि यद्यपि प्रेय शृंगार के बहुत समीप पड़ता है, किन्तु फिर भी शृंगार प्रेय से भिन्न है, क्योंकि जहाँ प्रेय का स्थायी भाव प्रीति है, वहाँ शृंगार का स्थायी भाव रति है।

प्रीति और रति के अन्तर को दण्डिन ने स्पष्ट नहीं किया, केवल उदाहरण द्वारा यह बता दिया कि प्रीति में आत्मीयता किसी भी प्रिय व्यक्ति के प्रति हो सकती है और रति में वह आत्मीयता अपनी पत्नी के प्रति होगी।

प्रीति और रति के इस अन्तर को बहुत बाद में शारदातनय ने स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि "प्रीति प्रियात्मिका होती है और रति इच्छात्मिका।"[1] अर्थात् प्रीति का प्राण प्रिय है और रति का प्राण इच्छा। एक में प्रियहित कामना ही प्रधान रहती है और दूसरे में इच्छा (वासना) भी सम्मिलित रहती है।

शारदातनय के प्रीति और रति सम्बन्धी विवेचन की पुष्टि, दण्डी के उदाहरणों से हो जाती है। विदुर के कृष्ण के प्रति भाव में किसी प्रकार की वासना नहीं है, किन्तु उदयन के वासवदत्ता के प्रति भाव में वासना विद्यमान है। कहने का तात्पर्य यह है कि रति स्त्री-पुरुष की परस्पर आत्मीयता में ही केवल मिल सकती है और इसमें वासना मूल रूप से स्थित रहती है। स्त्री और पुरुष की परस्पर रति भावना से शृंगार का जन्म होता है।

'उद्भट' ने शृंगार विषयक कोई विवेचन नहीं किया केवल रसवद् अलंकार की परिभाषा करते हुए शृंगार रस नाम का उल्लेखमात्र किया है।

भरत के परवर्ती इन अलंकारवादी आचार्यों में 'रुद्रट' ही सबसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने शृंगार रस का विशद् विवेचन अपने ग्रंथ में किया। 'काव्यालंकार' के १२वें अध्याय में वह कहते है कि आचार्यों ने मधुरादि को उनकी रसनीयता के कारण रस कहा है—

(रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ॥४॥)

—काव्यालंकार

शृंगार का लक्षण देते हुए रुद्रट कहते है—"पुरुष और नारी के रक्त सम्बन्धी रति व्यवहार को शृंगार कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है संभोग और विप्रलम्भ।"[2]

---

१. प्रीतिः प्रियात्मा प्रायेण रतिरिच्छात्मिकैव हि।

—भावप्रकाश, पृष्ठ ३४, द्वितीय अधिकार, १७वीं पंक्ति, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़

२. (व्यवहारः पुंनार्योरन्योरन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः।
शृंगारः स द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥५॥)

—काव्यालंकारः रुद्रट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १२वां अध्याय।
सम्पादक—पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री

कारिका में आए हुए 'रक्तयो' शब्द को दो रूपों में लिया जा सकता है—एक तो साधारण आसक्ति के अर्थ में, दूसरा रक्तयो का अर्थ रक्त सम्बन्धी व्यवहार अर्थात् 'यौन तृप्ति' भी हो सकता है। और तब इस परिभाषा का यह अर्थ हो जाता है कि स्त्री और पुरुष के आकर्षण में जब 'यौन तृप्ति' को भी स्थान प्राप्त होता है तो वह शृंगार कहलाती है। 'यौन तृप्ति' पति-पत्नी सम्बन्ध में ही होती है अतः इसी सम्बन्ध में शृंगार रस होता है।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धनाचार्य ने भी शृंगार का कोई अलग विवेचन नहीं किया। केवल द्वितीय उल्लास की १०वीं कारिका में इतना कहा है कि—"विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस में माधुर्य उत्कर्षयुक्त होता है, क्योंकि उसमें मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त होता है।"[1]

आनन्दवर्धनाचार्य के बाद शृंगार-विषयक विवेचन-कर्ता आचार्यों में महाराज भोज का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। भोज ने जहाँ एक ओर शृंगार की परिभाषा को अत्यन्त विस्तृत कर दिया, आत्मा के अहंकार गुण विशेष को शृंगार बतलाया वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा दिये गए दाम्पत्य शृंगार के लक्षण में भी महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन किया।

भोज से पहले के प्रायः सभी आचार्यों का दृष्टिकोण इस विषय में स्थूल शरीर-वादी रहा था। यौवन समृद्ध स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण और उसके द्वारा नैसर्गिक यौन भूख की तृप्ति, यही उनकी शृंगार सम्बन्धी परिभाषाओं का निष्कर्ष है। भोज ने कहा कि मूल रूप से रति और प्रीति में कोई अन्तर नहीं है। प्रीति की भांति रति की मूल प्रकृति भी प्रेयस ही है—वह स्नेह का तन्तु ही प्राणियों के हृदय में बसकर उनको परस्पर सयुक्त करता है। वह अहेतु पक्षपात है जिससे उसकी प्रतिक्रिया होनी आवश्यक नहीं है।[2] अर्थात् मूलभाव के रहते हुए उसका प्रतिकार असम्भव है। प्रतिकार होना असम्भव है यह कहकर भोज इस बात को सिद्ध कर देते हैं कि इस अहेतु पक्षपात रति को किसी भांति मिटाया या कम नहीं किया जा सकता।

भोज द्वारा 'उत्तर रामचरित' का उद्धृत श्लोक दो व्यक्तियों में परस्पर एक दूसरे को देखकर अकारण ही आकर्षण उत्पन्न होने के भाव को प्रकट करता है। भोज इस ओर भी संकेत कर देते है कि यदि यह आकर्षण केवल एक व्यक्ति के मनमें दूसरे के प्रति उत्पन्न हुआ है और यद्यपि उसका कोई भी प्रतिदान दूसरी ओर से उसे प्राप्त नहीं है तो

---

१. शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्य्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥१५/८॥
—ध्वन्यालोक, द्वितीय उल्लास।

२. रतिप्रीत्योरपि चायमेव मूलप्रकृतिरिष्यते। यदिथमाहुः—
'अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ॥
उत्तर रामचरित से—राघवन द्वारा 'नम्बर आफ़ रसाज़' पृष्ठ १२१ पर उद्धृत।

भी अपने आकर्षण की तन्मयता में उसके मन की रति (मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति की इच्छा) शृंगार रस का स्थायी भाव बन सकती है, क्योंकि रति 'अहेतु पक्षपात' है और 'यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।' अतः शृंगार में जिस एकांगी भाव को भोज के पूर्ववर्ती आचार्य अनुचित मानकर 'रसाभास' के अन्तर्गत लेते उसको भी भोज ने रति का मूल तत्त्व मान लिया।

भोज से पहले अभिनव गुप्त ने भी 'अभिनव भारती' में रति के मूल में स्नेहभाव की ही अवस्थिति मानी थी।

अतः भोज ने 'रतिमुभय प्रार्थनाकुरूते' का खण्डन किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रियाः।' अर्थात् 'रति अपनी पुष्टि दोनों पक्षोंके द्वारा चाहती है' इसके स्थान पर 'दूसरे पक्ष के द्वारा रति का प्रतिदान आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक बार हृदय में रति भाव उत्पन्न हो जाने पर उसका प्रतिकार असम्भव है; इस भाव की पुष्टि की। यदि रति की पुष्टि में आकर्षण उभयपक्षीय है तो भी कोई बाधा नहीं है किन्तु यदि वह एकपक्षीय ही है तब भी वह उभयपक्षीय आकर्षण से किसी भाँति निम्नतर नहीं है। बल्कि यदि वह एक व्यक्ति में ही रहकर पुष्ट होती है तब तो उसकी उत्कटता और भी अधिक प्रशंसनीय है। ऐसी दशा में वह 'रस' न होकर 'रसाभास' कैसे हो सकती है? भोज के अनुसार एकांगी भाव का प्रेम भी 'रसाभास' नहीं है।

भोज ने शृंगार विषयक विवेचन में उपर्युक्त भाव को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके संसार के समस्त शृंगार साहित्य को बहुत बड़ा योगदान किया है अन्यथा फारस के अमर प्रेमी फ़रहाद का प्रेमभाव सहृदयो की दृष्टि में शृंगार का आभास मात्र रह जाता। पद्मावती में अनुरक्त रत्नसेन की दूसरी रानी नागमती के विरह की तड़पन केवल विप्रलम्भास हो जाती, क्योंकि अपनी ओर से उदासीन पति से नागमती को अपने प्रेम का कोई भी प्रतिदान प्राप्त नहीं था।

शृंगार के सूक्ष्म पक्ष प्रेम की निस्वार्थता की ओर भी सम्भवतः भोज ने ही सर्व-प्रथम ध्यान दिया और रति की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे 'अहेतु पक्षपात' बताया।

किन्तु भोज का मत बहुत दिन तक प्रतिष्ठित न रह सका। सस्कृत काव्य-शास्त्रज्ञों ने अपने वस्तुपरक दृष्टिकोण के कारण उस ओर ध्यान देना आवश्यक ही न समझा और काव्यशास्त्र के मान्य ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' में पुनः पूर्व परिपाटी का अनुसरण किया गया। मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में कहा था कि "अनौचित्य में रसाभास मानना चाहिए।"[१]

"रतिदेवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः कान्ता विषया तु व्यक्ता शृंगार···।"

काव्यप्रकाश के रसाभास प्रकरण के ऊपर टीका करने वालों ने कहा—"अनौचित्य सहृदय के व्यवहार से जानना चाहिए जहाँ वे अनौचित्य का अनुभव करें (वहीं रसाभास

---

१. मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रसाभास की परिभाषा करते हुए कहा था—
तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिताः। —वही

हैं)। शृंगार में बहुविषयत्व, उपनायकादि गतत्व, **नायक-नायिका अन्यतरमात्रविषयत्व**[1] (एक में प्रेम की स्थिति) गुरूजन गतत्व, तिर्यगादिगतत्व के द्वारा अनौचित्य नाना प्रकार का है। जैसे कि कहा भी है कि उपनायक में, मुनि गुरु पत्नी में, बहुनायक विषय में और **अनुभय निष्ठ** रति में तथा तिर्यगादिविषय में रति का होना आभास कहलाता है।"

"वास्तव में अनौचित्य मन के आभास का ही प्रयोजक है—'अनौचित्यमात्रमेवामीषां मनसा भासता प्रयोजकम्'। तिर्यक आदि में अनौचित्य का आभास होने पर रस ही है।"[2]

'काव्यप्रकाश' में शृंगार का लक्षण केवल यही समझा गया है कि "रति स्थायी भाव से संयुक्त रस शृंगार है।" अलग लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

मम्मट के बाद हेमचन्द्र ने भी शृंगार रस की कोई मौलिक परिभाषा नहीं दी। शृंगार की परिभाषा हेमचन्द्र अपने काव्यानुशासन में इस प्रकार करते है—"रति स्थायी-भाव और स्त्री-पुरुष-मालादि विभावों से युक्त तथा जुगुप्सा, आलस्य और उग्रता को छोड़कर शेष व्यभिचारी भावों से समृद्ध रस 'शृंगार रस' कहलाता है। इसके दो भेद है—सम्भोग और विप्रलम्भ।"[3]

वाग्भट्ट प्रथम और वाग्भट्ट द्वितीय ने भी क्रमशः अपने 'वाग्भट्ट अलंकार' और 'काव्यानुशासन' में मम्मट और हेमचन्द्र का अनुकरण ही किया है।

भोज के बाद शृंगार रस, उसके अंग-प्रत्यगों की विस्तृत विवेचना करने वाले प्रथम आचार्य शारदातनय हैं।

शृंगार रस की परिभाषा करते हुए शारदातनय कहते हैं—"रस के आलम्बन भावों के जो साधारण गुण कहे गए हैं, वे सब सुख की इच्छा से युक्त है (साधारण गुण में सुख की इच्छा भी रहती है); सुख के साधन को भोग कहते है। यही भोग शृंगार विशेष कहा जाता है। भोग, उपभोग और सम्भोग शब्द पर्यायवाचक है। सम्भोग में सर्वत्र प्राणियों

---

१. अनौचित्यं हि शास्त्रलोकादिक्रमात् प्रतिषिद् विषयकत्वादिरूपं सामाजिकसंवेद्यम्। तदुक्तं उद्योतादो अनौचित्यं च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयं यत्र तेषामनुचितमिति धीः। तच्च शृंगारे बहुविषयत्वेन उपनायकादि गतत्वेन, नायकनायिका अन्यतरमात्र विषयत्वेन, गुरुजनगतत्वेन तिर्यगादिगतत्वादि च नानैवं। तदुक्तं उपनायकसंस्थायाम् मुनिगुरूपत्नी गतायां च। बहुनायकविषयां रतौ तथा अनुभयनिष्ठायाम्। आभासत्वं कथितं तथैव च तिर्यगादिविषयतायाम्।

—काव्यप्रकाश : झलकीकर, पृ० १२१।

२. वस्तुस्तवनौचित्यमात्रमेवामीषां मनसा भासताप्रयोजकम्। तिर्यगादौ तु अनौचित्याभावद्रस एव। न तदाभासः अतएव वृत्तिकारो 'ग्रीवाभंगमभिरामम्' इत्यादौ तिर्यग्विषयतया भयानकं मित्रेक्वापि गते इत्यादौ तिर्यग्विषयतया विप्रलम्भं चोद्यजहार।

—वही, पृष्ठ सं० १२१।

३. तत्र शृंगारमाह—
स्त्रीपुंसमाल्यादिविभावा जुगुप्सालस्यौग्र्यवर्जव्यभिचारिका रतिः संभोग विप्रलम्भात्मा शृंगारः॥

—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र।

की मानसी रति होती है, परन्तु प्रेमी युवक-युवतियों में ही यह मुख्य रूप से वर्तमान रहता है।"[१]

'सराग स्त्री-पुरुषों की परस्पर अनुभूति ही रति है, जो परस्पर स्वसंवेद्य और सुख-संवेदात्मिका है। सम्पन्न, ऐश्वर्ययुक्त, अशेष गुण तथा नवयौवन, श्लाघ्य प्रकृति और श्रेष्ठ रूप संयुक्त स्त्री-पुरुष की परस्पर विभाविका स्पृहा नाम की चित्तवृत्ति रति कहलाती है।"[२]

"युवक और युवती की उभयपक्षीय इच्छा से युक्त, परस्पर आनन्द प्रदायक और एकान्त में सुखद इच्छा को रति कहते है।"

"प्रेमादि भाव शृंगार के आलम्बन रूप में (आधार रूप से) स्थित रहते हैं।"[३]

"परस्पर आश्रय-घन (विशेष आश्रय) निरूढ़ भाव बन्धन को प्रेम कहते हैं।"[४]

"बुद्धिमान लोग भाव बन्धन दो व्यक्तियों के उस संकल्प को कहते है, जो 'इदम् तत्' इस प्रकार का हो और जो अन्यत्र न हो अर्थात् एकनिष्ठ हो।"[५]

---

१. रसालम्बन भावानामुक्ताः साधारणा गुणाः।
सुखेप्सवस्ते सर्वेऽपि भोगस्तत्सुखसाधनम्॥
भोगः स एष शृंगारविशेष इति गीयते।
भोगोपभोगसम्भोगशब्दाः पर्यायवाचकाः॥
सम्भोगे चापि सर्वत्र जन्तूनां मानसी रतिः।
वर्तते मुख्यया वृत्या यूनोरेव सरागयोः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, पृष्ठ ७७, चतुर्थ अधिकार। गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज

२. परस्परस्वसंवेद्य सुखसंवेदनात्मिका।
याऽनुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः॥
संपन्नैश्वर्यसुखयोरशेषगुणयुक्तयोः।
नवयौवनयोः श्लाघ्यप्रकृत्योः श्रेष्ठरूपयोः॥
नारीपुरुषयोस्तुल्या परस्परविभाविका।
स्पृहाह्वया चित्तवृत्ती रतिरित्यभिधीयते॥
रतिरिच्छा भवेद्यूनोरुभयप्रार्थनात्मिका।
यूनोः परस्पराह्लादरहोविस्रम्भ कारिता॥
—वही, ७७

३. तत्प्रेम तदधिष्ठानं रतिर्यूनोः परस्परम्।
—वही, ७८

४. परस्पराश्रयघनं निरूढं भाव बन्धनम्।
यदेकापयतोऽपायि तत्प्रेमेति निगद्यते॥
—वही, ७८

५. इदं तदिति संकल्पो ययोर्न क्वापि दृष्यते।
तद्भावबन्धनमिति कथयन्ति मनीषिणः॥
—वही, ७६

शारदातनय द्वारा दी गई इन विभिन्न परिभाषाओं को इस प्रकार समझा जा सकता है—

अशेष-गुण-सम्पन्न, यौवन-समृद्ध, सराग स्त्री-पुरुषों की सुखसंवेदनात्मक इच्छा को रति कहते है। यह स्वसंवेद्य होती है अर्थात् नायक अथवा नायिका इसका अपने हृदय में अनुभव करते हैं। प्रेम भाव इसके मूल में स्थित है। प्रेम वह भाव-बन्धन है, जो किसी विशेष व्यक्ति पर केन्द्रित होकर केवल उसीसे सुख की आशा करता है।

शारदातनय की शृंगार सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाओं के द्वारा उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचने के पश्चात् हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि शृंगार के सम्बन्ध में भोज की भांति शारदातनय का दृष्टिकोण भी बहुत परिष्कृत और सुसंस्कृत था। स्त्री-पुरुषों का परस्पर आकर्षण केवल यौन-सुख की प्राप्ति तथा सृजन की प्रेरणा के लिए ही नहीं है अपितु उसमें प्रेम की एकनिष्ठता का होना भी अनिवार्य है। रति की 'सुख सवेदनात्मक इच्छा' के साथ एकनिष्ठता होने के कारण, प्रीति अर्थात् प्रियहित पर भाव केन्द्रित होने का भाव भी उसमें विद्यमान रहता है। इसी एकनिष्ठता के कारण प्रेमी अपने प्रियपात्र के लिए अनेक उत्सर्ग करता है, अनेक बाधाएँ सहने पर भी अपने शृंगार भाव का आलम्बन उसी में केन्द्रित रखता है अन्य कहीं और नहीं जाता।

अन्त में रति की प्रकर्ष-प्राप्ति का विवेचन करते हुए शारदातनय कहते हैं—"एकान्त में स्त्री-पुरुषों की परस्पर भोग की इच्छा ही रति है। यह प्रेम से अंकुरित होती है, 'मान' से पल्लवित होती है, 'प्रणय' से कलियाँ आती हैं, 'स्नेह' से कुसुमित होती है, 'राग' से फलवती होती है और अनुराग से इसका उपभोग किया जाता है।"[१]

प्रेम की परिभाषा देते हुए शारदातनय ने प्रेम को भाव बन्धन बताया, वह भाव बन्धन जो एकनिष्ठ हो; किन्तु उसके साथ ही उन्होंने प्रेम का एक ओर गुण कहा—'यदेकापायतोऽपायि' अर्थात् वह एक पक्ष के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम उभयपक्षीय होता है। शारदातनय एक ओर प्रेम को आवश्यक रूप से उभयपक्षीय मानते हैं और दूसरी ओर उसका एकनिष्ठ होना भी अनिवार्य रूप से मानते हैं। यह दोनों बातें विरोधी हैं। यदि प्रेम एकनिष्ठ है तो अपर पक्ष में प्रेम का क्षय होने पर भी वह जीवित रहेगा। यद्यपि मनोविज्ञान यह मानता है कि प्रेम में दूसरे पक्ष से यदि उचित प्रतिदान नहीं मिलता तो प्रेमी अपने प्रेम की अभिव्यक्ति का पात्र कोई दूसरा व्यक्ति ढूंढ़ लेता है जो उसको उसके प्रेम की संतुष्टि प्रदान करे और इस प्रकार वह पुनः तुल्यानुराग स्थापित कर लेता है। किन्तु साथ ही मनोविज्ञान यह भी मानता है कि प्रेम की प्रगाढ़ तीव्रता में प्रेमी

---

१. अन्योन्य भोग्यधीरेव रहः स्त्रीपुंसयो रतिः।
इयमंकुरिता प्रेम्णा मानात्पल्लविता पुनः॥
सकोरका प्रणयतः स्नेहात्कुसुमिता भवेत्।
रागात् फलवती चेयमनुरागेण भुज्यते॥
—भावप्रकाश-शारदातनय, पृ० ७८।

प्रेमपात्र में सब गुणों का आरोप कर लेता है, वह उसी मूर्ति से प्रेम करने लगता है जो उसने समस्त गुणों से समन्वित अपने हृदय मे स्थापित की है। उस दशा में प्रेमपात्र द्वारा प्रतिदान मिलना न मिलना उसके लिए एक समान हो जाता है। अपने हृदय मे प्रतिष्ठित प्रेमपात्र के लिए वह कभी यह सोच ही नही सकता कि वह इसे धोखा दे सकता है। इस स्थिति मे प्रेमी का प्रेम दूसरे व्यक्ति के स्थूल व्यक्तित्व से न रहकर अपनी कल्पना से समन्वित उसके सूक्ष्म अस्तित्व से हो जाता है। अतः एक पक्ष मे प्रेम के क्षय होने पर उसका नष्ट होना आवश्यक नही रहता और वह भोज का 'अहेतु पक्षपात' हो जाता है। प्रेम की चरमावस्था इसी दशा मे मानी गई है।

जयदेव ने चन्द्रालोक मे शृगार रस का लक्षण उसके भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव सबके सहित दिया है—"शृगार रस का स्थायी भाव रति है; पति-पत्नी विभाव; आलस्य, ईर्ष्या और जुगुप्सा से शेष उन्मादादि इसके सचारी भाव है; कटाक्षादि अनुभाव है। यह दो प्रकार का है—सभोग और विप्रलम्भ।"[1]

जयदेव के उपरान्त एकावलीकार विद्याधर का नाम आता है। विद्याधर की शृगार सम्बन्धी परिभाषा मे कोई मौलिकता नही है—"स्त्री-पुरुष मालादि विभावों और स्तम्भ स्वेद आदि अनुभावो से युक्त तथा जुगुप्सा, आलस्य, उग्रतादि व्यभिचारियों को छोडकर अन्य व्यभिचारियो से समृद्ध, रति स्थायी भाव ही शृगार कहलाता है। इसके दो भेद है सम्भोग और विप्रलम्भ।"[2]

विद्याधर का योग उनके शृंगार विषयक रसाभास सम्बन्धी विवेचन मे है। मम्मट के टीकाकार तिर्यगादि मे रसाभास न होकर रस होने का सकेत मात्र करते है। विद्याधर ने मम्मट के टीकाकारो के इस मत की पुष्टि तर्क से कर दी है। उन्होने कहा कि—"जहाँ स्थायीभाव एक-दूसरे के अनुकूल कल्लोल करता हुआ प्रवर्तित होता है, वही रस होता है। और जहाँ एक ओर अनुराग होता है, वहाँ स्थायीभाव अनुचित रूप से प्रवृत्त होने के कारण रस न होकर रसाभास ही होता है।"

"दूसरे लोग पशु-पक्षियों में रसाभास बतलाते है। यह बात कसौटी पर ठीक नहीं उतरती क्योकि उनमें भी भावादि की सम्भावना है। विभावादि ज्ञान से शून्य पशु-पक्षी

---

१. रत्याख्यस्थायिभावात्मा वल्लभादि विभावितः।
आलस्येर्ष्याजुगुप्साभ्यो विना संचारिभिर्युतः ॥४॥
अनुभावैः कटाक्षाद्यैरुन्मादाद्यैर्यथाक्रमम्।
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृंगारो द्विविधो मतः ॥५॥
—चन्द्रालोक, जयदेव, मयूख ६
मुद्रक—जयकिशनदास हरिदास गुप्ता

२. स्त्रीपुंसमाल्यादिविभावा स्तम्भस्वेदाद्यानुभावा जुगुप्सालास्यौग्र्यवर्ज्यव्यभिचारिका रतिः सम्भोगविप्रलम्भात्मा शृंगारः।
—एकावली, तृतीय उन्मेष, पृष्ठ ६८

रस के पात्र होने के योग्य नहीं है—यह विचार भी ठीक नही है, क्योकि कुछ मनुष्यो मे भी उस प्रकार के रस विषय का आभास मात्र मिलता है। वास्तव मे विभावादि की उत्पत्ति ही रस के प्रति प्रयोजक है विभावादि का ज्ञान नही; इसलिए पशु-पक्षियों मे भी रस ही होता है।"[१]

यद्यपि इस बात का खण्डन सिगभूपाल ने किया। उन्होने कहा कि "हाथी का हथिनी के प्रति विभावत्व नही होता, कारणत्व होता है। अतः वह रसाभास है।"

सिंगभूपाल विभावतत्व और कारणत्व मे क्या अन्तर करते है, यह बात उन्होंने स्पष्ट नहीं की। वस्तुतः विभावत्व और कारणत्व मे कोई मौलिक अन्तर नही है, दोनो अवस्थाओ में ही आलम्बन के उपस्थित होने पर आश्रय के हृदय मे शृगार भाव का उदय होना है चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु-पक्षी।

सिगभूपाल ने पशु-पक्षी मे रसाभास होने का एक कारण और भी दिया है। वह कहते है कि—"अधिक क्या विभाव का ज्ञान वास्तव मे औचित्य विवेक है, उसमे शून्य पक्षियो को विभावना प्राप्त नही होती। विवेक रहित जन-मलेच्छादि मे रस का आभास ही प्राप्त होता है।"[२]

हृदय की नैसर्गिक वृत्ति शृगार, भाव की तीव्रता मे अपनी अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत मनुष्यो मे भी, समाज की सब बाधाएँ उपस्थित होने पर भी, देश और काल का औचित्य-अनौचित्य नही देखती, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसलिए क्योकि पक्षियो को देश-काल का औचित्य विवेक नही होता अत. वह प्रेम शृगाराभास है, यह बात तर्क की कसौटी पर खरी नही उतरती। रही सहृदय को उसके उचित-अनुचित लगने की बात, तो वह भी ठीक नही है। सहृदय पशु-पक्षियो के शृगार-वर्णन मे उतना ही रस लेता है जितना वह संस्कृत मनुष्यो के शृगार-वर्णन मे। काव्य मे वह पशु-पक्षी का शृगार-वर्णन पढ रहा है, इस भाव के प्रति जो थोड़ी-सी सजगता उसके हृदय मे अनौचित्य का आभास देती है, वह अनौचित्य का आभास मात्र ही है अनौचित्य नही। वास्तव मे यह अनौचित्य मन के आभास का प्रयोजन ही है। 'अनौचित्यमात्रमेवामीषा मनसा भासत। प्रयोजक'। तिर्यक आदि मे अनौचित्य का आभास होने पर **रस ही** है।

तिर्यक आदि का शृगार भी रस ही है, रसाभास नही। इस विषय को 'राज-

---

१. यत्र परस्परानुकूल्यकल्लोलितः प्रवर्तते स्थायी तत्र रसः। यत्र पुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभास एव। अपरे तु रसोभास तिर्यञ्च प्रचक्षते तन्न परीक्षाक्षमम्। तेष्वपि विभावादिसंभवात्। विभावादि ज्ञानशून्यातिर्यञ्चो न भाजनंभवितुमर्हन्ति रसस्येतिचेन्न। मनुष्येष्वपि केषुचित्तथाभूतेषु रसविषयभावा भावप्रसगात्। विभावादिसंभवो हि रस प्रति प्रयोजको न विभावादि ज्ञानम्। ततश्च तिर्यञ्चामप्यस्त्येव रसः।

—एकावली विद्याधर, तृतीय उन्मेष, पृष्ठ १०६, बम्बई सस्कृत सीरीज।

२. किञ्च विभावज्ञानं नाम औचित्यविवेकः, तेन शून्यः तिर्यञ्चो न विभावता यान्ति" विवेकरहित जनोपलक्षण मलेच्छगतस्य रसस्य आभासत्वे सवेष्टावाप्ते।

—सिगभूपाल।

कुमुदमणि' ने अपने तर्क से और भी स्पष्ट कर दिया है। विद्याधर के तर्क को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए राजकुमुदमणि कहते है कि काव्यप्रकाश मे दिया गया शाकुन्तलम् का वह श्लोक 'ग्रीवाभगमभिरामम्···' आदि भयानक रस का बहुत सुन्दर उदाहरण है। यदि एक रस पशु-पक्षी मे हो सकता है तो दूसरा क्यो नही हो सकता। इस तर्क का कोई उत्तर सिंगभूपाल के पास नही है सिवाय इसके कि वह यह कहदे कि भाई हम तो शृगार रस की बात कर रहे है, भयानक की नही।

अत. सिंगभूपाल ने यद्यपि प्राचीन परिपाटी की मान्यता, (तिर्यकादि में शृंगाराभास होता है शृगार नही) को सुरक्षित रखने के लिए काफी प्रयत्न किया, किन्तु यह स्पष्ट ही है कि उनका प्रयत्न सफल नही हो सका और हम मम्मट और विद्याधर के मत को स्वीकार करते हुए पशु-पक्षियो मे शृगार रस मानने को ही बाध्य होते है।

इतने विवेचन के उपरान्त साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध एव वृहद् ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' की शृगार रस सम्बन्धी परिभाषा की ओर दृष्टिपात करना भी अनिवार्य है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ शृगार के लक्षणो को बताते हुए कहते है—"काम के उद्भेद, अकुरित होने को शृगार कहते है। उसकी उत्पत्ति का काल है यौवनारम्भ। अधिकाश उत्तम प्रकृति से युक्त रस, शृगार कहलाता है। परस्त्री और अनुराग शून्य वेश्या को छोड़कर अनेक नायिकाएँ तथा दक्षिणादि नायक इसके आलम्बन विभाव माने जाते है। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके उद्दीपन विभाव होते है, अनुरागपूर्ण भृकुटि-भग और कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते है; उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोडकर अन्य निर्वेदादि इसके सचारी भाव है। इसका स्थायी भाव रति है और वर्ण श्याम है तथा विष्णु इसके देवता है।"[१]

विप्रलम्भ और सभोग इसके दो भेद है—"विप्रलम्भोऽथ सम्भोग इत्येष द्विविधो मतः।"

रसमंजरीकार कन्हैयालाल पोद्दार के अनुसार शृगार एक यौगिक शब्द है,

---

१. लक्षण :
शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥ १८३ ॥
आलम्बन विभाव :
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्याञ्चाननुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ १८४ ॥
उद्दीपन विभाव :
चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥
व्यक्तौग्र्यमरणालस्य जुगुप्साव्यभिचारिणः।
स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदेवतः ॥ १८६ ॥
—साहित्य दर्पण, तीय परिच्छेद

शृंग + आर। उनका कहना है आर ऋ धातु से बना है जिसका अर्थ है गमन। यहाँ गमन का अर्थ है प्राप्ति। अतः शृग + आर इस यौगिक शब्द का अर्थ है काम की प्राप्ति।

काम का सबसे अधिक उद्रेक-यौवनप्राप्ति पर होता है। पशुओ मे यौवन का आगमन उसके शृगो अथवा सीगो के निकलने से द्योतित होता है। अतः शृग का दूसरा रूढ़ि अर्थ काम हो गया और काम की प्राप्ति को शृगार कहा गया।

यह उत्तम प्रकृति मे युक्त है। भरत ने भी इसको 'उज्ज्वल वेषात्मक' कहा है। संसार मे जो कुछ उज्ज्वल कोमल और मृदु है, वह सब शृगार रस से सम्बद्ध है। अतः यह हृदय को प्रिय लगने वाला अत्यन्त मधुर भाव है। सानुराग स्त्री-पुरुषो मे काम की प्राप्ति होने पर यह अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इसका स्थायी भाव रति है। रति की परिभाषा दर्पणकार इस प्रकार करते है :

"मनोनुकूल वस्तु मे मन के उन्मुखी भाव का नाम ही रति है अथवा मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति का ज्ञान ही रति है।"[1]

अनुराग शून्य वेश्या और परस्त्री को छोड़कर अन्य अनेक इसकी नायिकाएँ हो सकती हैं। दर्पणकार ने अननुरागिणी वेश्या के प्रेम मे अनेकनिष्ठता होने के कारण उसे शृंगार की उपयुक्त नायिका नही माना, सम्भवतः अननुरागिणी वेश्या के सम्बन्ध मे अनुराग का प्रश्न ही नही आता। अत वह शृगार रस की नायिका नहीं हो सकती। विश्वनाथ परस्त्री के प्रेम मे समाज का अनौचित्य मानकर उसको भी शृगार रस की नायिका होने के योग्य नही मानते। किन्तु परवर्ती शृगार साहित्य मे, विद्यापति और सूर के काव्य मे परस्त्री को नायिका बनाकर शृगार के सम्बन्ध मे अनेक उक्तियाँ कही गई है उस काव्य की वह मूल प्रवृत्ति रही। दर्पणकार की परिभाषा के अनुसार वह अनौचित्य के कारण शृगार रस का उद्रेक नही करती, किन्तु उस काव्य की चर्वणा का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि वे भी शृगार रस का उद्रेक करने मे सफल होती है। इसका कारण स्पष्ट है जिसकी ओर कि दर्पणकार ने सम्भवत. ध्यान नही दिया, वह यह है कि परस्त्री जब नायिका बनती है तब उसका नायक के प्रति अनुराग उतना ही उत्कट होता है जितना स्वकीया का होता, सम्भवतः उससे भी अधिक होता है। ऐसी दशा मे समाज की बाधा शृंगार रस मे बाधक न होकर उसके उद्रेक मे और सहायक होती है क्योकि उन बाधाओं पर विजय प्राप्त करके ही नायिका का नायक के साथ शृगार सफलीभूत होता है।

इसके अतिरिक्त भाव के रस दशा मे पहुँचने पर सहृदय को 'स्व'-'पर' की चेतना नही रहती, न ही विशिष्ट नायकत्व, अथवा नायिकात्व का ध्यान रहता है। केवल 'स्व'-'पर' की भावना से रहित भाव की एक अखण्ड चेतना अवशिष्ट रह जाती है जो उसके मन मे अलौकिक आनन्द की अनुभूति प्रदान करती है, उसी को हम तब रस कहते है। यह बात साधारणीकरण के द्वारा रस चर्वणा के सम्बन्ध मे सिद्ध ही हो चुकी है। इस अवस्था में यदि भाव अत्यन्त उत्कट है तो समाज के औचित्य का प्रश्न ही नहीं रहता और निश्चित

१. रतिः मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्"—साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका १७६।

रूप से परस्त्री भी शृंगार रस की नायिका बन जाती है। यदि उसके भाव को रस-शास्त्री केवल भावना मात्र ही मानते है तो भी हमे कहना पडेगा कि उसकी वह भावना उस विशिष्ट अवस्था मे स्वकीया की शृंगार भावना से किसी भाँति हीनतर नही है।

साहित्य-दर्पण मे दिये गए अनुभाव संचारी आदि लगभग वही है जो उनके पूर्ववर्ती आचार्य गिना गए थे, सम्भवतः वे स्वतन्त्र और विशद विवेचन की अपेक्षा नही रखते। अत. साहित्य-दर्पण को यही छोड़कर हम सस्कृत काव्यशास्त्रियो के अन्तिम आचार्य 'पण्डितराज जगन्नाथ' के शृंगार रस सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करने का प्रयत्न करेगे।

रसगगाधर मे जगन्नाथ रति का लक्षण इस प्रकार देते है—

"स्त्री-पुरुष की एक-दूसरे के विषय मे प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे रति स्थायी भाव कहते है।

"वही प्रेम यदि गुरु देवता अथवा पुत्रादि के विषय में हो तो उसे व्यभिचारी भाव कहेगे।"

"शृगार रस के आलम्बन विभाव स्त्री-पुरुष, चाँदनी, वसन्त ऋतु, अनेक प्रकार के बाग-बगीचे, सुखप्रद पवन और एकान्त स्थानादि उद्दीपन विभाव; प्रेमपात्र का मुख दर्शन, उसके गुणो का श्रवण-कीर्तन आदि एवं (कप रोमाच) आदि सात्विक भाव-अनुभाव और स्मरण, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव होते है।"[१]

जगन्नाथ के उपर्युक्त शृंगार के लक्षण मे पूर्वोक्त आचार्यो की बात ही उलट-पलट कर कही गई है, केवल सात्विक भावो को भी लक्षण मे ले लिया गया है। लक्षण में सात्विक भावों को समाहित कर लेना लक्षण को पूर्णता प्रदान करता है यही पण्डितराज का शृगार सम्बन्धी विवेचन मे बडा योगदान है।

शृंगार से मिलते-जुलते अन्य रस

शृगार की व्यापक अर्थ में व्याख्या करते समय हमने देखा था कि रति मनोनुकूल

---

१. रति लक्षणम्—

स्त्रीपुंसयोरन्योरन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्ति विशेषो रतिः स्थायिभावः ॥
गुरुदेवतापुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।

—रसगगाधर, नागेश भट्ट की टीका सहित, पृष्ठ ३१-३२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

तत्र शृगारस्यस्त्रीपुंसावालम्बने। चन्द्रिका वसन्तविविधोपवनपवनरहः स्थानादय उद्दीपनविभावाः। तन्मुखावलोकन तद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽन्ये सात्विकभावाश्चानुभावाः। स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः।

—वही, पृष्ठ ३३

वस्तु में उन्मुखी भाव को कहते है। उस अर्थ मे वह संसार के प्रति प्रवृत्ति में प्रत्येक प्रकार के राग का प्रतिनिधित्व करती है। अतः दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त अन्य प्रकार के राग माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति, पुत्रपुत्री का अथवा छोटों का गुरुजनों के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति आदि सब उसकी परिधि के अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु रति का अर्थ परवर्ती काव्यशास्त्रो मे दाम्पत्य अर्थ मे ही रूढिबद्ध हुआ; उसके अतिरिक्त अन्य अर्थों के लिए अन्य रसों की उद्‌भावना की आवश्यकता हुई।

दण्डिन् ने राग अथवा प्रेम को दो श्रेणियों में विभाजित किया—प्रीति और रति। उनके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उनकी 'प्रीति' शृंगारेतर (दाम्पत्य अर्थ मे) अन्य प्रकार का राग है और 'रति' मिथुन भाव से युक्त है। 'प्रीति' मे कृष्ण के प्रति विदुर की उक्ति का उदाहरण है और 'रति' मे उदयन की वासवदत्ता से पुनर्मिलन पर कही गई उक्ति। परन्तु फिर भी दण्डिन् उन दोनो का मूल भाव एक ही मानते है और प्रीति के प्रकर्ष मे रति की स्थिति बतलाते है—

"प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेय रतिः शृगारता गता।"

अर्थात् जो पहले प्रीति दिखाई गई थी, वही रति प्रकर्ष को प्राप्त होकर शृगार हो जाती है। उनके अनुसार उन्मुखी भाव ही मूल तत्त्व है। वह छोटों का बडों के प्रति भी हो सकता है और पति-पत्नी का भी। पति-पत्नी भाव मे, भाव की अधिक एकाग्रता होने से वही प्रीति रति हो जाती है। किन्तु बाद मे इस दृष्टिकोण का विरोध किया गया। रति को केवल दाम्पत्य अर्थ मे ग्रहण करने के कारण, छोटों का बडों के प्रति राग भक्ति कहलाया। दाम्पत्य भाव से किसी पूज्य व्यक्ति की उपासना करने को मधुर भाव की भक्ति कहा गया।

बड़ों के छोटो के प्रति उन्मुखी भाव को भी शृगार के अन्तर्गत रखने मे आपत्ति उठाई गई और उसको वत्सल प्रकृति कहकर शृगार से पृथक् वात्सल्य रस मान लिया गया। वात्सल्य का स्थायी भाव स्नेह माना गया है। मुनीन्द्र कहते है—"स्फुट चमत्कार के कारण वत्सल को भी रस मानते है। इसका स्थायी भाव वत्सलता, स्नेह है और पुत्रादि आलम्बन है।"[1]

रूद्रट ने मित्रता अथवा सौहार्द का स्थायीभाव भी स्नेह कहा है और उसको प्रेयस के अन्तर्गत रखा है 'स्नेहः प्रकृतिः प्रेयान्'। उन्होंने चित्त के आर्द्र होने को स्नेह का आवश्यक गुण माना। 'आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र।'[2] वात्सल्य, सौहार्द आदि रसों का स्थायी भाव स्नेह हुआ।

अभिनव भारती मे अभिनवगुप्त ने वात्सल्य, मित्रता, भाई-भाई के प्रेम आदि

---

१. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
—नम्बर आफ रसाज मे, वी राघवन् द्वारा उद्धृत पाद टिप्पणी, पृष्ठ १०८

२. नम्बर ऑफ रसाज, वी राघवन्, पृष्ठ १११

को पृथक् रस मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया है। अभिनव गुप्त कहते है—"यह कहना अनुपयुक्त है कि स्नेह भी कोई रस है जिसका स्थायी भाव (आवश्यक गुण के अर्थ मे) आर्द्रता है। स्नेह तो सम्पर्क जैसी वस्तु है, उसका पर्यवसान रति, उत्साह, भय, आदि मे होता है। बालक का माता-पिता आदि मे जो स्नेह होता है, उसकी विश्रान्ति भय में होती है (स्नेह भय की छायामात्र है) युवक युवती के मित्रजन स्नेह की विश्रांति रति मे होती है। लक्ष्मण आदि का भाई के प्रति स्नेह, कर्त्तव्य में उत्साह व्यक्त करता है। इसी प्रकार बड़ों का पुत्रादि छोटों के प्रति भी समझना चाहिए।"[१]

इस तर्क से अभिनवगुप्त प्रेयस को स्थायी भाव मानकर चलने वाले सौहार्द, वात्सल्य, राजा-प्रजा के प्रेम, भक्ति आदि रसों के अस्तित्व का खण्डन करते है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बालक बाह्य संसार के आघात के भय से माता-पिता को संरक्षक रूप में मानकर उनकी ओर उन्मुख होता है। भय वहाँ रति को जन्म देता है। माता-पिता का कर्त्तव्य में उत्साह उन्हें बालक की ओर उन्मुख करता है और वहाँ वीर से रति का जन्म होता है। राम लक्ष्मण आदि तथा राजा-प्रजा, जनता-नेता आदि के मध्य मे भी कर्त्तव्य का उत्साह ही प्रमुख रहता है और उसी से वहाँ राग का जन्म होता है जो शृगार के विस्तृत अर्थ की परिधि के अन्तर्गत समाहित है।

शृंगार रस के भेद

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत मे एक रस से अनेक रसों की व्युत्पति की विवेचना करते हुए आनन्दवर्धन कहते है कि प्रधान भूत शृंगार रस के प्रारम्भ मे दो भेद होते हैं। सम्भोग (शृगार) और विप्रलम्भ (शृगार) उनमे भी सम्भोग के परस्पर प्रेम, दर्शन (दर्शन सम्भाषणादि का भी उपलक्षण है) सुरत (और उद्यान) विहारादि भेद है। (इसी प्रकार) विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और विप्रलम्भ आदि (शापादि निमित्तिक वियोगादि भेद) हैं। उनमे से प्रत्येक (भेद) के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के (भेद से) भेद है। और उन (विभावादि) का भी देश, काल, आश्रय, अवस्था (आदि से) भेद है। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक (शृगार) का परिमाण करना (ही) असम्भव है फिर उनके अगों के भेदोपभेद कल्पना की तो बात ही क्या है। वे अगों (अलकारादि) के प्रभेद प्रत्येक अगी (रसादि) के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध कल्पना करने पर अनन्त हो जाते है।[२]

---

१. आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषगः। स च रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथा हि—बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः, यूनो मित्रजने रतौ, लक्ष्मणादेः भ्रातरि धर्मवीर एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्।

—नम्बर ऑफ रसाज़, (अभिनव भारती से उद्धत) पृष्ठ १११

२. 'हिन्दी ध्वन्यालोक' (ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या) द्वितीय उद्योत, १२वी कारिका की वृत्ति, पृष्ठ १४१

इस प्रकार हम देखते है कि एक रस शृंगार के अनेक भेद-प्रभेद हो सकते है, किन्तु मुख्य रूप से उसके दो भेद ही माने जाते है, सम्भोग और विप्रलम्भ।

शृंगार रस के दो भेद संभोग और विप्रलम्भ

भरत के पश्चात् सबसे पहले आचार्य रूद्रट है जिन्होंने शृंगार नामक रस का, सम्भोग और विप्रलम्भ, दो विभागों मे वर्गीकरण किया। उनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने शृगार का सम्भोग और विप्रलम्भ दो विभागों में ही विभाजन किया। रुद्रट ने संभोग और विप्रलम्भ रसो की विवेचना करते हुए कहा—

"संगत पुरुष और नारी के रति व्यवहार को सम्भोग और वियुक्त पुरुष और नारी के रति व्यवहार को विप्रलम्भ कहते है। ये दोनो फिर प्रच्छन्न और प्रकाश के नाम से दो प्रकार के है।"[१]

प्रच्छन्न और प्रकाश से क्या तात्पर्य है ? यह रुद्रट ने स्पष्ट नही किया, सम्भवतः यह परकीया और स्वकीया के आधार पर निर्धारित हो, किन्तु उपर्युक्त परिभाषा मे यह स्पष्ट हो गया कि सम्भोग शृगार वहाँ माना जाएगा जहाँ नायक, नायिका एक दूसरे के समीप्य में रति का अनुभव कर रहे हो और विप्रलम्भ शृगार वहाँ होगा जहाँ वे एक-दूसरे से वियुक्त होगे, बिछुड़े हुए होगे।

सम्भोग शृंगार

सम्भोग शृंगार की अलग परिभाषा करते हुए रुद्रट कहते है—

"सम्भोग शृगार वहाँ माना गया है जहाँ नायक नायिका पूर्ण रूप से प्रसन्न तुल्यमानस हों और आलोकन वचन आदि मे रत हो। (केवल मिथुन मात्र को सम्भोग शृंगार नहीं कहा गया)।"[२]

काव्य प्रकाशकार मम्मट शृंगार रस के दो भेद बताते हुए सम्भोग शृंगार के विषय में कहते हैं—

"शृगार रस के दो भेद है—१. सम्भोग, २. विप्रलम्भ। उनमें से पहला परस्पर

---

१. सम्भोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ।
पुनराप्येष द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥६॥

—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १२

२. अन्योन्यस्य सन्निधावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ।
आलोकनवचनादि स सर्वः सम्भोग शृंगारः ॥१॥

—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १३

अवलोकन, आलिंगन, अधरपान आदि अनेक भेदों से युक्त होकर अपरिछेद्य और एक ही है।"[१]

शारदातनय ने सम्भोग की परिभाषा इस प्रकार की है—"स्त्री और पुरुष का कामोपचार सुख ही सम्भोग है।"[२]

"सम्भोग में सर्वत्र प्राणियो की मानसी रति होती है परन्तु प्रेमी युवक और युवतियों मे ही यह मुख्य रूप से वर्तमान रहता है।"[३]

जो काम सम्भोग के नाम से प्रसिद्ध है, उसके चार भेद किए जाते है—१ मित, २. संकर, ३. सम्पन्न और ४. समृद्धिमान।

(१) **मित**—"परस्पर उपचार करते हुए युवक और युवती जब भय आदि के द्वारा मित भोग मे लिप्त होते है तो यह मित सम्भोग कहलाता है।"[४]

(२) **संकर**—"कोप के अनन्तर प्रसन्न हो जाने पर भी पूर्वकृत दोष की स्मृति जब आनन्द को सबाध कर देती है तो वह सम्भोग सकर कहलाता है।"[५]

(३) **सम्पन्न**—"विछुड़े हुए प्रेमी जब (पुनः) सम्पन्न-काम होकर भोग मे प्रवृत्त होते है तो वह सम्पन्न भोग कहलाता है।"[६]

(४) **समृद्धिमान**—"मृत जीवित व्यक्ति जब जीवन में हर्षादि से उल्लसित होकर अतिशय दीप्त शृगार मे प्रवृत्त होते है तो वह सम्भोग समृद्धिमान है।"[७]

---

१. तत्र शृगारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परवलोकनालिगनाधरपान परिचुम्बनाद्यमनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते।

—काव्यप्रकाश, मम्मट, झलकीकर भाष्य : चतुर्थ उल्लास

२. कामोपचारः सम्भोगः स्त्रीपुंसयोः सुखम्।

—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थ अधिकार, पृष्ठ ७७,

३—सम्भोगे चापि सर्वत्र जन्तूनां मानसी रतिः।
वर्तते मुख्यता वृत्या यूनोरेव सरागयोः॥

—वही, पृष्ठ ७७

कामः स एष सम्भोगः स चतुर्धा विभज्यते।

—वही, पृष्ठ ८७,

४. परस्परस्योपचारैर्यूनोर्यत् साध्वसादिभिः।
मितं प्रयुज्यते भोगे प्रथमे स मितो भवेत्॥

५. प्रसादेऽपि व्यलीकादिस्मृतेः कोपानुवर्तनात्।
संकीर्यते यः सम्भोगस्तस्मात्संकर ईरितः॥

६. सम्पन्नकामैरायातैः प्रोषितैरूप भुज्यते।
सम्पन्नमेव यत्तस्मात्सम्पन्न इति कथ्यते॥

७. प्रत्युज्जीवनहर्षादैः प्रबुद्धो मृतजीवनोः।
दीपनातिशयैर्दीप्तः सम्भोगः स्यात्समृद्धिमान॥

—वही, पृष्ठ ८७,

आधुनिक साहित्य में वैज्ञानिक सजगता के कारण मृत-जीवित के वर्णन का प्रश्न ही नहीं आता। अत. औपचारिक रूप से मरण तुल्य निराश वियोग की अवधि समाप्त होने पर जो उल्लसित सम्भोग है, वही समृद्धिमान सम्भोग कहलाएगा।

इनका विश्लेषण करते हुए शारदातनय ने इन चार प्रकार के सम्भोगों का लक्षण और भी स्पष्ट किया है—

"वह सम्भोग चार प्रकार का है क्योंकि भुजि धातु का अर्थ—पालन, कौटिल्य, अभ्य-वहार तथा अनुभूति चार प्रकार के अर्थों में होता है।"[१]

"पाल्य सम्भोग नवानुराग के कारण हृदय में अभीष्ट उपचार के द्वारा उत्पन्न होता है। (जब नवयुवक और नवयुवती प्रथम बार परस्पर मिलते है)।"[२]

"मानानन्तर सम्भोग कभी-कभी कौटिल्य को नही छोडता।"[३]

"अभ्यवहार सम्भोग प्रवास के अनन्तर हृदय मे मधुर सम्भोग उत्पन्न कराता है।"[४]

"अनुभूति कृत सम्भोग करुण के अनन्तर उत्पन्न होता है।"[५]

"यह सम्भोग मित, सकर, सम्पन्न और समृद्धिमान इन चार नामों से कवियों ने बताया है।"[६]

शारदातनय का सम्भोग सम्बन्धी यह वर्गीकरण काव्य-शास्त्र के लिए बिलकुल नई चीज है। इसका कोई आधार न हो, यह बात भी नही है। सम्भोग का मनोविज्ञान पर आधारित यह वर्गीकरण, शारदातनय के विषय पर स्वतन्त्र चिन्तन का पूर्ण द्योतन करता है।

शारदातनय के अनुसार कामोपचार सुख, सम्भोग मे भी विभिन्न परिस्थितियो में गुण और मात्रा दोनों का अन्तर हो जाता है। नवानुराग वाले स्त्री-पुरुषो मे जो पाल्य सम्भोग होता है उसमे भय भी कुछ मात्रा में मिला रहता है। इस भय से शारदातनय का क्या तात्पर्य था, यह उन्होंने स्पष्ट नही किया। किन्तु भय का तात्पर्य स्पष्ट ही है, भय

---

१. स सम्भोगश्चतुर्धा स्याद् भुजिधात्वर्थयोगतः।
भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु॥
—भावप्रकाश, पृष्ठ १३८, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज

२. नवरागानन्तरजः पाल्योऽभीष्टोपचारतः। —वही, पृष्ठ १३८

३. मानानन्तरसम्भोगः कौटिल्यं न त्यजेत्क्वचित्। वही, पृष्ठ २३८

४. ह्यः प्रवासानन्तर्यो ह्यान्नाभ्यवहारवत्। —वही, पृष्ठ १३८

५. करुणानन्तर भवः सविस्रम्भानुभूति कृत्।—वही, पृष्ठ १३८

६. स मितः संकरश्चैव सम्पन्नश्च समृद्धिमान्।
इत्याद्याः कवयः प्रायः चतुर्णा च प्रयुञ्जते॥
—वही, पृष्ठ १३८

समाज का भी हो सकता है और रति-विषयक उपचार में अनुभवहीनता होने के कारण से भी होता है। भय के कारण उनका वह सम्भोग पूर्ण निर्बाध नहीं हो सकता। पाल्य-सम्भोग का दूसरा नाम ही शारदातनय मित-सम्भोग कहते है। इस मित अथवा पाल्य-सम्भोग से रति को प्रोत्साहन देने मे, किसी कारण से नवानुराग टूट न जाए इसका भी भय रहता है।

सम्भोग का दूसरा विभेद सकर-सम्भोग है। यह 'मान' के अनन्तर होता है; मान के रोष की कुटिलता नायक अथवा नायिका को कभी-कभी दूसरे पक्ष द्वारा मनुहार करने से मान जाने पर भी नही छोडती। मान के अनन्तर होने वाले इस सम्भोग मे रोष और प्रेम दोनों का भाव विद्यमान रहता है। रोष अथवा मान की कुटिलता तथा प्रेम के अद्‌भुत सम्मिश्रण की अवस्था मे सकर संभोग होता है।

तीसरे प्रकार का सम्भोग 'सम्पन्न' है। प्रवास मे दोनो प्रेमी प्रेम का व्यय न होने से सम्पन्न-काम होते है, विरह की अवधि का अन्त होने पर मिलन की बेला में अभ्यवहार के भाव (पूर्ण रूप से सुख भोग की इच्छा) को लेकर सम्पन्न-काम मे संलग्न होते है। सम्पन्न सम्भोग मे उनका परस्पर उन्मुखी भाव प्रगाढ और निर्बाध होता है।

शारदातनय द्वारा दिया गया सम्भोग का चौथा प्रभेद समृद्धिमान है। यह करुण विप्रलम्भ के अनन्तर होता है। मृत अथवा मृतप्रायः व्यक्ति के पुनर्जीवित होने पर मिलन का आनन्द पूर्ण समृद्धि से युक्त होता है। अतः उस दशा मे मिलनेवाले प्रेमियो के सम्भोग की तुलना और किसी दशा से नही की जा सकती, वह अपने भाव की तीव्रता मे अनुपम ही है।

इस प्रकार शारदातनय का सम्भोग-शृगार सम्बन्धी विश्लेषण काफी प्रौढ कहा जा सकता है।

शारदातनय के पश्चात् सस्कृत काव्य-शास्त्र के मान्य ग्रन्थ साहित्यदर्पण की सम्भोग-सम्बन्धी व्याख्या को देख लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहते है—

"एक दूसरे प्रेम में पगे नायक-नायिका जहाँ परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि करते हैं, वह सम्भोग शृगार कहलाता है। चुम्बन-आलिंगन आदि इसके अनन्त भेदो की गिनती नहीं हो सकती। अतः इसका सम्भोग शृंगार नामक एक ही भेद है।"[१]

परिभाषा मे कोई विशेष नवीनता नही है, रूढिबद्ध विवेचन ही यहाँ हुआ है।

सस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम मान्य ग्रन्थ रसगंगाधार की सम्भोग सम्बन्धी

---

१. दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ॥
यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः ॥ २१० ॥
सङ्ख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादि बहुभेदात्।
अयमेक एव धीरैः कथितः सम्भोगशृंगारः ॥ २११ ॥
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तीय परिच्छेद

व्याख्या को भी यहाँ देख लेना अनुपयुक्त न होगा। सम्भोग के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि—

"यदि स्त्री-पुरुष में सयोग के समय प्रेम हो तो संयोग शृंगार कहलाता है। परन्तु सयोग का अर्थ स्त्री-पुरुष का 'एक स्थान पर रहना' नही है क्योकि एक शय्या पर शयन करते हुए दम्पत्ति मे यदि ईर्ष्या आदि विद्यमान हो तो विप्रलम्भ रस का वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी अलग रहना नही है क्योकि यह दोष वहाँ पर भी उपस्थित रहता है। अतः यह मानना चाहिए कि सयोग और वियोग, यह दोनों एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ है और वह है—'मिला हुआ हूँ' और 'बिछुड़ा हुआ हूँ,' यह ज्ञान।"[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शारीरिक मिलन मे मिलन मानना भूल है। शारीरिक मिलन के साथ भाव का पूर्ण तादात्म्य ही सम्भोग को उसके सच्चे रूप में उपस्थित करता है।

पण्डितराज के इस विचार की प्रतिध्वनि हमे मानव हृदय के भावो के मान्य वेत्ता और विश्लेषण-कर्ता भर्तृहरि के इस श्लोक में भी मिलती है—"जिनका मन परस्पर संलग्न है उनका वियोग भी सयोग ही है, ऐसा समझना चाहिए, और जो एक साथ रहकर भी मन मे अन्तर रखते है उनका सगम भी वियोग से विशेष दुखदायी है।"[२]

विप्रलम्भ शृंगार

नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में विप्रलम्भ का लक्षण देते हुए भरत कहते है—"निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, सुप्ति, स्वप्न, विव्वोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जड़ता, मरण आदि अनुभावों से युक्त विप्रलम्भ होता है।"[३]

"अब यदि यह प्रश्न हो कि शृगार रस जिसका मूल भाव रति है, वह करुण की अवस्थाओ से युक्त कैसे होता है? तो इसका उत्तर यह है कि शृंगार सम्भोग और

---

१. तत्र शृंगारो द्विविधः। संयोगो विप्रलम्भश्च। रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः। वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः। संयोगश्च न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्। एकतल्पशयनेऽपार्श्वादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एव वियोगोऽपि न वैधिकरण्यम। दोषस्योक्तत्वात्। तस्मादद्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ। यत्संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः।

—रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, पृष्ठ ३४
नागेश भट्ट की टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (सं० १९१६)

२. विरहोऽपि सगमः खलु परस्परं सगतं मनोयेषाम्।
यदहृदयविघटितः स संगमोऽपि विरहं विशेष्यति।।

—शृंगार शतक, भर्तृहरि, श्लोक ६९

३. विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशंकासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याधुन्मादापस्मारजाड्य मरणादिभिरनभावैरभिनेतव्यः।

विप्रलम्भ दो नामों से अभिहित है। वैशिक शास्त्र में इसकी दस अवस्थाएँ कही गई है।"[1]

इसके उपरान्त ही करुण रस और विप्रलम्भ के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भरत कहते है कि "शाप के कारण अथवा इष्ट जन से वियोग, विभव के नाश, मृत्यु अथवा बन्धन के कारण करुण रस होता है। इसमे निरपेक्ष भाव प्रधान होता है अर्थात् करुण में पूर्ण नैराश्य की अवस्था रहती है किन्तु विप्रलम्भ सापेक्ष होता है अर्थात् अभिलाषा विप्रलम्भ मे निरन्तर बनी रहती है। अतः करुण और विप्रलम्भ दोनों मे अन्तर है और यही कारण है कि शृगार समस्त भावों से सयुक्त है।"[2]

भरत के उपरिलिखित विवेचन से विप्रलम्भ के सम्बन्ध मे इतना स्पष्ट हो जाता है कि विप्रलम्भ, शृंगार में, प्रियजन के वियोग से उत्पन्न होता है। निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि अनुभावो के द्वारा इसको रगभूमि पर उपस्थित किया जाता है।/विप्रलम्भ की निराशा मे आशा बराबर बनी रहती है, पल-भर को भी वियोगी से वह पृथक् नही होती और इसीलिए विप्रलम्भ और करुण दोनो रस (बहुत कुछ एक-दूसरे से सा.म्य रखते हुए भी) एक-दूसरे से भिन्न है।/

भरत के पश्चात् विप्रलम्भ का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। विप्रलम्भ शृंगार के लक्षण देते हुए रुद्रट ने कहा है कि—"वियुक्त पुरुष और नारी के रति व्यवहार को विप्रलम्भ शृगार कहते है।"[3]

इस परिभाषा की व्याख्या दूसरे शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है—पुरुष और नारी का परस्पर रति व्यवहार अर्थात् प्रेममूलक उन्मुखी भाव जब उनके एक-दूसरे से पृथक् रहने पर भी स्थित रहता है तो उसे विप्रलम्भ शृंगार कहते है।

भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण मे विप्रलम्भ रस का लक्षण ऐसे दिया है—"रति नामक भाव जब प्रकर्ष को प्राप्त होकर भी अपने अभीष्ट तक नही पहुँचता तब विप्रलम्भ शृगार होता है।"[4]

---

१. अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः शृगारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ? अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहित सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृंगारःइति। वैशिकरात्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः।

२. करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्ष भावः। औत्सुक्यचिता-समुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृंगारो भवति।

—नाट्यशास्त्र, भरत, षष्ठाध्याय, पृष्ठ ७३, काशी संस्कृत सीरीज

३. व्यवहारः पुंनायोंरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः।
शृंगारः स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ॥५॥
संभोग-संगत्योर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ ।
.....॥६॥

—काव्यालकार, रुद्रट अध्याय १२

४. भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥४५॥

—सरस्वतीकंठाभरण, भोज, पंचम परिच्छेद, काव्यमाला सीरीज

भोज की विप्रलम्भ विषयक परिभाषा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषा से अधिक प्रौढ़ और स्पष्ट है। भरत और रुद्रट दोनों ने पुरुष और नारी का वियोग (पृथक् रहना) विप्रलम्भ के लिए आवश्यक माना है। उस दशा मे विप्रलम्भ के एक भेद 'मान' विप्रलम्भ की स्थिति विप्रलम्भ के अन्तर्गत किस प्रकार सम्भव है यह बात स्पष्ट नही होती। 'मान' के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष दोनों के समीप रहते हुए कई अन्य कारणो से विप्रलम्भ की स्थिति सम्भव है; यह बात आधुनिक समय में 'साकेत सन्त' के रचयिता ने हमारे समक्ष उपस्थित की है। भरत के नन्दीग्राम में निवास के अवसर पर माण्डवी की विरह-पीड़ा को अभिव्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

"था वसन्त आँखों के सन्मुख,
पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह ! माण्डवी को तो, आहो
का भरना भी वर्जिततर था॥"[१]

'भरत' की उपस्थिति मे यह वियोग की पीडा किस कारण थी, इसका उत्तर भोज दे देते है। उनके अनुसार 'रति' नाम का भाव जब प्रकर्ष को प्राप्त होकर भी अपने अभीष्ट को नही पहुँचता, वहाँ विप्रलम्भ शृगार होता है।

अभीष्ट का अर्थ अभीष्ट व्यक्ति ही नही है अपितु अभीष्ट भाव भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि रति नाम का भाव (भावानुभाव और सचारी से सयुक्त) पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त करके भी जब अपनी सतुष्टि (अभीष्ट की प्राप्ति) प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है, वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है।

'साकेत सन्त' में माण्डवी की पीड़ा का कारण इससे समझ में आ जाता है। यद्यपि भरत भी माण्डवी की भाँति ही उस पर अनुरक्त थे किन्तु नन्दीग्राम मे निवास करने के समय मे राम के वनवास गमन ने उन्हे समस्त सासारिक सुखो के प्रति उदासीन बना दिया था। इसी से माण्डवी के भावो की अभिव्यक्ति का मार्ग अनायास ही कुण्ठित हो गया था। केवल भरत की उदासीनता के कारण ही माण्डवी का प्रेम प्रकर्ष को प्राप्त होने पर भी अभीष्ट को प्राप्त नही कर रहा था। अतः हम देखते है कि अभीष्ट व्यक्ति नहीं, अभीष्ट सतुष्टि है। अभीष्ट व्यक्ति के समीप होते हुए भी जब रति भाव की सतुष्टि मे बाधा उपस्थित होती है, तब भी विप्रलम्भ शृगार ही होता है। अभीष्ट व्यक्ति के अनुपस्थित होने पर तो आवश्यक रूप से विप्रलम्भ होता ही है क्योकि वहाँ संतुष्टि का प्रश्न ही नही रहता।

मान विप्रलम्भ की दशा भी इससे कुछ भिन्न नही है। नायक नायिका दोनों के समीप रहने पर भी और उन दोनों के एक-दूसरे के प्रति पूर्ण प्रेम-भाव रखने पर भी ईर्ष्या आदि के कारण जब उनमें से एक पक्ष उदासीन हो जाता है, तब अभीष्ट की प्राप्ति

---

१. साकेत सन्त, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, पृष्ठ १६१, प्रथम संस्करण, चतुर्दश सर्ग

के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है और मान दशा में विप्रलम्भ की अवस्थिति मानी जाती है।

शृंगारप्रकाश के २४वे अध्याय मे निरुक्ति के अनुसार विप्रलम्भ की व्याख्या करते हुए भोज ने कहा है कि विप्रलम्भ शब्द लभ् धातु मे वि और प्र उपसर्ग जोड़ देने से बना है। लभ् धातु का अर्थ है प्राप्ति, प्र का अर्थ प्रकर्ष और वि का अर्थ है वंचना। जहाँ प्राप्ति की इच्छा का प्रकर्ष होने पर भी वचना होती है अर्थात् अप्राप्ति होती है, वही विप्रलम्भ होता है।

शृंगार रस मे अभीष्ट की अप्राप्ति जहाँ होती है, वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने विप्रलम्भ की कोई परिभाषा नही दी, केवल उसके विभिन्न प्रकारो के नाम और उनके उदाहरण प्रस्तुत किये है।

मम्मट के बाद हेमचन्द्र ने भी अपने 'काव्यानुशासन' में विप्रलम्भ शृंगार की कोई विवेचना नहीं की है। केवल इतना कहा है कि—"जहाँ शका आदि संचारी भाव हों, सतापादि अनुभाव हो वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है। यह तीन प्रकार का कहा गया है—अभिलाष, मान, प्रवास।"[1]

परिभाषा बहुत अस्पष्ट है। शकादि सचारी भाव और सतापादि अनुभाव तो क्रमशः भयानक रस और करुण रस में भी हो सकते है।

वाग्भट्ट प्रथम ने भी स्त्री-पुरुष की पारस्परिक रति मे युक्त और वियुक्तावस्था में ही संयोग और वियोग माना है। वाग्भट्ट कहते है—"पति-पत्नी की पारस्परिक रति वृत्ति को शृगार कहते है। यह दो प्रकार की है—सयोग और वियोग जो क्रमशः उन दोनों की युक्त और वियुक्तावस्था मे होती है।"[2]

वाग्भट्ट की परिभाषा में भी कोई नवीनता नही है। भरत और रुद्रट की परिभाषा की प्रतिध्वनि ही यहाँ भी दिखाई पड़ती है।

भोज के अतिरिक्त शृगार रस के दूसरे विशद विवेचनकर्ता शारदातनय ने विप्रलम्भ का लक्षण न करके उसके दो मुख्य प्रकारों अयोग और वियोग का लक्षण दिया है—

अयोग—"(कभी मिले नही हों) ऐसे अद्भुत राग वाले युवक और युवती की परस्पर विभाव आदि के द्वारा असंगति अयोग है।" (विभाव आदि के रहने पर भी मिलन नही होता, अर्थात् प्रेमादि के हृदय मे रहने पर भी)।"[3]

---

१. शकादिव्यभिचारा सतापाद्यनुभावोऽभिलाषमानप्रवासरूपो विप्रलम्भः ॥३०॥
—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, द्वितीय वृत्ति, निर्णयसागर प्रेस

२. जायापत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः शृगार उच्यते।
संयोगो विप्रलम्भश्चेत्येष तु द्विविधो मतः।
तो तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ॥५॥
—वाग्भट्टालंकार, वाग्भट्ट, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस

३. परस्परं विभावाद्यैर्यूनोरुद्भुत रागयोः।
असंगतिरयोगोऽस्मिन्दशावस्था द्वयोरपि॥ —भावप्रकाश, शारदातनय, पृष्ठ ८५

वियोग—"सम्भोग मग्न युवती और युवक के विप्रकर्ष (दूरीकरण) को वियोग कहते है।"[१]

"अयोग और वियोग में सामान्य विभावादि करुण के अनुरूप ही होते है फिर भी रति स्थायी भाव की अनुवृत्ति होने से यह शृगार के ही भेद है।"[२]

अयोग और वियोग की परिभाषाओं से स्पष्ट ही है कि वे क्रमशः मिलन से पूर्व और मिलन के वाद के विप्रलम्भ रूप है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की विप्रलम्भ सम्वन्धी परिभाषा भी भोज की परिभापा से पूर्ण साम्य रखती है। विश्वनाथ के अनुसार—"अनुराग के अत्यन्त उत्कट होने पर भी जव प्रिय समागम नही होता तो उसे विप्रलम्भ कहते है।"[3]

प्रिय समागम के लिए यहाँ भी अभीष्ट शब्द का प्रयोग ही हुआ है।

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने विप्रलम्भ के एक दूसरे मौलिक तथा सूक्ष्म अर्थ को समझा है जिसके बहुत समीप पहुँचकर भी उनके पूर्ववर्ती आचार्य भोज और विश्वनाथ उसको स्पष्ट नही कर सके थे। भोज और विश्वनाथ दोनो इस तथ्य तक तो पहुँच गए थे कि जहाँ रति के प्रकृष्ट होने पर भी प्रिय समागम नही होता वहाँ विप्रलम्भ शृगार होता है। उनके सम्मुख यह वात भी विलकुल स्पष्ट थी कि प्रिय व्यक्ति के समीप होने पर भी प्रिय समागम कभी-कभी असम्भव हो जाता है जैसे (मान की दशा में)। किन्तु वह यह बात नही समझा पाये थे कि उसका कारण क्या है? इसी का उत्तर हमे पण्डितराज जगन्नाथ ने देने का प्रयत्न किया है।

पण्डितराज के अनुसार—"शृगार रस दो प्रकार का है सयोग और विप्रलम्भ। यदि स्त्री-पुरुष का सयोग के समय प्रेम हो तो सयोग शृगार कहलाता है और वियोग के समय हो तो विप्रलम्भ शृगार। परन्तु सयोग का अर्थ स्त्री-पुरुष का 'एक स्थान पर रहना' नहीं है, क्योकि एक शय्या पर शयन करते हुए युग्म मे भी यदि ईर्ष्या आदि हो तो विप्रलम्भ रस का ही वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी अलग रहना नही है क्योंकि वही दोष वहाँ भी कहा जा सकता है। अतः यह मानना चाहिए कि संयोग और वियोग एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ है और वह है—मिला हुआ हूँ और विछुड़ा

---

१. वियोगो विप्रकर्षः स्याद्यनोः सम्भोगमग्नयोः।
वियोगोऽपि द्विधा मानप्रवासकृतभेदतः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, पृष्ठ ८५

२. साधारण्याद्विभावादेरत्रयोगवियोगयोः।
करुणस्यानुरूप्येऽपि रतिस्थाय्यनुवृत्तितः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, पृष्ठ ८७, गैकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज

३. यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथः, तृतीय परिच्छेद।

हुआ हूँ यह ज्ञान।"[1]

जगन्नाथ की उपर्युक्त परिभाषा की व्याख्या दूसरे शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है—"उनकी परिभाषा के अनुसार सयोग और वियोग दोनो दशाओं में प्रेम की स्थिति अपेक्षित है। संयोग और वियोग, दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ मात्र हैं और वह है —'मिला हुआ हूँ और बिछुडा हुआ हूँ का ज्ञान'।"

पण्डितराज सयोग और वियोग को चित्तवृत्तियाँ मात्र मानकर इस बात का उत्तर दे देते है कि दोनो पक्षों के परस्परानुरक्त और एक स्थान पर होने पर भी प्रिय समागम क्यों नहीं होता। वे कहते है कि उसका कारण है ईर्ष्या आदि के कारण 'बिछुडा हुआ हूँ' ऐसा ज्ञान। 'बिछुडा हुआ हूँ' यह ज्ञान ही प्रेमियों की उस सयुक्तावस्था मे भी विप्रलम्भ शृगार को उपस्थित करता है।

पण्डितराज उभय पक्षो के (किसी कारणवश) अलग रहने की अवस्था में और उनमें किसी प्रकार का मनमुटाव न होने के कारण 'मिला हुआ हूँ' इस ज्ञान की अवस्थिति 'सयोग शृंगार' मानते हैं। इस दशा मे पूर्वानुराग, प्रवास और करुण यह तीनों प्रकार के विप्रलम्भ संयोग शृगार के अन्तर्गत आ जाएँगे, क्योंकि रति भाव की उत्कृष्टता और तन्मयता में 'मिला हुआ हूँ' यह ज्ञान तो रहेगा ही। किन्तु साथ ही यह नही भूल जाना चाहिए कि भाव के मिलन के साथ प्रत्यक्ष स्थूल मिलन भी भाव की पूर्णता के लिए परमावश्यक माना गया है। अत: स्थूल रूप मे जब तक मिलन न होगा तब तक अभीष्ट की प्राप्ति न होने से 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान आवश्यक रूप से विद्यमान रहेगा। ऐसी स्थिति मे जिस मनःस्थिति को जगन्नाथ विप्रलम्भ शृंगार में 'मिला हुआ हूँ' यह ज्ञान मानकर उसे संयोग की स्थिति मानते हुए विप्रलम्भ शृंगार का दोष बताते है, वह दोष नही रहता। क्योंकि 'बिछुडा हुआ हूँ' यह ज्ञान भाव के मिलन की तन्मयता के साथ अवश्य उपस्थित रहता है।

जिसको पण्डितराज दोष कहते है उसी को हम गुण मानकर चलेंगे। उनके इस भाव की व्याख्या हम इस प्रकार करगे कि विप्रलम्भ, भाव की तन्मयावस्था में, मिलन के, अर्थात् सम्भोग के समस्त भाव-वैभव को भी अपनी परिधि मे समेट लेता है। किन्तु उस मिलन की चरम प्राप्ति मे 'बिछुडा हुआ हूँ, यह ज्ञान जब बाधा उपस्थित करता है तो प्रेमी उस बिछोह की व्याकुलता मे पुनः प्रिय को पाने के लिए विकल हो उठता है। इस तरह विप्रलम्भ से विरह की भावना अर्थात् प्रिय की अभाव-पीड़ा का जन्म होता है।

---

१. तत्र शृंगारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च। रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः। वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः। संयोगश्च न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्। एकतल्पशयनेऽपीर्ष्यादिरुद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम् दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद्द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तः करणवृत्ति विशेषौ। यत्सयुक्तोवियुक्तश्चास्मीति धीः।

—रसगंगाधर, पण्डित राजजगन्नाथ, पृष्ठ संख्या ४० नागेश भट्ट की टीका सहित, प्रकाशक निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

विरह की भावना एक ओर 'बिछुड़ा हुआ हूँ' इस ज्ञान के कारण प्रेमी को उसकी बेबसी की याद दिलाती है और दूसरी ओर 'मैं भाव में प्रिय से मिला हुआ ही हूँ' इस चेतना के कारण, उसके प्रेम को, वियोग की अवस्था में और अधिक पुष्ट करती है।

इन दो विरोधी भावनाओ के अद्‌भुत सामंजस्य के कारण ही विप्रलम्भ में सम्भोग, सुख और अनुराग को अधिक गाढ़ा करने की शक्ति आती है। भोज ने कहा भी है—

"विप्रलम्भ के बिना सम्भोग पुष्टि को प्राप्त नही करता जैसे कषायित वस्त्र पर रंग अधिक चढता है।"[१]

"विप्रलम्भ शृंगार में स्त्री और पुरुष की चेष्टाएँ (विरह) दुःख जन्य, तड़पन सम्बन्धी होती है।"[२]

विप्रलम्भ के प्रकार

विप्रलम्भ शृगार के भेद-प्रभेदों का कोई वर्गीकरण हमे भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। केवल करुण विप्रलम्भ और करुण रस के अतर को भरत ने अवश्य स्पष्ट किया है। परवर्ती अलकारवादी आचार्यो मे तो इसका उल्लेख ही नही है। सस्कृत काव्य-शास्त्रियों में विप्रलम्भ का सर्वप्रथम वर्गीकरण रुद्रट ने किया है। काव्यालकार के १४वें अध्याय की प्रथम कारिका मे रूद्रट ने विप्रलम्भ को चार प्रकार का माना है—

"विप्रलम्भ नाम का शृगार चार प्रकार का होता है—प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण।"[३]

रुद्रट के बाद आज तक विप्रलम्भ का वर्गीकरण इसी रूप मे चला आ रहा है। कुछ और आचार्यों ने विरह-विप्रलम्भ, विप्रलम्भ का एक पाँचवाँ भेद भी माना है।

१. प्रथमानुराग (पूर्वराग)

प्रथमानुराग की परिभाषा देते हुए रुद्रट कहते है—"आलोकन मात्र आदि से ही जिनमें अधिक स्नेह उत्पन्न हो गया है, ऐसे नायक-नायिकाओ की चेष्टाओं को प्रथमा-

---

१. न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयानरागोऽनुषज्यते॥
—सरस्वती कंठाभरणम्, पञ्चम परिच्छेद, लक्षण सख्या ५२, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

२. स्त्रीपुंसयोर्विप्रलम्भे वैचित्र्याकल्पनादयः
चेष्टाविशेषाः .....
—वही, लक्षण संख्या ५३।

३. (अथ विप्रलम्भ नामाशृंगारोऽयं चतुर्विधो भवति।
प्रथमानुरागमानप्रवास करुणात्मकत्वेन॥ १॥
—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १४।

नुराग कहते हैं।"[१]

"कठिन काम से तप्त वे दोनों हिम, सलिल, मृणाल और कदलीदल आदि का सेवन भी करते हैं, निन्दा भी करते और उनको फेकते भी है।"[२]

भोज ने प्रथमानुराग की परिभाषा इस प्रकार की है—"जिनका पहले कभी मिलन न हुआ हो ऐसे युवक-युवती की अभिलाषा जब सुन्दर सकल्प का रूप धारण करती है तो उसे प्रथमानुराग या पूर्वानुराग कहते है।"[३]

सुन्दर सकल्प का अर्थ है स्नेह भाव से एक दूसरे के विषय मे सोचना-विचारना आदि। अतः भोज की परिभाषा को दूसरे शब्दों में ऐसे भी कहा जा सकता है कि पहले जिनका कभी संयोग नही हुआ है ऐसे युवक-युवती वासनायुक्त हृदय से जब परस्पर स्नेहभाव रखते हुए एक-दूसरे के विषय में रमणीय भावों से परिपूर्ण होकर सोचते-विचारते है, तो उनकी उस अवस्था को पूर्वानुराग या प्रथमानुराग कहा जाता है।

शृंगारप्रकाश मे भोज ने प्रथमानुराग को प्रतिश्रुत्यादान, (प्रतिश्रुति + आदान) श्रवणादि से ग्रहण किया गया कहा है। अर्थात् गुण श्रवण आदि से पूर्वानुराग का उत्पन्न होना कहा है।

हेमचन्द्र ने पूर्वानुराग अथवा अभिलाष-विप्रलम्भ को दो प्रकार का माना है—(१) दैवजन्य, (२) परवशताजन्य।[४] दैवजन्य विप्रलम्भ प्रतिज्ञाभग आदि के कारण होता है और परवशताजन्य गुरुजनों की उपस्थिति के कारण।

गुरुजनों की उपस्थिति में लज्जादि के कारण मिलन में जब बाधा होती है तब परवशताजन्य अभिलाष-विप्रलम्भ होता है। इसी को कुछ लोगों ने विप्रलम्भ का पाँचवाँ भेद विरह-विप्रलम्भ भी कहा है।

शारदातनय ने विप्रलम्भ के इस भेद (पूर्वानुराग) को पूर्वानुराग न कहकर अयोग कहा है। अयोग का विवेचन पहले 'विप्रलम्भ' की विवेचना में किया जा चुका है। शारदातनय के अनुसार "अद्भुत राग वाले युवक और युवती मे विभावादि के उपस्थित रहने पर भी जब मिलन नही होता तब अयोग-विप्रलम्भ होता है।" (देखिए विप्रलम्भ

---

१. आलोकनादिमात्रप्ररूढयुरुरागयोरसप्राप्तौ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमोविप्रलम्भ इति।। २ ॥
—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्बा संस्कृत सीरीज।

२. हिमसलिलचन्द्रचन्दनमृणालकदलीदलादि तत्रैतो।
दुर्वारस्मरतापौ सेवेते निन्दतः क्षिपतः॥
—वही।

३. प्रागसंगतयोर्यूनोरभिलाषः प्रवर्तते।
संकल्परमणीयोऽनुरागः स प्राच्य उच्यते॥ ४७॥
—सरस्वतीकंठाभरण, भोज, पञ्चम परिच्छेद।

४. दैवपारवश्याभ्यामाद्यो द्वेधा॥३१॥
—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, द्वितीय वृत्ति, निर्णय सागर प्रेस।

सम्बन्धी विवेचन—शारदातनय)।

वैसे भी पूर्वानुराग और अयोग के शब्दार्थ में कोई अन्तर नही है। भोज के अनुसार अनुराग का अर्थ वह प्रेम भाव है जो संयोग के साथ अथवा उसके पश्चात् बढ़ता है। अतः संयोग से पूर्व जो रति भाव उत्पन्न होता है, वह पूर्वानुराग है। अयोग का अर्थ भी संयोग से पूर्व की अवस्था ही है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने पूर्वानुराग का विशद विवेचन किया है। विश्वनाथ की पूर्वानुराग सम्बन्धी व्याख्या इस प्रकार है—

"सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक नायिका की समागम से पूर्व की दशा का नाम पूर्वराग है। दूत, भाट और सखी आदि के द्वारा गुणो का श्रवण होता है। दर्शन इन्द्रजाल, चित्र, स्वप्न मे अथवा साक्षात् ही होता है।"[1]

"अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति (मरण) ये दस काम दशाएँ विप्रलम्भ मे होती है।"[2]

"इच्छा का नाम अभिलाष है। प्राप्ति के उपाय आदि का नाम चिन्ता है। जड़-चेतन का विवेक न रहना उन्माद है, चित्त के बहकने से अटपटी बातों का कहना प्रलाप है। दीर्घ निःश्वास, पाण्डुता, दुर्बलता आदि व्याधि होती है। अगों तथा मन के चेष्टा-शून्य होने का नाम जड़ता है और मरण को मृति कहते है।"[3]

"यद्यपि रस का विच्छेदक होने से मरण का वर्णन नही किया जाता तथापि मरण तुल्य दशा का वर्णन कर देना चाहिए। यदि शीघ्र ही पुनर्जीवित हो तो मरण का भी वर्णन कर देते है।"[4]

---

१. (श्रवणादर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः ।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥१८८॥
श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतबन्दीसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥१८९॥)
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथः, तृतीय परिच्छेद।

२. अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥१९०॥
—वही।

३. अभिलाषः स्पृहा चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥१९१॥
अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद्भृशम् ।
व्याधेस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥१९२॥
—वही।

४. रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चैतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवन स्याद्दूरतः ॥१९४॥
—वही।

"कुछ आचार्य इन काम दशाओं को इस प्रकार कहते हैं—सबसे पहले नयनानुराग, फिर चित्त की आसक्ति, उसके बाद संकल्प (मिलने की इच्छा) और तब निद्रानाश, उन्माद, मूर्छा और मरण। पहले स्त्री का अनुराग वर्णन करना चाहिए। अनन्तर उसके इगित, चेष्टित आदि को देखकर पुरुष को अनुराग निबद्ध करना चाहिए। यद्यपि पुरुष का अनुराग भी पहले हो सकता है परन्तु उक्त प्रकार से वर्णन अधिक हृदयंगम होता है।"[1]

"पूर्वराग तीन प्रकार का होता है—१. नीली राग, २. कुसुम्भ राग, ३. मंजिष्ठ राग। जो अधिक चमक-दमक से युक्त नहीं किन्तु हृदय से कभी दूर नही होता, वह नीली राग है। कुसुम्भ राग वह है जो शोभित तो खूब हो परन्तु जाता रहे। मजिष्ठा राग उसे कहते है जो शोभित भी हो और जाय भी नही।"[2]

शारदातनय ने भी भावप्रकाश में राग का नीली, कुसुम्भ और मजिष्ठ रागों में वर्गीकरण किया है किन्तु यह पूर्वराग के भेद है, यह बात स्पष्ट नहीं की। मजिष्ठ राग को उन्होंने उत्तम, नीली राग को मध्यम और कुसुम्भ राग को अधम राग माना है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ से पूर्व विप्रलम्भ का विशद विवेचन साहित्यदर्पणकार और अन्य आचार्य कर चुके थे। अतः उन्होंने उसके प्रभेदों के विवेचन की आवश्यकता नहीं समझी।

२. मान

रुद्रट के अनुसार "ईर्ष्या से युक्त नायिका, नायक मे, अन्य नायिका के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए दोष को लक्ष्य करके जिस विकार को प्राप्त होती है, उसे मान कहते है।"[4]

नायक के दोष—

---

१. नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः॥
तत्र च—
आदौ वाच्यः स्त्रियाः रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः।
आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिक हृदयंगमं भवति।
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

२. नीली कुसुम्भं मंजिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा॥१९५॥
न चातिशोभने यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यात यथा श्रीरामसीतयोः॥१९६॥
कुसुम्भराग तत्प्राहुर्यदपैति च शोभने।
मञ्जिष्ठरागमाहुस्तद् यान्नपैत्यति शोभने॥१९७॥
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथः, तृतीय परिच्छेद।

३. (देखिए भावप्रकाश—शारदातनय, चतुर्थोऽधिकारः पृष्ठ संख्या ८१ प्रकाशित ओरियटल इंस्टीटयूट, बड़ोदा, १९३०।

४. मानः स नायके यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या।
उद्दिश्य नायिकान्तरसम्बन्धसमुद्भवं दोषम्॥१५॥
—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १४।

"दूसरी स्त्री के प्रति गमन सबसे बड़ा, और आलाप मध्यम श्रेणी का दोष है। आलोकन छोटा दोष है किन्तु उसको स्वयं जाकर देखने का प्रयत्न बड़ा दोष भी है और मध्यम प्रकार का भी।"[१]

नायिका इन दोषों को इन चिह्नों के द्वारा पहचानती है—

"नायक के वस्त्रों से (शैथिल्य आदि के कारण), अंगों पर नखक्षत आदि से, गोत्रस्खलन और सखी वचन आदि के कारण।"[२]

"यह कोप देश, काल, पात्र और प्रसंगादि के अनुसार दोष क्रम से तीन प्रकार का है—असाध्य, दुखसाध्य और सुख साध्य।"[३]

संक्षेप में रुद्रट की परिभाषा को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नायक के अन्य नायिका के प्रति गमन करने से अथवा उससे आलाप करने से अथवा उसको केवल देखने मात्र से ही नायिका जिस विकार को प्राप्त होती है उसे मान कहते है। अन्य नायिका के प्रति गमन नायक का सबसे बडा दोष है। उससे आलाप करना मध्यम और उसको देखना छोटा दोष माना जाता है। मान देश, काल और परिस्थिति के अनुसार असाध्य दुख-साध्य और सुख-साध्य होता है, अर्थात् कभी तो नायक के द्वारा मनुहार किए जाने पर नायिका मानती ही नहीं, कभी कठिनाई से मानती है और कभी उसको मनाना अत्यन्त सरल होता है।

मान की परिभाषा सरस्वतीकंठाभरण में भोज इस प्रकार करते है—"प्रेम की गति, सर्प से समान स्वभाव से ही कुटिल है। जब हेतु के बिना अथवा हेतुपूर्वक (कारण अथवा अकारण) (मत, ना) आदि शब्दों से निषेध किया जाता है तब मान विप्रलम्भ होता है।'[४]

शृंगारप्रकाश में भोज ने मान का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। उनके अनुसार मान मा + न दो शब्दों के मेल से बना है, ये दोनो शब्द ही निषेधात्मक हैं। प्रेम का कुटिल मार्ग इन (नही, नही) से भरा पड़ा है।

(ये एक ध्यान देने की बात है कि बीजगणित के अनुसार दो निषेध, एक स्वीकृति के सूचक होते है। मा और न दो निषेधात्मक सकेतों से बने हुए मान का रोष केवल

---

१. गमनं ज्यायान्दोषः प्रतियोषिति मध्यमस्तथालापः।
आलोकनं कनीयान्मध्योज्यायान्स्वयं दृष्टः ॥१६॥
—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्भा संस्कृत सीरीज।

२. वसनादि नायकस्थं तदीयमार्द्रक्षतं च तस्यांगम्।
दोषस्य तथा गमकं गोत्रस्खलनं सखीवचनम् ॥१६॥ —वही।

३. देशं कालं पात्रं प्रसंगमवगमकमेत्य सविशिष्टम्।
जनयति कोपमसाध्यं सुखसाध्यं दुःखसाध्यं वा ॥१७॥ —वही।

४. अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिलेति सः।
अहेतोर्मेति नेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते ॥ ४८ ॥
—सरस्वतीकंठाभरण, पंचम परिच्छेद।

कृत्रिम होता है, सच्चा नहीं। मान ऊपरी होता है, वस्तुतः तो मानी पक्ष स्वयं भी प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए आतुर होता है।)

आगे निरुक्ति के अनुसार मान का अर्थ करते हुए भोज कहते हैं कि निरुक्ति में मान का अर्थ है पूजा, बोधन, मापन। (पूजा मे तो मान विप्रलम्भ मे होने वाली मनुहार आ जाती है, मापन में दूसरे पक्ष के प्रेम को नापने की बात), बोधन भोज के शब्दों में वह ज्ञान अथवा अभिमान है जो दुख के हेतु को भी सुख का साधन मानता है। मान में प्रेम के अस्तित्व का बोध होता है।

भोज के 'मान' सम्बन्धी विश्लेषण को हम दूसरे शब्दों में ऐसे भी कह सकते हैं कि मान, विप्रलम्भ शृगार की वह अवस्था है जिसमे एक पक्ष के अथवा दोनों पक्षों के मा, न आदि निषेधात्मक शब्दों के कहने से प्रेम की सन्तुष्टि में अवरोध उपस्थित होता है। इस दशा में प्रेम की गहराई की नाप की जाती है, (दूसरे पक्ष की) मनुहार की जाती है, और दुख देने वाली मान की उस अवस्था को सुख का साधन समझा जाता है।

शारदातनय ने भी 'मान' की काफी सुन्दर और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। शारदातनय के शब्दों में "मनोरथ निरोधन को मान कहते हैं। मा, न आदि शब्दों की वीप्सा से (आवृत्ति से) निरोध ही मान कहलाता है।"[1]

"यह, मान ईर्ष्या और प्रणय के भेद से स्त्री और पुरुषो मे दो तरह का माना गया है। (नायक के) सपत्नी के दर्शन, स्पर्श और (उसके गुण) श्रवण को न सहते हुए। स्त्रियो की ईर्ष्या जब मनोरथ को रोकती है तो उसे ईर्ष्यामान कहते है।"[2]

ईर्ष्यामान तीन प्रकार का है—

१. अनुमा ;

२. अध्यक्ष ;

३. श्रवण।

गोत्रस्खलन, भोगांक और स्वप्नायित (स्वप्न में बड़बडाना) से नायक के दूसरी नायिका मे प्रेम का अनुमान किया जाता है। अतः अनुमान के द्वारा उत्पन्न होने वाले इस मान को 'अनुमा ईर्ष्यामान' कहते है। 'अध्यक्ष' इन्द्रिय गोचर होता है और दासी, सखी आदि के मुख से सुनना ही 'श्रवण' है।

---

१. स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम्।
मा नेति वीप्सया रोधो मान इत्युच्यते बुधैः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थोधिकार, पृष्ठ ७९, गैकवाड़, ओरिएण्टल सीरीज।

२. ईर्ष्याप्रणयरोधेन मानः स्त्रीपुंसयोर्द्विधा।
सपत्नोदर्शनस्पर्शश्रवणासहता स्थिरा॥
ईर्ष्या स्त्रीणां तया रोध ईर्ष्यामान उदाहृतः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थोधिकार, पृष्ठ संख्या ७९।

प्रणयमान की परिभाषा को शारदातनय से पहले और किसी ने स्पष्ट नही किया था। प्रणयमान को अहेतु तो बताया गया था किन्तु उस अहेतु के पीछे भी गौण रूप से क्या हेतु छिपा रहता है, इसको किसी ने भी जानने का प्रयत्न नही किया था। शारदातनय ने अपने ढंग से उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार—

"मान-प्रकर्ष-प्रभव तथा रोष के आस्वाद से कषायित प्रेम यदि प्रकर्ष को प्राप्त हो तो वह प्रणय (मान) कहलाता है।"[१]

उनकी प्रणयमान की परिभाषा विद्वानों को कहाँ तक रुचिकर होगी, कहा नही जा सकता। किन्तु वह काफी मनोवैज्ञानिक और उचित प्रतीत होती है। शारदातनय की प्रणय-मान सम्बन्धी परिभाषा को और स्पष्ट शब्दों मे इस प्रकार समझा जा सकता है कि ईर्ष्या मान में ही दूसरे पक्ष द्वारा मनुहार किए जाने पर हृदय में जब मान नही रहता, केवल मान का अभिनय रह जाता है और उस अभिनय के द्वारा मान को स्थिर रखा जाता है, जिससे कि मनोरथ संतुष्टि मे निरोध रहता है तो वह प्रणयमान होता है।" मानी पक्ष के मान जाने पर मनुहार करने वाला पक्ष जब मान करने लगता है तब भी प्रणयमान उपस्थित होता है।

शारदातनय का कहना है कि प्रणयमान स्त्री-पुरुष दोनो मे हो सकता है किन्तु ईर्ष्यामान केवल स्त्रियो में ही होता है।

"प्रणयमान स्त्री-पुरुष दोनों का वर्णनीय है परन्तु ईर्ष्यामान केवल स्त्रियो का ही वर्णित किया जाता है। यदि पुरुष मे इसका वर्णन हो तो वैर की सम्भावना ही अधिक है।"[२]

ईर्ष्यामान के विषय में शारदातनय का यह दृष्टिकोण कि वह केवल स्त्रियों में होता है, पुरुष में नहीं, पुरुष में वह ईर्ष्यामान न रहकर वैर का रूप धारण करता हुआ भी पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। अहं भाव से ओत-प्रोत पुरुष का हृदय अहं के आहत होने पर अपने विपक्षी से ईर्ष्या करके ही संतुष्ट न रहेगा वह या तो स्वयं मर जाएगा अथवा उसको मार डालेगा। शरीर बल की समृद्धि भी उसके अह को आहत करने वाले व्यक्तित्व के नाश में उसका सहयोग ही देगी। प्रेमपात्री नायिका से भी पुरुष मान न करेगा, घृणा करने लगेगा, यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों में केवल शारदा-तनय ने ही सर्वप्रथम इस ओर संकेत किया है। उनके बाद भी इस ढंग का विश्लेषण और कहीं उपलब्ध नही है।

---

१. मानप्रकर्षप्रभवरोषास्वादकषायितम्　　।
प्रेम नीतं प्रकर्ष चेत्स एव प्रणयः स्मृतः ॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थोधिकार, पृ० ७९।

२. ईर्ष्यामानस्तु कविभिर्योषितामेव वर्ण्यते।
स पुंसां यदि वर्ण्येत वैरस्यायैव कल्पते ॥
—वही।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ मान की परिभाषा करते हुए कहते है—"कोप का नाम मान है, वह दो प्रकार का होता है; एक प्रणय से और दूसरा ईर्ष्या से उत्पन्न। प्रेम की उल्टी ही चाल होती है इसलिए दोनों के हृदय में भरपूर प्रेम होने पर भी बिना कारण ही एक-दूसरे पर जो कोप है, वह प्रणय मान है।"[१]

"पति की अन्य स्त्री में आसक्ति देखने पर या अनुमान करने पर अथवा किसी से सुन लेने पर ईर्ष्यामान होता है। यह तीन प्रकार से हो सकता है—

१. स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध में नायक का बड़बडाना।

२. नायक के सम्भोग चिह्नों को देखना।

३. नायक के मुँह से अनायास अन्य नायिका का नाम निकल जाना।"[२]

विश्वनाथ का मान सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन रूढ़िवादी ही है किसी मौलिक तथ्य का उद्‌घाटन साहित्यदर्पणकार ने नही किया है। साहित्यदर्पण के मान सम्बन्धी विवेचन में केवल एक बात विशेष ध्यान देने की है, और वह है कि विश्वनाथ ने मान को एक विशेष अवस्था में विप्रलम्भ शृंगार न मानकर सम्भोग शृगार का संचारी भाव ही माना है। विश्वनाथ कहते हैं—

"यदि मान अनुनय (मनुहार) के समय तक न ठहर सके तो इसे विप्रलम्भ शृंगार नहीं समझना चाहिए, किन्तु सम्भोग का संचारी नामक भाव ही जानना चाहिए।"[३]

विश्वनाथ का कहना कुछ सीमा तक ठीक है। दूसरे पक्ष द्वारा मनुहार किए जाने पर भी जब रोष के कारण मनोरथ की संतुष्टि का निरोध किया जाता है तब ही मान विप्रलम्भ होता है, क्योंकि विरह की भावना वहीं उपस्थित होती है। अभीष्ट की प्राप्ति में जहाँ वह (मान) बाधा नहीं पहुँचाता, वहाँ वह वियोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार नहीं हो सकता। क्षणिक मान सभोग के उत्कर्ष में सहायक ही होता है अतः वह सम्भोग का संचारी भाव ही होगा। किन्तु फिर भी प्रकर्ष प्राप्ति की अवस्था में पहुँचने से पहले उसमें वियोग का जो दुःख होता है, वह 'मान' की विरह वेदना ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने विप्रलम्भ का विवेचन करते हुए कहा है कि एक तल्प पर शयन करते हुए दम्पत्ति के हृदय में भी जब ईर्ष्या आदि के कारण अन्तर आ जाता है, तो विप्रलम्भ शृगार का वर्णन किया जाता है। मान विप्रलम्भ की कोई अलग परि-

---

१. मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्‌भवः।
द्वेयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ १९८॥
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं बिना।
—साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

२. पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥१९९॥
ईर्ष्या मानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधः।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसंभवा ॥२००॥
—वही

३. अननयपर्यन्ता सङ्गत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोग सञ्चार्याख्यभावत्वम्।—वही।

भाषा उन्होंने नहीं की है। भर्तृहरि ने संयोग के समय होने वाले वाले इस विरह को अत्यन्त कठिन, कहा है—"जो एक साथ रहकर भी मन में अन्तर रखते है, उनका संगम भी वियोग से (पूर्वानुराग प्रवास आदि विप्रलम्भ के और प्रकारों से) विशेष दुःख-दायी है।"[१]

३. प्रवास

प्रवास, विप्रलम्भ शृंगार का सबसे मुख्य भेद है। प्रवास विप्रलम्भ के वर्णन में कवियों ने पृष्ठ के पृष्ठ भर डाले है और फिर भी कभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। प्रवास के वर्णन के लिए ही कवियों ने छह ऋतुओं और बारहमासे आदि की उद्भावना की है और इसी बहाने काव्य में एक वृहत् साहित्य, प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के वर्णनों का और प्राकृतिक वातावरण के मानव मन पर पडने वाले प्रभाव का, तैयार हो गया।

पूर्वराग तो मिलने की अभिलाषा मात्र है, उसमें विरह की तडपन होती तो है, किन्तु वैसी नही जैसी प्रवास के विरही भुक्तभोगी की होती है। एक ने सुख देखा ही नही केवल उसकी कल्पना मात्र की है; और दूसरा उसे भोगकर उससे वंचित कर दिया गया है। मान मे मिलन की सम्भावना बहुत निकट ही होती है किन्तु प्रवास में तो प्रिय का लगाया हुआ आम, फल भी देने लगता है परन्तु फिर भी कभी-कभी विरह की अवधि पूर्ण नहीं होती। अतः विप्रलम्भ शृगार की यह अवस्था अत्यन्त मार्मिक है, विरह की भावना को सबसे अधिक प्रस्फुटित होने का अवकाश भी इसमें ही मिलता है।

रुद्रट ने प्रवास की परिभाषा करते हुए काव्यालंकार में कहा है—"नायक विदेश जाएगा, जा रहा है, चला गया; ये सब प्रवास कहलाते है। ऋतु विवक्षा (ऋतु के अनुसार उत्पन्न होने वाली इच्छा) के अनुसार ये तीन अभिलाषाएँ भी प्रवास कहलाती हैं—आएगा, मानो आता है अथवा आया हुआ है।"[२]

कहने का तात्पर्य यह कि नायक के विदेश जाने की सम्भावना से लेकर उसके चले जाने की अवस्था तक की तथा उसके विदेश जाने से उत्पन्न वियोग की सब आशंकाओं को प्रवास विप्रलम्भ कहा जाता है। वियोग काल में ऋतुओ के प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव के कारण बार-बार हृदय में उसके सामीप्य का जो अनुभव होता है; वह आएगा, आता है अथवा आया हुआ है ऐसा जो आभास होता है, उसे भी प्रवास विप्रलम्भ ही कहते हैं।

भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में प्रवास की परिभाषा इस प्रकार की है—"युवक-

---

१. यद्हृदयविघटितः स संगमोऽपि विरहं विशेषयति।
—शृगार शतक, भर्तृहरि, श्लोक सं० ९९।

२. यास्यति यातिगतो यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ।
एष्यत्येत्यायातो यथर्त्ववस्थोऽन्यथा च गृहान्॥३६॥
—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़।

युवतियों के नए अथवा प्रौढ़ अनुराग में (एक के) देशान्तर आदि में जाने के कारण जो चिरकाल तक व्यवधान पड़ जाता है, उसे प्रवास कहते हैं।"[1]

भोज की परिभाषा रुद्रट की परिभाषा से अधिक सुष्ठु और स्पष्ट है। रुद्रट वस्तुतः प्रवास में होने वाली विरही की मानसिक अवस्थाओ के विश्लेषण से उसका लक्षण स्पष्ट करने का प्रयत्न करते है और भोज सीधे-सादे शब्दों में यह कहकर कि नायक अथवा नायिका के अन्य देश में जाने से अनुराग में जो बाधा उपस्थित होती है वही प्रवास विप्रलम्भ है; प्रवास के लक्षण को बिलकुल स्पष्ट कर देते है।

शृंगारप्रकाश में वास शब्द को उसके तीन अर्थो में ग्रहण करके प्रवास शब्द का तीन विभिन्न अर्थों में विश्लेषण किया गया है। 'भोज' के अनुसार वास शब्द का पहला अर्थ निवास है, निवास का अर्थ है रहना। प्र उपसर्ग का अर्थ है प्रतिकूल अर्थात् प्रवास का अर्थ है चले जाना। प्रवास का यही अर्थ सबसे अधिक प्रचलित है। वास का दूसरा अर्थ भोज आच्छादन (कपड़ा) लेते है। प्र उपसर्ग का अर्थ है विशेष, यहाँ प्रवास का अर्थ होगा, विशेष प्रकार का आच्छादन। अतः भोज के अनुसार प्रवास शब्द, प्रिय व्यक्ति के चले जाने पर (नायिका द्वारा) धारण किये गए विशेष प्रकार के वस्त्रों की ओर भी संकेत करता है। प्रवास का तीसरा अर्थ एकाकी वियोगी के एकान्त निःश्वासों से है जिससे वियोगी को कष्ट होता है; इसी से उसको प्रवास कहते हैं। भोज का प्रवास शब्द का उपर्युक्त विवेचन, प्रवास-विप्रलम्भ सम्बन्धी व्याख्या में काफी उपयुक्त और समीचीन है।

भोज के पश्चात् हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में 'भिन्न देशत्व' को (नायक नायिका के) विभिन्न देशो में रहने को प्रवास कहा है। उन्होंने प्रवास का तीन कारणों से होना कहा है, "प्रिय व्यक्ति के कार्यवश, शापवश, अथवा सभ्रम चले जाने से 'प्रवास' होता है।"[2] कृष्ण का कार्यवश मथुरा से द्वारिका चले जाना कार्यवश, यक्ष का कुबेर के शाप से रामगिरि पर्वत पर रहना शापवश और अचानक किसी भय के कारण के उपस्थित होने पर नायक का देशान्तर चले जाना संभ्रम प्रवास है।

शारदातनय की प्रवास सम्बन्धी परिभाषा में कोई नवीनता नही है। हेमचन्द्र का अनुकरण ही यहाँ भी हुआ है। प्रवास के सम्बन्ध में शारदातनय कहते हैं—"भिन्न देशत्व को प्रवास कहते है। यह शाप से भी होता है, बुद्धि से सोच-समझकर भी और संभ्रम भी।"[3]

---

१. देशान्तरादिभिर्यूनौर्व्यवधानं चिराय यत्।
ननेऽनुरागे प्रौढे वा प्रवासः सोऽभिधीयते ॥४६॥
—सरस्वती कण्ठाभरण, भोज, पंचम परिच्छेद।

२. प्रवासो भिन्नदेशत्वम्।
कार्यशापसंभ्रमैः प्रवासः॥ ३३।८॥
—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र द्वितीय अध्याय।

३. प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वतः।
सम्भ्रमादपि तत्रैष बुद्धि पूर्वस्त्रिधा मतः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय-चतुर्थोधिकार।

बुद्धि से सोच-समझकर होने वाला प्रवास हेमचन्द्र के 'कार्यवश' से कुछ भिन्न नही है। संभ्रम के तात्पर्य को शारदातनय ने अवश्य स्पष्ट किया है—सहसा उत्पन्न होने वाले दैवी अथवा मानुषी विप्लव को सभ्रम कहते है।"[१]

साहित्यदर्पण में प्रवास का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"कार्यवश, शापवश अथवा सभ्रम (भय) वश नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहते है। उसमें नायिका के शरीर और वस्त्रों में मलीनता, सिर मे एक वेणी एव निश्वास, उच्छ्वास, रोदन और भूमिपतन आदि का वर्णन किया जाता है। अंगों में असौष्ठव, सन्ताप, पांडुता और दुर्बलता, अरुचि और अधीरता आदि इसके लक्षण हैं।"[२]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रवास वह विप्रलम्भ शृंगार है जिसमें कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रम नायक के अन्य देश मे चले जाने से नायिका अत्यन्त दुखी होती है। मलीन वस्त्र धारण करके एक वेणी रखती है, नायक के वियोग मे अत्यन्त अधीर रहती है, अत्यन्त दुर्बल हो जाती है, किसी वस्तु से उसे रुचि नही रहती और सन्ताप सहती हुई वह (कभी-कभी) मूर्च्छित हो जाती है।

४. करुण विप्रलम्भ

करुणा विप्रलम्भ का सर्वप्रथम उल्लेख हमें भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे ही मिल जाता है। 'रस विकल्प' नामक अध्याय में शृंगार रस का विवेचन करते हुए भरत ने शृंगार रस के एक भेद करुण विप्रलम्भ और करुण रस का अन्तर स्पष्ट किया है। भरत मुनि का कहना है कि यद्यपि करुण विप्रलम्भ और करुण एव करुणरस एक ही जैसी परिस्थितियों में उत्पन्न होते है (अर्थात् इष्टजन के नाश से) किन्तु दोनों की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। करुण रस मे पूर्ण निरपेक्ष भाव अर्थात् नैराश्य की अवस्था रहती है और करुण विप्रलम्भ में (रति स्थायी होने से) सापेक्ष भाव रहता है अर्थात् अभिलाषा बराबर बनी रहती है।"[३]

---

१. सम्भ्रमः सहसोत्पन्नो दिव्य मानुष विप्लवः ।
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थोधिकार, पृष्ठ ८६, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज ।

२. प्रवासो भिन्नदेशित्व कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात् ।
तत्रांगाचेलमालिन्यमेकवेणीधरम् शिरः ॥ २०४ ॥
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।
अंगेष्वसौष्ठवं तापः पांडुता कृशताऽरुचिः ॥ २०५ ॥
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद ।

३. करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धन समुत्थो निरपेक्ष भावः । औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः । एवमन्यः करुण अन्यश्च विप्रलम्भः इति ।
—नाट्यशास्त्र, षष्ठाध्याय, पृष्ठ ७३, काशी संस्कृत सीरीज ।

नाट्यशास्त्र में कथित इस तथ्य की ओर रुद्रट ने सम्भवतः ध्यान नहीं दिया है। रुद्रट द्वारा दी गई करुण विप्रलम्भ की परिभाषा करुण रस की परिभाषा ही हो गई है। करुण विप्रलम्भ की परिभाषा रुद्रट इस प्रकार करते है—

"नायक अथवा नायिका में से किसी की मृत्यु हो जाए अथवा कोई मृतकल्प हो तो उससे उत्पन्न प्रलाप को करुण कहते है। (नायक और नायिका में, इन दोनों अवस्थाओं में होने से) करुण विप्रलम्भ चार प्रकार है।"[1]

करुण विप्रलम्भ का लक्षण सरस्वती कण्ठाभरण में देते हुए भोज कहते है—"प्रिय युवक के दूसरे लोक में चले जाने पर जब दीना युवती निरन्तर दुखी होती है, वहाँ करुण विप्रलम्भ होता है।"[2]

भोज का यह लक्षण भी करुण रस से कुछ भिन्न नही है। दीना युवती के निरन्तर दुखी होने का स्थायी भाव शोक ही माना जाएगा। शारदातनय ने भावप्रकाश में कहा है—

"कुछ लोगो का मत है कि वियोग का एक भेद मरण है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि मर जाने पर जो प्रलाप होता है वह शोक ही है।"[3]

भरत के परवर्ती इन सभी आचार्यों की दृष्टि करुण विप्रलम्भ के विषय मे स्पष्ट नही थी। सभी करुण विप्रलम्भ को करुण रस से मिलाकर देख रहे थे। उनके सम्मुख करुण रस और करुण विप्रलम्भ का अन्तर स्पष्ट नही था। यदि प्रिय युवक के परलोक चले जाने पर दीना युवती का निरन्तर विलाप करुण विप्रलम्भ है तो करुण रस कहाँ होगा? यह प्रश्न इन आचार्यों से पूछा जाता तो सम्भवतः यह लोग परेशानी मे पड जाते अथवा उसका उत्तर ये यह देते कि पति-पत्नी सम्बन्ध में मृत्यु के बाद होने वाला शोक करुण विप्रलम्भ है और माता-पुत्र सम्बन्ध में होने वाला शोक करुण रस। किन्तु क्या उनका यह उत्तर ठीक होता? निश्चय रूप से नही क्योकि शोक के स्थायी भाव हो जाने पर करुण रस होगा करुण विप्रलम्भ नही। विप्रलम्भ वही होगा जहाँ स्थायी भाव रति विद्यमान होगा। रति प्रवृत्तिमूलक है और शोक निवृत्तमूलक।

---

१. करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयोः।
यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गत प्रलपेत् ॥३४॥
—काव्यालकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्बा सस्कृत सीरीज़।

२. लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा।
भृशं दुःखायते दीनः करुणः स तदोच्यते ॥५०॥
—सरस्वती कण्ठाभरण, पचम परिच्छेद।

३. वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत्।
मृते त्वन्यत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थाधिकार, पृष्ठ ८६।
गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज।

शोक और रति के जिस अन्तर को भरत इतने पहले स्पष्ट कर गए थे, उसकी ओर इन सबने ही ध्यान नही दिया, इसी कारण यह उलझन हुई है। रति प्रवृत्तिमूलक है, अतः विप्रलम्भ में मृत्यु के पश्चात् भी मिलने की आशा बँधी रहेगी। किन्तु शोक निवृत्तिमूलक है, इसलिए करुण रस में पूर्ण नैराश्य की अवस्था होगी। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि पति-पत्नी सम्बन्ध में भी जहाँ पूर्ण नैराश्य का वर्णन होगा, पुनर्मिलन की आशा नही होगी वहाँ करुण रस ही होगा करुण विप्रलम्भ नही।

भरत के करुण विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा के तथ्य को साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने समझा। किन्तु उन्होंने करुण विप्रलम्भ की उपस्थिति के लिए एक प्रतिबन्ध और लगा दिया—

"नायक नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुखी होता है तो उस अवस्था को करुण विप्रलम्भ कहते हैं। परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के मिलने की आशा हो। यदि फिर मिलने की आशा टूट जाए अथवा जन्मान्तर में मिलने की आशा हो तो करुण रस होगा।"[१]

जन्मान्तर मे मिलने की आशा को विश्वनाथ करुण रस मानते है किन्तु विचार करके देखा जाए तो वह भी करुण विप्रलम्भ ही ठहरती है। जन्मान्तर में भी स्थिर मिलन की आशा रति के स्थायित्व की सूचना देती है, अतः वहाँ भी करुण विप्रलम्भ ही होगा।

सक्षेप में हम कह सकते है कि शोक प्रकृति से युक्त होने पर भी करुण विप्रलम्भ का (विरह) में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि उसके मूल में रति ही स्थायी भाव के रूप में स्थित रहती है। यदि ऐसा न होता तो वह करुण रस ही हो जाती। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि "युवक और युवती में से जब एक की मृत्यु हो तो जीवित व्यक्ति खिन्न मन रहता है, वही करुण विप्रलम्भ होता है। इसको विश्वनाथ के लक्षण की आवृत्ति कह सकते है। दर्शन से मूर्छित नायक को लेकर भी करुण विप्रलम्भ होता है, जैसे कादम्बरी मे पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त है। करुण विप्रलम्भ मे शोक व्यभिचारी भाव है, इसलिए संगम की प्रत्याशा से युक्त यह अवस्था करुण विप्रलम्भ ही कहलाएगी।

राजा हरिपाल का विप्रलम्भ सम्बन्धी दृष्टिकोण

राजा हरिपाल संभोग और विप्रलम्भ को शृंगार के दो भेद न मानकर शृंगार के अतिरिक्त दो स्वतन्त्र रस मानते है। उनका कहना है—

"पहले आचार्यों ने इस वासना के संभोग और विप्रलम्भ के नाम से शृंगार के दो भेद बताए है, यह उचित नही है। क्योंकि शृंगार कहीं-कही दिखाई पड़ता है, इस-

---

१. यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणाविप्रलम्भाख्यः ॥२०६॥
पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः।
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, ततीय परिच्छेद।

लिए यह अनित्य है, पशु-पक्षियों में यह (शृंगार) नहीं मिलता। संभोग सभी प्राणियों में दिखाई पड़ता है, अतः नित्य है; इसलिए हम संभोग को शृंगार से पृथक् एक स्वतन्त्र रस मानते है।"[१]

राजा हरिपाल का सम्भोग सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन ठीक नही है। अपने शृंगार रस सम्बन्धी विवेचनों में हम इस तथ्य पर पहुँच चुके है कि शृंगार नित्य है, वह पशु-पक्षियों में भी मिलता है। उस अवस्था में सम्भोग को शृगार से पृथक् अन्य रस मानने के मत से सहमत नही हुआ जा सकता।

राजा हरिपाल विप्रलम्भ को भी शृगार से पृथक् अन्य रस मानते है और उसका स्थायी भाव आर्ति बतलाते है। विप्रलम्भ के सम्बन्ध में हरिपाल का कहना है—

"शृंगार रस उज्ज्वल, शुचि और हर्षवर्धक होता है और विप्रलम्भ मलिन, दुःखकारी और अप्रिय। अतः विप्रलम्भ, शृगार से भिन्न है। यह प्रश्न हो सकता है कि जन्य विप्रलम्भ जनक सम्भोग से भिन्न कैसे है, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे जन्य भयानक जनक वीर से भिन्न होता है (उसी प्रकार विप्रलम्भ भी सम्भोग से भिन्न है)।"[२]

विप्रलम्भ विषयक उपर्युक्त दृष्टिकोण उसी व्यक्ति का हो सकता है जिसने विप्रलम्भ के ऊपरी रूप को ही केवल देखा हो। विप्रलम्भ ऊपर से मलिन और दुःखकारी अवश्य प्रतीत होता है किन्तु उसको वैसा समझ लेना भूल होगी। वास्तव मे तो विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त उत्कृष्ट और उज्ज्वल रूप है। प्रेम की निस्वार्थता वियोग की विरह वेदना से ही निखरकर सामने आती है। विप्रलम्भ मे (अभीष्ट की अप्राप्ति) केवल औपचारिक रूप मे है, वास्तविक स्थिति तो यह है कि वियोग के दुःख मे भावनाओं का अवनयन नही होता प्रत्युत् अभिलाषा को स्फूर्ति मिलती है। विप्रलम्भ मे आर्ति आती

---

१. सभोगो विप्रलम्भवश्च ब्रह्मश्चेति त्रयो रसाः।
अतिरिक्ता उदीर्यन्ते हरिपालमहीभुजा॥
तत्रेयं वासना (?) पूर्वैः संभोगो विप्रलम्भकः।
शृंगाररयेव भेदौ द्वौ कथितौ—तदसाम्प्रतम्॥
अनित्यस्तत्र शृगारः क्व (क्वा) चित्को दृश्यते यतः।
पशुपक्षिमृगाद्येषु यतश्च न विलोक्यते॥
सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् सभोगस्यास्ति नित्यता।
अतोऽभ्यधयि संभोगो रसः शृंगारकः (तः) पृथक्॥
—नम्बर आफ रसाज, राघवन, पृष्ठ १४५।

२. उज्ज्वलः शुचिरित्युक्तः शृंगारो हर्षवर्धनः।
मलिनो दुःखकारी च विप्रलम्भोऽप्रियावहः॥
अतः शृंगारतो भिन्नो विप्रलम्भो उदाहृतः।
भयानकस्य वीरस्य जन्यस्य जनकस्य च।
यो भेदो विप्रलम्भस्यसंभोगस्य च स स्मृतः॥
—वही

अवश्य है किन्तु केवल व्यभिचारी के रूप में, अन्यथा तो विरही प्रवृत्तिमूलक रति को ही अपने हृदय में धारण किए दुःखदायक परिस्थिति के आघात को भी सुखमय मानकर उसका आह्वान करता है। दुःख उसकी रति को पुष्ट करता है हनन नही। अतः दुःख उसका स्थायी भाव नही हो सकता, वह रति की पुष्टि करने वाला व्यभिचारी भाव है। अतः यह निश्चित ही है कि अपने वास्तविक रूप में विप्रलम्भ, शृगार का पुष्टिकर्ता और उसका उत्कर्षकर्ता आवश्यक अंग ही है।

काम-दशाएँ

नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय नामक अध्याय में भरत ने कहा है—"दश अवस्थाओं से युक्त काम नाना भावों मे प्रकाशित होता है। सर्वप्रथम अभिलाषा उत्पन्न होती है, फिर चिन्तन, स्मृति तृतीय दशा है। उसके बाद गुण कीर्तन और उद्वेग होता है, विलाप छठी स्थिति है। सातवी दशा उन्माद के नाम से अभिहित है, व्याधि आठवी है नवी को जड़ता कहते है, दसवी दशा मरण है। पुरुष और स्त्री मे यह प्रेम की अवस्थाएँ है।"[१]

आगे इनके लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिए है—

"(प्रिय व्यक्ति के लिए) इच्छा और आकाक्षा से उत्पन्न होकर जो उनके समागम का उपाय करती है, उसे 'अभिलाषा' कहते है।"[२]

"दूती से कहे गए इन वचनो के द्वारा चिन्ता का निर्देश होना चाहिए—प्रिय से समागम कैसे और क्योंकर सम्भव होगा।"[३]

"प्रिय व्यक्ति के विषय मे गम्भीर चिन्तन करते हुए तथा अन्य कार्यो में अरुचि प्रकट करते हुए, बार-बार दीर्घ निःश्वास लेने को स्मृति कहते है।"[४]

"अग-प्रत्यगो की स्वाभाविक चेष्टाओ, स्मृति और दृष्टि से यह सूचित करना

---

१. .....
दशावस्थागतं कामं नानाभावैः प्रकाशयेत् ॥१६६॥
प्रथमे त्वभिलाषः स्यात् द्वितीये चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृति स्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम् ॥१७०॥
उद्वेगः पंचमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमे ॥१७१॥
नवमे जड़ता प्रोक्ता दशमे मरण भवेत्
स्त्रीपुंसयोरेष विधिर्लक्षणं च निबोधत ॥१७२॥

२. व्यवसायात् समारब्धः सकल्पेच्छासमुद्भवः।
समागमोपायकृतः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ॥१७३॥

३. केनोपायेन सप्राप्तिः कथ वा सम्भवेन्मम।
दूतीनिवेदितैर्वाक्यैरिति चिन्तां विनिर्दिशेत् ।१७५॥

४. मुहुर्मुहुर्निःश्वसितैर्मनोरथविचिन्तनैः ।
प्रद्वेषस्वन्यकार्येणामनुस्मृतिरुदाहृता ॥१७७॥

—नाट्यशास्त्र, भरत।

कि उसके (प्रिय व्यक्ति) के सदृश और कोई नहीं है, गुणकथन कहलाता है।"[१]

"आसन शयन में जब न क्रोध होता है, न हर्ष किन्तु निरन्तर (मिलन की) उत्सुकता बनी रहती है तो उसे उद्वेग कहते है।"[२]

"यहाँ वह (प्रिय) बैठा था, यहाँ खड़ा था, यहाँ वह मेरे समीप आया था। इस प्रकार विलाप करने को (दुखपूर्ण वाक्यों के कहने को) विलाप कहते हैं।"[३]

"जब नायिका केवल उस(प्रिय व्यक्ति) के विषय में बात करने में सलग्न रहती है तथा अन्य पुरुषों मे घृणा करती है तो उसे उन्माद कहते है।"[४]

"प्रेम के समस्त सुखों से वंचित पूर्ण निराशा की अवस्था मे व्याधि होती है।"[५]

"पूछने पर जब कुछ बोला नही जाता, (विरही) न कुछ देखता है न सुनता है। उस स्मृतिशून्य अवस्था को जडता कहते है।"[६]

"सब उपायों के करने पर भी जब समागम नही होता तो कामाग्नि में पडा हुआ विरही मरण को प्राप्त होता है।"[७]

भरत के पश्चात् सस्कृत काव्यशास्त्र का दूसरा सर्वमान्य ग्रन्थ विश्वनाथ का साहित्यदर्पण है। साहित्यदर्पण मे काम-दशाओ का विवेचन विश्वनाथ ने विप्रलम्भ के सम्बन्ध मे किया है, वस्तुतः काव्य में काम-दशाओं की अभिव्यक्ति विरह के सम्बन्ध से ही होती है।

विप्रलम्भ के विषय में इतना बताने के बाद कि 'वह पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण चार प्रकार का होता है' विश्वनाथ पूर्वराग की काम-दशाओ का वर्णन इस प्रकार करते है—

"अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता

---

१. अंगप्रत्यंगलीलाभिर्वाक्चेष्टाहसितेक्षणैः ।
नास्त्यन्यः सदृशस्तेनेत्येतत्स्याद्गुणकीर्तनम् ॥१७६॥
—नाट्यशास्त्र, भरत, अध्याय २२

२. आसने शयने चापि न कुप्यति न हृष्यति ।
नियमेनोत्सुका यस्मादुद्वेगस्थानमेव तु ॥१८१॥ —वही

३. इह स्थित इहासीन इहचोपगते मया ।
इति तैस्तैर्विलापेऽपि तैर्विलापं प्रयोजयेत् ॥१८३॥ —वही

४. प्रद्वेष्टि चापरान्पृच्छो यत्रोन्मादः स उच्यते ॥१८५॥ —वही

५. सामधनादि (?) साभोगैः काम्यैः सप्रेषणैरपि ।
सर्वैः निराकृतैः पश्चाद्व्याधिः समुपजायते ॥१८७॥ —वही

६. पृष्टा न किंचित्प्रब्रूते न शृणोति न पश्यति ।
हा कष्टवाक्यात्तूष्णीका जडतायां गतस्मृतिः ॥१८९॥ —वही

७. सर्वैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि नास्ति समागमः ।
कामाग्निना प्रदीप्ताया जायते मरण ततः ॥१९१॥ —वही

जुलती काम-दशा' साहित्यदर्पणकार की 'प्रलाप' है। नाम के साम्य से इन्हें कुछ एक-सा समझा जा सकता है और साधारणतः समझा जाता भी है किन्तु भरत का 'विलाप' दर्पणकार के 'प्रलाप' से निश्चित रूप से भिन्न है। 'विलाप' केवल भावना के आधिक्य से फूट-फूटकर रोना है और प्रलाप मानसिक सन्तुलन से पूर्ण विरहित एक दूसरी अवस्था।

परवर्त्ती सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने काम-दशाओ मे क्रम भरत का स्वीकार करते हुए भी प्रलाप का लक्षण दर्पणकार का दिया है। यह सम्मिश्रण विचित्र तो अवश्य है, किन्तु अनायास ही मनोवैज्ञानिक अधिक हो गया है। उद्वेग की मानसिक अव्यवस्था प्रलाप के रूप मे प्रकट होने पर अधिकाधिक पीड़ित हो उन्माद का रूप धारण कर लेती है। व्यक्ति पागल हो जाता है, पूर्ण विस्मृत।

साहित्यदर्पणकार के प्रलाप सम्बन्धी विवेचन मे स्मृति को स्थान प्राप्त नही है क्योकि वह उसका विवेचन पूर्वराग के सम्बन्ध मे कर रहे थे। पूर्वराग मे तो मिलन की अभिलाषा का मार्ग ही, अवरुद्ध होने पर, उन्मादी होता हुआ प्रलाप कर बैठता है। स्मृति और उद्वेग के मानसिक द्वन्द्व का वहाँ अभाव रहता है। पूर्वराग मे अभिलाषा की एक-निष्ठता और तन्मयता अवश्य होती है किन्तु प्रिय सान्निध्य का सुख अनुभव किये हुए वचित व्यक्ति की बेवसी और बेचैनी की पीड़ा नही।

दर्पणकार के प्रवास सम्बन्धी विवेचन मे वर्णित अरुचि, अधीरता और अस्थिरता आदि काम-दशाओं को हम भरत के उद्वेग मे ही अन्तर्निहित कर सकते है। उद्वेग का लक्षण देते हुए भरत कहते है—"आसन-शयन मे जब न क्रोध होता है न हर्ष किन्तु निरन्तर मिलन की उत्सुकता बनी रहती है तो उसे उद्वेग कहते है।" क्रोध और हर्ष का न होना मन की बेचैन अवस्था का परिचायक है। यही इस ओर भी इगित करता है कि विरही की अन्य विषयो के प्रति अरुचि है। मिलन की उत्सुकता होने पर भी उसका मार्ग कुण्ठित होने से अधीरता विरही के सम्पूर्ण अस्तित्व को आत्मसात करने लगती है और इन दोनों का द्वन्द्व उसे अस्थिर बना देता है। यह अस्थिरता जब तक बहुत मुखर नही हो जाती, तब तक वह उद्वेग है, मुखर होने पर विरही उन्मादी हो ही जाता है।

विश्वनाथ की असौष्ठव और सताप आदि काम-दशाएँ चिन्ता से उत्पन्न निराशा का ही अभिव्यक्त रूप है। मिलन कैसे और क्योंकर होगा, मन के इस भाव को जब कोई मार्ग नही सूझता तो अतिशय निराशा और दुख से विरही का मलीन हो जाना स्वाभाविक ही है।

पाण्डुता और दुर्बलता व्याधि के अतिरिक्त और कुछ नही। स्वयं दर्पणकार के अपने शब्दों मे "दीर्घ श्वास, पाण्डुता और दुर्बलता व्याधि है" (पूर्वराग सम्बन्धी विवेचन)। अतः इन्हें अलग काम-दशाएँ मानकर इनका स्वतंत्र विवेचन और विश्लेषण करने की आवश्यकता नही।

विश्वनाथ के प्रवास सम्बन्धी विवेचन में तन्मयता नामक काम-दशा का वर्णन मिलता है। इस तन्मयता को हम भरत की स्मृति का ही एक अग मान सकते है।

तन्मयता का लक्षण विश्वनाथ इस प्रकार करते हैं—"भीतर-बाहर प्रिय के ही दीख पड़ने को तन्मयता कहते है।" और स्मृति का लक्षण भरत के अनुसार यह है—"प्रिय व्यक्ति के विषय में गम्भीर चिन्तन करते हुए तथा अन्य कर्मो में अरुचि प्रकट करते हुए बार-बार दीर्घ निःश्वास लेने को 'स्मृति' कहते है।" अतः तन्मयता स्मृति का वह अंग कही जा सकती है जहाँ प्रिय के विषय में गम्भीर चिन्तन करता हुआ विरही बाहर-भीतर उसी को देखने लगता है। साथ ही विरही के जीवन का यह भी कटु सत्य है कि तन्मयता के ये कुछ सुखद क्षण चिरस्थायी नही। 'प्रिय दूर है, मैं उनसे वियुक्त हूँ,' यह यथार्थ जब तन्मयता को अनायास ही झकझोर कर तहस-नहस कर डालता है तो वह स्मृति अमृत न होकर गरल बन जाती है, विरही अन्य कर्मो में अरुचि प्रकट करता हुआ बार-बार दीर्घनि श्वास लेने लगता है। नि.श्वास उसकी विवशता का द्योतक है।

पूर्वराग सम्बन्धी विवेचन में विश्वनाथ ने यद्यपि उद्वेग नामक काम-दशा की गणना की है तथापि उसका लक्षण उन्होंने कहीं नही दिया। प्रवास सम्बन्धी विवेचन में 'अनालम्बनता' नामक काम-दशा का जो लक्षण दर्पणकार ने किया है वह भरत की उद्वेग दशा के लक्षण से समानता रखता है। 'मन की शून्यता अनालम्बनता कहलाती है।" (विश्वनाथ) "आसन-शयन में जब न क्रोध होता है न हर्ष किन्तु मिलन की उत्सुकता बनी रहती है तो उसे उद्वेग कहते है।" (भरत) हर्ष और क्रोध का न होना तो मन की शून्यता है ही, साथ मे मिलन की उत्सुकता होते हुए भी उसकी सिद्धि में व्यवधान जब मन का व्यावर्तन करता है तो उसका अधिक शून्य हो जाना स्वाभाविक है। मन की यह जडता जब अंगो पर भी अधिकार कर लेती है तो 'जड़ता' की दशा आती है। "अंगों तथा मन के चेष्टाशून्य होने का नाम जड़ता है।" (विश्वनाथ) "पूछने पर जब कुछ बोला नही जाता (विरही) न कुछ देखता है न सुनता है तो उस स्मृतिशून्य अवस्था को जडता कहते है।" (भरत) विश्वनाथ के अनुसार मरण का नाम मृति है। भरत ने मरण का लक्षण इस प्रकार किया है—"सब उपायो के करने पर भी जब समागम नही होता तो कामाग्नि में पड़ा हुआ विरही मरण को प्राप्त होता है।' रति भाव में मरण दशा का वर्णन प्रायः कवि नही करते क्योकि शोक की उपस्थिति से रति के चरम उत्कर्ष में बाधा उपस्थित होती है। अतः दीर्घकालीन जड़ना को ही मरण मान लिया जाता है।

सक्षेप मे काम-दशाओ के विषय मे यह निष्कर्ष दिए जा सकते है: विरह की अनेक मनःस्थितियाँ ही काम-दशाएँ है। ये उत्कट इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इनका अन्तिम लक्ष्य मिलन की इच्छा आतुरता ही है।

काव्यशास्त्रियों ने काम-दशाएँ दस मानी हैं—१ अभिलाषा, २. चिन्ता, ३. स्मृति, ४. गुणकथन ५. उद्वेग, ६ प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. जड़ता और १०. मरण।

अभिलाषा—मिलन की इच्छा का नाम ही अभिलाषा है। इसमें प्रेमी प्रिय विषयक अनेक कल्पनाएँ करने में तल्लीन रहता है।

चिन्ता—मिलन किस प्रकार हो सकता है । मार्ग की कौन-कौन-सी बाधाएँ हैं, उन सब पर किन-किन उपायो मे विजय प्राप्त की जा सकती है, इन सब समस्याओं पर चिन्तन करने को चिन्ता कहते है । प्रवास में प्रिय के कुशल क्षेम की चिन्ता भी हो सकती है ।

स्मृति—मिलन की अभिलाषा का पथ अवरुद्ध होने पर जब प्रेम का उन्मुखी भाव कुण्ठित हो जाता है तो विरही मन आगे बढने के स्थान पर पीछे लौटने लगता है। अतीत की ओर प्रत्यावर्तन करके वह मिलन को ध्यान मे पाने का प्रयत्न करता है और इस तरह चिन्तन में अपने प्रत्यक्ष के अभाव की क्षतिपूर्ति करता है। इसको स्मृति कहते है ।

गुणकथन—स्मृति मे प्रिय का सान्निध्य जब इतना मूर्त और साकार हो जाता है कि प्रत्यक्ष का-सा आभास देने लगता है, तो प्रेमी उस सुखद अनुभूति को केवल अपने में बाँध नही पाता, भाव शब्दो मे फूट पड़ते है। प्रिय के प्रति पक्षपात रखता हुआ प्रेमी अपनी सुखद अनुभूतियों को मुखर करता हुआ प्रिय का गुणकथन करता है। अभिलाषा में भी गुणकथन का समावेश रह सकता है ।

उद्वेग, उन्माद और प्रलाप—विरह में अतीत की स्मृतियाँ मिलन की इच्छा को अत्यन्त उत्कट बना देती है । वियुक्तावस्था के उस वर्तमान यथार्थ और विवशता मे स्मृतियों और इच्छाओं का द्वन्द्व चलता है और मन बेचैन हो उठता है । उत्कट इच्छा और परिस्थितिजन्य विवशता के संघर्ष से मन के अव्यवस्थित हो जाने को ही उद्वेग कहते है । मन का यह असन्तुलन जब वाणी और व्यवहार में प्रकट होने लगता है तो क्रमशः प्रलाप और उन्माद कहलाता है ।

व्याधि, जड़ता—जैसे अत्यधिक श्रम और उत्तेजना के पश्चात् शरीर जड़ हो जाता है, उसी प्रकार उन्माद में अव्यवस्थित भावनाओ के आरोह-अवरोह और उनसे प्रेरित अनियमित अटपटी चेष्टाओ से विरही का मन और शरीर भी थक जाते है । शरीर की थकान से अनेक प्रकार के रोग विरही पर अपना अधिकार जमा सकते है और मन की क्लान्ति उसकी चेतना को धुँधला करती जाती है । यही जड़ता के रूप में अभिव्यक्ति होती है । अतिशय क्लान्ति मे निष्क्रियता का भाव ही जड़ता की स्थिति है ।

मरण—जड़ता के विलम्बित रूप को मरण कहते है । यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि विप्रलम्भ में मरण (मृत्यु) का वर्णन प्रायः कवि नही करते । क्योंकि वहाँ शोक भाव प्रमुख हो जाने के कारण रति के उत्कर्ष में त्रुटि उपस्थित होती है । अतः विरह की मरण-अवस्था को मरणासन्न अवस्था ही समझना चाहिए, वह दीर्घकालीन जड़ता ही है ।

विरह का मनोवैज्ञानिक विवेचन

मनोविश्लेषण शास्त्र में साहित्य के 'विरह भाव' का कोई स्वतंत्र विवेचन नहीं

मिलता। साहित्य का 'विरह भाव' वस्तुतः एक अनुपम मानसिक अवस्था है जिसमें मन की विविध परिस्थितियों और अनुभवों का संश्लेषण रहता है। विरह में अहं के आहत होने से उत्पन्न पीड़ा के एक अथवा अनेक रूप उपस्थित रह सकते है।

मनोविश्लेषण शास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में अहं की आहत अवस्था की जिन विविधताओं का विश्लेषण किया है, उन्हीं में साहित्य के विरह-भाव को खोजने का प्रयत्न प्रस्तुत अध्याय मे किया गया है।

व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रक्रियाओं के मूल में स्थित जीवनेच्छा विशेष को फ्रायडियन भाषा मे Libido कहते है। इसी को Ego libido (अहं की जीवनेच्छा) भी कहा जाता है। इस Ego libido का अध्ययन और विश्लेषण तब अधिक सुगम हो जाता है जब यह अपना कोई विषय चुनकर उसमें व्याप्त और आच्छादित होती है। तब यह Object libido (विषयगत जीवनेच्छा) कहलाती है। उस स्थिति में हम इसे विषयों पर एकाग्रचित होते, कभी किसी विषय को अपनाते और किसी को त्यागते हुए पाते हैं। यह ग्रहण और त्याग विषयी की यौन-सम्बन्धी चेष्टाओं से प्रेरित होकर उन अनेक स्थितियों में से होकर गुजरता है जो अन्त में जीवनेच्छा की संतुष्टि का मार्ग प्रशस्त करती हुई संतुष्टि के रूप में ही परिणत होती है।[1] अर्थात् जीवनेच्छा पहले विषयी में रहती है, तब इसका रूप अप्रकट होता है, प्रकट तभी होता है जब वह किसी विषय के प्रति क्रियाशील होकर उसमें अपनी संतुष्टि प्राप्त करती है। इसी को विषयगत जीवनेच्छा कहते हैं।

इस जीवनेच्छा (कामेच्छा) के अस्तित्व से ही सृष्टि का सुन्दर क्रम चल रहा है, यह फ्रायड प्रभृति मनोविश्लेषण विज्ञों का मत है। 'निर्विवाद रूप से यह विषय-चयन विपरीत लिंगों में होना चाहिए।'[2] अर्थात् जीवनेच्छा (काम) अपनी संतुष्टि का विषय विपरीत लिंगों मे एक-दूसरे के प्रति खोजती है। यही स्त्री-पुरुष के मध्य आकर्षण का रहस्य है।

---

१. The Libido Theory...the energy which must be supposed to underlie mental processes in general···

The ego-libido is, however, only conveniently accessible to analytic study when it has been put to use of cathecting sexual objects, that is when it has become object libido. We can then perceive it concentrating upon objects, becoming fixated upon them abandoning them, moving from one object to another and from these situations directing the subjects sexual activity which leads to the satisfaction.

—Freud's "*Three Essays on the theory of Sexuality.*" Translated by James Strachy. *pp.* 94-95.

२. One of the tasks implicit in object-choice is that it should find its way to the opposite sex. *Ibid., p.* 106.

उपर्युक्त विवेचन में फ्रायड ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्‌घाटन किया है। वह तथ्य यह है कि किसी एक विषय में अपनी संतुष्टि न पाकर जीवनेच्छा 'काम' उसी विषय पर स्थित नहीं रह सकती क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य स्व की सतुष्टि है, वह ग्रहण और त्याग करती है। यदि किसी कारण अपने विशिष्ट विषय के प्रति मोह को न भी छोड़ सके तो भी उस विवश परिस्थिति में भी अपनी संतुष्टि का कोई ढंग निकाल लेती है। जब तक नहीं निकाल पाती, तब तक पीड़ा का अनुभव करती है और जब उसे उसका कोई उपाय मिल जाता है तो किसी-न-किसी मात्रा में सतुष्टि के सुख का अवश्य अनुभव करती है।

जीवनेच्छा की सतुष्टि का विषय वस्तु नही होती, व्यक्ति होता है। वह आत्म-का-आत्म के प्रति आकर्षण है। अपने आत्म का साक्षात्कार ही हम दूसरे आत्म में करना

अनुभूत्यात्मक भावस्थितियो का जन्म होता है। ये सब अनुभूत्यात्मक भावस्थितियाँ विरह की विस्तृत सीमाओं के अन्तर्गत आ जाती है। ये स्थितियाँ है—नैराश्य, उदासीनता, आत्मपीड़न, मान, ईर्ष्या, परपीडन और उन्नयन।

नैराश्य (Frustration)—परिस्थितिवश जीवनेच्छा 'काम' जब अपनी संतुष्टि अपने 'विषय' मे पाने मे समर्थ रह जाती है, तब संतुष्टि के अभाव में भावनाओं के बरबस दमन से जो नैराश्य स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें वेदनामयी पीड़ा का जन्म होता है। फ्रायडियन भाषा में इसे (कामेच्छा के दमन से) नैराश्य का उत्पन्न होना कहा जाता है। इस नैराश्य के कारण ही विरह मे पीड़ा का अस्तित्व है।

१. Hence it is the relation of an I to a thou is quite different from the relation of an I to an object or a thing—and true love is always an I a thou relation. Love does not cling to the I in such a way as to have the thou only for its 'Content', its object, but love is between I and thou. The man who does not know this, does not know love.

—*'I and Thou'* by Martin Baber.

उदासीनता—कामेच्छा, असंतुष्टि की स्थिति में टिकी नही रह सकती यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है। अतः निराशा की स्थिति मे भी व्यक्ति की 'अहं चेतना' अपने असन्तोष को भुलाने का-सा प्रयत्न करके स्वय को यह जताना चाहती है कि मैं असंतुष्ट नहीं हूँ, दुखी नहीं हूँ। इस स्थिति में वह स्वय को यह विश्वास दिलाना चाहती है कि उसे उस 'विषय' से, जिसमें कि वह पहले तृप्ति की खोज करने का प्रयत्न कर रही थी, कोई मतलब ही नही है, कोई आसक्ति ही नही है। किन्तु यह भुलावा चेतन अपने को दे सकता है, अवचेतन को नही। अतः अवचेतन की अतृप्त अभिलाषा उसे फिर भी कचोटती ही रहती है। यही विरह मे उदासीनता (Indifference) की स्थिति है। 'उदासीनता' अपने-आपको भुलावा देने का प्रयत्न है। उसमे व्यक्ति सन्तोष का-सा अनुभव करना तो चाहता है, कुछ मात्रा मे वह करता भी है, किन्तु वस्तुतः तृप्ति के वास्तविक सन्तोष का वहाँ फिर भी अभाव रहता है। विरह की पीड़ा विरही को सालती ही रहती है।

आत्मपीड़न (Masochism)—पीडा के इस निरन्तर अनुभव मे अपने को सुखी मानने के लिए लालायित 'अह चेतना' उस पीडा मे ही सुख का अनुभव करने का प्रयत्न करने लगती है। वह अपने को अधिकाधिक कष्ट देकर, उन सब भावनाओ को भूल जाना चाहती है जो उसकी मूल पीडा का कारण थी। 'आत्मपीडन' का यह सुख विरही की विवशता का द्योतक ही होता है। यदि भावनाओ को खुला अवकाश उनकी संतुष्टिमें मिल जाता तो आत्मपीडन का प्रश्न ही नही उठता। आत्मपीड़न में सुख अनुभव करने की स्थिति को मनोविश्लेषण विज्ञ Masochism कहते है।

मान-ईर्ष्या (Jealously)—आहत अहं के कारण मान और ईर्ष्या का जन्म होता है। मनोविश्लेषण शास्त्र के दूसरे प्रकाण्ड आचार्य 'एडलर' के अनुसार अह चेतना का प्रथम नैसर्गिक गुण है, स्वेतर प्राणियो पर आधिपत्य की आकांक्षा (Love for Power)।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि प्रेम के क्षेत्र मे 'विषयी' और 'विषय' दोनों चेतन होते है। विषयी का 'विषय' वस्तु नही होता, जो एक बार अपनी हो जाने पर सदा के लिए अपनी ही हो जाए, चेतना से सन्निविष्ट व्यक्ति होता है। अतः 'विषय' स्वय 'विषयी' होकर पहले विषयी को तो अपना 'विषय' बनाता ही है, उसके अतिरिक्त वह स्वयं भी किसी दूसरे विषय के प्रति भी विषयी हो सकता है। जब तक वह पहले विषयी को ही अपना विषय बनाता है अर्थात् यह दोनो एक-दूसरे के प्रति विषय-विषयी होते है तब तक तो 'तुल्यानुराग' रहता ही है, मान और ईर्ष्या का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु इससे भिन्न दूसरी दशा में जब यह (प्रेमपात्र) स्वय विषयी बनकर (प्रेमी से भिन्न) अपना विषय कोई और तीसरा व्यक्ति बना लेता है चाहे वह अल्प समय के लिए ही क्यों न हो, तब उस 'पहले विषय' की 'अहं चेतना' आहत होती है। इसका कारण मनोविश्लेषणशास्त्रियों के अनुसार यह है—उस दशा में 'पहले विषय' (प्रेमी) को यह अनुभव होता है कि अपने विषय पर उसका एक शासन, एकाधिपत्य नहीं है। इस स्थिति में उसकी अहं चेतना 'हीन

भाव' (Inferiority Complex) से पीड़ित होती हुई उस हीनता के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है। यहीं प्रेम के क्षेत्र में मान और ईर्ष्या की स्थिति का जन्म होता है।

'प्रेमपात्र पर किसी दूसरे का अधिकार है किन्तु वह मेरे अधिकार के सम्मुख नगण्य है, मेरी सन्तुष्टि में वह कुछ बड़े अंश तक घातक नहीं है, यह चेतना जब प्रेमी को होती है तो ईर्ष्या की मात्रा बहुत अंशों में कम हो जाती है।'[1] इसका कारण यह है कि यद्यपि अधिकार कुछ अंश में दूसरे के द्वारा बटाया जा रहा है, इस दुखात्मक अनुभूति से ईर्ष्या तो रहती है किन्तु मेरे अधिकार का प्रभाव अक्षुण्ण है उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं, यह बात प्रेमी को सतुष्टि प्रदान करती रहती है। ईर्ष्या का प्रलय की ज्वाला-सा आवेग तब ही फूटता है जब मेरे अधिकार को कोई दूसरा छीनना चाहता है अथवा छीन लेता है।

परपीड़न (Sadism)—ईर्ष्या से आहत हुआ अहं जब प्रेम पात्र को दुख देकर, कष्ट पहुँचाकर स्वय को संतुष्ट करने का प्रयत्न करता है तब विरह मे परपीड़न की स्थिति का जन्म होना है। इसे मनोविश्लेषणशास्त्री Sadism कहते है। खण्डिताओं की उक्तियो और आचरण में इसकी बहुल अभिव्यक्ति हमारे काव्य मे हुई है। परपीड़न की इस स्थिति मे आत्मपीड़न और परपीड़न दोनों का अपूर्व सामजस्य रहता है। अहं के आहत होने से दुख होता है परन्तु उस दुख को बढा-चढाकर तीव्रतर किया जाता है। प्रिय को कष्ट दे-देकर प्रेमी एक काल्पनिक सुख मे अपने हृदय की ज्वाला को शीतल करता है। अपने को और दूसरे को भी अधिकाधिक दुख देकर सुख का अनुभव इस स्थिति की विशेषता है।

खण्डिता जहाँ एक ओर स्वयं दुखी होकर आँसू बहाती है और आँसू बहाने में ही सुख का अनुभव करती है, वहाँ प्रेमपात्र को दुखी करके अपने सुख के अनुभव की अधिकाधिक वृद्धि भी करती है।[2]

---

१. The person who has learnt to recognize his real needs and limitations, and who has sufficient confidence in their own ability to ensure their satisfaction when required would suffer comparatively little from the pangs of jealousy.

—*'Men and Their Motives'* by J. C. Flugel, *p.* 116.

२. But the most remarkable feature of this perversion is that its active and passive forms are habitually found to occur together in the same individual. A person who feels pleasure in producing pain in some one else during a sexual connection, is also capable of enjoying as pleasure any pain which he may himself derive from sexual relations. A Sadist is always at the same time a Masochist, although the active or the passive aspect of the perversion may be more strongly developed in him and may represent his predominent sexual activity.

—Freud's *'Three Essay son the Theory of Sexuality'*, *p.* 38.

उन्नयन (Sublimation)—'विषय' में अतृप्ति 'विषयी' की प्राणशक्ति को या तो कुण्ठित करके नैराश्य में डाल देती है या आत्मपीड़न और परपीड़न जैसी अस्वस्थ दिशाओं की ओर ले जाती है। आत्मपीडन और परपीड़न के अतिरिक्त और अनेक अस्वस्थ दिशाएँ है जो अनेक मानसिक रोगो को जन्म देती है, किन्तु इनका विवेचन हमारा विषय नही। अतः इसका इतना-सा ही सकेत करके, अपने मुख्य उद्देश्य पर आते हुए प्रस्तुत प्रसंग मे यह कहना है कि इन अस्वस्थ अवस्थाओं के अतिरिक्त अहं की संतुष्टि का इस दशा में एक उपाय मनोविज्ञ और बतलाते है और वह है भावनाओं का उन्नयन।[1] उन्नयन का तात्पर्य है, अपनी भावनाओ को अत्यधिक कार्यशीलता से युक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यग्र रखकर अपनी भावधारा का प्रवाह इस ढंग से मोड़ देना जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर हो।

"उन्नयन उस प्रक्रिया को कहते है जिसमे नैसर्गिक वृत्तियों को उनके मूल लक्ष्य से हटाकर ऐसे उद्देश्यों में लगा दिया जाता है जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर हो। नैसर्गिक प्रवृत्तियों का दिशा मोड़ तो 'न्यूरोसिज' (एक प्रकार का मानसिक रोग) जैसी अस्वस्थ दिशाओं मे भी होता है किन्तु उन्नयन मे वह समाज के लिए स्वस्थ दिशा में होता है।"[1]

विरह की जिन भाव स्थितियो का अध्ययन हमने उपर्युक्त विवेचन मे मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार करने का प्रयत्न किया है, प्रायः वे सभी हिन्दी काव्य में मुखरित हुई है। नैराश्य और उदासीनता ने तो हमारी वैयक्तिक सुख-दुख की कविता को पूर्ण रूप से आच्छादित कर ही रखा है, आत्मपीड़न और आत्मपीडा का उन्नयन महादेवी की कविता का प्रधान अंग है। मान ईर्ष्या और परपीडन के उदाहरण भी आधुनिक युग की स्फुट और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाओं मे न्यून नही। उन्नयन की अभिव्यक्ति भी पर्याप्त मात्रा में हुई है। विरह के लगभग सब मनोवैज्ञानिक रूप हमें हिन्दी के आधुनिक काल में मिल जाते है।

---

१. Sublimation is the process by which instinctive emotions are diverted from their original ends and redirected to purposes satisfying to the individual and of value to the community.

Instincts are in fact, redirected to other then their natural ends in morbid conditions. In neurosis instincts are attached to morbid objects, in sublimation to healthy ones. Any kind of activity may serve as sublimation.

— *'A Study in The Psychology of Human-actions'* by A. H. Burlton Allen, *Ed.* 1930.

द्वितीय अध्याय

भारतीय साहित्य में शृंगार और विरह-भावना

वैदिक, बौद्ध और पौराणिक साहित्य में शृंगार की अवस्थिति और विरह

वैदिक साहित्य

विरह-भावना की प्राचीनतम अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दशम्मण्डल में मिलती है जिसमें वैदिक समय के लोकगीत संकलित है। दैविक शाप के कारण उर्वशी राजा पुरूरवा को छोड़कर जाने के लिए बाध्य होती है। इस परिस्थिति ने पुरूरवा को अत्यन्त अस्थिर बना दिया। वह पुरूरवा जिनके स्नेह का उर्वशी पर एकमात्र अधिकार था, स्वयं उसके अपने शब्दों मे, "जिनके आलिंगन पाश में वह दिन-रात अवर्णनीय सुख का अनुभव करती थी,"[1] आज उर्वशी से लौट आने की विनय कर रहे थे और वह उस करुण स्निग्ध प्रार्थना की अवहेलना करके जाने के लिए प्रस्तुत थी। स्वर्ग की उस स्वेच्छाचारिणी देववारांगना को वह बेचारा मानव कितने दिन बाँध सकता था।

उर्वशी प्रिय बिछोह की बेला से पीड़ित नहीं थी, यह नही कहा जा सकता। वह देववारांगना भले ही हो फिर भी नारी थी। कर्त्तव्य और हृदय की भावना के संघर्ष में विवश उर्वशी के ये शब्द कितने मार्मिक हैं—

"मुझ पर तुम्हारे कहने का क्या प्रभाव होगा ? वह मैं, जो तुम्हारे जीवन से प्रत्यूष की प्रथम किरण-सी विलीन हो गई। पुरूरवा घर लौट जाओ, मुझे पाना उतना ही दुःसाध्य है जितना पवन को बाँधकर रखना।"[2]

यही विवशता इन शब्दों में और भी करुण हो गई है :—

"नही नहीं पुरूरवा तुम मरना नही,
अपशकुन रूप वृक तुम्हें अपनी क्षुधा का ग्रास न बना सकें,

---

१. अस्तं ननक्षे यस्मिन्चा कन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन।
—ऋग्वेद संहिता, मण्डल १०, अध्याय ८, सूत्र ९५।४

२. किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेवे। पुरूरवः

स्त्री के साथ शाश्वत मैत्री नही हो सकती,
क्योंकि स्त्री का हृदय वन्य तरक्ष के समान है।"[1]

उर्वशी और पुरूरवा की इस वियोग व्यथा को 'करुण विप्रलम्भ' की भावना के अन्तर्गत माना जा सकता है। साधारणतः 'मरण' के पश्चात् भी जब प्रेमी को प्रिय से मिलन की आशा बँधी रहती है तब 'करुण विप्रलम्भ' होता है किन्तु दैविक शाप आदि के कारण विरह की अवधि जहाँ अनन्त हो जाती है वहाँ भी करुण विरह मान लेना ही अनुचित नही होता। दुष्यन्त शकुन्तला का विरह भी इसी प्रकार का था।

ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे ही पितृ-गृह में स्थित कुमारी कन्या के किसी प्रिय अथवा पति की अभिलाषा करने के लिए सकेत मिलते है। ऐसा एक उदाहरण घोषा का है।[2]

वैदिक ग्रन्थो मे बहुविवाह, उपपति आदि का अस्तित्व भी मिलता है। 'वरुण प्राग्हास' नामक कर्म मे यज्ञ करनेवाले व्यक्ति की पत्नी से उसके गुप्त उपपतियो के विषय मे प्रश्न करने की प्रथा थी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विवाहित दम्पत्ति के अतिरिक्त भी स्त्री-पुरुष के परस्पर उन्मुखी भाव का इस युग मे अवकाश था। अथर्ववेद के कुछ 'कौशिक सूत्रो' मे प्रिय पर प्रभाव डालने और उसको वश में करने के हेतु प्रयुक्त

पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ।
—ऋग्वेद सहिता मण्डल १०, अध्याय ८, सूत्र ९५।२.

१. पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्। न वै
स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ।
—वही, सूत्र ९५।१५

२. जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥१०॥
न तस्य विद्म तदु पु प्र वोचत युवा ह यद्युवत्याः शेति योनिषु ।
प्रियोसियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि ॥११॥
आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अरंसत ।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि ॥१२॥
—ऋग्वेद संहिता मण्डल १०, अध्याय ३, सूत्र ४०. प्रकाशक : अजमेरिय वैदिक यन्त्रालय

अनेक कर्मों का उल्लेख है।

प्रियतमा की स्नेहपूर्ण चितवन का आकांक्षी एक प्रेमी, प्रेम के देवता का आह्वान करता है। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को मधुमय बनाकर मानो वह 'काम' के लक्ष्य को रिझा लेगा—

"मेरे जिह्वाग्र पर मधु की स्थिति हो। मधु के माधुर्य से मेरी वाणी आप्लावित हो जाए जिससे मेरा प्रिय मेरे प्रभाव में आ जाए, मेरी प्रियतमा मेरे अनुकूल हो जाए।"[१]

"जैसे वायु पृथ्वी पर के तिनको को बहाकर ले जाती है वैसे ही तुम्हारी आत्मा मेरी अभिलाषा के आधृत हो जाये और तब हे भद्रे! तुम मुझे अपना प्यार दोगी, मुझसे विमुख नही रह सकोगी।"[२]

वैदिक साहित्य के शृगारिक कथोपकथन उसके स्वाभाविक अंग नही है, जन-साधारण मे प्रचलित प्रेम कथाओ के अवशिष्ट रूप है। पूर्व-वैदिक ग्रन्थो मे प्राप्त ये अवशेष वैदिककाल के उत्तर युग मे उपलब्ध नही होते।

ब्राह्मण ग्रथो के समय तक समाज मे स्त्री का पद सहिताकाल की अपेक्षा हीनतर हो गया था। इस काल के ग्रन्थो मे प्रेम व शृगार भावना को ढूँढना व्यर्थ है। यद्यपि 'शतपथ ब्राह्मण' मे पुरूरवा और उर्वशी की कथा के सकेत है किन्तु इनके शृगार के कोमल पक्ष से उसका लेखक अनभिज्ञ है। ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ कर्मो में शृगार को स्थान अवश्य मिला है किन्तु धर्म-सिद्धान्तो की प्रमुखता के सन्मुख वह भी लगभग न्यून-सा ही है।

ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य मे शृंगार को विशिष्ट महत्त्व नही मिला। धर्म और दर्शन के जटिल प्रश्नो और समस्याओं को सुलझाने मे ही उस युग के मनस्वी व्यक्तियों का ध्यान केन्द्रित था किन्तु फिर भी जन जीवन मे कोमल भावनाओ का अभाव हो गया था ऐसा नही कहा जा सकता। पाली का वह प्रारम्भिक साहित्य तथा प्रारम्भिक पौराणिक गाथाएँ दुर्भाग्य से अब प्राप्त नही है किन्तु संस्कृत प्राकृत की, हाल व अमरूक की परम्परा की जन्मदात्री के रूप मे वे अवश्य ही रही होगी।

---

१. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
—अथर्ववेद प्रथम काण्ड, पंचम अनुवाक, द्वितीय सूक्त (कौशिक सूत्र)

२. यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥
—अथर्ववेद, द्वितीय काण्ड, षष्ठ अनुवाक, प्रथम सूक्त (कौशिक सूत्र)

बौद्ध साहित्य

'दीघ निकाय' नामक बौद्ध ग्रन्थ मे 'एक प्रश्न' (एक पञ्ह स्तुन्त) के अन्तर्गत सौभाग्य से प्राप्त यह प्रणयगीत प्रेमी की अनन्यता और प्रिय प्राप्ति के लिए उसकी विकलता का प्रतीक बन गया है—

"जैसे शाक्य मुनि हर्ष विह्वलता से मुग्ध, ध्यानावस्थित, स्वय में खोये हुए से, जीवन की अमरत्व प्राप्ति की खोज मे निमग्न रहते है और मनन करते है, वैसे ही ओ! सूर्य की विभा! मै तुम्हारी खोज मे सलग्न हूँ।"[१]

"यदि देवयोग से ३३ देवताओ के स्वामी भगवान् शाक्य मुझे कभी वरदान देगे, तो मै उनसे तुम्हे माँग लूंगा। ओ भद्रे! तुम्हारे लिए मेरा प्रेम इतना सशक्त और समर्थ है।"[२]

तिम्बारून नामक गन्धर्व की कन्या सूर्यवकसा के प्रति मातलीश संघाकाश के पुत्र सिखद्धि की यह अनन्य अभिलाषा, विरह-भावना में पूर्वराग के अन्तर्गत मानी जाएगी। बौद्ध साहित्य की थेरी गाथाओ मे भी प्रणयमूलक रहस्यवाद जैसी कोई चीज नही मिलती। बुद्ध को पति मानकर इनमें से किसी ने भी अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त नही किया, उनको इन्होने केवल पिता के रूप मे ही देखा है।

पौराणिक साहित्य

पौराणिक साहित्य मे भी शृगार भाव के प्रति यही उदासीनता लक्षित होती है। प्रेम यद्यपि इन ऐतिहासिक-पौराणिक गाथाओ का मुख्य विषय रहा है,दमयन्ती, सावित्री, शकुन्तला और सीता की कथाएं प्रेम का आदर्श है, किन्तु पौराणिक लेखकों का लक्ष्य इनके द्वारा धर्म तथा कर्त्तव्य का प्रतिपादन करना था, रति भाव का सूक्ष्म अध्ययन, विश्लेषण और दिग्दर्शन नही। परवर्ती लेखको ने इनके अनुभूत्यात्मक पक्ष को ग्रहण किया और ये संस्कृत महाकाव्यो और नाटकों की मूल स्पन्दना बन गई। दमयन्ती और शकुन्तला, माघ और कालिदास की वाणी मे अमर हो गई। सीता की प्रणय-कथा ने तो वाल्मीकि,

---

१. Yam me atthi punnam asmin puthuvimandale, Tam me sabbanga kalyani taya saddhim, vipaccatam, Sakya-putto va Jhanena ekodi nipako sato Amatam muni Jigimsano tam aham Suriya-vaccase. Yatha pi muni nandeyya patva sambndhim uttaman. Evam nandeyya kalyani missi-bhavam gato taya.

२. Sakko ka me varam dajja Tavatimsanamissaro. Taham bhadde vareyyahe evam kamo dalho mama.

—*Digha Nikaya*, Edited by J.W. Rhys Davids Ph.D., L.L. D. and J. Estlin Carpenter M. A., Vol., II 1903, *p.* 267

कालिदास, भवभूति तथा संस्कृत के न जाने कितने असंख्य कवियों की भावसरिता को उद्वेलित किया था, उनके भावोद्यान का शृंगार किया था; सुन्दर से सुन्दर सुवासित कुसुम उनमे खिलाये थे।

पौराणिक युग का महाकाव्य, वाल्मीकि की 'रामायण', इस युग की रति विषयक उदासीनता के मरु मे सहृदय पथिक को विश्राम देनेवाला हरा-भरा स्थल है। वाल्मीकि के आर्द्र कवि-हृदय ने एक ओर जहाँ सीताहरण के प्रसग में राम के विरह का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन किया है वहाँ रावण के बन्धन मे विवश, विरह की अवधि व्यतीत करती हुई सीता का भी। रामायण के ६०वे सर्ग मे वाल्मीकि, राम की मनोदशा का चित्रण इस प्रकार करते है—

"सीता को देखने की अभिलाषा से राम-लक्ष्मण जब अत्यन्त शीघ्रता से आश्रम पर पहुँचे तो वह सूना पडा था। उसे ऐसा देख वह बहुत उद्विग्न हो गए।"[१]

"सीता से वियुक्त वह पर्णशाला राम को हेमन्त की कमलिनी के सदृश शोभा-हीन लगी।"[२]

"उस समय आश्रम के वृक्ष मानो रो रहे थे, फूल कुम्हलाए हुए थे, पक्षी उदास थे। वनदेवता उसे ध्वस्त और शोभाहीन देख त्यागकर चले गए थे।"[३]

"सीता को यत्नपूर्वक खोजने पर भी न पाकर राम की आँखे लाल हो गई और वे विक्षिप्त से हो गए।"[४]

"आम, कदम्ब, बडे-बड़े साखू व कटहर, कुरह, अनार, चपा और केतकी के वृक्षो के पास जाकर उनसे सीता के विषय मे प्रश्न करते हुए महायशस्वी राम भ्रान्त से लगते थे।"[५]

---

१. त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः।
शून्यमावसथं दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः॥
—वाल्मीकि रामायण:, सर्ग ६०, श्लोक ३

२. ददर्श पर्णशालां च रहिता सीतया तदा।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव॥
—वही, श्लोक ५

३. रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम्।
श्रिया विहीनं विध्वस्त सन्त्यक्तवनदेवतम्। —वही, श्लोक ६

४. यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम्।
शोकरक्तेक्षण: शोकादुन्मत्त इव लक्ष्यते॥ —वही, श्लोक १०

५. चूतनीपमहासालान्पनसान्कुरबान्धवान्।
दाडिमानसनान्गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः॥
मल्लिका माधवांश्चैव चम्पकान्केतकांस्तथा।
पृच्छन्रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते॥ —वही, २१, ८२

"वृक्षों से ही नहीं पशुओं से भी राम ने सीता का वृत्तान्त पूछा, मृगों से वह बोले, "क्या तुम मृगाक्षी सीता का समाचार जानते हो ? वह मृगनयनी मेरी कान्ता अवश्य ही हरिणियों के साथ होगी।"[1]

सीता की अनुपस्थिति मे उत्पन्न राम की आशंका कभी-कभी उस चरम स्थिति पर पहुँच जाती है जहाँ सीता की एक मरूभ्रम सदृश् मूर्ति उनके नेत्रों के सन्मुख उपस्थित होकर अनायास ही ओझल हो जाती है और तब—

"हे चारूहासिनी जिसे मैने अभी देखा था, वह तुम नहीं थीं। अवश्य ही तुम्हारी जीवन-लीला किसी ने समाप्त कर दी है। अन्यथा इस दारूण दुख में मुझे इस भाँति क्लात देखकर तुम मेरी उपेक्षा न करती।"[2]

किन्तु फिर भी राम का विलाप करुण रस नही विप्रलम्भ ही है क्योंकि ६०वें सर्ग के एक श्लोक मे वाल्मीकि स्पष्ट कह देते है कि—

"सीता मे मिलने की पूर्ण आशा सहित राम उस विशाल वन मे भ्रमण करते हुए उन्हे खोजने का श्रम उठाने लगे, अर्थात् मिलन की आशा का परित्याग न करके राम बार-बार परिश्रम मे उस विशाल वन में सीता को खोज रहे थे।"[3]

राम का विरह निराश होकर कही एकांत में बैठकर रोने वाला विरह नही है। उसमे मिलन की आशा ही नही प्रत्युत उस आशा को साकार बनाने का प्रयत्न भी है। आर्त राम पर्वत, नदी, वृक्ष लतादि तथा पशु-पक्षियों से पूछते-पूछते थक गए हैं। इस विवशता मे राम का पौरुष जाग उठता है और तब—

"यदि देवता मेरी सीता को, चाहे वह हरण की गई हो अथवा मृत ही क्यों न हो, सकुशल मुझे लौटा न देगे तो मै चराचर सहित सारे जगत् को ही नही प्रत्युत तीनों लोकों को नष्ट कर डालूँगा। यह कहते हुए क्रोध से रक्ताभ नेत्र राम ने हाथ में धनुष लिया।"[4]

तब लक्ष्मण ने उन्हे समझाया—

"जैसे चन्द्रमा मे श्री, सूर्य मे प्रभा, वायु में गति और पृथ्वी मे क्षमा नियमित

---

१. अथवामृगशावाक्षीं मग जानासि मैथिलीम्।
मृगविप्रेक्षणां कान्तां मृगीभिः सहितां भवेत् ॥
—वाल्मीकि रामायण, सर्ग ६० श्लोक २३

२. नैव सा नूनमथवा हसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥ —वही, श्लोक २९

३. तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिली प्रति।
अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम्॥ —वही, श्लोक ३८

४. हृता मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वरा।
तथारूपां हि वैदेही न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥
नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो रामो निष्पीडयकार्मुकम्॥ —वही, श्लोक ७१, ७२

रूप से रहती है वैसे ही आपमें इन चारों गुणों के सहित उत्तम यश स्थित है। एक के अपराध के लिए सम्पूर्ण जगत् का नाश करना आपके लिए उचित नहीं है।"[१]

राम की इस मनोदशा को वास्तव मे पूर्वराग, प्रवास, मान और करुण, विरह के इन चारों प्रभेदो के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। प्रथम तीन भेदो में से तो वह है ही नही, चतुर्थ के बहुत समीप आ जाती है किन्तु फिर भी वह 'करुण विप्रलम्भ' नही है। सीता की अनायास आश्रम मे अनुपस्थिति से यह शका होने लगती है कि सम्भवतः उनको किसी वन्य पशु ने खा लिया हो, किन्तु साथ ही यह स्मरण रखना होगा कि इस घटना से पहले ही शूर्पणखा विकलागी बनाई जा चुकी है। दण्डक वन निशाचरों से आक्रान्त है अतः किसी निशाचर द्वारा उनके हरण किए जाने की सम्भावना ही अधिक होती है। राम के इस वाक्य से 'चाहे वह हरण की गई हो', यह सम्भावना और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। यह ठीक है कि सीता से मिलन अनिश्चित हो गया है किन्तु किसी दैविक शाप के कारण नही। अतः शास्त्रीय 'करुण विप्रलम्भ' की भावना के अन्तर्गत राम का विरह नही आता यद्यपि वह उसके बहुत निकट है। कवि शास्त्र के अनुकूल चलने को बाध्य भी नही है। उसने एक यथार्थ परिस्थिति का निर्माण किया और उसमे रसत्व को भी पूर्ण अवकाश दिया, काव्य-शास्त्री उसके भेद-प्रभेद बाद मे करते रहे। विविध रूपात्मक मानवी जीवन की अगणित परिस्थितियो को किन्ही रूढिगत विभाजनों में बाँध सकना भी सम्भव नही है। प्रत्येक परिस्थिति एक नवीन प्रभेद को जन्म देने में समर्थ है।

उद्वेग, प्रलाप और उन्माद दशाओ का चित्रण भी वाल्मीकि ने सफलतापूर्वक किया है। सीता को आश्रम मे न पाकर राम उद्विग्न हो गये है, मन की बेचैनी ही 'उद्वेग' है। सीता से मिलन की उत्कट इच्छा तथा हरण हो जाने से बाधा उपस्थित होने के कारण राम के मन का सन्तुलन नष्ट हो गया है। मन की इस बेवस उदासी मे प्रकृति अपनी पूर्ण समवेदना प्रकट कर रही है 'वृक्ष मानो रो रहे थे, फूल कुम्हलाये हुए थे, पक्षी उदास थे।'

मन की यह अव्यवस्था जब वाणी से प्रकट होती है, तब 'प्रलाप' तथा व्यवहार से प्रकट होने 'पर उन्माद' कहलाती है। सीता को खोजने पर न पाकर राम की आँखें लाल हो गई और वे उन्मत्त हो गए।···'चपा व केतकी के वृक्षों के पास जाकर उनसे सीता के विषय मे प्रश्न करते हुए राम भ्रान्त से लगते थे।' मृगों से उनका यह पूछना 'क्या तुम सीता को जानते हो?' भी उनके मानसिक विवशताजन्य असन्तुलन का सूचक ही है। मन का रुदन राम के इन शब्दों मे फूट पड़ा—'हे चारूहासिनी! जिसे मैने अभी देखा

---

१. चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ॥
एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तम यशः।
एकस्य नापराधेन लोकान्हन्तुं त्वमर्हसि ॥
—वाल्मीकि रामायण, सर्ग ६५, श्लोक ५, ६

था वह तुम नही हो, तुम्हारी जीवन लीला अवश्य किसी ने समाप्त कर दी है। अन्यथा इस दारुण दुख में सीता मेरी उपेक्षा न करती।"

प्रलाप से अगली विरह दशा 'जडता' राम के अनुकूल नही थी। महायशस्वी राम ने तो हाथ मे धनुष लेकर देवताओं तक की शक्ति को ललकारा और तीनों लोकों को नष्ट कर डालने का संकल्प किया। लक्ष्मण के शब्दो ने एक बार फिर उनके महान् व्यक्तित्व के यथार्थ से उनको, उनके अव्यवस्थित मानस को परिचित कराया और श्री, प्रभा, गति और क्षमा से युक्त राम के साहस और सामर्थ्य ने उन बाधाओ को दूर हटाकर सीता को पुनः प्राप्त किया जो राक्षस कुल के समूल विध्वस का कारण बन गई।

विरह-भावना की दूसरी अभिव्यक्ति वाल्मीकि रामायण में सीता के पक्ष में हुई है। वाल्मीकि की सीता के विरह मे निराशा का ही आधिपत्य है। इस पूर्ण निराशा में भी राम के प्रति अनन्य आस्था व निस्सीम विश्वास का त्याग सीता ने नही किया है। नैराश्य के आधिक्य मे सीता को कभी-कभी ऐसा लगता है कि सम्भवतः राम अयोध्या लौट गए है और इसीलिए वे उसके बन्धन मुक्त करने नही आये।

"हे राम! पिता की आज्ञा पूरी करके सम्भवत तुम अयोध्या लौट गए हो, वहाँ सुन्दर नेत्रो वाली रमणियो के साथ समय व्यतीत करते होगे।"[1]

किन्तु राम की ओर से प्रेम के प्रतिदान का अभाव सीता की एकनिष्ठता में बाधा नही डाल सकता, उनके लिए वह प्राण दे देने को भी तत्पर है।

"मेरी सब कामनाएँ तुम्हे अर्पित है। तुम्हारे लिए मै प्राण देने को भी प्रस्तुत हूँ। परन्तु मेरे सब पुण्य विफल हुए, मै मन्दभागी हूँ (इस दयनीय अवस्था मे) खड्ग से अथवा विष खाकर मै आत्म-हत्या कर लूँगी किन्तु इस राक्षस-नगरी मे मेरी इतनी सहायता करने वाला भी तो कोई नही है।"[2]

निराशा के चरम क्षणों में ही सीता इस प्रकार व्यथित होती है अन्यथा तो —

'हे राम तुम कृपालु और सत्यव्रती हो। क्या तुम नही जानते कि मै यहाँ राक्षसों के हाथ मृत्युपाश में आबद्ध हूँ। आह! मेरे पुण्य और तप सब विफल हुए"[3] कहते हुए वह

---

१. पितुर्निदेशं नियमेन कृत्वा वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च।
स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणोऽस्त्वं रंस्यसे वीतभयः कृतार्थः॥
—वाल्मीकि रामायण, सर्ग ६५ श्लोक १४

२. अहं तु राम त्वयि जातकामा चिरं विनाशाय निबद्ध भावा।
मोघं चरित्वाऽथ तपो व्रतं च त्यक्ष्यामि धिग्जीवितमल्पभाग्या॥
सा जीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वाऽपि।
विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चिच्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राघवस्य॥ —वही श्लोक १५, १६

३. हा! राम सत्यव्रत दीर्घबाहो हा पूर्णचन्द्रप्रतिमानवक्त्र।
हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम्॥
अनन्यदेवत्वमियं क्षमा च भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मे।
पतिव्रतात्वं विफलं ममेदं कृतं कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम्॥ —वही, श्लोक ११, १२

राम का स्मरण करती है।

वाल्मीकि की सीता अपने शुद्ध रूप में मानवी है। आशा-निराशा, विश्वास-अविश्वास दोनों ही प्रकार के भाव और विचार हृदय को आप्लावित करते है। वह परवर्ती कवियों की त्रिकालदर्शी जगदम्बा सीता नहीं है, जो विरही का-सा आचरण करती हुई भी हृदय मे भली-भाँति जानती है कि राम तो जगत्-पिता है, राक्षसों का नाश करके अवश्य ही उसे छुड़ाने मे समर्थ होगे।

विरह-भावना का एक तीसरा दिग्दर्शन वाल्मीकि ने बालि की मृत्यु पर तारा के विलाप मे कराया है। ईर्ष्या भाव सचारी रूप में तारा की व्यथा को और भी अधिक कारुण्य प्रदान कर रहा है—

"हे प्रिय, मेरे शब्दों का तिरस्कार करके तुम कंकड़ों से भरी असम धरती का आलिगन कर रहे हो। तुम्हे सम्भवतः वसुमती मुझसे अधिक प्रिय है।'[१]

संस्कृत साहित्य में विरह-भावना (सक्षिप्त विवेचन)

पौराणिक काल के उपरान्त सस्कृत के महाकाव्यों और नाटकों का युग आता है। इस युग में विप्रलम्भ के विभिन्न भेदों और विरह की विभिन्न स्थितियों को अभिव्यक्ति का पर्याप्त अवकाश प्राप्त हुआ। संस्कृत साहित्य मे विरह-भावना का विवेचन करते हुए कुछ नाटकों को भी उसके अन्तर्गत यहाँ सम्मिलित कर लिया गया है, क्योंकि संस्कृत के नाटक शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीय और कुन्दमाला आदि, काव्य की कोटि के ही है। प्रबन्ध के अतिरिक्त मुक्तक काव्य भी 'अमरूक शतक' के रूप में प्राप्त है। यहाँ सस्कृत साहित्य में विरह-भावना का संक्षिप्त विवेचन विप्रलम्भ के विभिन्न भेदों को आधार रूप मे रख-कर किया गया है। यथास्थान प्राकृत के मान्य ग्रन्थो का भी यत्र-तत्र उल्लेख है।

पूर्वराग

जिनका पहले कभी सयोग नहीं हुआ, ऐसे युवक-युवती जब दृष्टिपात, गुणश्रवण आदि, के कारण एक-दूसरे के स्नेह मे प्रवर्तित होते है तब पूर्वराग होता है।

कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटकों मे पूर्व राग का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है।

विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा व उर्वशी का प्रेम परस्पर दर्शन के उपरान्त प्रारम्भ होता है। कवि ने इसे उभयपक्षी ही दिखाया है। हेमकूट पर्वत से लौटने के पश्चात् राजा

---

१. शेषे त्वं विषमे दुःखमनुक्त्वा वचनं मम।
उपलोपचिते वीर सुदुखः वसुधा तले॥
मत्तः प्रियन्तरा नूनं वानरेन्द्र मही तव।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे॥

—वाल्मीकि रामायण, सर्ग २३, श्लोक २,३

उर्वशी के लिए निरन्तर व्याकुल हैं, उर्वशी भी उनसे मिलने के लिए उतनी ही उत्कण्ठित। राजा की विकलता उनकी प्रथम विवाहिता रानी से भी छिपी नहीं रहती। ईर्ष्या भाव का अल्प-सा दिग्दर्शन कालिदास यहाँ कराते है किन्तु वह चरमोत्कर्ष को नहीं पहुँचता क्योंकि विवश रानी अपनी निष्फल भावनाएँ राजा को समर्पित करके प्रतिज्ञा कर लेती है कि वह उनके नवीन प्रेम में बाधा नही डालेगी, अपना आदर-भाव उनकी प्रियतमा के प्रति अर्पित करेगी। पुरूरवा की रानी की प्रतिज्ञा सामन्तयुग की नारी की विवशता की द्योतक ही है जिसमें आत्मा के नैसर्गिक विद्रोह की क्षमता भी नहीं रहती। प्रथम रानी की अनुरक्ति के संकेत से कालिदास सम्भवत: इस तथ्य की ओर इंगित करना चाहते हैं कि रानी के होते हुए भी राजा का प्रेम उर्वशी के लिए कितना दृढ था। उधर पुरूरवा का निरन्तर ध्यान करते रहने के कारण लक्ष्मी-स्वयवर के अभिनय के अवसर पर उर्वशी, जो लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी, 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' के प्रति प्रणय-भाव व्यक्त करती है। पूर्वराग मे इसे उन्माद की दशा के अन्तर्गत रखा जाएगा, जहाँ परिस्थिति का ध्यान प्रेमी को नही रहता। गोत्र-स्खलन के अनुभाव द्वारा उर्वशी के पूर्वराग की यह दशा दूसरों पर प्रकट हो जाती है। उसे अभिशप्त करके पुरूरवा के पास पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। यह अभिशाप उर्वशी के लिए तो वरदान ही बन गया इसके कारण ही उसे प्रिय-सान्निध्य-सुख प्राप्त हुआ।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम भी दृष्टिपात अथवा रूप दर्शन से प्रारम्भ होता है। कण्व ऋषि के आश्रम के मनोहर उपवन मे वे एक-दूसरे को देखते है और मन्मथ के शिकार हो जाते है। स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण दुष्यन्त के लिए नवीन अनुभूति नही थी, उसके अनेक विवाह हो चुके थे। प्रेम के क्षेत्र में वह काफी अनुभवी और समझदार था, किन्तु फिर भी तपस्वी की कन्या के प्रति होने वाले इस आकर्षण में जो चुम्बक था वह अभूतपूर्व ही था।

शकुन्तला तपोवन में पाली गई थी, प्रेम और उसके क्षेत्र में आने वाले दुख-सुख से पूर्ण अनभिज्ञ। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला ने स्वय मे परिवर्तन का अनुभव किया—

"आज इस व्यक्ति को देखने से मेरे हृदय में तपोवन के लिए अनुपयुक्त भाव क्यों आ रहे है।"[१]

पूर्वराग की पुष्टि में दुष्यन्त के लिए केवल एक ही बाधा थी कि कही शकुन्तला ब्राह्मण-कन्या न हो। इस बाधा का निवारण भी जब प्रियवदा और अनुसूइया के वार्तालाप से हो गया कि शकुन्तला क्षत्रिय कन्या है तब सन्देह का कोई अवकाश ही न रहा। शकुन्तला ने जाते समय पाँव में कुश चुभ जाने व कुरवक की शाखा में आँचल अटक जाने की जो बात की उससे दुष्यन्त के कामी हृदय की अग्नि और धधक उठी।

१. किं नु खलु इम प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्थ गमनीया अस्मि संवृत्ता।

—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, प्रथमांक:

इस उभयपक्षी राग में कालिदास ने दोनो की व्याकुलता का वर्णन किया है। दुष्यन्त ग्रीष्म की दोपहरी में शकुन्तला के दर्शन के लिए व्याकुल घूमता दिखाई पड़ता है वह अपना पुर को वापस जाना स्थगित कर देता है। कामाग्नि से पीडित शकुन्तला कुँज में सखियो के साथ मिलन के लिए चिन्तित दिखाई पडती है, इस प्रसंग में मिलन के लिए 'पत्र-लेखन' की विधि का निर्देश कालिदास ने किया है। पूर्वराग में कालिदास ने शकुन्तला के कुरवक शाखा मे आँचल अटक जाने की बात कहकर उसके हृदय की 'अभिलाषा' उधर शकुन्तला के बारे मे जानकारी प्राप्त करने के रूप में दुष्यन्त की 'अभिलाषा' का चित्रण किया है। माढव्य से बातचीत मे प्रियतमा की 'स्मृति' और शकुन्तला द्वारा मिलन की विधि का उपाय करने की चेष्टा में 'चिन्ता' आदि काम-दशाओं का यथास्थान वर्णन किया है। दुष्यन्त शकुन्तला के पूर्वराग का पर्यवसान सयोग (गन्धर्व विवाह) में होता है।

मान विप्रलम्भ

भोज ने 'मान' का लक्षण देते हुए कहा है कि 'मान' अपराधी प्रिय के प्रति झूठा रोष ही है। प्रणय की न्यूनता अथवा 'ईर्ष्या' के कारण आहत प्रेमी इस झूठे रोष से अपने प्रेम को पुन.प्रतिष्ठापित करना चाहता है।

सस्कृत के प्रबन्ध काव्यो मे 'मान' का स्थान बहुत ही गौण है। सभवत: प्रबन्ध काव्यों के रचयिताओं ने जीवन की विविध परिस्थितियो की विशदता मे 'मान' को संयोग का प्रकर्ष कराने वाला अग मानकर उसको इतनी प्रमुखता न दी हो। किन्तु वास्तव मे वह विरह की अत्यन्त मार्मिक स्थिति है जहाँ प्रियजन के उपस्थित होने पर भी भाव प्रकर्ष को प्राप्त नही हो सकता। 'शाकुन्तलम्' नाटक में देवदानव-युद्ध के बाद दुष्यन्त का शकुन्तला से जब पुर्नमिलन होता है तब 'मान' का अवकाश कालिदास रख सकते थे किन्तु उन्होंने वैसा नही किया, सभवत: इसलिए कि इतने कष्ट सहने के उपरान्त यौवन का उन्माद समाप्त हो चुका था। शकुन्तला ने मौन रहकर पीड़ा को सहन करना सीख लिया था।

'मान' के सुन्दर चित्र सस्कृत-प्राकृत के स्फुट पदो में मिलते है जहाँ कवि जीवन की किसी एक परिस्थिति, एक प्रसग अथवा एक घटना का चित्र उपस्थित करके एक पूर्ण रस की योजना करता है। 'हाल सतसई' और 'अमरूक शतक' इस प्रकार के सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है।

मनोविश्लेषकों ने 'हीन भावना को' ईर्ष्या का कारण बतलाया है। प्रेमी जब स्वय को अपने प्रतिपक्षी से हीन अनुभव करता है तब ईर्ष्या का जन्म होता है। इस भाव का सुन्दर चित्रण 'हाल' की सतसई के इस स्फुट पद में हुआ है। ईर्ष्या से पीड़ित एक मानिनी का 'आहत अहं' इन शब्दो मे रुदन कर उठता है—

"यह ठीक है कि वह सुन्दर भी है और योग्य भी, मैं असुन्दर भी हूँ और अयोग्य

भी, किन्तु क्या, जो उसके जैसे नही है, उन सबको मर जाना चाहिए ?'"

बार-बार अपराध किए जाने पर मान, 'मान' न रहकर आहत अहं का दुर्बल विद्रोह बन जाता है, तब प्रेमी समझौता नहीं कर पाता। उसकी परम्पराएँ यदि उसे अवकाश देतीं तो संभवतः वह प्रेम के नवीन विषय की खोज करता किन्तु इसके अभाव में वह नैराश्य कुंठा (Frustration) का रूप लेता है। अमरूक ने इस कटु अनुभूति की सुन्दर व्यंजना की है—

"केवल भृकुटि रचना ही जहाँ रोष का परिचायक थी, मौन रहना ही भर्त्सना, आपस मे मुस्करा देना ही जहाँ सन्धि था और परस्पर दृष्टिपात प्रसन्नता का लक्षण, उस प्रेम का अवशेष आज देखो—तुम मुझे प्रसन्न करने के लिए मेरे पाँव पर पड़े रहते हो और मैं भी इतनी नृशस हो गई हूँ कि क्रोध मुझे नही छोड़ता।"[२]

इससे और अधिक सयत और मार्मिक नैराश्य इन शब्दों में प्रकट हुआ है—

"हमारे शरीर मिलकर जब एक हो गए थे उसके बाद से तुम ही केवल प्रिय रहे, सम्पूर्णतः हताश मै तुम्हारी प्रियतमा नही। आज तुम नाथ हो और मै तुम्हारी पत्नी, मेरे वज्र-हृदय को उचित फल ही मिला है।"[३]

'मान' का एक आवश्यक अग मनुहार है, उसके कारण ही 'मान' इतना मधुर है। अमरूक के एक चित्र मे झूठी ईर्ष्या से उत्कर्ष प्राप्त करती हुई मनुहार का सुंदर दृश्य है—

"तुम्हारी हथेली ने तुम्हारे कपोल के प्रसाधन को नष्ट कर दिया, आज निःश्वासों ने तुम्हारा अधरामृत पी लिया, सिसकी गले का आलिगन करती हुई वक्षस्थल को आन्दोलित बना रही है, हे प्रिया आज मान तुम्हारा प्रिय है मै नही।"[४]

---

१. सा आम सुइअ गुण रूअसोहिरी आम णिग्गुण अ अहम्।
भण णीअ जो ण सरिसो कि सो मव्वो जणो मरउ॥
—हाल सतसई, अध्याय ६

२. कोपो यत्र भृकुटि रचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यास्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशस पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः॥
—अमरूक शतक, छन्द ३८

३. तथाभूदस्माक प्रथममविभक्ता तनुरियं
ततो न त्व प्रेयानहमपि हताशा प्रियतमा॥
इदानी नाथस्त्व वयमपि कलत्रं किमपरं
मयाप्त प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम्॥ —वही, छन्द ६९

४. कपोले पत्रालीं करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहः कण्ठे लग्नस्तरालयति बाष्पः स्तनतटं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥ —वही, छन्द ८१

'मान' का विस्तृत विश्लेषण करते हुए भोज ने कहा था कि 'मा' और 'न' मान के दो निषेध सूचक शब्द मानो प्रेमी की स्वीकृति की सूचना देते हुए कहते हैं कि वह वास्तव में नाराज नहीं है, अब भी प्रिय का उतना ही इच्छुक है। नाराज होने का तो वह अभिनय कर रहा है।[1] मानिनी की इस मनोस्थिति का विश्लेषण अमरूक ने इस पद मे सुन्दर ढंग से किया है।

"अपराधी प्रिय से व्यवहार करते समय मानिनी के नेत्र अत्यन्त चतुर हो गए। प्रिय दूर थे तो ये उत्सुक थे, वह बोलने लगे तो ये विमुख हो गए, आलिंगन की इच्छा प्रकट करने पर विस्फारित हो गए, वस्त्र के छूने पर भृकुटी तन गई और अन्त मे जब वह क्षमायाचना के लिए पैरों पर गिरे तो ये नेत्र वाष्पाच्छन्न हो गए।"[2]

मानिनी के झूठे रोष की भावशबलता का नेत्रों के अनुभावो द्वारा सुचारु चित्रण हुआ है।

प्रवास विप्रलम्भ

हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में 'प्रवास' का लक्षण करते हुए कहा है कि नायक-नायिका के भिन्न देश में रहने को 'प्रवास' कहते है। इनका यह भिन्न देशत्व कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रमवश अर्थात् भय के कारण भी होता है।

दुष्यन्त शकुन्तला को कार्यवश (राजकार्य सम्भालने के लिए) छोडकर चला गया। पुनर्मिलन के लिए अवधि की नियुक्ति यह हुई कि दुष्यन्त के नाम मे आये हुए अक्षरों की संख्या के बराबर के दिवसों में दुष्यन्त शकुन्तला को हस्तिनापुर बुला लेगा। उस स्थिति में शकुन्तला को हम प्रोषितपतिका नायिका के रूप मे देखते है। प्रिय की स्मृति में वह तपस्वी 'दुर्वासा' का अतिथि-सत्कार करना भूल जाती है और ऋषि अपमानित होकर इसे शाप दे देते है। 'स्मृति' की तन्मयता का चित्रण करते समय कालिदास बताते हैं कि शापित होने पर भी शकुन्तला को उसका पता न चला; वह उससे अनभिज्ञ थी; यद्यपि विदुषी सखियों ने शाप के शमन का उपचार भी दुर्वासा के पैरों पर गिरकर करा लिया कि 'अभिज्ञान' (स्मृति-चिह्न) के प्रदर्शन पर राजर्षि शकुन्तला को पहचान लेगा।

शाप के कारण उत्पन्न 'प्रवास' का सुन्दर चित्र कालिदास के 'मेघदूत' मे है। अपनी प्रियतमा के प्रणय में डूबकर यक्ष ने कुबेर के कार्य की अवहेलना की थी। कुबेर ने शाप देकर एक वर्ष के लिए उसे 'अलका' से निर्वासित कर दिया।

---

१. देखिए—विप्रलम्भ के काव्य-शास्त्रीय विवेचन में 'मान' के विवेचन के अंतर्गत।

२. दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपांचितभ्रूलतं
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि॥

—अमरूक शतक, छन्द ४६

आषाढ़ के नवाच्छादित मेघों से आकाश का नीलम नेत्र परिपूर्ण था, उनकी ओर एक टक निहारते हुए रामगिरि पर्वत के उस सुन्दर शिखर पर एकाकी बैठे हुए यक्ष के नेत्र भी प्रियतमा की स्मृति मे अनायास ही मेघाच्छन्न हो गए। प्रकृति के कोमल वातावरण का प्रभाव व्यक्ति की भावनाओं और मनःस्थितियों पर पड़ता है।

"बादल को देखकर तो सुखी व्यक्ति का हृदय भी प्रिय-मिलन के लिए उद्विग्न हो उठता है फिर विरही का तो कहना ही क्या, जो सुदूर प्रदेश में प्रिय के आलिंगन के लिए तड़प रहा हो।"[1]

पावस ऋतु शृगार भावो की चरम उद्दीप्ति का प्रतीक बनकर आती है। श्रावण निकट है अतः सदेश भेजना और भी आवश्यक हो गया। प्राणवान और जड में विरही भेद नही कर पाता। भावना का आधिक्य जड को भी प्राणवान बनाकर उससे सवेदना प्राप्त करने को मचल उठता है, यह 'उन्माद' की दशा है। इसके लिए कालिदास कहते हैं—

"धूम विद्युत, जल और वायु से निर्मित जड़ मेघ तथा सदेश का क्या सम्बन्ध हो सकता है? संदेश जो श्रवणेन्द्रिय के बिना ले जाया नही जा सकता; उत्कण्ठा मे यक्ष यह भूल गया और मेघ से सदेश कहने लगा। वास्तव में विरही जड और चेतन का भेद नहीं कर पाता।"[2]

"अपनी प्रियतमा की जीवन रक्षा के लिए तथा मेघ के हाथों उसे कुशल समाचार भेजने के हेतु, आनन्दातिरेक से उसने सद्य विकसित चमेली के पुष्पों से उसका (मेघ का) स्वागत किया।"[3]

मेघ को अपनी विवशता बताते हुए उसने कहा—

"वायु मण्डल में तुम्हें बहता देखकर पथिकों की स्त्रियाँ प्रिय मिलन की कामना से अभिभूत हो उठेगी। मुझ-जैसी पराधीन के अतिरिक्त ऐसा कौन हतभाग्य होगा जो तुम्हारे होते हुए प्रिया की उपेक्षा करेगा।"[4]

---

१. मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यावृत्ति चेतः।
कण्ठाश्लेष प्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।।
—मेघदूत, छन्द ३,

२. धूमज्योतिःसलिलमरूता संनिपातः क्व मेघः।
सदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीया।।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे।
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतना चेतनेषु।। —वही, छन्द ५

३. प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी।
जीमूतेन स्वकुशलमयी हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।।
स प्रत्यग्रैःकुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै।
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।। —वही, छन्द ४

४. त्वमारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः।
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।।

मानव-जीवन की यह विडम्बना, हृदय की कोमलवृत्ति प्रेम और उसकी विवशताएँ आज भी जीवन मे वैसी ही हैं जैसी कालिदास के समय में थीं। यक्ष की भाँति आज भी विरही जड प्रकृति में अपनी भावनाओं का आरोप करके उसे चेतन बना लेता है अथवा साधारण रूप मे जड़ दिखाई देने वाली प्रकृति की चेतनता का परिचय प्राप्त करके उससे सहानुभूति प्राप्त करने को विकल हो उठता है। धूम विद्युत्, जल और वायु से निर्मित मेघ भी प्राणवान होकर विरही की मर्म-कथा सुनता है और उसे यथासम्भव सहानुभूति और सवेदना प्रदान करता है।

प्रवास की विवेचना करते हुए भोज ने शृगार प्रकाश मे यह कहा है कि "इस भिन्न देशत्व में विशिष्ट प्रकार का वास अर्थात् आच्छादन अथवा वेश-भूषा होने से भी यह प्रवास कहलाता है।"[1]

'अलका' मे निवसित अपनी पत्नी की दशा की कल्पना यक्ष इस प्रकार करता है—

"किसलय सदृश्य अधर विरह-पीडा से तप्त होगे। सुगन्धित तेल के विना बाल रूखे हो गए होगे। स्वप्न में भी मुझसे मिलन कैसे सम्भव हो सकता है इसी चिन्तन में वह डूबी रहती होगी, क्योकि स्वप्न भी तो मेरे अभाव में निद्रा न आने से दुर्लभ हो गए होंगे।"[2]

कठिन विषम एक वेणी उसने धारण कर रखी होगी। उसके निरलंकृत अंगों को देखकर हे मेघ ! तुम्हारे नेत्रों मे भी अश्रु आए बिना न रहेगे।

विरह की अवधि अत्यन्त दीर्घ हो जाती है। यक्ष कहता है—

"मानसिक श्रान्ति से श्रान्त शैया के एक किनारे पर वह पड़ी होगी। विरह से अत्यधिक क्षीण वह क्षितिज पर उदित चन्द्र की एक कला के समान दिखाई पडती होगी। रात्रि जो मेरे संसर्ग में एक क्षण के सदृश बीतती थी वही अत्यन्त दीर्घ हो गई होगी और विरह के उष्ण अश्रुओं के ढुलकते-ढुलकते बिताई जाती होगी।"[3]

कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जाया ।
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ।।
—मेघदूत, छन्द ८

१. निबन्ध के प्रथम अध्याय मे भोज का प्रवास सम्बन्धी विवेचन देखिए ।

२. निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्ती
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्सयोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्ती नयनसलिलोत्सीड़रुद्धावकाशाम् ।।
तथा
कठिनविषमामेक वेणी । —मेघदूत

३. आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षणमिव मयासार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरह महतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ।। —वही, छन्द ९६

यक्ष से उसकी प्रियतमा का हाल सुनकर मेघ की आँखों में आँसू न आ गए होंगे यह असम्भव है। आज भी कोई सहृदय यक्षिणी की करुण-व्यथा से आर्द्र हुए बिना नहीं रह सकता।

रुद्रट ने काव्यालंकार में प्रवास के लक्षणों में कहा है कि नायक विदेश जाएगा, जा रहा है, गया—ये सब प्रवास है।[1] 'विदेश जाएगा' यह कल्पनामात्र ही अभाव की अनुभूति कराकर विरह की पीडा को जन्म दे सकती है। प्रवत्स्यपतिका नायिका मे विरह का अस्तित्व इसी से है। 'हाल' की विरहिणी कहती है·

"प्रिय सखी ! केवल आज के लिए मुझे रोने से न रोक, कल यदि उनके चले जाने पर भी प्राण अवशेष रहे तो मै न रोऊँगी।"[2]

प्रवास मे स्वप्न द्वारा मिलन का विधान है किन्तु विरहिणी को निद्रा के प्रभाव मे ये भी दुर्लभ है। एक प्रोषितपतिका नायिका स्वप्न की कामना करती हुई कहती है :

"वे भाग्यशालिनी स्त्रियाँ धन्य है जिनको स्वप्न में ही सही, प्रिय के दर्शन हो तो जाते है। मुझे तो उनके वियोग में नीद भी नही आ ती।"[3]

करुण विप्रलम्भ

नाट्यशास्त्र के 'रस विकल्प' नामक अध्याय में 'करुण विप्रलम्भ' का लक्षण स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने कहा है कि यद्यपि करुण विप्रलम्भ और करुण रस एक ही सी परिस्थितियों मे उत्पन्न होते हैं (इष्टजन के नाश से) किन्तु दोनों की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। करुण रस पूर्ण नैराश्य की अवस्था है और करुण विप्रलम्भ मे रति स्थायी भाव होने से सापेक्ष भाव रहता है अर्थात् अभिलाषा बराबर बनी रहती है।[4]

भरत की इस परिभाषा मे विश्वनाथ ने एक और शर्त जोड दी थी—"परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म मे, इसी देह मे, मिलने की आशा हो।" विश्वनाथ ने स्पष्ट कहा कि "यदि फिर मिलने की आशा टूट जाए अथवा जन्म-जन्मान्तर मे मिलने की आशा हो तो करुण रस होगा।"[5]

विश्वनाथ की उपर्युक्त मान्यता हमें मान्य नही है यह प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। जन्म-जन्मान्तर मे भी मिलन की आशा रति के स्थायित्व की सूचना

---

१. देखिए विप्रलम्भ का शास्त्रीय अध्ययन, प्रथम अध्याय।

२. अज्ज पि ताव णक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रूअन्तिम।
कल्लि उण णम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सम ॥
—हाल सतसई, ६/२

३ भण्णा ता महिलाओ जा दअ्रि सिविणए वि पेच्छन्ति।
णिद्द ण्विअ तेण विणा ण एइका पेच्छए सिविणम् ॥ —वही, ४/६७

४. देखें, करुण-विप्रलम्भ सम्बन्धी विवेचन, प्रथम अध्याय

५. वही

ही देती है। अतः वह भी 'करुण विप्रलम्भ' ही है।

करुण-विप्रलम्भ संस्कृत कवियों में सबसे अधिक लोकप्रिय रहा, सम्भवतः इसलिए कि प्रेमी के प्रेम को परखने की यह अन्तिम कसौटी थी। मृत्यु भी यहाँ प्रिय-मिलन की आशा के मार्ग मे बाधा नही डाल सकती थी। कालिदास, भवभूति, दिङ्नाग और बाणभट्ट सभी के काव्यों में करुण-विप्रलम्भ प्रिय विषय रहा।

'कुमारसम्भव' मे कामदहन के पश्चात् उसकी स्त्री 'रति' के करुण क्रन्दन को कालिदास ने बड़े सुन्दर स्वरों मे मुखर किया है। रति-विलाप को हम करुण रस के आश्रित न मानकर करुण विप्रलम्भ के आश्रित ही मानेगे, क्योकि रति काम से मिलने की आशा बराबर रखती है—

"इसके बाद मुझे अर्पित की गई अग्नि को दक्षिण दिशा की वायु के पखे से प्रदीप्त कर देना। तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि 'काम' मेरे बिना क्षण-भर भी नही रह सकता।"[१]

पति की मृत्यु पर रति का शोकाभिभूत हृदय पति को उलाहना देता हुआ पुकार उठता है—

"हे काम ! तुम तो कहते थे कि तुम मेरे हृदय मे निवास करते हो। मुझे प्रसन्न करने को कहे गए तुम्हारे ये शब्द यदि झूठे न होते तो यह कैसे सम्भव था कि तुम्हारे अनंग होने पर मुझे कोई हानि नही पहुँचती।"[२]

कालिदास की रति देवी होकर भी मानवीय भावनाओ से असम्पृक्त नही है। स्वर्ग की चतुर देव बालाएँ उसके पति को उसके स्वर्ग पहुँचने तक लुभा न ले ये आशंका भी रति के मन में है—

"स्वर्ग की चतुर सुर-कामिनियों के तुम्हें लुभा सकने के पहले ही हे प्रिय ! मै अग्नि मार्ग में पतंग होकर तुम तक पहुँच जाऊँगी।"[३]

ईर्ष्या भाव रति भाव को यहाँ प्रकर्ष प्रदान कर रहा है।

रति विलाप मे शोक प्रमुख-सा प्रतीत होते हुए भी रति भाव से न्यून नही है। यह ठीक है कि काम से सशरीर मिलने की आशा रति को नही है ; फिर भी उसका पति के प्रति अनन्य प्रेम प्रिय से मिलने की आशा बनाए रखता है। आकाशवाणी होने पर उस अभिलाषा को दृढ आधार भी मिल गया।

---

१. तदनु ज्वलन मदर्पित त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना ॥ ३६ ॥
—कुमारसम्भव, रति विलाप

२. हृदये वससीति मत्प्रिय यदवोचस्तदैवमि केतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनगः कथमद्यता रतिः ॥ ६ ॥ —वही

३. अहमेत्य पतंगवर्त्मना पुनरङ्काश्रयिणी भवामि ते।
चतुरैः सुरकामिनाजनैः प्रिय यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥ २० ॥ —वही

"ओ सुन्दर स्त्री ! तुम अपने शरीर की सयत्न रक्षा करो। तुम्हारा अपने प्रिय से उसी प्रकार मिलन होगा जैसे वर्षा ऋतु का आगमन होने पर सूर्य के द्वारा सुखाए गये जल का नदी से होता है।"[१]

रघुवश मे अज का विलाप यद्यपि शोक स्थायी से परिपूर्ण है किन्तु फिर भी यत्र-तत्र करुण-विरह की झलक उसमे दृष्टिगोचर हो जाती है।

'गोकर्ण तीर्थ' पर शकर को प्रसन्न करने के लिए नारद जा रहे थे। उनकी वीणा पर रखी हुई माला वायु से प्रेरित होकर 'अज' की प्रियतमा 'इन्दु' के वक्षस्थल पर जा गिरी। इन्दुमती के प्राण-पखेरू उड़ गए। पत्नी की अकस्मात् मृत्यु हो जाने से अज उन्मत्त होकर विलाप करने लगे। उद्भ्रांत राजा समीर से दोलित इन्दुमती के बालों को देखकर कहते है—

"हे करभ के समान जघाओ वाली प्रियतमा। वायु से प्रेरित तुम्हारे काले बालों को काँपता हुआ देखकर मेरा मन तेरे लौट आने की शका कर रहा है।"[२]

विरह-तप्त राजा सम्पूर्ण सृष्टि मे इन्दुमति का रूप देखते है, उसकी बोली सुनते है और उसकी गति का अनुमान लगाते है—

"मुझे विरह का दुख सहने मे असमर्थ समझकर तुम यद्यपि कोकिल के मधुर शब्दो में अपनी कंठध्वनि, मरालियो मे अपनी धीमी चाल, हरिणियों में चंचल दृष्टि और लताओं के कम्पन मे अंग-विलास छोड गई हो; फिर भी मेरा हृदय तुम्हारा वियोग सहने में असमर्थ है।"[३]

अज के विलाप मे जहाँ शोक ही प्रमुख भाव है, वहाँ भी रति ही उसकी प्रेरिका बनकर आई है—

"हे मदिराक्षि ! मेरे मुख का मधु पीकर तुम तृप्त होती थी। अब परलोक में मेरे अश्रुओ से दूषित जल की अजलि पीकर तुम कैसे तृप्त हो सकोगी।"[४]

बाणभट्ट की 'कादम्बरी' मुख्यतः महाश्वेता और पुण्डरीक के विरह-मिलन की कहानी है गन्धर्वराज चित्ररथ की कन्या महाश्वेता मुनि श्वेतकेतु के पुत्र पुण्डरीक पर

---

१. तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसगमं वपुः।
रविपीत जला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥ ४० ॥ —कुमारसम्भव, रति विलाप

२. कुसुमोत्खचिता-वलीभ्रनश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥
—रघुवंश, अष्टम् सर्ग, श्लोक ५३

३. कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसगतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासुविभ्रमाः ॥
त्रिदिवोत्सुकयाऽप्यवेक्षय मां निहिताः सत्यमयी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरूव्यथं हृदयं नत्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ —वही, श्लोक ५९-६०

४. मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे
अनुपास्यसि वाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ —वही, श्लोक ६८

आसक्त हुई थी। उधर पुण्डरीक भी काम-पीड़ित हुआ और महाश्वेता की विरह-व्यथा में उसने प्राण त्याग दिए। पुण्डरीक के शव के समीप महाश्वेता उपस्थित थी कि एक अलौकिक घटना घटित हुई। चन्द्रबिम्ब से उतरकर एक दिव्य पुरुष पुण्डरीक के शव को उठाकर ले गया और महाश्वेता को आश्वासन देता गया—"पुत्रि महाश्वेते! तुम प्राण का परित्याग न करना, फिर इसके साथ तुम्हारा सम्मिलन होगा।"[1] पुनर्मिलन की आशा में महाश्वेता तपस्विनी का-सा जीवन व्यतीत करने लगी। अन्त मे कुमार चन्द्रपीड़ के मित्र वैशम्पायन के रूप मे उसका पुण्डरीक से मिलन हुआ।

अलौकिक घटनाओं का समावेश होने पर भी 'कादम्बरी' के पात्रों की मानवीयता अक्षुण्ण है। महाश्वेता गन्धर्वकन्या है किन्तु उस विरहविधुरा की पीड़ा किसी भी विरहणी की पीड़ा ही है। एकाकी-वनवासिनी महाश्वेता की भेंट जब चन्द्रपीड़ से होती है और वह उसके इस प्रकार के जीवन के लिए प्रश्न पूछता है तो महाश्वेता के नेत्रो से ढुलकते मौन-अश्रु पाहन को भी द्रवित करने की क्षमता रखते है। 'कादम्बरी' मे महाश्वेता का विरह 'करुण विप्रलम्भ' ही है।

अब तक हमने करुण विप्रलम्भ के कुछ ऐसे उदाहरण देखे हैं जहाँ मृत प्रिय-पात्र के शव के उपस्थित रहने पर भी प्रेमी मिलन की आशा नही छोड़ता। अब ऐसे कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया जाता है जिनमें परिस्थितिवश वियोग की अवधि अनिश्चित हो जाती है किन्तु फिर भी प्रेमी आशा का परित्याग नही करता। इनमें कभी-कभी ऐसी परिस्थिति रहती है कि एक पक्ष यह भी नहीं जानता कि दूसरा जीवित भी है अथवा नही और विरह-वेदना मे तडपता है। कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् में एक बार ऐसी ही परिस्थिति आती है।

एक समय पुरुरवा और उर्वशी घूमते-घूमते कुमारकार्तिकेय के वन में चले गए। कुमार के प्रभाव से उर्वशी अनायास एक लता के रूप में परिवर्तित हो गई। राजा उद्-भ्रान्त होकर वन-वन भटकने लगे। उर्वशी से पुनर्मिलन लगभग असम्भव-सा लगने लगा किन्तु राजा ने मिलन की आशा नही छोड़ी। राजहंसो को गर्वित गति से चलता देखकर राजा को लगा जैसे यह चाल उन्होंने उसकी प्रेयसी से सीखी हो।

"ओ हंसो। क्या सरोवर तट पर तुमने वक्रभौंवों वाली मेरी प्रियतमा को देखा है। यदि तुमने उसे नहीं देखा तो फिर उसकी यह चाल तुमने कहाँ से चुराई?"[2]

---

१. वत्से महाश्वेते! न परित्याज्याः त्वया प्राणः
पुनरपि तवानेन सह भविष्यति समागमः।
—कादम्बरी, पृष्ठ ४९६, चौखम्बा सरकृत सीरीज

२. यदि हंस गता न ते नतभ्रूः
सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः
सकलं चोर गतं त्वया गृहीतम्॥१६॥
—विक्रमोर्वशीय, चतुर्थोऽङ्कः

उन्मत्त गति से बहती हुई सरिता की आन्दोलित लहरों में उर्वशी के उत्तरीय की कल्पना करके राजा कहने लगे—

"तरंगों के रूप में भ्रूकटाक्ष करती हुई, पक्षियों के स्वर में मेखला का आभास देती हुई, उठते हुए भागों में अस्त-व्यस्त उत्तरीय धारण करके आगे बढती हुई और बाधाओ से बचती हुई सरिता के रूप में मेरी उर्वशी ही है। नहीं, किन्तु मुझे छोड़कर उर्वशी सागर के पास क्यों जाएगी ? यह अवश्य सरिता ही होगी।"[1]

राजा की यह दशा उन्माद की ही है जहाँ जड-चेतन का भेद उन्हें नहीं रहा है। आशा-निराशा के संघर्ष मे मन चकनाचूर हो रहा है। वियोग मे राजा की सहानुभूति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया, मानव से आगे मानवेतर जगत्, पशु-पक्षियों तक भी वह पहुँच गया। गजपति को अपनी प्रियतमा के साथ विलास करते देखकर राजा उससे ईर्ष्या नही करते।

"मै पृथ्वी के राजाओं का अधिपति हूँ, तू गजपति है। मेरी प्रियतमा की भाँति तुझे भी अपनी प्रियतमा प्रिय है। हम दोनों सब बातों में सदृश है किन्तु भाग्य न करे कि तेरा वियोग अपनी प्रियतमा से हो।"[2]

इस तरह वन प्रदेशादि से उर्वशी का पता पूछते-पूछते राजा ने जब एकलता का आलिंगन किया तो वह उर्वशी के रूप में परिवर्तित हो गई और तब इनका पुनर्मिलन हुआ।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को न पहचान सका और उसने उसे तिरस्कृत किया। कुलपुरोहित की सम्मति से राजा ने निश्चित किया कि प्रसव के समय तक वह पुरोहित के यहाँ रहेगी और यदि उसने चक्रवर्ती सम्राट् के लक्षणों से युक्त पुत्र को जन्म दिया तो दुष्यन्त उसे स्वीकार कर लेगा।

रोती-पीटती शकुन्तला पुरोहित के यहाँ जा रही थी कि एक अदृष्ट सत्ता उसे उठाकर ले गई। राजा ने समझा विपत्ति टल गई। कुछ समय के उपरान्त मत्स्य के उदर में से अभिज्ञान-अंगुलिका के मिल जाने पर राजा की सम्पूर्ण स्मृतियाँ सजीव हो उठी। यहाँ से दुष्यन्त का विरह करुण विप्रलम्भ है। राजा के मन में यह सान्त्वना रहती है कि शकुन्तला को उठाकर ले जाने वाली सत्ता सम्भवतः मेनका हो, परन्तु फिर भी विरह की अवधि अनन्त है और मिलन की आशा एक दुराशा मात्र।

---

१. तरगभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेन वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं यान्ती स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदी भावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता।।
अथवा परमार्थसरिदेवैषा। न खलूर्वशी पुरुरव समपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति।
—विक्रोमोर्वशीय, चतुर्थोऽङ्कः, श्लोक २८

२. वही, श्लोक २५

देव-दानव-युद्ध के प्रसंग में मरीचि ऋषि के आश्रम में इनका पुनर्मिलन होता है। करुण-विरह के इस प्रसग में कालिदास ने दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के चित्र-लेखन आदि की विधि का वर्णन किया है।

करुण विप्रलम्भ के सम्बन्ध में संस्कृत कवियों का सबसे प्रिय विषय सीता-निर्वासन की कथा रही है। सीता-निर्वासन मे परिस्थिति लगभग 'शाकुन्तलम्' से मिलती-जुलती है। 'शाकुन्तलम्' में शकुन्तला का त्याग शाप के कारण हुआ। सीता निर्वासन मे, निर्वासन कर्तव्य और लोकापवाद के कारण। मिलन दोनो में अनिश्चित हो गया है, दुष्यन्त भी यह पूर्णतः नही जानता कि शकुन्तला जीवित है और राम भी नही, किन्तु शकुन्तला और सीता दोनो पति के लिए व्याकुल है वे मिलन की आशा नही छोड़ सकी होंगी यह निश्चित है। दुष्यन्त और राम भी प्रिय-मिलन की आशा-निराशा के संघर्ष में तड़पे ही थे।

सीता-निर्वासन की कथा से सम्बन्धित दो प्रमुख काव्य-ग्रन्थ दिङ्नाग की 'कुन्दमाला' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' है। रघुवंश में भी थोड़ा-सा वर्णन इस प्रसंग का उपलब्ध है। कालिदास के राम और सीता दोनों ही अत्यन्त संयत है। कर्त्तव्य मार्ग में कालिदास के नायक-नायिकाओं की व्यथा कभी बाधक न बन सकी। अत्यन्त शान्त दृढता से राम ने सीता को निर्वासित कर दिया किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि परिस्थिति के आघात से वह आहत नहीं हुए थे। मर्म का घाव केवल एक स्थान पर प्रकट होता है। निर्जन वन में सीता को एकाकिनी छोड़कर लक्ष्मण जब लौटकर उनका सन्देश राम को देते है तो—

"लक्ष्मण से सीता का सन्देश सुनकर राम चुपचाप वैसे ही आँसू गिराने लगे जैसे पौष मास में चन्द्रमा तुषार-बिन्दु बरसाता है। लोक-निन्दा के भय से राम ने सीता को घर से निर्वासित किया था, हृदय से नही।'[१]

कालिदास के राम के ये मौन-अश्रु किसी भी सहृदय के हृदय को आन्दोलित करने को पर्याप्त है। व्यथा की मौन-सहनशीलता को मुखरता पहुँच ही कहाँ सकती है?

सीता के निर्वासन की मार्मिक व्यथा ही भवभूति के 'उत्तररामचरित' का विषय बनी है। सीता को निर्वासित किए दस वर्ष व्यतीत हो चुके है। 'शम्बूक वध' के प्रसंग में राम जनस्थान मे जाते है। यहीं भवभूति राम और सीता को एक स्थान पर एक साथ उपस्थित करते हैं। भगवती भागीरथी के वरदान से सीता अदृश्य है। जनस्थान के चिर-परिचित वातावरण में राम की पूर्वस्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं—

"इन परिचित वृक्षों, पक्षियों और मृगों को देखकर, जिनका मैथिली निर्मल जल स्वच्छ अन्न कणों और हरित तृणों से स्वयं अपने हाथों से लालन करती थी, आज मेरे

---

१. बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीवमहस्यचन्द्रः।
कौलीन भीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥

—रघुवंश, चतुर्थ सर्ग, छन्द ८४

हृदय की व्यथा का उद्दाम प्रवाह प्रवाहित हो उठा है जो पत्थरों को बेधने में भी समर्थ है।"[१]

राम की व्यथा को और भी बढ़ाने के लिए जनस्थान की वनदेवी वासन्ती ने उपालम्भ दिया—

"तुम मेरी जीवन हो, मेरा द्वितीय हृदय तुम हो, मेरे नेत्रों के लिए चन्द्र की ज्योत्स्ना व देह के लिए अमृत हो।"

इन मृदुल वचनो से उस भोली-भाली को बहलाकर·····अच्छा और कहने से क्या (अर्थात् तुमने उसके प्रति ऐसा दुर्व्यवहार किया है।)[२]

वासन्ती की कटुता राम के प्रति बढ़ती ही गई :

"ओ नृशंस ! यश तुम्हें बहुत प्रिय है किन्तु इससे अधिक अयश क्या होगा ? क्या तुमने कभी यह सोचा कि निर्जन वन में एकाकी सीता का क्या हाल हुआ होगा ?"[३]

हताश, निराश राम के पास इसका उत्तर ही क्या था किन्तु अभिन्न मित्र वासन्ती के सन्मुख हृदय की आशंका व्यक्त न होती, यह असम्भव था। राम ने लज्जित-सा होकर उत्तर दिया :

"सखी इसमें सोचने का अवकाश ही कहाँ है ! चन्द्रकिरणों से निर्मित उसका मृदुल शरीर अवश्य ही हिंस्र पशुओं का ग्रास बना होगा और वह एक वर्षीय मृग शावक की भाँति भयभीत नेत्रों से विस्मित-सी देखती ही रह गई होगी।"[४]

---

१. करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरूशकुनिकुरङ्गान् मैथिली यानपुष्यत्
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्य. ॥
—उत्तररामचरित, तृतीय अक, श्लोक २५

२. त्व जीवित त्वमपि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव—शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥ —वही, तृतीय अंक, श्लोक २६

३. अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवाद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ कथं बत मन्यसे ॥ —वही, तृतीय अंक, श्लोक २७

४. सखि किमत्र मन्तव्यम् ?
त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे—
रतस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रूव्यादिभिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥ —वही, तृतीय अंक, श्लोक २८

राम की आशंका से सीता व्यथित हो उठी। एकबारगी ही वह चीत्कार कर उठी—"आर्य मैं जीवित हूँ।" किन्तु उनके वचन और दर्शन दोनों ही राम के लिए दुर्लभ थे, राम का शोक बढता गया, वह मूर्छित हो गए, सीता से न रहा गया, उन्होने स्पर्श से उन्हें चेतना प्रदान की, किन्तु त्यक्त सीता स्वयं को पति के सन्मुख व्यक्त करे यह उनके लिए वर्जित था। राम इस स्पर्शानुभव को अपना उन्माद समझते रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि सीता इस लोक मे नही है। इसीलिए राम का विलाप प्रिय के अनिष्ट से उत्पन्न शोक था, अन्ततः करुणरस का परिचायक है।

निर्वासन के दोष के कारण राम सीता के लिए यद्यपि अलभ्य थे, किन्तु अपनी और प्रिय दोनों की उपस्थिति में मिलन की आशा उनके मन मे न रही होगी यह असम्भव है। निर्वासन राजा का कर्त्तव्य, विधि की विडम्बना अथवा दैवी प्रकोप ही था जिसके कारण मिलन की अवधि अनिश्चित हो गई थी। सीता के लिए मिलन की आशा बिलकुल लुप्त हो गई होगी, यह हम नहीं मानते। अतः सीता के पक्ष में यहाँ भी करुण-विप्रलम्भ ही माना जाएगा। राम के दर्शनमात्र से सीता का पत्नीत्व और मातृत्व अनायास ही जाग उठा था। तमसा से उन्होने कहा था :

"भगवती तमसा ! पुत्रो के स्मरण और उनके पिता की यहाँ उपस्थिति से अनायास मुझे ऐसा लगने लगा है कि मै भी संसारिणी हूँ।"[1]

अश्वमेध के प्रसंग मे राम वाल्मीकि के आश्रम मे जाते है और गुरुजनों, कुलदेवी भागीरथी, अरुन्धती और वाल्मीकि के कहने से सीता को स्वीकार करते है। किन्तु यह मिलन राम के लिए आशातीत ही था, क्षणमात्र पहले तक राम की कल्पना मे सीता के जीवित होने की सम्भावना भी न थी।

'कुन्दमाला' का प्रारम्भ सीता के निर्वासन से होता है। दिङ्नाग की सीता अत्यन्त बुद्धिमती है। हिंस्र पशुओं से युक्त उस निर्जन प्रदेश मे लक्ष्मण जब राम का सदेश उन्हें सुनाते है :

'लोकापवाद के भय से मैने तुम्हारा त्याग किया है, भावदोष से नही (प्रेम की कमी के कारण नही) तो सीता का सारा क्षोभ दूर हो जाता है। वह लक्ष्मण से कहती भी हैं—"इस सन्देश से राम ने मेरा सारा कष्ट दूर कर दिया है।"[2]

---

१. सीता—भअवदि तमसे एदिणा अवच्चसमुमरणेण उरससिदपणहुदत्थणी दारु च पिहुणो सणिहाणेण खणमेत्तं संसारिणी हि सवुत्ता। —उत्तररामचरित, तृतीय अंक

२. जानामि केवलमह जनवादभीत्या।
सीते त्यजामि भवती न तु भावदोषात् ॥ २॥
त्वं देवि, चित्त निहिता गृहदेवता मे।
स्वप्नाऽऽगता शयनमध्य-सखी त्वमेवः ॥१४॥
एवं संदिशतेण अअउत्तेण परिच्चाअदुक्कं मयि णिरवसेसं अवणीदं।
— कुन्दमाला, प्रथम अंक, सम्पादकः जयचन्द और भीमसेन।

सीता की संयत गम्भीर व्यथा इन शब्दों में व्यक्त होती है—

"मेरी ओर से राम से कह देना कि उस तपोवनवासिनी ने यह प्रार्थना की है—मैं सब दोषों से पूर्ण हूँ, तब भी अतीत के परिचय से, वह बेचारी अनाथ है अथवा केवल यह कि सीता है (उसका अस्तित्व भी जीवन मे है) मुझे याद कर लेना।"[१]

अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में राम 'दण्डकारण्य' जाते है, पूर्वस्मृतियाँ जाग उठती है। लक्ष्मण से वह कहते हैं—"यही वह स्थान है जहाँ सीता के सुकुमार किसलय-सदृश कर को पकड़े हुए हम घूमते थे, अत्यन्त सुखद स्मृतियाँ ही हमारे वार्तालाप का विषय थीं। सीता के चरण-पीड़न से तट की रेत आर्द्र हो जाती थी।"[२]

सरोवर के तटवर्ती प्रदेश मे सीता भी वही पास ही उपस्थित थी किन्तु वाल्मीकि के वरदान से अदृश्य थी। अनेक वर्षो के उपरान्त राम के पुनर्दर्शन से सीता के हृदय की भावबहुलता इन शब्दों में प्रकट हुई है—

"प्रिय का दर्शन मन में प्रसन्नता भर रहा है, इन्होंने मुझे निर्वासित किया है अतः क्रोध है, कृशगात हो गए है इसका दख है। विरह के कठिन नियमो का पालन कर रहे है इसलिए मन मे गर्व है, चिर परिचित है इससे अनुराग जाग रहा है। पति है अतः आदर भाव है। लव-कुश के पिता को देखकर आज ऐसा लगता है कि मै भी गृहिणी हूँ। इन्होंने मुझे दोषी ठहराया है इस कारण मै लज्जा से मरी जा रही हूँ।"[३]

राम को विलाप करते देखकर सीता स्वय को रोक नही पा रही किन्तु क्या करें स्वयं उनके शब्दों में—

"चक्रवाकी की भाँति रात्रि के आगमन से प्रिय के पास रहने पर भी मै दूर हूँ।"[४] निर्वास उस प्रणयमानिनी के जीवन का अभिशाप बन गया था।

---

१. एक्क वि मम वअणादो विण्णविदव्वो—सा तपोवण वासिणी सव्वहा सामण्टअणिहिदेण अजलिणा विण्णवेदि जइ अ; णिग्गुणा चिरमरिचिदेत्तिवा, अणाहेत्ति वा सीदेत्ति वा सुमरणीअत्ति एण अणग्गहिदव्वा।—इति।

—कुन्दमाला, प्रथम अंक

२. किसलय-सुकुमार पाणिमालम्ब्य देव्या
विविधरतिसखीभिः सङ्कथाभिर्दिनान्ते
चरण-गमन-वेगान्मन्थरस्य स्मरामि
स्रुतपयसि तटिन्याः सैकते चक्रमस्य ॥ —कुन्दमाला, वही, तृतीय अंक, श्लोक १२

३. अंहो दिट्ठोत्ति परिदोसो, चिरप्पवासोत्ति मणु; परिव्वामोत्ति उव्वेओ, णिरणुक्कोसोत्ति अहिमाणं, चिरपरिचिदोति अणुराओ, दंसणीओत्ति उक्कण्ठा, सामित्ति बहुमाणो, कुसलवाण तादोत्ति कुडुंबिणी सब्भावो, अवराहं पविसिदंहित्ति लज्जा। ण जाणामि अंअउत्तदंसणेण कीदिसं अवत्थं अणुभवामित्ति।

—वही, तृतीय अंक

४. दिअसावसाणा विणिवारिदपिअसमाअमा विअ चक्कवाई इदो एव्व पवासे वट्टामित्ति।

ऐसे ही एक और अवसर पर राम को मूर्च्छित होते देख वह अपने को न रोक सकीं और अपने आँचल से वायु करने लगी। सीता के अदृश्य होने पर भी राम उनके आँचल को पकड़ लेते है, सरोवर जल में उनकी प्रतिच्छाया देखकर मिलन की आशा भी बंधने लगती है; यहीं से 'कुन्दमाला' में राम के पक्ष में भी करुण विप्रलम्भ का प्रारम्भ हो जाता है। 'कुन्दमाला' मुख्यतः प्रणयमान से परिपुष्ट करुण विप्रलम्भ ही है। लोकापवाद रूपी शाप की शुद्धि होने पर उसी जन्म में राम-सीता का मिलन होता है।

'प्रवास' शब्द का प्रयोग यद्यपि कवि ने किया है किन्तु उसका अर्थ वहाँ निवास है प्रवास-विप्रलम्भ नही. क्योंकि अतीत के वनवास को भी उन्होंने 'वनप्रवास' ही कहा है।

विरह के इन चार विभेदों के अतिरिक्त एक पाँचवाँ विभेद एकपक्षीय प्रेम की स्थिति मे दृष्टिगोचर होता है। इस स्थिति में प्रेमी अपने को यह धोखा देने का प्रयत्न करता है कि जब वह प्रिय से प्रेम करता है तो फिर प्रतिदान न मिलने पर भी उसे दुःख ही क्या है—

"उनका सौन्दर्य अब तक मेरी आँखों में है, स्पर्श मेरे शरीर में, शब्द मेरे कानों में, हृदय-हृदय पर स्थित है; फिर भाग्य ने मुझसे छीना ही क्या है ?"[1]

कल्पना का यही आदर्श 'हृदय हृदय पर स्थित है' एकपक्षीय प्रेम का मूल आधार है किन्तु यथार्थ की वास्तविकता और उस वास्तविकता में 'अभाव' का अस्तित्व विरही को कचोटता रहता है। कल्पना यथार्थ पर आवरण भले ही डाले रहे, उसे मिटा नही सकती; तभी तो यह अपने को सान्त्वना देने की, झूठा भुलावा देने की बात है—'भाग्य ने मुझसे छीना ही क्या है ?'

अपभ्रंश काव्य में विरह-भावना

संस्कृत-प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का बृहत् साहित्य सम्पूर्ण उत्तर भारत में बिखरा हुआ मिलता है। अपभ्रंश को विद्वान हिन्दी का पूर्व रूप मानते हैं। उसमें अनेक प्रबन्ध और स्फुट काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अधिकांश ग्रन्थों की रूपरेखा और लक्ष्य धार्मिक होने पर भी उनमें अनायास जीवन के विविध चित्रों का समावेश हो गया है। फलतः शृगार और उसके अन्तर्गत विरह की भी अनेक स्थितियाँ आई हैं। यहाँ अपभ्रश काव्य के कुछ ग्रन्थों मे विप्रलम्भ की कुछ स्थितियों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है! विप्रलम्भ के विविध भेदों के अनुसार उस काव्य का सक्षिप्त अध्ययन करना ही यहां लक्ष्य है।

---

१. रूअ अच्छीसु ठिअं फरिसो अंगेसु जंपिअं कण्णे।
हिअअं हिअए णिहिअं विओअं किं त्थ देव्वेण ॥

—हाल सतसई, द्वितीय शतक छन्द ३२, काव्यमाला सीरीज़

पूर्वराग

दिव्यदृष्टि धाहिल नामक कवि का लिखा हुआ पद्मश्री-चरित काव्यग्रन्थ धर्म के आवरण मे सुन्दर प्रेमकाव्य है। इसमें कवि ने पद्मश्री के दो जीवनों की कथा कही है।

अपने पहले जन्म में पद्मश्री वसन्तपुर के नागरिक धनसेन नामक एक धनिक वैश्य की पुत्री धनश्री थी। वह भाइयों के पास रहती थी और तीर्थ-व्रतादि किया करती थी। अपने अनावश्यक हस्तक्षेप से भाई-भाभियों के बीच मे भेदभाव उत्पन्न कर देती थी। पूर्वजन्म की धनश्री ही दूसरे जन्म में हस्तिनापुर के राजा इभ्यपतिशख की पुत्री पद्मश्री हुई और उसके पूर्वजन्म का भाई धनदत्त अयोध्या के राजा अशोकदत्त का पुत्र समुद्रदत्त।

एक दिन वसन्त ऋतु मे अपूर्वश्री नामक उद्यान मे इन दोनों का मिलन हुआ और दोनो एक-दूसरे के प्रेम मे आबद्ध हो गए। यहाँ कवि ने पद्मश्री के पूर्वानुराग और हृदय की विह्वलता का सुन्दर वर्णन किया है। पूर्वानुराग मे प्रकृति का रूप उद्दीपन है। वर्णन में कोई विशेषता नही, कोयल का कूकना और भँवरों का गूंजना आदि रूढ़िगत उपमान ही है।

पुष्पदन्त ने णायकुमार-चरिउ नामक धार्मिक खण्डकाव्य मे चित्रदर्शन से प्रेमोत्पत्ति का निर्देश किया है।

सुदसण चरिउ (सुदर्शन चरित) मे पूर्वराग के अन्तर्गत काम के प्रति उपालम्भ का वर्णन मिलता है। सुदर्शन की भावी पत्नी मनोरमा काम को उपालम्भ देती है :

"ओ दुष्ट काम ! रुद्र ने तुम्हारी देह जला दी थी तो उसका प्रतिशोध महिला पर (अबला पर) क्यों लेते हो, उस पर क्यों क्रोध करते हो ? मूर्ख ! तुमने पाँचों बाण तो मुझ पर छोड़ दिए अन्य स्त्रियों को किससे बिद्ध करोगे।[1]

मान विप्रलम्भ

एक मानिनी नायिका की दशा तथा पति द्वारा उसकी मनुहार का वर्णन पुष्पदंत ने बड़ी सफलता से किया है—

"वधू नीचा मुख किए बैठी थी तो पति ने कहा कि तुम्हारा मुख मलिन क्यों है ? जैसे बादल मे एक बिजली ही शोभा पाती है, वन के पक्षियों मे एक कोकिला शोभित होती है, उसी प्रकार मेरी शोभा तुमसे है।...तुम्हारे रोष से मेरा प्रेम और भी घना होता है। पति के इस प्रकार मनुहार करने पर वह विद्युत् के वेग जैसे श्वास लेने लगी। चञ्चल नेत्रों से हरिणी को भी तिरस्कृत करने वाली वह नायिका पति को आकर्षित

१. पुणु पुणु सा पभणइ जणिय ताव,
रे रे मयरद्धय खल सहाव।
रुद्देण आसि तव दग्ध देहु, भण महिलहि उप्परि कोण कोहु।
पचवि महु लाइवि हियए बाण, अणणाए केण हणि हसि अयाण।
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, १९५२, पृष्ठ १५३

करने लगी।"[१]

णायकुमार-चरिउ से ईर्ष्या-भाव का उदाहरण लिया जा सकता है। कनकपुर का राजा जयन्धर अपनी बडी रानी विशालनेत्रा और छोटी रानी पृथ्वीदेवी के साथ जब क्रीड़ोद्यान में जाता है, तब छोटी रानी अपनी सपत्नी के वैभव से आश्चर्य चकित हो जाती है और अपनी सखी से कहती है, "हे सखी ! जिन नयनो ने दुर्जनो को प्राप्त सुखों और निज सज्जनों पर पतित दुखों को निहारा, वे प्रिय नेत्र फूट क्यों न गए। ईर्ष्या से पृथ्वीदेवी महल मे न जाकर भगवान 'जिन' के मन्दिर मे जाती है।"

प्रेम में भेदभाव उत्पन्न हो जाने पर 'मान' से मिलते-जुलते 'अमर्ष भाव' की व्यंजना धाहिल के पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री-चरित्र) मे मिलती है। इस प्रसग में धनश्री की बड़ी भाभी यशोमती का विरह वर्णन है—

"यशोमती प्रिय के निष्ठुर वचनों से, वनाग्नि से दग्ध वनलता के समान हो गई। अत्यन्त गुरू दुख के भार से वह ऐसी शिथिल हो गई मानो किसी ने सिर पर मुग्दर से प्रहार किया हो। धीर पुरुष द्वारा रणक्षेत्र मे भगाये गए कायर के समान उसका सौभाग्य सूर्य लुप्त हो गया। नदी का वेग जैसे तटवर्ती पलाश के वृक्ष को उन्मूलित कर देता है वैसे ही (प्रिय के कठोर वचनो से) उसकी सुरताभिलाष उन्मूलित हो गई। नवयौवन के कामाग्नि प्रसार के सदृश्य सताप उसके हृदय मे प्रसूत हो गया। रोती हुई यशोमती के उज्ज्वल आँसू मोती नहीं आँसू ही थे। सिह की दृष्टि मे पड़ी व्याकुल हरिणी-सी सतप्त यशोमती दीर्घ निःश्वास लेने लगी।"[२]

---

१. हेट्ठामुँह वधु वरेहिभनियां। का हुइ तुहुँ मलिनाननिय।।
घन सोहे एकइ विज्जुलई। वनसोहे एकइ कोइलई।
एँहि सोहों में एकइ तुहई .....।
तव वदने रोपयितनऊ। जायउ तहँ रम्य प्रेम घनउ।
वप्पिल सं पायेउ रमण वशा। तडि रज तडि वेग हंकरे श्वसा।।
चल नयन-युगल-निर्जित-हरिनी। रतिकंता मदनवती तरूणी।।
—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सास्कृत्ययन 'कुपिता नायिका)
आदि पुराण, पृष्ठ ५६१

२. जसवइ पिय वयणि निटठुरेण
विज्झाइय वण लय जिह दवेण।
तुट्ठउ गरूय दुक्खइ भरेण
सिरि ताडिय नावइ मोग्गरेण।
सोहग्ग मडप्फरू भग्गु केम
धीरेण रणंगणि भीरू जेम।
सम्मूलिउ कह सुरयाहिलासु
नइ पूरि जिह दोत्तडि पलासु।
संताउ वियंभइ हियए केम
नव जोवणि वन्महं जलणु जेम।

कवि के इस विरह वर्णन में अतिरंजना नहीं है, हृदय की विक्षुब्धता ही है। नदी के वेग से पलाश के उन्मूलित हो जाने के सदृश पति के कठोर वचनों से सुरताभिलाष (भौतिक और आत्मिक अस्तित्वों के मिलन) के नष्ट होने की उपमा कवि की अत्यन्त मौलिक उद्भावना है। यशोमती की शारीरिक अवस्था के चित्रण मे भी स्थूलता नहीं है, उसकी मानसिक स्थिति की अधिक मार्मिक व्यंजना करने की समर्थता ही है।

"आरक्तनयन, हास्यरहित निस्तेज मुख और विलुप्त कान्ति वाली यशोमती की रात्रि निःश्वास छोड़ते और करुण क्रन्दन करते हुए जैसे-तैसे व्यतीत हुई। आभरण रहित यशोमती उस कुदशाखा के समान दिखाई देती थी जिस पर से सब पुष्प बीन लिए गए हो।"[1]

प्रवास विप्रलम्भ

प्रवास विप्रलम्भ का एक उदाहरण अशोक वाटिका में स्थित विरह-विधुरा सीता के विरह-वर्णन में स्वयभू की रामायण मे प्राप्त है—

"राम के वियोग में दुखी, आँखो से अश्रु बहाती हुई, मुक्त केश और कृशगात सीता के मुख का चुम्बन करते हुए भ्रमर, पुष्पों का तिरस्कार कर रहे थे। वह ताड़न करके उन्हे हटाती नही थी।"[2]

हनुमान ने सीता को इसी ध्यानावस्थित मुद्रा मे देखा और निश्चित किया कि 'जो पेसिउ राहवचदेण सो घत्तिउ अंगुत्थलउ' अर्थात् राघवचन्द्र ने जो मुद्रिका भेजी है उसे मै अब (स्वयं को छिपाकर) फेक दूंगा। राम की मुद्रिका को पाकर सीता की जो दशा हुई, वह भी अत्यन्त हृदय स्पर्शी है :

गेवतिए निवडहि उज्जलाइ
असुयह नाह मोत्ताहलाइं···।
भय वुन्न हरिणि जिह दिट्ठ सीह
जरिय व्व मुयइ नीसास दीह ॥ १/१३॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड, पृष्ठ १७६

१. आरत्त नयण, विच्छाय वयण,
उन्मुक्क हास पसरत सास।
दरमलिय कति, कलुण रूयंति;
उविग्ग दीण, निसंसयल खीण।
आहरण विवज्जइ विगय हार,
उच्चिणिय कुसुम न कुन्द साह॥ —वही, म० पु० १/१४, पृष्ठ ७४-७६

२. राम विऊए दुम्मणिया, असु जलोल्लिय लोयणिया
मोक्कल केस कवोलु भुआ, दिट्ठ विसंठुल जणय सुया
जाणइ-वयण-कमलु अलहंतिउ, मुहु ण देंति फुल्लंधुय पतिउ।
—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ६२

"लक्खिह सीया एवि किह । वियसिय सरिया होइ जिह ॥
णं मह लंछण ससि जोण्हा इव । तित्ति विरहिय गिम्ह तण्हा इव ॥"[१]

अर्थात् "सीता की स्थिति एक विकसित सरिता के सदृश हो गई। वह मृणलांछन-शशि-ज्योत्स्ना के सदृश और तृप्ति के लिए व्याकुल ग्रीष्म-ऋतु की तृष्णा की भाँति हो गई।" विकसित सरिता कहकर सीता के हृदय मे न समा सकने वाले भावावेश, मृणलांछन-शशि-ज्योत्स्ना कहकर उनके हृदय की अपूर्व शान्ति की व्यंजना कवि ने की है। यह शान्ति और हर्ष प्रिय का स्मृति-चिह्न पाने से उद्भूत हुआ था। ग्रीष्म-तृष्णा में विरह की व्याकुल-प्यास की समर्थ व्यजना है।

पुष्पदत के विरह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है, मस्तिष्क को चमत्कृत करने वाली ऊहा उनमें नहीं है। एक वियोगिनी का चित्र पुष्पदंत इस प्रकार खीचते है :

"वियोगिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान, भूषण सन के बन्धन के समान थे। स्नान शोक-स्नान के सदृश अच्छा न लगता था और वसन तो व्यसन ही थे। चन्दन विरह की अग्नि के लिए ईधन के समान था।"[२]

महापुरिस गुणालंकार में भी मिलन के समय की अनुकूल वस्तुएँ कैसे विरह मे प्रतिकूल लगने लगती है, इसका सुन्दर दिग्दर्शन है। राम की विरह दशा के विषय मे कवि कहता है—

"सीता के वियोग में राम को जल विष के समान और चन्दन अग्नि के समान दिखाई देता है।"[३]

मानव भावनाओं और जीवन की परिस्थतियों के साथ प्रकृति के जीवन के साम्य और रूप-परिवर्तन को भी कवि ने देखा है। सीताहरण के प्रसग मे पुष्पदत कहते हैं—

"सीता, राम और लक्ष्मण के आनन्द के अस्त होने के सदृश ही सूर्य भी अस्त हो गया। नभश्री अपने पति दिनकर के विलीन होने पर विधवा हो गई। उसी का वलयखंड बालचन्द्र के रूप में और टूटे हुए हार के मोती तारों के रूप में बिखर गए।"[४]

एक स्थान पर सध्या-वर्णन में पुष्पदंत कहते है—

---

१. हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ ६४

२. मलयाणिलु मलयाणलु भुसुणुस्त्रणु करि बद्धउ णावह
णहाणु सोय ण्हाणु व णउ रूच्चइ वसणु
चंपणु इंधणु विरह हुयासहु.....
वसणु सणिहु सा सुच्चइ ॥
—अपभ्र श साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, म० पु० २२/९, पृष्ठ ८४

३. वही, म० पु० ७३/३/८, पृष्ठ ८५

४. माणव भवण मरह खेत्तोवरि वियरण गमिय वासरो
सीया राम लक्खणाणंदु व जामत्थमिओ दिणेसरो ॥ —वही, म० पु० ७३/२, पृष्ठ ८६

"संध्या के आगमन पर रात्रि में कमल मुकुलित हो जाते हैं, साथ-साथ विरहिणी का मुख भी कुम्हला जाता है। दिनकर (प्रभातकाल में) भुवन को अपनी ताम्र किरणों से पूर्ण करके जैसे चक्रवाककुल और पंकजों को जीवन देता है वैसे ही विरही-जन को भी।"[१]

अनेक कार्यों मे व्यस्त रहने के कारण विरही का दिन तो सरलता से व्यतीत हो जाता है, रात्रि नहीं बीत पाती, यही इसका तात्पर्य है।

पउमसिरि-चरिउ मे समुद्रदत्त और पद्मश्री के वियोग वर्णन 'प्रवास' के अन्तर्गत मिलते है। इन दोनों को जब अनेक वर्ष एक साथ रहते बीत गए थे तो 'वराहदत्त' नामक लेखवाहक ने समुद्रदत्त की माता की व्याकुलता की सूचना उसको दी और वह साकेत जाने को तैयार हुआ। वही प्रवास की योजना है।

पथिक द्वारा संदेश कहलवाने की प्रथा भारतीय काव्य परम्परा में बहुत पुरानी है। सस्कृत के स्फुट पदो मे पथिक से सदेश कहती हुई अनेक विरहिणियों की उक्तियाँ मिलती है। इसी पद्धति पर अब्दुल रहमान ने 'सदेशरासक' लिखा है।

'सदेशरासक' के प्रारम्भ में कवि एक प्रोषितपतिका नायिका का चित्र खीचता है—

"भरे हुए वक्षस्थल और तनु-कटि-प्रदेश-से समृद्ध, विजयनगर की एक श्रेष्ठ युवती नमित नेत्रों से अनवरत अश्रु बहाती हुई मानस मे प्रिय का दर्शन कर रही थी। विरह की अग्नि से शरीर श्यामल हो गया था—जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो। दुख से परितप्त होकर वह निःश्वास ले रही थी, अग तड़प रहे थे।"

तभी उसने एक पथिक को देखा और उसके हाथ प्रिय के पास सदेश भेजने को उत्कण्ठित हो उठे। अव्यवस्थित मानसिक दशा के कारण उसके समीप पहुँचने की जितनी जल्दी करती थी उतनी ही देर लगती जाती थी। पथिक के पास शीघ्र पहुँचने की चेष्टा मे कृशांगी की मेखला गिर गई उसे उठाया तो हार टूट गया, टूटे हुए हार के मोती चुनने लगी तो पायल से उलझकर गिर पड़ी। पथिक सदेश के बिना ही न चला जाए इस आशंका से फिर भी चलने का साहस किया। भावावेश से कचुकी फट गई, कमलकरों से अपने अर्धनग्न वक्षस्थल को ढकती हुई-सी भी वह सदेश कहने के मोह को न त्याग सकी। करुणार्द्र नेत्रों और आँसुओं से गद्‌गद् कण्ठ से पुकार उठी—पथिक ठहरो, तनिक मेरी बात भी सुनते जाओ।

उस नैसर्गिक सौन्दर्य की प्रतिमा की यह दशा देखकर पथिक ठिठक गया।

१. जिहि रयणिहि कमलहँ मउलियाइँ
तिह विरहिणि वयणइँ मउलियाइ
ता चक्कउलहँ पंकयहँ तव किरण पूरिय-भुवणोयरू
विरहयहँ णर-णारी-यणहँ जीविउ देंतु समुग्गउ दिणयरू।

—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १८२

विरहिणी ने पथिक से पूछा—"तुम कहाँ के रहने वाले हो और कहाँ जा रहे हो।" उसने जब अपना गंतव्य 'स्तम्भतीर्थ' बताया तो "यह दीर्घ निःश्वास लेकर अँगुलियाँ चटकाने लगी, झंझा में पड़े केले के वृक्ष की तरह काँपने लगी, मुँहसे एक शब्द भी न निकला, धैर्य का बाँध टूट गया और फूट-फूटकर रोने लगी।"[१] उच्छ्वास, वेपथु और अश्रु से युक्त 'उद्वेग' दशा का यह चित्रण अत्यन्त मार्मिक है।

पथिक द्वारा धीरज बँधाये जाने पर उसने प्रिय के प्रति यह सन्देश कहा—"तुम्हारे विरह में मेरे अग इसलिए जीर्ण-शीर्ण नहीं हो जाते क्योंकि हे नाथ! वे तुमसे मिलने की आशा मे जीवित है।"[२]

"काम के प्रहार मेरे शरीर को ही क्षत-विक्षत कर सके है हृदय को नही, क्योंकि हृदय में तुम स्थित हो।"[३]

"विरह से सघर्ष करने की शक्ति मुझ मे अब नहीं रही इसीसे रोती हूँ। पशु यदि खो जाए तो गोपी तो केवल रो ही सकती है गोपाल ही उन्हे वापस ला सकता है (खोये हुए अतीत के सुख तुम्हारे बिना मुझे प्राप्त नही हो सकते), सन्देश बहुत लम्बा है कहा नही जा सकता। उस प्रिय से केवल इतना कह देना कि हाथ का कगन अब दोनो हाथों में एक साथ पहना जा सकता है और छोटी अँगुली की मुद्रिका हाथ में आ जाती है।"[४]

---

१. विजयनयरहु कावि वररमणि,
उत्तगथिरथोरथणि, विरूडलक्क धयरट्ठपउहर
दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु
णज्जइ राहि बिडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु
तथा
फुसइ लोयण रूवई दुक्खत्त,
धम्मिल्लाउमुक्कमुह, विज्जभइ अरूअंगु मोडइ।
—सन्देश रासक, द्वितीय प्रक्रम, पद, २४, २५, सिधी जैन ग्रन्थ माला

२. तुह विरहपहरसंचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइ।
तं अज्जकल्लसंवडण ओसहे णाह तग्गति॥ —वही, द्वितीय प्रक्रम, पद ७२

३. विरह परिग्गह छावडइ, पहराविउ निरवक्खि।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ समाणिय पिक्खि॥ —वही, द्वितीय प्रक्रम, पद ७८

४. मह ण समत्थिम विरह सउ, ता अच्छउ बिलवंति।
पालो रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मन्ति॥
सन्देसडउ सवित्थरउ, हउ कहणह असमत्थ।
भण पिय इकत्ति बलियडइ बे वि समाणा हत्थ॥
सन्देसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि मुन्दडउ, सो बाहडी समाइ॥ —वही, पद ७९, ८०, ८१

विरह के विषय मे अब्दुल रहमान ने दो-एक स्थानों पर बहुत सुन्दर उक्तियाँ कही है—

"विरहाग्नि का जन्म अवश्य ही बड़वाग्नि से हुआ होगा, जितना इसे अश्रुओं से सींचा जाता है उतनी ही यह धधकती है। विरह-निःश्वास झेलती हुई विरहिणी अवश्य समाप्त हो जाती यदि आँसू न होते।"[१]

"तुम्हारे विदेश गमन से मुझे लाभ ही हुआ, सम्भवत. अमरत्व का वरदान प्राप्त हो गया, क्योकि विरह का एक दिवस एक वर्ष के सदृश बीतता है।"[२]

पथिक ने विरहिणी मे पूछा कि कब से वह ऐसे विरह मे तडप रही है। उच्छ्वास लेकर उसने उत्तर दिया, "जब से वह निर्मोही मुझे छोडकर चला गया है।"

इसके पश्चात् वह छः ऋतुओं के सौन्दर्य, उनके हास विलास तथा अपने ऊपर पड़ते हुए उनके प्रभावों का वर्णन करती है। ग्रीष्म से प्रारम्भ होकर यह ऋतु वर्णन क्रम से वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर में होता हुआ वसन्त मे समाप्त होता है। शरद का वर्णन करते हुए वह कहती है—

"सौभाग्यवती स्त्रियाँ क्रीड़ा करती है और मेरी रात्रि उद्विग्नता में ही व्यतीत होती है। घर-घर मे गीत गाए जा रहे है, समस्त कष्ट भाग्य ने मेरे बाँटे मे ही दे दिया है।"[३]

"हे पथिक! क्या उस देश मे रात्रि को निर्मल ज्योत्स्ना का विकास नही होता? क्या अरविन्द के पुष्पो का सेवन करते हुए हस कलरव नही करते? क्या प्राकृत (नैसर्गिक) काव्य का स्रोत (किसी भावुक हृदय से) फूट नही पड़ता?, क्या कोकिल पंचम स्वर में राग नही अलापती? प्रिय नीरस है जो शरद के इस मोहक वातावरण मे घर का स्मरण

---

१. पाय पिय वडवानलहु विरहग्गिहि उप्पत्ति।
ज सित्तउ थोरसुयहि, जलइ पल्लि ण शक्ति॥
सोसिज्जत विवज्जइ सासे दीउन्हएहि पसयच्छी।
निवडत बाहभर लोयणाइ घूमइण सिच्चन्ति॥
—सन्देश रासक, द्वितीय प्रक्रम, पद ८९-९०

२. फलु विरहग्गि पवासि तुअ
पाइउ अम्मिहि जाइ पियह भणु।
चिरु जीव तउ लद्धु वरू
तुअउ संवच्छरतुल्लउ इक्कु दिणु॥ —वही, पद ११४

३. इम किवि केलि करहि सपुन्निय,
मइ पुणु रयणि गमिय उव्विन्निय।
अच्छइ घरि घरि गीउ खन्नउ
एगु इकट्ठु कट्ठु मह दिन्नउ॥ —वही, तृतीय प्रक्रम, पद १८०

नहीं करता; यह मैने समझ लिया है।"[१]

सुखी ससार ऋतुओ के सौन्दर्य की छाया में जब प्रसन्नतापूर्वक अपनी जीवनचय में व्यस्त रहता है, तब विरही अतृप्ति के अनुशासन मे एकाकी घुट-घुटकर रह जाता है; उसके करुण उच्छ्वासों को इतने बड़े विश्व मे सुनने वाला कोई नही होता यही इस षट्ऋतु वर्णन का सार है। प्रकृति का रूप उद्दीपन ही है।

अब्दुलरहमान ने अपनी इस विरहिणी को और अधिक रोने का अवसर नही दिया। पथिक के जाने के पश्चात् जैसे नायिका ने दक्षिण की ओर मुँह फेरा तो सन्मुख ही प्रिय को आते हुए देखा।

सन्देश के लिए शुक को दूत रूप मे भेजने की पद्धति का उल्लेख 'वेताढ्य पर्वत' के वर्णन मे पुष्पदंत ने किया है—

"···जहाँ पके धान के कणो को शुक खाते है और कृषक कन्याओ के लिए दूतत्व का काम करते है।"

जहिं पिक्क कलम कणिसह चरति सुय दूयत्तणु हलिणिह करति।[२]

अपभ्रंश के मुक्तकों में भी प्रवास-विप्रलम्भ का चित्रण मिलता है। एक प्रोषित पतिका नायिका की उक्ति है—

"प्रिय ने प्रवासार्थ जाते हुए जितने दिन बताए थे, उन्हें गिनते-गिनते नख से मेरी अँगुलियाँ जीर्ण हो गई।"[३]

एक प्रवासी नायक मेघ को सम्बन्धित करके कहता है—

"यदि मेरी प्रियतमा स्नेही होगी तो मेरे वियोग मे अब तक मर गई होगी। यदि जीवित है तो अवश्य ही निस्नेह है। हे मेघ, दोनों प्रकार से वह सुन्दरी मैने खो दी। अब तुम्हारे गरजने से क्या?"[४]

---

१. कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मलचदह
अह कलरउ न कुणंति हम फलसेवि रावदह।
अह पायउ णहु पटइ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु
ओसंसिउ घणु कुसुमभरू।
अह मुणिउ पहिय! अणग्गसिउ पिउ
सरइ समइ जु न सरइ घरू॥

—सन्देश रासक, तृतीय प्रक्रम, पद १८३

२. अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड

३. जे मह दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण
ताण गणन्तिए अँगुलिउ जज्जरि आउ नहेण॥

—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड

४. जइ ससणेही तो मुइय अह जीवइ निन्नेह
विंह वि पयारेहि गइय धण कि गज्जहि खल मेह॥ —वही

एक वियोगिनी की यह अभिलाषा कितनी प्राणवान है—

"प्रिय यदि मिल जाएँ तो मैं अपूर्व कौतुक करूँ, जैसे पानी मिट्टी के कटोरे में समा जाता है, मै भी सर्वांग रूप से उसमें वैसे ही समा जाऊँ।"[1]

करुण विप्रलम्भ

करुण विप्रलम्भ के उदाहरण के रूप मे स्वयभू-रामायण का मन्दोदरी-विलाप लिया जा सकता है। पति के शव के सन्मुख विलाप करती हुई मन्दोदरी अपने अतीत के सुखों का स्मरण करती है :

"बार-बार गगन को आक्रान्त करता हुआ करुण क्रन्दन मन्दोदरी करने लगी। नन्दन वन का मनोहर वातावरण तथा पारिजात तरु के पुष्प मुझे याद आते है। तुम्हारा मेरे शरीर के भोग मे डूब जाना (नाभि के सौन्दर्य और स्तन-मर्दन आदि मे) तथा बार-बार आलिगन करना मुझे याद आ रहा है।"[2]

यह ठीक है कि पति के अभाव में उसके साथ व्यतीत हुई प्रणय-क्रीड़ाओं का भी अभाव हो जाएगा, किन्तु शोक का प्रचण्ड सागर जब उमड़ रहा हो, पति का शव सन्मुख पड़ा हो तब तो प्रणय की ये अनुभूतियाँ अचेतन के गहनतम गह्वर में पड़ जानी चाहिए। उस समय उन बातों को याद करके रोना हास्यास्पद-सा लगने लगता है। प्रेम की गम्भीरता के अभाव का परिचायक होकर वह कामुकता की ध्वनि ही अधिक देता है।

कुछ आगे चलकर मन्दोदरी की विरह वेदना अवश्य ही मार्मिक हो गई है।

"बार-बार रोती हुई मन्दोदरी कहती है, हे भट्टारक उठो! कब तक सोते रहोगे? यदि सोना ही है तब भी पृथ्वी पर इस प्रकार सोना तुम्हें शोभा नहीं देता।"[3]

इस क्षण ऐसा लगने लगता है जैसे मन्दोदरी भूल गई कि उसके पति की मृत्यु हो गई है। लंकेश का अतुलनीय वैभव का त्याग करके ऐसे सोना उसे असह्य हो उठा।

'तिसट्ठिह-महापुरिस-गुणलकारू' मे रावण की मृत्यु के अवसर पर मन्दोदरी के विलाप मे करुण-रस है, करुण-विप्रलम्भ नही—

"हे दशानन! तुम्हारे बिना यदि जीवन है तो उसमे दुख ही दुख है। हा!

---

१. जइ केवइ पावासु पिउ अकिया कुड्ड करीसु
पाणीउ नवइ सरावि जिव सव्वंगे पइसीसु ॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़

२. पुणुवि पुणुवि गयणगण-गोयरि। कलुणाकदु करइ मंदोयरि
णयण-वणे दिज्जति मणोहरि। सुमरमि पारियाय-तरु मंजरि
बुड्डण वाविहे थण परिवट्टणु। सुमरमि लीला पंकय ताडणु ॥
—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १११

३. पुणुवि पुणुवि मन्दोयरि जंपइ। उट्ठे भट्टारा कित्तिउ सुप्पइ।
जइ वि णिरारिउ णिद्दएँ भुत्तउ। तो विण सोहहि महियले सुत्तउ ॥
—वही, पृष्ठ १११

प्रियतम ! कहते हुए अन्तःपुर मे वह अपनी छाती पीटने लगी।"[1]

'करकण्ड चरिउ' मे मुनि कनकामर ने सयोग और वियोग दोनो के सुन्दर चित्र खीचे है। नायक की अपेक्षा नायिका के पक्ष मे लिखे गए वियोग वर्णन अधिक मार्मिक है। कनकामर के वियोग वर्णनो मे शरीर के ताप को सूचित करने वाली ऊहा का प्रयोग नही है, कवि ने अनुभावो के प्रयोग से हृदय को छूने का प्रयत्न किया है जिससे पाठक की संवेदना ही जगती है।

विद्याधरी द्वारा करकण्ड के समुद्र मे ले जाए जाने पर रतिवेगा के विलाप का वर्णन है—

"जब प्रसन्नमुख नरसिह (करकण्ड) जल मे विलुप्त हो गया तो वह रोने लगी। श्रेष्ठ भामिनी रतिवेगा दुखी हो गई। सारा अंग काँपने लगा, चित्त अव्यवस्थित हो गया और वह मूर्च्छित हो गई।"[2]

विरह की मरण दशा का वर्णन भी कवि ने बड़ी चतुराई से कर दिया है—

"मैं बेचारी नारी अब जीवन कैसे बिताऊँ। तुमसे बिछड़ जाने पर जीवित रहूँ अथवा मरूँ।"[3]

रतिवेगा की आभ्यान्तर स्थिति का बाह्य जगत पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका दिग्दर्शन कवि ने कराया है—

"समुद्रजल विक्षुब्ध हो उठा, नौकाएँ परस्पर टकराने लगी। हा ! हा ! का करुण शब्द गूँजने लगा। उसके शोक से मनुष्य व्याकुल हो गए।"[4]

मदनावती के विलुप्त हो जाने पर करकण्ड के विलाप का वर्णन है। वह व्याकुल होकर कभी भाग्य को कोसता है, कभी पशुओ से उसके विषय मे पूछता है। इस वर्णन मे

---

१. पहं विणु जगि दसास जं जिज्जइ तं परदुक्ख समुद्दु सहिज्जइ।
हा पिययम ! भणतु सोया उरू कदइ णिर वसेसि अतेउरू॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवश कोछड़,
म० पु० १२/१३ पुष्पदत, पृष्ठ ८४

२. जा णरपंचाणणु वियसिय आणणु जलि पडिउ
ता सयलहि लोयहि पसरिय सोयहि अइउरिउ॥
रइवेय सुभामिणा ण फणि कामिणि विमणभया।
सव्वंगे कपिंत चिति चमक्किय मुच्छगया॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड, पृष्ठ १६५

३. इउं णारि वराइय आवइं आइय को सरउं।
परि छड्डिय तुम्हहि जीममि एवहि किं मरउ॥ —(७, ११, १, १८) करकण्ड-चरिउ

४. हल्लोहलि हूयउ सयलु जलु अपरंपरि जाणइं सचलहि।
हा हा रउ उट्ठि करुणसरू तहो सोएं णरवर सलवलहि॥
—वही, (७, १०, ६, १०) करकण्ड चरिउ

कोई विशेषता नहीं है।

'पउमसिरी-चरिउ' में समुद्रदत्त जब अपनी पत्नी पद्मश्री को लौटा लाने के लिए हस्तिनापुर जा रहा था तब केलिप्रिय नामक पिशाच ने उन दोनों के बीच मन-मुटाव उत्पन्न कर दिया। समुद्रदत्त को सन्देह हो गया कि उसकी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती है। समुद्रत्त ने पद्मश्री की अवहेलना कर दी। पद्मश्री ने पति के सम्मुख करुण क्रन्दन किया, अनुनय-विनय की किन्तु उसने एक न सुनी और उद्विग्न मन से साकेत को लौट गया।

अपने नगर को लौटते समय कौशलपुरी मे नन्द नामक वणिक की पुत्री कान्तिमती से विवाह किया। यह उसके पहले जन्म की स्त्री यशोमती थी।

पद्मश्री ने विरक्त होकर तपश्चर्या का आश्रय लिया और अन्त मे मोक्ष को प्राप्त किया।

पद्मश्री के विरह की अवधि के अनन्त तथा मिलन के लगभग असम्भव होने से करुण-विरह का अवकाश यहाँ उपस्थित होता है। कवि के धार्मिक उद्देश्य के कारण उसका पूर्ण प्रस्फुटन नही हो सका प्रत्युत पर्यवसान विरक्ति मे हुआ है।

समुद्रदत्त द्वारा परित्यक्त पद्मश्री की विरह वेदना अत्यन्त मार्मिक है—

"उस बाला की दशा दुखिनी हरिणी के समान हो गई। (प्रभात होने पर) जैसे आकाश में चन्द्र और नक्षत्रों की काति विलुप्त हो जाती है, वैसे ही (वियोग के कारण) पद्मश्री निस्तेज हो गई। प्रभात काल में चक्रवाक के बढते हुए आनन्द के समान उसका शोक बढने लगा, कुमुद के समान उसकी आँखे सकुचित हो गई और सूर्योदय के साथ सन्ताप का उदय हुआ। बाला के दुर्भाग्य के सदृश्य प्रकाश महीतल पर स्थित हो गया। समुद्रदत्त के समान 'हर्ष' भी पद्मश्री को परित्यक्त करके चला गया"[1]

परपीड़न (Sadism)

भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार दिये गए विरह के इन चार रूपों के अतिरिक्त मनोविश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से विरह भावना का अध्ययन करते समय 'परपीड़न' नाम

---

१. अच्छेइ बाल जिह हुन्न हरिणी, नई कलणइं झत्ति विहाउ रयणि।
पउमसिरि सरीरह जेम्व कति, नक्खत निवह नहयलि गलंति
इदिय सुहं व नासह तमोहु, कुक्कुऊ रउ पसरइ नाइमोहु।
गमणो वि चदु विच्छाउ जाउ, स यं ध्वि व वियभइ चक्कवाउ
नयण इन कुमयई संकुयंति, आसा इव दीहउ दिसउ होंति
उग्गमइ करूण संताउ नाइ, रवि बुद्धि जेम्व निसि खयउ जाइ।
घत्ता—
हरिसो इव निग्गउ कुमरू, सदेसहु पट्ठियउ।
दोहग्गु जेम्अवर बालहि उयलि महीयलि संठियउ।
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, (३६, १७-२३पउमसिरि चरिउ) पृष्ठ १८२-१८३

की वृत्ति का विश्लेषण हमने किया था। 'परपीड़न' में प्रेमी का अहं आहत होने पर, प्रेम-पात्र को कष्ट पहुँचाकर स्वय की तुष्टि करता है।

'सुदसण चरिउ' में धाड़ीवाहन राजा की, रानी अभया ऋषदाउ श्रेष्ठी के पुत्र सुदर्शन से प्रेम का प्रतिदान न पाकर निराश हो, नाखूनों में अपने शरीर को बेधकर चिल्लाने लगती है, जिससे राजा अथवा उसके कर्मचारी सुदर्शन को पकड ले। यदि मानवदेव (विंतर) आकर सुदर्शन की रक्षा न करता तो वह अवश्य ही त्रसित किया जाता। अभया का चिल्लाना 'परपीड़न' की वृत्ति का अधमतप रूप है।

रहस्यवादी विरह-भावना

बौद्धधर्मावलम्बी साधकों की रचनाओं में प्रतीकात्मक आलम्बनों के प्रति विरह का निर्देश मिलता है। शबरपा का एक पद है—

"ऊँचे पर्वत पर शबरी बालिका रहती है। उसके अग मोरपंख से शोभित है, गले में गुजा की माला है। शबर उसे पाने के लिए पागल है। वही तुम्हारी गृहिणी सहज सुन्दरी है।"[1]

यहाँ मेरुदण्ड, पर्वत माना गया है। इसके सर्वोच्च शिखर पर महामुद्रा या मूल-शक्ति नैरात्मा का वासस्थान है।

यही विरह भावना आगे चलकर हिन्दी में कबीर आदि सतों के 'दार्शनिक रहस्य-वाद' के रूप में विकसित हुई।

अपभ्रंश का विरहकाव्य और प्रकृति

अपभ्रश के कवि ने प्रकृति में विरह के अनेक सुन्दर चित्रों को देखा है। वहाँ वह मानव के लिए केवल जड़ पृष्ठाधार मात्र अथवा उद्दीपन न रहकर चेतना सन्निविष्ट प्राणी का-सा आभास देने लगती है। इस रूप में अपभ्रंश काव्य की विरह सम्बन्धी कुछ उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

एक स्थान पर सध्या-वर्णन में दिव्य-दृष्टि-धाहिल प्रकृति का आलम्बन रूप लेकर विरह भावना का सुन्दर दिग्दर्शन कराते हैं—

"सध्या के समय कमल बन्द होने को है, उनमें से भ्रमर निकल-निकलकर उड़ रहे है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे (सूर्य के वियोग में) कमलिनी काजलयुक्त अश्रुओं से रो

---

१. ऊँचा-ऊँचा पावत तहि वसइ सवरी बाली।
मोरगि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुञ्जरीमाली।
उमत सवरो पागल सवरो माकर गुली गुहाड़ा तो होरि।
णिअ घरिणि नामे सहज सुन्दरी॥

—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २८१-२८२

रही हो।"[१]

पद्मश्री के विषय में कवि कहता है—

"पद्मश्री ऐसे दीर्घ निःश्वास छोड़ रही थी, जैसे ग्रीष्मकाल में घन जल से सिक्त पर्वत।"[२]

उच्छ्वासों की उष्णता और उनके वाष्प-गद्गद होने की समर्थ व्यंजना इस उपमा मे है।

धाहिल ने पद्मश्री के उच्छ्वासों की तुलना पार्वतीय पृथ्वी से की थी। स्वयंभू इसमे ठीक विपरीत पृथ्वी के उच्छ्वासों की तुलना इसी भाव के अन्तर्गत करते हैं—

कन्यइ माहव मासहो मेइणि।
पिय विरहेण व सूसई कामिणी।[३]

अर्थात् कही माधव मास (वसत ऋतु) में पृथ्वी की सुगध ऐसी लगती थी मानो विरहिणी निःश्वास ले रही हो।

किन्तु प्रकृति का यह आलम्बन रूप अपभ्रश में अत्यन्त विरल है। अधिकांशतः अपभ्रश के कवि ने प्रकृति का उद्दीपन रूप लिया है। अलग-अलग ऋतु, मास, मौसम विरही के लिए अपना-अपना संदेश लाते है। साधारण जीवन में व्यस्त व्यक्ति की अपेक्षा विरही प्रकृति के अधिक समीप आ जाता है। इसके अतिरिक्त भी प्रकृति और उसमें होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव मनोस्थिति के अनुसार मानव-हृदय पर पड़ता ही है। प्रकृति का हास-विलास, यौवन-उन्माद विरही की वेदना को तीव्रतम बनाता रहता है क्योकि मन की अभिलाषा जब अनुकूल वातावरण मे उद्दीप्त होकर तृप्त होना चाहती है तभी विरह का व्यवधान तृप्ति के मार्ग को कुण्ठित कर देता है। ऋतु वर्णन, बारहमासा आदि इसके अन्तर्गत ही है। इस विषय मे सर्व प्रथम अपभ्रश प्रेमकाव्य के कवि 'बब्बर' की कविता के कुछ अशो को यहाँ देखने का प्रयत्न है।

बब्बर ने षट् ऋतुओं को उद्दीपन रूप में रखकर विरही की पीड़ा का सुन्दर चित्रण किया है। ग्रीष्म ऋतु एक विरहिणी के मन में अभिलाष जगाती है—

'दिशाओं मे (लू) चल रही है, मै अकेली हूँ मेरा हृदय काँप रहा है। घर में प्रिय नही है। हे पथिक। सुनो, मन मे कुछ इच्छा हो रही है।"[४]

पावस के मनोहर वातावरण मे प्रिय घर नही आया। विरहिणी उसे पत्थर-हृदय बताकर उलाहना देती है—

---

१. कमलिणि कमलुन्निय महुयरेहि अमुएहि रूएइ सकज्जलेहि।
—अपभ्रश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० १८२-१८३

२. दीउन्ह मुयइ नीसास केव घण सलिल सित्तु गिरि गिम्ह जेम।
—वही, (२, १४, ६६, पृ० १८२-१८३, पउमसिरि चरिउ)

३. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन

४. दिसइ चलइ हिअअ दुलइ, हम इकलि वहू।
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ। मन इछइ कहू॥ —वही

"आकाश में मेघ भटक रहे हैं, जल बरस रहा है, मनोहारी शीतल वायु बह रही है, कनक-कान्ति विद्युत नृत्य कर रही है, निंब फूल रहा है परन्तु प्रिय का हृदय पत्थर का बना है। वह प्रिय पास नहीं आता।"[१]

वसन्त में प्रकृति का सौन्दर्यमय रूप विरहिणी को विवश बना रहा है—

"किंशुक फूल रहा है, चन्द्र की ज्योत्स्ना विकसित है। आम्र मंजरी से परिपूर्ण हैं, दक्षिण की शीतल वायु बह रही है, विरहिणी का हृदय काँप रहा है। केतकी का पराग सब दिशाओं मे फैला हुआ है, सम्पूर्ण वातावरण पीत राग से पूर्ण है। हे सखि! ऐसी वसन्त ऋतु में प्रिय पास नहीं है क्या करूँ।"[२]

जिनपद्म सूरि ने विरहिणी के मन पर पावस के प्रभाव को इन सरल शब्दो मे व्यक्त किया है—

झब झब झब झब झव झव ए बीजुलिय झबकइ।
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणी मणु कपइ॥[३]

"पावस में बिजली की तड़पन के साथ विरहिणी का मन भी एकदम काँप उठता है।"

मानिनी के मान को बादलों का रव और मोरो का शोर खंडित कर देता है। वह जो प्रिय से रूठी बैठी थी, जिसने सोचा था कि अब प्रिय के सन्मुख कभी आर्द्र नही होगी, उसे पावस के मधुर वातावरण ने जैसे झकझोर दिया। हृदय की कोमल शृगार भावनाएँ किसी गहनतम गह्वर से उद्भूत हो उसे ऐसे अस्थिर बनाने लगी जैसे चोर पकडा गया हो।

"मेघों के शब्द से जैसे-जैसे मोर नाचते है, वैसे-वैसे मानिनी अस्थिर हो जाती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो चोर पकड़ा गया हो।"[४]

बारहमासा

प्राचीन काल मे ही ऋतु के विरही पर प्रभाव तथा ऋतु परिवर्तन का निरूपण काव्य मे स्थान-स्थान पर होता रहा है। अपभ्रंश मे ऋतु ही नही मास-मास के बदलते हुए

---

१. बरिस जल भमइ घण गजण, सिअल पवण मणहरण
कणअ-पिअरि णचइ बिजुरि फुल्लिआ णीवा।
पत्थर चित्थर हिअला पिअला णिअल ण आवेइ॥
—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ३१८

२. फुल्लिअ केसु चद तह विअसिय, मजरि तेज्जइ चूआ।
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ, कंप बिओइणी हीआ॥
केअइ धूलि सव्व दिस पसरइ, पाअर सव्वउ भासे।
आउ वसंत काह सहि! करिअइ कत न थाकइ पासे॥ —वही, पृष्ठ ३२४

३. वही, पृष्ठ ४२२

४. मेहारव भर रूलटिय, जिमि-जिमि नाइच मोर।
तिम-तिम माणिणि खलभलइ, साहीता जिमि चोर॥ —वही, पृष्ठ ४२२

परिवर्तन को भी देखा गया। विनयचन्द्र सूरि की 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' में बारहमासे का प्रथम उल्लेख मिलता है। हिन्दी में अपभ्रंश की इस काव्य पद्धति का खूब प्रचलन हुआ, अनेक बारहमासे लिखे गए।

"अश्विन मास में नेमिनाथ के बिना राजलदेवी आँसू ढालती रही। शीतल चन्द्रमा, चन्दन व हिम सब उसके लिए जलने लगे। प्रिय के बिना सब विपरीत हो गया।"[१]

पूस के महीने मे वह प्रिय से प्रार्थना करती है—

"पूस के महीने मे हे प्रिय! अब अपना रोष छोड दो, मुझे अपने पद नखों के समीप स्थान दो। कष्टपूर्ण यह ठंडी रात्रि अब बिताए नही बीतती।"[२]

"फागुन के महीने मे पतझड होती है तो ऐसा लगता है जैसे राजल के दुख में तरु रो रहे हों।"[३] यहाँ प्रकृति केवल उद्दीपन ही नही है सुख-दुख की सहचरी भी है।

"जेठ का सूर्य भी जैसे विरह की अग्नि में ही तप्त हो रहा था और नदियाँ घन के वियोग से सूख रही थी।"[४]

सखि राजल से कहती है—"ओ मुग्धा! तू नेमि-नेमि करती है, यौवन बीत रहा है क्या यह तुझे ज्ञात नही है। सम्पूर्ण ससार पुरुष रत्नो से परिपूर्ण है किसी अन्य भर्तार का वरण क्यों नही कर लेती?"[५]

विवश राजल प्रेम के मर्म से अनभिज्ञ सखी की मूर्खता पर सूखी हँसी हँसती हुई-सी कहती है, "हे सखि! तू गँवार है, मेरा भर्तार नेमिकुमार ही है, अन्य कोई पुरुष नहीं हो सकता। क्या कोई गजवर पर चढकर फिर गधे पर सवार होता है।"[६]

अपभ्रंश विरह-काव्य मे प्रकृति का अन्य रूप

उद्दीपन रूप के अतिरिक्त प्रकृति को अन्य रूपो में भी देखा गया। प्राकृतिक उपकरणो को प्रस्तुत मे रखकर अन्योक्ति द्वारा मानव स्वभाव की व्यंजना कराई गई। हेमचन्द्र सूरि कहते है—"उस दिशा की ओर देखकर हे भ्रमर न रो। वह मालती अब

---

१. आसोमासह अंसु-पवाह, राजल मिल्हइ विण नमिनाह
दहइ चद चंदण हिम सीउ, विण भत्तारह सउ विवरीउ ॥८॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़

२. पोसि रोस सवि छोडिवि नाह। राखि राखि भइ मयणह पाह
पडइ सीउ नवि रयणि विहाइ। लहिय छिद्द सावे दुख अमाइ ॥१७॥ —वही

३. फागुन वागुणि पन्न पडति, राजल दुक्ख कि तरु रोयति ॥२३॥ —वही

४. जिट्ठ विरह जिमि तापइ सूरू, छण वियोगि सुसिय नइ पूरू ॥३२॥ —वही

५. नेमि नेमि तू करती मुद्धि। जुव्वणु जाइ ण जाणिसि मुद्धि
पुरिस रयण भरियउ ससारू। परणु अनेरउ कुइ भत्तारू ॥१८॥ —वही

६. भोली तउ सखी गमारि। वारि अछंतइ नेमि कुमारि।
अन्न पुरिस कुछ अप्पुण नडइ। गइवरू लहिउ कु रासिभि चडइ ॥१९॥ —वही

दूसरे देश में है जिसके वियोग में तू मर रहा है।"[1]

यहाँ अन्योक्ति द्वारा कवि विश्वासघात से पीड़ित किसी विरही प्रेमी को आश्वासन देने का प्रयत्न कर रहा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में विरह के वे रूप जो परवर्ती काल में हिन्दी में बहुलता से मिलते हैं, प्रथम बार प्राप्त होते है। 'बारहमासा' इसका उदाहरण है। यह काव्य जहाँ एक ओर प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखता है वहाँ दूसरी ओर नवीन के लिए मार्ग-निर्माण भी कर रहा है। इस रूप मे इसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

प्रारम्भिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना

शृंगार और विरह भाव हिन्दी-काव्य के प्रारम्भ से ही काव्य का मुख्य अंग रहे हैं। सद्यविकसित हिन्दी के रासक काव्यो मे तथा ११वी, १२वी, १३वी और १४वीं शताब्दी के प्रबन्ध, रासो-काव्यो में 'विरह' के अनेक सुन्दर प्रसग उपलब्ध है। प्रस्तुत अध्याय में उस युग के कुछ प्रमुख काव्यग्रन्थों की विरह-भावना का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। ये काव्य ग्रन्थ है--नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो, चन्द का पृथ्वीराज रासो और अज्ञातनामा कवि का ढोला-मारूरा-दूहा। 'बेलिरूक्मिणी री पृथ्वीराज री कही' यद्यपि परवर्ती ग्रन्थ है किन्तु बहुत कुछ उसी परम्परा का होने के कारण उनके साथ रखा गया है। विद्यापति की पदावली कालक्रम से इस युग की कृति है अतः उसका विवेचन इसी के अन्तर्गत है। यहाँ भी विप्रलम्भ के विविध भेद ही विवेचन का आधार है।

पूर्वराग

पूर्वराग चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन अथवा गुण-श्रवण से उत्पन्न होता है। उषा-अनिरुद्ध और नल-दमयन्ती के प्रेम का उद्भव और विकास इसी प्रकार हुआ था। ढोला-मारूणी का प्रेम भी इसी कोटि का था। कवि यद्यपि इन दोनों को नाममात्र के लिए बचपन मे ही विवाह-सूत्र में बाँध देता है, किन्तु उनका यह सस्कार नही के बराबर है, क्योंकि उसकी स्मृति दोनों प्रेमियों में से किसी को नही रहती।

दउढ बरसरी मारूवी, त्रिहुँ बरसांरउ कत।
बालपणइ परण्याँ पछइ, अन्तर पड़यउ अनन्त ॥[2]

उस समय मारूणी डेढ़ वर्ष की थी और उसका पति तीन वर्ष का। बालपन में

---

१. अमरू म रूणि झुणि रण्णडइ, सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसतरिअ, जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ३६६

२. ढोला मारूरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा ६१

ही विवाह होने के कारण दोनों में भारी अन्तर पड़ गया।

वस्तुतः मारूणी का प्रेम उसकी युवावस्था के प्रथम स्वप्न दर्शन द्वारा उषा के प्रेम की तरह ही अंकुरित होता है।

इसइ आरखइ मारूवी, सूती सेज बिछाइ।
साल्हकुँवर सुपनइं मिल्यउ, जागि निसासउ खाइ॥[1]

इस 'पूर्वराग' को रति-कामना कह सकते है पूर्ण अनुराग नही। यह यौवन की उषा में प्रथम अभिलाषा ही है—सालकुँवर सुपने मिल्यौ जागि निसासौ खाइ। वियोग का दुख उसके लिए अज्ञात वेदना है, इस वेदना के प्रथम परिचय में मारूणी स्त्री-सुलभ लज्जा, शील और मर्यादा से ही काम लेती है। न तो वह मूछित होती न उसका विज्ञापन करती—

ग्रीवा को हाथों पर रखकर चिन्तित मुद्रा मे मारूणी चातक की भाँति प्रिय की प्रतीक्षा करती है। (प्रिय-मिलन की) आशा से लुब्ध मारूणी विरह की थाह खोजती है, दिन गिनती है। विदेश के मार्ग मे अनेक बाधाएँ है किन्तु यह बेचारी उनको नहीं जानती।

उक्कंबी सिर हथ्थड़ा, चाहती रस लुब्ध।
ऊँची चढि चातृंगि जिउं मागि निहालइ मुब्ध॥
थाह निहालइ, दिन गिणइ, मारू आसालुब्ध।
परदेसे घाँघल घण, विखउ न जाणइ मुब्ध॥[2]

'थाह निहालइ' में प्रतीक्षा जन्य धैर्य्य, 'आसा-लुब्ध' मे आशा, 'विखउ न जाणइ मुब्ध' में अकस्मात् अनुभूत इस प्रथम वियोग-वेदना से अपरिचय की ध्वनि है।

सखियाँ विरह का हाल सुनकर जब उसे बताती है कि स्वप्न में आया हुआ व्यक्ति उसका पति साल्ह कुमार है तो मर्यादा का बाँध टूट जाता है। मारूणी के हृदय में काम-ज्वाला धधक उठती है। 'सखी वयण सुन्दरी सुण्या, उठी, मदन की झाल।' उसकी दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

बाबहियउ आसाढ़ जिम विरहिणि करइ विलाप॥[3]

आसाढ के पपीहे की तरह विरहिणी विलाप करती है :

जब ही वरसइ घण घणउ तब ही कहई प्रियाव॥[4]

जब-जब मेघ बरसता है तब-तब वह प्रिय को बुलाती है।

फिर कहती है कि बादल के उमड़ने के साथ ढोला भी मेरे हृदय में उमड़ आया। ये बादल तो अपनी ऋतु में ही बरसते है किन्तु मेरे नेत्र तो नित्यप्रति ही वर्षा करते

---

१. ढोला मारूरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा १४
२. वही, दोहा १६-१७
३. वही, दोहा २६
४. वही, दोहा २६

रहते हैं :

ऊनमि आई बद्दली, ढोलउ आयउ चित्त ।
यो बरसइ रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ।।[१]

शारीरिक मिलन की अभिलाषा का स्पष्ट वर्णन भी हमें यहाँ मिलता है :

बीजुलियाँ चहलावहलि आभय आभय कोडि ।
कद रे मिलउँगी सज्जणा कस कंचुकी छोड़ि ।।[२]

बादल-बादल की कोर पर बिजलियों की चहल-पहल हो रही है। अपनी कंचुकी के बन्धन तोड़कर मै भी कब प्रिय से मिलूंगी।

कहावत है—'घायल की गति घायल जाणे' विरहिणी मारूणी' कुररी पक्षी की विरह व्यथा से पीड़ित हो जाती है :

कुंझड़ियाँ कलिअल कियउ, सुणी उ पंखइ वाइ ।
ज्याँकी जोड़ी बीछड़ी, त्यां निसि नीद न आइ ।।[३]

"कुररी पक्षियों के करुण रव और पख फड़फड़ाने की ध्वनि मैने सुनी, सत्य है जिसकी जोड़ी बिछुड गई उसको रात्रि में नींद नही आती।"

प्रिय के मिलन के मार्ग मे बहुत-से पर्वत व घने जंगलों का ध्यान करके मारूणी विकल हो उठती है। विधाता से प्रार्थना करती है—'देह विधाता पंखड़ी', हे विधाता, मुझे पंख दे दो जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ पारकर मै प्रिय से मिल सकूं। किन्तु भाग्य की बलवत्ता देखकर कहती है कि पंख होने से क्या ? चकवी के भी तो पंख है परन्तु रात होने पर वह प्रिय से तब भी नही मिल सकती।

पंखडिया ई किउं नहीं, दैव आवडू ज्याह ।
चकवी कइ हइ पंखड़ी, रयणि ण मेलउ त्यांह ।।[४]

और तब—

जब सोऊँ तब जागवइ, जब जागूं तब जाइ ।
मारू ढोलइ संभरइ, इणि परि रयण विहाइ ।।[५]

स्वप्न में आया हुआ प्रिय जब प्रत्यक्ष-सा होने लगता है तो नींद खुल जाती है। प्रिय मिलन नहीं हो पाता।

मारूणी की व्यथा से पीड़ित होकर पिता जब ढाड़ियों को ढोला के पास भेजते हैं तो मारूणी संदेश कहती है—

---

१. ढोला मारूरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा ४१
२. वही, दोहा ४६
३. वही, दोहा ५८
४. वही, दोहा ७१
५. वही, दोहा ७६

अकथ कहाणी प्रेम की, किणसूँ कही न जाइ।
गूँगा का सुपना भया, सुमर-सुमर पिछताइ ॥[1]

"प्रम की कहानी अकथनीय है वह किसी से कही नहीं जाती। गूंगे के सपने की भाँति हो गई है जिसे याद करके पछताता है।" अपनी अकथनीयता में यह कहानी अत्यन्त मार्मिक है किन्तु न कह सकने के कारणों में जब अतिशयोक्ति आने लगती है तो वह बीभत्स हो जाती है।

सदेशा मति मोकलउ, प्रीतम तूँ आवेस।
आँगलड़ी ही गलि गयां, नयण न वाचण देस ॥[2]

प्रिय उत्तर में संदेश न भेजना' स्वयं आ जाना (मैं संदेशा भेजने में असमर्थ हूँ) अँगुलियाँ गल गई हैं। आँखों से (कठिनाई से लिखा) संदेशा पढ़ा नहीं जाता।

ढाडी मारूणी की दशा का जो वर्णन ढोला से करते हैं वह अत्यन्त मार्मिक है। मिलन की क्षीण आशा की समर्थ व्यंजना इन शब्दों में हुई है—

आसालुध्धी हु न मुइय सज्जन जंजालेइ।
मारू सेकइ हथ्थड़ा झीणे अंगारेइ ॥[3]

"प्रियतम के स्वप्न से प्रेरित मिलन की आशा से लुब्ध हुई मारूणी मरी नहीं। वह ऐसे जी रही है जैसे कोई अपना हाथ बुझे अंगारों से सेंक रहा हो।"

इस सन्देश को सुनकर ढोला के हृदय का प्रेम भी जाग जाता है, सोचने लगता है कि जैसे मन चारों दिशाओं में निरंकुश घूमता है यदि हाथ भी वैसे ही फैल सकते तो प्रिया को आलिंगन पाश में बाँध लेता :

जिउँ मन पसरइ चिहुँ दिसइ,
जिम जउ कर पसरंति।
दूरि थकाँ ही सज्जणा, कंठा ग्रह करन्ति ॥[4]

'ढोला मारूरा दूहा' में लोक-भावना मुखरित है। उसमें विरहानुभूति की सीधी मार्मिक अभिव्यंजना ही अधिक है, ऊहा बहुत कम स्थानों पर है। ढोला मारूरा का प्रेम 'पूर्वराग' है, सामन्ती युग की मर्यादा की रक्षा के लिए, कवि ने इन्हें अबोध अवस्था में विवाह-संस्कार में बाँधा है।

पृथ्वीराज रासो में शशिव्रता-विवाह के प्रसंग में 'पूर्वराग' के लिए रूप गुण को विस्तार देने के पश्चात् कवि अपना ध्यान शशिव्रता और पृथ्वीराज के प्रथम मिलन के

---

१. ढोला मारूर दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा १५६
२. वही, दोहा १४४
३. वही, दोहा २०६
४. वही, दोहा २१४

प्रसंग पर केन्द्रित करता है। पृथ्वीराज जिनका वर्णन शशिव्रता इतने दिनों से सुन रही थी उन्हीं को आज साक्षात देखकर वह रोमानी उल्लास से परिपूर्ण हो गई। इस स्वप्निल साक्षात पर उसे एकाएक विश्वास नहीं हुआ।

कर्न प्रयन्त कटाछ सुरंग विराजही,
कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाजही।
नैन सेज मे बात जु स्रवनन सौ कहै।
काम किधौ पृथिराज भेद करि न लहै ॥८६॥[1]

प्रायः दीर्घ-नेत्रों के लिए कवि 'काननचारी-नयन-मृग' की उपमा करते है किन्तु कान तक खिंचे नेत्रों को देखकर उनके परस्पर वार्तालाप की कल्पना चन्द की ही सूझ है। विशेषता केवल नयन और श्रवण की बातचीत की ही नहीं, प्रत्युत 'कछु पुछन को जाहि पे पुच्छत लाजहीं' की भी है।

पद्मावती-विवाह-वर्णन मे सुग्गे के द्वारा पृथ्वीराज का रूप गुण वर्णन सुनकर पद्मावती का लुभा जाना और पृथ्वीराज के पास सदेश भेजना वर्णित है। उसके आने पर आगतपतिका नायिका पद्मावती के उल्लास के वर्णन मे भाव परिवर्तन का दिग्दर्शन कवि ने सफलता से किया है।

तन चिकट चीर डार्‌यो उतार।
मडान मयंक नव सत सिंगार॥
भूषन मंगाय नषसिष अनूप।
सजि सेन मनो मनमथ्थ भूप॥[2]

विद्यापति के प्रेम-वर्णन अत्यन्त सजीव है। प्रेम तत्त्व की तह तक पहुँचकर उसके वास्तविक रूप के दिग्दर्शन का प्रयत्न विद्यापति ने किया है। नायक-नायिका के प्रथम दृष्टिपात में एक नई पिपासा, एक मधुर पीड़ा का जन्म होता है :

सजनी झलकए पेखन न मेल,
मेघ माल सयं, ताड़ित लता जनि।
हिरदय सेल दई गेल॥[3]

मेघमाला में बिजली के अचानक उदय होने की भाँति ये भी प्रेमी को 'चकाचौध' करता है। प्रेम की प्राथमिक अनुभूति की तुलना तड़ित लता से करने में प्रेमी की तड़पन का बोध भी है।

---

१. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, शशिव्रता विवाह-प्रसंग, पृष्ठ ६५,
सम्पादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह

२. पद्मावती समय, पृष्ठ १०, सम्पादक : हरिहरनाथ टंडन

३. विद्यापति की पदावली, पद २८ (२) प्रेमप्रसंग, रामवृक्ष बेनीपुरी

'पूर्वराग' में प्रिय-दर्शन की लालसा, इस तरह एक शालिनी नायिका को कचोटती है :

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ,
वारल लोचन चोर।
पिया-मुख-रूचि पिबए धाओल
जनिसे चाँद चकोर॥
ततहुँ सय हठ हठि मो आनल,
धएल चरनन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए
तइअओ पसारए पाँखि॥[1]

"मुख नीचा किये मै अपने इन चोर नेत्रो को रोकती रही किन्तु ये प्रिय के रूप सुधा के पान के लिए ऐसे दौड़े जैसे चकोर चाँद की ओर दौड़ता है। हठपूर्वक मैने अपने चरणों की ओर इन्हे केन्द्रित किया किन्तु मधुपान से मतवाला मधुप चाहे उड़ न सके पंख तो पसारता ही है।" रूप दर्शन की प्रबल इच्छा, लज्जा के अंकुश से बेबस हो रही है, उसी की सुन्दर व्यजना यहाँ पंख पसारने मे है।

विद्यापति की दृष्टि मे प्रेम एक चिर-तृष्णा है जिसकी तृप्ति आयु पर्यन्त नहीं है।

सखि कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल॥[2]

कुल-मर्यादा, यश-अपयश का ध्यान प्रेमी को नहीं होता—

कुल गुन गौरव, सति जस अपजस
तृन करि न मानए राधे।
मन मधि मदन महोदधि उछलल
बूढल कुल मरजादे॥

बेलि क्रिसन रुक्मिणी री राठौड़राज प्रिथीराज री कही में व्याकरण, पुराण, स्मृति और वेद-वेदागो को रुक्मिणी ने पढ़ा, उनमें भगवान की अपार महिमा को जाना और वह उनसे प्रेम करने लगी। भगवान के गुणों का परिशीलन करके, श्रेष्ठ वर की प्राप्ति की जो इच्छा जगी उससे रुक्मिणी महादेव व पार्वती का

---

१. विद्यापति की पदावली, पद ३८, रामवृक्ष बेनीपुरी
२. वही, पद २२८

पूजन करने को तत्पर हुई—

व्याकरण पुराण स्मृति सासत्रविधि
वेद च्यारि खट अग विचार।
जाणि चतुर दस चौसठि जाणी
अनत अनंत तसु मधि अधिकार॥
साँभलि अनुराग थयो मनि स्यामा
वर प्रापति वंछति वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर
हर तिणि वन्दे गवरि हर॥[1]

रुक्मिणी का प्रेम कृष्ण के गुण-श्रवण से उत्पन्न पूर्वराग है।

माता-पिता रुक्मिणी का विवाह कृष्ण से करना चाहते थे किन्तु भाई रुक्म ने शिशुपाल के साथ विवाह निश्चित कर दिया। समस्त वैभव और ऐश्वर्य से शिशुपाल रुक्मिणी को ब्याहने आया। अन्य स्त्रियाँ पद्मिनी के समान प्रसन्न थी किन्तु रुक्मिणी उदास थी कुमुदनी के समान।

पदमिणि आनि फूलै परि पदमिणी।
रुक्मणी कमोदणी रूख॥[2]

जाली के झरोखे से वह पथिकों को देख रही थी। उस सुतनु का शरीर महल में था किन्तु मन कृष्ण से मिल गया था। अश्रुमिलित काजल की स्याही व नख की लेखनी बनाकर उसने कृष्ण को पत्र लिखा :

जाली मगी चढ़ि चढ़ि पन्थी जोवै
भुवणि तन सुमन तसु मिलित
लिखि राखे काजल नख लेखणि
मसि काजल आँसू मिलित॥

पत्र में लिखा कि "विवाह की बेला मे केवल तीन दिन बाकी है, इस षड्यंत्र के विषय में क्या कहूँ ? अम्बिका के मन्दिर मे मै पूजा के बहाने आऊँगी। अशरण को शरण देने वाले कृष्ण तुम्हारी मै शरण हूँ।"

त्रिहि दीह लगन वेला आड़ा ते
घणु किसु कहिजै आ घात।
पूजा मिसि आविसी पुरखोत्तम
अम्बिकालय नयर आरात॥[3]

---

१. विद्यापति की पदावली, पद २८-२९, ठाकुर रामसिंह और पं० सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित
२. वही, पद ४२
३. वही, पद ६६

रुक्मिणी ने यह पत्र एक ब्राह्मण को दिया। द्वारिका में ब्राह्मण के हाथ संदेशा पाकर कृष्ण कुन्दनपुर जाने को तत्पर हुए। उधर रुक्मिणी सोच रही थी :

'भगवान अवश्य रह गए, इतनी देर तो पहले उन्होंने कभी नहीं की थी।' वह चिन्तातुर हो उठी तभी एक छीक हुई—

रहिया हरि सहि जाणियो रूषमणि
कीध न इवडी ढील कई।।
चिन्तातुर चित इम चितवन्ती
थई छींक तिम धीर पई।।[1]

छीक से कुछ धैर्य बँधा। सामने ब्राह्मण को आता देखकर—

चलपत्र थियौ दुज देखे चित
सके न रहति न पूछि सकन्ति।
ओ आवै जिमि जिमि आसन्नौ
तिम तिम मुख धारण तकन्ति।।[2]

सदेशा सुनने को तत्पर नायिका के 'वेपथु' और 'स्तम्भ' अनुभावो का सुन्दर वर्णन कवि ने इन शब्दा मे किया है—वह पीपल के पत्ते की भाँति काँपती थी और जैसे-जैसे ब्राह्मण निकट आता था, वह अधीरता से प्रतीक्षा कर रही थी। प्रेम के प्रतिदान की अनिश्चितता और उत्कठा के कारण उत्पन्न 'स्तम्भ' का मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन किया गया है।

ब्राह्मण से यह सन्देश सुनने पर कि 'किसन पधारया लोक कहन्ति' रुक्मिणी पार्वती के मन्दिर मे गई। कृष्ण वहाँ से उनका अपहरण करके द्वारिका ले गए।

रुक्म के सैनिकों मे कृष्ण के युद्ध के पश्चात् कवि ने कृष्ण रुक्मिणी के आमोद-प्रमोद का वर्णन किया है।

'रुक्मिणी री वेल' राजस्थान के रासो ग्रन्थों की पद्धति का ही विरह-काव्य है। किन्तु रुक्मिणी का प्रेम शुद्ध लौकिक नहीं है, प्रिय में प्रेम के स्थान पर पूज्य बुद्धि ही अधिक दिखाई पड़ती है। क्योकि कवि स्पष्ट कहता है कि चौदह दिशाओं और चौंसठ कलाओ में उसने कृष्ण का अधिकार पाया था :

जाणि चतुरदस चौंसठ जाणी।
अनन्त-अनन्त तसु मधि अधिकारा।।

और तब सन्देश कहा था :

'सरण तुझ असरण सरण'।[3]

भगवान् की महिमा जानकर भक्त इष्ट के प्रति प्रयत्नशील होता ही है।

---

१. विद्यापति की पदावली, पद ७० ठाकुर रामसिंह और पं० सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित
२. वही, पद ७१
३. रुक्मिणी री वेल, पद ५८

मान विप्रलम्भ

मान दो प्रकार का कहा गया है ईर्ष्यामान और प्रणयमान। **विद्यापति** में दोनों प्रकार के मान वर्णन मिलते हैं। ईर्ष्यामान में नायिका, नायक के शरीर पर अन्य नायिका द्वारा किए प्रणय-चिह्नों से अथवा नायक की किसी अन्य चेष्टा से, उसके अन्य के प्रति अनुराग का अनुमान करती है। विद्यापति की राधा कहती है :

कुकुम लओलप नखखत गोइ।
अधरक काजर अएलह धोइ ॥२॥
तइओ न छपल कपट-बुधि तोरि।
लोचन अरून बेकत भेल चोरि ॥४॥[1]

प्रणय के आधिक्य मे भी कभी-कभी मान का अस्तित्व कहा जाता है :

राधा-माधव रतनहि मन्दिर
निवसय सयनक मूख।
रस-रस दारून दंद उपजल्
कान्ह चलल तव रूस ॥२॥[2]

मान का एक आवश्यक अग मनुहार है। विद्यापति कहते हैं :

नागर-अंचल कर-धरि नागरि।
हँसि मिनती करू आधा ॥४॥[3]

इस मान का कारण राधा की समझ में नही आता :

देख सखि झूठक मान।
कारन किछुओ बूझए न पाइए ॥४॥[4]

राधा के ये शब्द उनके भोलेपन के परिचायक है।

'**बीसलदेव रासो**' की राजमती बारह बरस तक प्रिय के लिए तड़पती रही थी। प्रिय के आगमन की बेला में राजमती की उत्कण्ठा और हर्ष-विह्वलता का वर्णन इन शब्दों में हुआ है :

चीरी रही धन हीयडउ लगाई।
जॉणिक बाछरू है मेल्ही गाई ॥
नयन ते आँसू खेरिया।
कब म्हें भेंटस्यॉ साभर्‌या राव ॥[5]

जैसे गाय बछड़े को हृदय से लगाती है वैसे वस्त्रों को हृदय से लगाती हुई राजमती

---

१. १. विद्यापति की पदावली, पद १३४
२. २. वही, पद १५५
३. ३., ४. वही, पद १५५
५. बीसलदेव रासो, तृतीय सर्ग, पद ८०, सम्पादक : सत्यजीवन वर्मा

आँखों से अश्रु ढालती है और कहती है :

"सॉम्र्या नरेश मुझसे कब भेंट करेंगे।"

शृंगार के प्रति उसकी उदासीनता का एकदम लोप हो गया। गाय के बछड़े को हृदय लगाने से वस्त्रों को अत्यन्त प्रेम से हृदय लगाने की उपमा बड़ी सशक्त है।

मिलन की बेला उपस्थित होने पर यह विह्वलता ही 'मान' बन गई। मनुहार की आकाक्षा में ही प्रेमी रूठता है। प्रणयमान का चित्र कवि ऐसे उपस्थित करता है :

रूठी गोरी अल्यग न लेहि।
पल्यग बइसइ नवि पान नु लेहि॥
ऊभी दइ छइ औलभा।
करि लागइ अरि मोड पूछइ वॉह॥
कत भरोसो काइँ करौ?
बारा बरस कीम रहज्यों नाह?[1]

रूठी हुई गोरी आलिंगन नही लेती। पलग पर बैठी है किन्तु पान नही लेती। मुख मोडकर उपालम्भ देती हुई कहती है :

"हे प्रिय तुम्हारा क्या भरोसा? तुम पर विश्वास कैसे करूँ? बारह बरस तक स्वामी (मेरे बिना) कैसे रहे?"

प्रवास

हिन्दी के प्रारम्भिक ग्रन्थो बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, ढोला मारूरा दूहा आदि मे 'प्रवास' के सुन्दर चित्र मिलते है। सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने प्रवास को शाप-हेतुक और कार्यहेतुक बनाया है, हिन्दी के इन ग्रन्थो मे प्राप्त चित्रों के आधार पर यदि हम उसका एक और विभेद 'प्रणयहेतुक' कर दे तो अनुचित न होगा। यहाँ नायक या तो किसी अन्य नायिका के प्रणय का अभिलाषी होकर नायिका को छोड़ जाता है अथवा प्रणयनी के किसी व्यंग्य से आहत होकर उसकी पूर्ति के लिए निकल पड़ता है।

ढोला मारूरा दूहा मे ढोला मारूणी से मिलने की इच्छा जब मालवणी के सन्मुख प्रकट करता है तो वह विकल हो उठती है। अनेक प्रकार से वह ढोला को रोकने का प्रयत्न करती है, ऋतुओं के उद्दीपन प्रभाव को बताकर, ऊंट को अपनी ओर मिलाकर; किन्तु अन्त में असफल हो जाती है। जब ढोला विदेश जाने को प्रस्तुत हो ही जाता है तो दुखी होकर कहती है—"ओ प्राण तू बड़ा निर्लज्ज है, तुझसे निकला भी नहीं जाता। प्रियतम के बिछुड़ते समय तू नहीं निकला मुझे लजाने के लिए रह गया।"

हइ रे जीव निलज्ज तू, निकस्यू जात न तोहि,
प्रिय बिछड़त निकस्यउ नही, रहयउ लजावण मोहि॥[2]

---

१. बीसलदेव रासो, तृतीय सर्ग, पद ९४, सम्पादक : सत्यजीवन वर्मा
२. ढोला मारूरा दूहा, दोहा ३७३

मालवणी का प्रेम पति-परायणा स्वकीया का प्रेम है जो सीता को अनुसुइया के उपदेशानुसार पति के अंध, बधिर और अन्य स्त्री मे अनुरक्त होने पर भी कम नहीं हो सकता। जो ढोला मालवणी के सन्देश ले जाने वाले सुग्गे से अत्यन्त तिरस्कार भाव से कहता है :

मूड़ा, सगुण ज पखिया, म्हांकउ कह्यउ करेज,
नव मण चदण, मण अगर, मालवणी दागे ज ।।[1]

"हे सुए तू गुणवान पक्षी है, हमारा एक कहना करना—नौ मन चदन और एक मन अगरू लेकर मालवणी का दाह कर्म कर देना।"

उसी साल्हकुमार के लिए मालवणी विधाता से, विनती करती है—"हे विधाता मुझे श्यामल बदली क्यों नही बनाया। मै मार्ग में प्रिय साल्हकुमार के ऊपर छाया करती रहती।"

साँवलि काइ न सिरजिया, अबर लागि रहंत।
बाट चलता साल्ह प्रिव, ऊपर छाँह करंत ।।[2]

मालवणी की विवशता और उसके जीवन की निरर्थकता की उपमा खाली सुराही से देकर 'मारूरा दूहा' के निर्माता ने उनकी व्यथा को अमर बना दिया है :

आवि विदेसी वल्लहा, छल करि छेतरियाह।
मतवाला री वतक ज्यउं, पिय नइ परहरियाह ।।[3]

"हे ! प्रियतम ! छल करके तुमने मुझे ठग लिया। मतवाले की सुराही की तरह पान करके तुमने मुझे त्याग दिया, अब आ जाओ।"

वीसलदेव रासो मे साभर नरेश वीसलदेव की उडीसा यात्रा और उनकी पत्नी राजमती की विरह-वेदना वर्णित है। वीसलदेव को अपने राज्य और बाहुबल पर बड़ा गर्व था।

जिस समय गर्व परिपूरित राजा से राजमती ने कहा :

गरव न बोलो हो मो भरतार,
... ...
गरभि न बोलो हो साभरया-राव
तो सरीखा घणा और भुवाल ।।
एक उडीसा को धणी
वचन हमारइ तुँ मान जु मानि ।।[4]

---

१. ढोला मारूरा दूहा, दोहा ४०५
२. वही, दोहा ४१५
३. वही, दोहा ४१८
४. वीसलदेव रासो, द्वितीय सर्ग, पद ३, सम्पादक : सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा

तब—

धणक बोल बस्यो मन माँहि।
चित चमकियउ बीसलराय।
हूँ बीसद्धयो तें वेदिठा।
म्हा तु बरस बारइ की लाँब ॥[1]

"स्त्री का बोल मन में चुभ गमा, वीसलराय चौक-सा गया। मैं अब तक भूला था, अच्छा हुआ तुमने जगा दिया। अब बारह बरस के प्रवास के लिए जाऊँगा।" राजमती को पता न था कि प्रिय इतनी जल्दी रूठ जाएँगे उस बेचारी ने क्षमा याचना भी की :

हूँ बराकी धणी ! मोकियउ रोस।
पाँव की पाणही सुँ कियउ रोम ॥[2]

"मै नीच हूँ गरीब हूँ, हे स्वामी ! अपने क्रोध को त्यागो, कोई पाँव के जूते पर क्रोध करता है।"

तव राजा ने कहा :

जीभ न जीभ वियोगनो।
दव का दाधा कुपली मेल्ही।
जीभ का दाधा न पांगुरई ॥[3]

"अब बाते बनाने से बात नही बन सकती। अग्नि का जला हुआ वृक्ष कोपलें फेंक सकता है किन्तु वचन का जला हुआ आदमी नही पनपता।"

राजा ने जाने की मन मे ठान ली। सखियो ने राजमती को बुरा-भला कहा :

निगुणी गुण होई तो प्रीय क्यु जाई ?[4]

"निर्गुणी मे गुण होता तो प्रिय क्यो जाता ?"

बेचारी राजमती कठिनाई मे पड गई। सब उसे ही बुरा कह रहे थे। उसने बहुत चाहा कि राजा अपने जाने का विचार स्थगित कर दे। मुहूर्त निकालने वाले पण्डित से प्रार्थना की, "तुझे हाथ की मुँदरी दूँगी, मुहूर्त के दिन एक मास देर से निकाल देना।"

मास एक वीलबावज्यो
दूजइ फेरस प्रीय समझाई।
देइस हाथ कउ मुँदड़उ,
सोवन सिंगी नई कपिला गाई ॥[5]

पण्डित ने प्रयत्न करके भी देख लिया किन्तु वह असफल रहा। वीसलदेव विदेश

---

१. वीसल देव रासो, द्वितीय सर्ग, पद ५
२. वही, पद ६
३. वही, पद १८
४. वही, पद १९
५. वही, पद २५

जाने लगा। और :

चालइ उलिगाणा, धन जाण न देहि।
कै मोहि मारि, कइ साथि तु लेहि॥
अचल गहते धन रही।
एक इकेली जोवन पूर।
सूनी सेज वीदेस पीउ॥[1]

"विदेश जाते हुए (प्रिय को) वह स्त्री जाने न देती थी। या तो मुझे मार दो या साथ ले चलो। वह आँचल ही पकडती रह गई, पूर्ण यौवन में एकाकी। प्रिय के विदेश में जाने से सेज सूनी हो जाएगी।" भाभी ने वीसलदेव को समझाया परन्तु उसकी भी जब उसने एक न सुनी तो राजमती हताश हो गई। सम्भवतः चलते समय अपशकुन हो जाए तो राजा न जाए इस विचार से अपशकुन के परिचायक पशु-पक्षियों से भी उसने विनती की कि "प्रिय के सम्मुख जाते समय आ जाना। उसकी विवशता तब बहुत ही करुण-सी प्रतीत होती है जब वह सहस्र फन वाले नाग से विनती करती है कि विदेश में जाते हुए प्रिय को यदि रोक लोगे तो सोने की कटोरी मे दूध पिलाऊँगी।"

उलिगणउ धरि राखज्यो।
जु म्हा को प्रीय पाछौ वाहुडइ।
सोवन कचौली तीहि पावस्युं दूध॥[2]

किन्तु फिर भी राजमती वीसलदेव को रोक न सकी। उसके प्रति अगाध प्रेम रखकर भी वीसलदेव उसके व्यंग्य को न भूल सका। जब वह पति का आँचल पकडकर खडी थी तो एक बार वीसलदेव ने आर्द्र होकर उसका आलिंगन भी किया। जब राजमती ने रो-रोकर कहा कि तुम्हारे बिना घर उजाड सुनसान हो जाएगा तो उसने उसे मनाते हुए कहा—हे गोरी, उठो शृंगार करो तुम्हारे लिए बहुत-सी कचुकी और हार लाऊँगा।

आँचली गैहती बइसाडी छइ आण।
हँसी गल लाइ नई भाजिय काण॥
सा धन रोवइ पीवसूं।
गिरवरधणी! तइ न राखी मान॥
एक सरां घर आवज्यो।
था विण नीहचइ होइ घरि रान॥[3]

उठी उठी गोरी करि सिंगार।
लाखणउ काँचवउ नवसर हार॥

---

१. वीसलदेव रासो, द्वितीय सर्ग, पद ३२, सम्पादक : सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा
२. वही, पद ७४
३. वही, ६३

पहिर नु चोली नवरंगी।
बावन चन्दन अंग सहुआई॥
चित फार्‌या मन उचट्‌या।
रूठी गौरी रहइ गलिलाई॥[1]

राजमती बिलख उठी। वीसलदेव चला गया। पति के जाने के बाद राजमती का महल सूना हो गया। उस सूने मन्दिर में वह चिल्लाकर रोती है; मोर की-सी वेदना अपने स्वर मे भर कर :

प्रीय बोलावे धन रोवती जाई।
सूनउ मन्दिर मेलहइ छै धाह॥
सा धन कुरलइ मोर ज्यूँ॥[2]

उसका रात-दिन चिन्ता करने मे बीतता है :

दिवसनइ रात मौ चिताता जाई।

वह अपने हृदय की भर्त्सना करती है—तू पत्थर का बना है या लोहे का जो प्रिय के बिछुडने पर भी निर्दयी नही फटता, यद्यपि जर्जरित हो गया है।

फटि रे हिया! नीवालूवा।
पाथरी घडीयो के त्रीघट लोह॥
झरयझलीयो फूटइ नही।
सगुणा प्रीतम तणो बिछोह॥[3]

हे विधाता तूने मुझे वनखड की काली कोयल क्यो नही बनाया, किसी चम्पा की डाली अथवा अगूर की शाखा पर अपने जोडे के साथ बैठती—

सूरह न सिरजी धीणु गाई।
वन-खड काली कोईली।
वइसती अब कइ चंप की डालि।
वइसती दाख वीजोरडी।
इणि दुख झूरइ अबला वालि॥[4]

वियोग में अतीत की स्मृति कभी स्वप्न बनकर साकार हो जाती थी किन्तु उस स्वप्न के मिलन में भी विदेश जाने का यथार्थ बाधा बन जाता—

आज सखी सपनतर दीठ।
राग चूरे राजा पल्यगे बईठ।

---

१. वीसलदेव रासो, द्वितीय सर्ग, पद ६४, सम्पादक : सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा
२. वही, तृतीय सर्ग, पद १
३. वही, ३
४. वही, पद ४

ईसो हो झंझारो मइ झंपीयो।
जो हूँ सोहिणइँ जाणती साँच॥
हठि कर जातो राखती।
जब जागुं जीव पड़ि गयो दाह॥[1]

"हे सखी ! आज राजा को सपने में देखा था। राग (प्रेम) में चूर राजा पलंग पर बैठे थे। इसी बीच में (अतीत की वास्तविकता की धुँधली स्मृति से) मे दुखी हुई। जो स्वप्न में भी मैं सचमुच जानती कि राजा चले जाएँगे तो उन्हे हठपूर्वक रोक लेती किन्तु जब (घबराकर) जागी तो राजा के अभाव मे फिर पीड़ित हो गई।"

विरह में राजमती मत्त-सी हो गई। वह चन्द्रमुखी मतवाली-सी राजा के आँगन में घूमती रहती, आँखें लाल रहती और भौहें भूले हुए भ्रमर-सी भ्रमित, शरीर इतना कृश हो गया था कि माँस के अभाव में अगुलियाँ मूंगफली-सी दिखाई पड़ती थीं।

ससी-बदनी जीतयो मात-गयद।
आषड़िया ..... रतनालियाँ॥
भौंहरा जांणे भमर भमाय।
मूंगफली सी आँगुली॥[2]

न उसे भूख लगती थी न प्यास और विरही को नीद तो आती ही कहाँ है। राजमती की यह दशा 'उद्वेग' है। शरीर की कृशता व्याधि की सूचक है।

भूख नहीं त्रीस ऊछली।
उणी-घडा नीद कहा थी होई ?[3]

अगहन में दिन छोटे होते है (रातें बड़ी) सन्देशों के अभाव में चिन्तित राजमती की पीड़ा और बढ़ गई :

आघण कर दिन छोटा होई।
सखी सदेशो मोकलउ कोई॥
सदेशाहि बवज पड्यो॥[4]

"अगहन में दिन छोटे होने लगे। सखी कोई सन्देशा ले आवो। सन्देशों में भी कोई वजह पड़ी है अर्थात् बाधा पड़ी है कि (सन्देशा नही आया)।"

पूस के महीने में जाड़े के आगमन के साथ वियोगिनी राजमती का हृदय भी शीत से जड़ीभूत हो गया :

देखी सखी हिव लागे छइ पोस।
धन मरती मति लावउ हो दोस॥
दुख भीनी पंजर हुई।

---

१. वीसलदेव रासो, तृतीय सर्ग, पद ५, सम्पादक : सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा
२. वही, पद ७
३ वही, पद ८
४. वही, पद ९

अपनी स्थिति की व्यंजना स्वयं अपने शब्दों में इस प्रकार करती है :

कवियक भूपड़ा होई मसाण।[1]

कवि की कल्पना-सा सुन्दर महल श्मशान-सा हो गया है।

'माह' में समस्त सृष्टि अत्यन्त शीत से काँप रही है किन्तु मदार के वन के समान विरहिणी का हृदय भी जल रहा है :

माह मास पड़यो अतिसार।
जल-थल महीयल सुहू कीया छार॥
आक दयत्ता बन दह्यो।
चोली माहि थी दाधउ छइ गात॥[2]

विरहिणी को लगता है जैसे फाल्गुण की वायु ससार को जला रही है :

सखी बाब फरूकती जाइ संसार।[3]

चैत्र में सबको होली के वातावरण में रगा देख राजमती विकल हो उठती है। सब ओर सुखी वातावरण से घिरे रहने पर व्यक्ति के लिए अपने सुख का अभाव और तीव्र हो जाता है :

चैत्र मासा चतुरगी नारि।
प्रीय विणु जीवूँ कवण अधार?[4]

वैसाख मे अनाज पक गया, पानी सीला-सा हो गया, पान भी पकने लगे, किन्तु राजा पराए द्वार पर घोडे की लगाम थामे घूम रहे है।

फिर जेठ आया, बिना जलाए ही दावाग्नि जलने लगी। धरती पर पैर नही रखा जाता :

धरती पाई न देणउ जाई
अनबलई दव परजलई॥[5]

इस तरह दस वर्ष बीत गए। ग्यारहवे वर्ष राजमती ने सखी से कहा :

आँगुली गीणतॉ दिन गया।
काग उडावता दूपइ छइ बाँह॥[6]

"विरह की अवधि के दिन अँगुली से गिनते-गिनते व्यतीत हो गए। काग उड़ाते-उड़ाते बाँह दुख गई।"

---

१. वीसलदेव रासो, तृतीय सर्ग, पद १०, सम्पादक—सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा
२. वही, पद ११
३. वही, पद १३
४. वही, पद १३
५. वही, पद १६
६. वही, पद ३३

तब पंडित के द्वारा राजमती ने राजा के पास सन्देश भेजा।

पंडित ने रानी की विरह-दशा का जो वर्णन राजा से किया है, वह भी अत्यन्त मार्मिक है :

कूलह की वेड़ी सीयलै जंजीर।
जोवन राखो चोर ज्यूँ॥[1]

"कुल मर्यादा की वेड़ी तथा शील अर्थात् लज्जा की उसने जंजीर बनाई है। इसी से उसने यौवन के चोर को पकड़ रखा है।"

इस तरह राजमती का विरह काफी मार्मिक है। विरह मे व्यतीत हुए बारहों मासों मे नाल्ह की विरहिणी ने प्रकृति को काफी निकट से देखा है। उद्दीपन रूढिगत नहीं है, स्थान-स्थान पर उनमे नवीनता मिलती है—अनाज पक गया, पानी सीला-सा हो गया, पान भी पक गए···।

पृथ्वीराज रासो मे 'प्रवास' विरह के दो मुख्य स्थल है। एक तो पृथ्वीराज की कन्नौज-यात्रा के समय उनकी प्रवत्स्यपतिका रानियों के द्वारा उनको रोकने के प्रयत्न स्वरूप ६१वे समय मे, दूसरा सयोगिता-विवाह के उपरान्त पृथ्वीराज के गौरी से मोर्चा लेने जाने के समय ६६वे समय मे।

पहले मे, कन्नौज जाने के लिए प्रस्तुत राजा इंच्छनी के महल मे सम्मति लेने के लिए जाते है। वह ऋतु वर्णन करके उनसे रुकने के लिए प्रार्थना करती है। उस समय वसन्त ऋतु है :

भवरि अव फुल्लिग, कदव रयनीय दिध दीस
भँवर भाव भुल्ले, भ्रमन्त मकरंदन सीस।
वहत बात उज्झलति, अति विरह अगनि किय
कुह कुहंत कल कठ, पत्र राषस रति अगिय।
पय लग्गि प्रानपति बीनवौ, नाह नेह मुझ चित धरहु
दिन-दिन अवद्धि जुवबन घटय कत बसन्त न गम करहु॥[2]

इंच्छनी की प्रार्थना सुनकर पृथ्वीराज रुक जाते है और दूसरी रानी की आज्ञा लेने के लिए अगली ऋतु मे उसके महल में जाते है। वह भी ऋतु का वर्णन करके उन्हें जाने से रोक लेती है। इसी तरह ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमत, शिशिर सब ऋतुएँ एक-एक रानी के महल में निकल जाती हैं।

इन ऋतु वर्णनों में हमें ऋतुओं की विशेषता के साथ यह उल्लेख बराबर मिलता है कि प्रिय से संयुक्त सुखी क्यों है और विरही दुखी क्यों। शिशिर वर्णन में रानी कहती है :

---

१. वीसलदेव रासो तृतीय सर्ग, पद ५२
२. पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ ५६८, सम्पादक : कविराज मोहनसिह

आगम फाग अबंत, कंत सुनि मित्त सनेही।
सीत अंत तप तुच्छ, होइ आनन्द मन ग्रेही॥
नर नारी दिन रैन, नैन मदमाते डुल्लैं।
सकुच न हिय छिन एक, वचन मनमाने बुल्लैं॥
सुनौ कंत सुभ चित करि, रयनि गवन किम कीज्जिये।
कहि नारि पिय विन कामिनी, रिति ससिहर जिज्जये॥[1]

पृथ्वीराज की प्रत्येक रानी रति के लिए आह्वान करती है। राजा अपना जाना स्थगित कर देते है।

प्रवास विप्रलम्भ का दूसरा अवसर सयोगिता के विवाह के पश्चात् है। महाराज पृथ्वीराज आक्रमणकारी गौरी से मोर्चा लेने जा रहे है, सयोगिता के जीवन का यह अतिम मिलन और प्रथम वियोग है। इस स्थल पर कवि ने सयोगिता की दिशा का बड़ा मार्मिक चित्र खीचा है :

नृप पयान पोमिनि परपि, घटि साहस घटि एक।
सुकथ केलि पियूष पिय, जतन करहि सपि केक॥
जतन करहि सखि केक, लय करि जय-जय जपहि।
दन्त कप्ट कर मिंडि, थरकि थरहर जिय कपहि॥
इह प्रयान नृप करत, परी सजोगि धरा धपि।
सषी करत सब जतन, चलत पयान तहाँ नृप॥९७॥[2]

राजा जा रहे है, यह जानकर उस पद्मिनि (संयोगिता) का साहस एक घड़ी में घट गया। सखियों के उपचार का कोई प्रभाव न पडता था, आह शब्द के साथ मुँह से जय-जय बोलती थी, कप्ट से दाँत बन्द हो गए। शरीर थर्राता और हृदय धड़कता था। नृपति के प्रयाण करते ही सयोगिता भूमि पर गिर पड़ी। व्याधि, उन्माद, जडता, वेपथु और मूर्च्छा अनुभावों तथा संचारियों का वर्णन वहाँ सयोगिता की विरह दशा की सुन्दर व्यंजना कर रहा है।

जब पृथ्वीराज के प्रयाण का द्योतक घड़ियाल बजा, तब—

दुतिया चन्द पुनिम जिमै, बर वियोग बढ़ि बाल॥[3]

द्वितीया का चन्द्रमा बढ़कर जैसे पूर्णिमा के रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही संयोगिता का वियोग बढ़ा। नयन अन्धे से हो गए और वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी :

---

१. पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ ५८६, सम्पादक : कविराज मोहनसिंह
२. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ १३६, सम्पादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह
३. वही, १३७

देषन्त नैन सुझ्झै न दिसि, परिय भूमि संथार।
संजोगी जोगिनि भई, जब बज्जिग घरियार ॥[1]

संजोगिनी का अनायास जोगिनी बन जाना अत्यन्त सुन्दर प्रयोग है, वह संयोगिता की मानसिक दशा का मर्मस्पर्शी द्योतन करता है। नवविवाहिता संयोगिता जो कुछ क्षण पूर्व हास-विलास मे निमग्न थी, अचानक ही पति के प्रयाण से जोगिनी-सी हो गई। गौरी से मोर्चा लेना कोई साधारण कार्य न था।

संयोगिता की विरह दशा की अन्य अनेक भावपूर्ण व्यंजनाएँ चन्द ने की है :

उस बाला का वियोग ऐसा बढा जैसे द्वितीया का चन्द्रमा पूर्णिमा का बन जाता है, यौवन वृद्धावस्था की ओर बढ़ने लगता है। जैसे दिन चढ़ने पर (प्रिय समागम का अनुभव करने के पश्चात्) कुलकामिनी की लज्जा बढने लगती है। रावत की सेना के चलने के साथ बाला का वियोग बढ़ने लगा, जैसे कर्क-राशि में क्रमशः रात्रि बढ़ती है और मकर-राशि में दिन।

बढि वियोग बहु बाल, चन्द विय पूरन मान।
वढि वियोग बहु बाल, बृद्ध जोवन सनमानं ॥
बढि वियोग बहु बाल, दीन पावस रिति बढ्ढै।
बढि वियोग बहु बाल, लज्जि कुल बधु दिन चढ्ढै ॥
बढ्ढै वियोग बालनि विरति, उत रावत सेना चढ़िय।
करकादि निसा, मकरादि दिन, बाल वियोगत सम बढिय ॥[2]

पृथ्वीराज के प्रस्थान के पश्चात् वियोगिनी संयोगिता की दशा विचित्र हो जाती है। संयोगिता विरह से तपती है :

वही रत्ति पावस्स, वही मधवान धनुषं
वही चपल चमकन्त, वही बगपंत्त निरष्षं
वही घटा घनघोर वही पप्पीह मोर सुर।

किन्तु :

संजोगि पयपति कत बिन, मुहि न कछू लागत रलिय ॥[3]

"यद्यपि वही पावस की रातें है, वही इन्द्रधनुष है। वही चपला चमकती है, वही बगलों की पंक्ति है, वही घटा घनघोर है और वही मोरों का स्वर, किन्तु प्रियतम के बिना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता।"

वर्तमान विरह की तुलना में अतीत के सुखों का स्मरण वेदना को अधिक मर्मस्पर्शी बना रहा है। गजनी के कारागार में पड़े हुए अन्धे राजा पृथ्वीराज का पश्चाताप भी अत्यन्त करुण है :

---

१. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ १३७, सम्पादक : हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह
२. चन्दवरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ १६२, छंद ६४४, सम्पादक : विपिन बिहारी त्रिवेदी
३. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ १३७, सम्पादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह

नहीं सूर सामन्त परिवार देसं,
नहीं गज्ज बाजं भण्डारं निलेसं।
नहीं पंगजा प्रान ते अत्ति प्यारी,
नहीं गोप महिला, इतं चित्रसारी।
नहीं मृगनयनी चरन तलासैं,
नहीं कूक कोका सबद्दं उलासैं॥[1]

अतीत के वैभव-विलास के साथ प्राणप्रिय रानियों की स्मृति भी राजा को कचोटती है। इसको अतीत में प्राप्त उपलब्धियों के अभाव का रुदन ही कहा जा सकता है, किसी विशिष्ट प्रिय व्यक्ति के अभाव की विरह वेदना नहीं। सैकड़ों रानियों को अन्तःपुर में छोड़कर आने वाले सामन्ती राजा से इससे अधिक आशा भी नहीं की जा सकती।

करुण विप्रलम्भ

विद्यापति की राधा के विरहको यहाँ वियोगावधि के अनन्त होने के कारण 'करुण विप्रलम्भ' के अन्तर्गत लिया गया है। कृष्ण मथुरा चले गए। राधा सखी से कहती है :

सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस-हिया॥२॥
नखर खोआओलु दिवस लिखि-लिखि।
नयन अंधाउल पियापथ देखि॥४॥[2]

सखि मेरा प्रिय बज्र-हृदय है। अवधि के दिन लिखते-लिखते नाखून घिस गए, प्रिय का पथ देखते-देखते आँखें पथरा गईं।

कभी स्वप्न का क्षणिक मिलन राधा की व्यथा को तीव्रतम बना जाता है :

सपनहु सगम पाओल
रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा विहि बिघटाओल
निन्दओ हेराएल रे॥६॥[3]

स्वप्न में कृष्ण से रग बढ़ रहा था कि विधाता ने बाधा डाल दी, नींद नष्ट हो गई।

विद्यापति की पदावली में बारहमासा रूढ़िगत ही है, उद्दीपन रूप है, कोई विशेष नवीनता नहीं है।

अन्त में विरहिणी राधा का वर्णन विद्यापति इस प्रकार करते है :

---

१. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ १४४, सम्पादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह
२. विद्यापति की पदावली, पद १९४, सम्पादक : रामवृक्ष बेनीपुरी
३. वही, पद १९३

लोचन नीर तटनि निरमाने।
करए कलामुखि तथिहि सनाने ॥२॥[1]

"आँखों के नीर की नदी का निर्माण करके राधा उसी में स्नान करती है।" विद्यापति की राधा का विरह स्वयं एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय है। अतः उसकी मार्मिकता के विस्तार में न जाकर यहाँ केवल संकेतमात्र किया है।

भक्तिकाव्य में विरह-भावना

साहित्य मे युग-युग से अभिव्यक्त विरह-भावना का अध्ययन-विवेचन करते समय हमने देखा है कि नर-नारी के सहज सम्बन्ध मे परिस्थितिवश अवरोध उत्पन्न हो जाने पर पीड़ा का रूप लगभग वही रहता है जो प्रारम्भ मे था, अर्थात् ऋग्वैदिक काल में (प्रारम्भ उसको इसलिए कहा है क्योकि वही मानव की भावनाओं का प्रथम लिपिबद्ध प्रमाण है)। ईसा की ११वीं, १२वी शताब्दी तक भारत मे परिस्थिति कुछ-कुछ परिवर्तित होने लगी थी। निरन्तर होते हुए विदेशी आक्रमणों के विप्लव मे भारतीय जन-जीवन का हास-विलास कब तक जीवित रह सकता था? १४वी शताब्दी के आरम्भ तक इस परिवर्तित होती हुई परिस्थिति का रूप पर्याप्त स्पष्ट हो गया। उस कठिन काल में नर-नारी का परस्पर उन्मुखी भाव न रहा होगा यह तो नही कहा जा सकता किन्तु यह अवश्य है कि जीवन की क्षणभंगुरता के भाव ने मानव के मानस को पूर्णतः अभिभूत कर दिया और इस निश्छल स्वाभाविक वृत्ति के प्रति भी विरक्ति का विष-बीज उगने लगा। इस काल के प्रारम्भ के साथ नर-नारी के सहज प्रेम की अभिव्यजना लुप्त-सी होती दिखाई पड़ती है।

अपने को किसी के अस्तित्व मे विलीन करने के मार्ग मे जब अवरोध उत्पन्न हुआ तो भावुक का मानस विद्रोह करने लगा। वह किसी ऐसे की खोज करने को आतुर हो उठा जो पार्थिवों की भाँति नश्वर न हो, जिसमें समाकर उसकी भावनाएँ शाश्वत हो जाएं और अन्त में उसे वह मिल भी गया। कल्पना के सौन्दर्य में भावुक ने आदर्श प्रिय 'अपार्थिव' के प्रति अपनी भावनाओ को अर्पित कर दिया। कुछ ने सगुण साकार की कल्पना की जो मानव की भाँति भावनाओं का आदान-प्रदान करते हुए भी अनश्वर था और कुछ ने अपने प्रिय के विश्वव्यापी रूप से स्वयं को सन्तुष्ट करते हुए उसे किसी रूप में सीमित करना अनुचित समझा। किसी व्यक्तित्व में सीमित न होने पर भी निराकार के उपासकों का प्रिय अरूप न रह सका, उसका रूप बना यह एक रहस्य है। मन की भावनाओं को आलम्बन चाहिए इसीलिए कबीर जैसे निर्गुणियों का प्रियतम भी भावना की तन्मयता में सर्वगुण-सम्पन्न-मानव का अतीन्द्रिय रूप धारण करने को बाध्य हुआ। भावना के और अधिक अतिरेक में वह अतीन्द्रिय भी न रह सका और कबीर पुकार उठे—

---

१. विद्यापति की पदावली, पद २१०, सम्पादक : रामवृक्ष बेनीपुरी

वे दिन कब आवहिगे माइ
जा कारनि हम देह धरि है मिलिबो अंग लगाई।[1]

इस युग के निर्गुण उपासकों में एक ओर कबीर और उनकी परम्परा है, दूसरी ओर जायसी प्रभृति सूफी कवियों की। सूफी साधकों ने लोक में प्रचलित कथानकों के प्रवाह मे आध्यात्मिकता का रग भरने का प्रयत्न किया है। प्रबन्ध के प्रवाह मे प्रेम और विरह की अनेक अभिव्यक्तियाँ इनके काव्य मे उपलब्ध है। अपनी सब विरहानुभूतियों को यद्यपि ये सूफी साधक आध्यात्मिक बताते है किन्तु कुछ इने-गिने क्षणों को छोड़कर उसकी आत्मा लौकिक ही प्रतीत होती है। इसी से मध्ययुग के विरह-साहित्य की इस धारा को इस काल के अन्तर्गत रखकर भी उसका विवेचन यहाँ पृथक् रूप से किया गया है। सूफियो के प्रतिनिधि कवि जायसी है अतः उनके पद्मावत के विरह विवेचन के द्वारा इस परम्परा के काव्य की विरहानुभूति की प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

पूर्वराग

पद्मावत—जायसी के पद्मावत में पूर्वराग कई स्थानों पर मिलता है। इसका प्रथम दिग्दर्शन तब होता है जब हीरामन तोता रतनसेन से पद्मावती का रूप-गुण वर्णन करता है। रतनसेन का प्रेम स्वयं जायसी के अपने शब्दो मे भ्रमर का प्रेम था, उसमें एकनिष्ठता का अभाव था। उसे रूप का लोभ कह सकते है।

हीरामन जो कँवल बखाना। सुनि राजा होइ भँवर भुलाना॥[2]

× × ×

कहु सुगध धनि कस निरमली।
भा अली सग कि अबही कली?[3]

पद्मावती के दर्शन के बाद प्रेम की पीडा बढ गई :

मसि नैना, लिखनी बरूनी, रोइ रोइ लिखा अकत्थ।
आखर दहै, न कोइ छुवै, दीन्ह परेवा हत्थ॥[4]

नेत्रो (के अश्रु) की स्याही व पलकों की लेखनी बनाकर जो पत्र लिखा गया था उसमें लिखा था :

नैनहि नैन जो बेधि गए, नहि निकसे वै बान।
हिए जो आखर तुम्ह लिखे, ते सुठि लीन्ह परान॥[5]

नेत्रों के बाण विशिष्ट रूप से चुभ गए है। हृदय में जो अक्षर तुमने लिखे हैं उन्होंने मेरे प्राण ले लिए है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, श्यामसुन्दरदास
२. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८, रामचन्द्र शुक्ल
३. वही, पृष्ठ ३९
४ वही, पृष्ठ ९६
५. वही, पृष्ठ ९७

कहीं-कहीं अतिशयोक्ति भी है :

पाती लिखी सँवरि तुम्ह नाँवा । रकत लिखे आखर भए सावाँ ।।[१]

"तुम्हारा स्मरण करके जो पत्र लिखा है उसमें (हृदय के दाह के कारण) रक्त से लिखे अक्षर श्याम वर्ण के हो गए है ।"

रतनसेन का यह लोभ एकनिष्ठ प्रेम में तब ही परिणत होता है जब पद्मावती का साहचर्य प्राप्त कर लेता है । उस एकनिष्ठता का दिग्दर्शन तब होता है जब सिंहल के रास्ते मे पद्मावती के समुद्र द्वारा अपहृत होने पर लक्ष्मी उसका रूप धारण करके रतनसेन के पास आती है, और—

देखि सो कँवल भँवर होइ धावा । साँस लीन्ह वह बास न पावा ।।

तब—

निरखत आइ लछमी दीठी । रतनसेन तब दीन्ही पीठी ।।[२]

लक्ष्मी ने कहा :

हौं रानी पद्मावती, रतनसेन तू पीउ ।

तो रतनसेन ने उत्तर दिया :

का तुइं नारि बैठि अस रोई,
फूल सोइ पै बास न सोई ।।[३]

रतनसेन के पद्मावती का नाम जपने पर उसमें (पद्मावती में) जो विरह की पीड़ा उत्पन्न होती है, वह भी किसी एक व्यक्ति के लिए नही है । वह यौवन सुलभ भावनाओं की चंचलता ही है जो ऐसे किसी भी एक की खोज करती है जिन्हे वे अपना सब कुछ अर्पित कर सके :

कहँ वह भौंर कँवल रस लेवा
आइ परै होइ घिरिनि परेवा ।।[४]

धाय के पूछने पर वह कहती है :

परिउँ अथाह धाय । हौं जीवन उदधि गंभीर ।
तेहि चितवौं चारिहु दिसि, जो गहि लावे तीर ।।[५]

वह रतनसेन विशेष की खोज नही कर रही थी । उसे किसी एक ऐसे की आवश्यकता थी जो यौवन के उदधि से उबार सके ।

मान विप्रलम्भ

जायसी के पद्मावत में मान का अवकाश नहीं के बराबर ही था, क्योंकि रतनसेन

१. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ९७, रामचन्द्र शुक्ल
२. वही, पृष्ठ १८३
३. वही, पृष्ठ १८३
४. वही, पृष्ठ ७३
५. वही, पृष्ठ ७४

की महारानी नागमती अत्यंत नम्र पतिपरायणा नारी थी उसकी तो अपनी सौत से भी इतनी ही विनती थी।

सवति न होहि तू बैरनि, मोर कत जेहि हाथ।
आन मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ ॥[1]

किन्तु फिर भी मानव मन के मर्मज्ञ जायसी रतनसेन के सिंहल से लौटने के पश्चात् नागमती से राजा को उलाहना दिलवाए बिना नही रहते। एक सूक्ष्म-सा 'मान' का चित्र जायसी प्रस्तुत करते है। राजा चित्तौड़ लौटने पर नागमती से मिलने जाते है। नागमती विचलित हो उठती है, यह वही पुरुष है जो उसकी अनन्य भावनाओं का तिरस्कार करके एक दूसरी स्त्री के पीछे चला गया था। राजा के प्रेम जताने पर नागमती कहती है :

कहा हँसो तुम मौसों किएउ और सौं नेह।
तुम मुख चमके बीजुरी मोहि मुख बरसत मेह ॥[2]

बीजरी यहाँ राजा के मुख की विजय-दीप्ति का परिचायक है। नागमती कहती है कि "तुम्हारी हँसी मे विजय का उल्लास है और मेरे मुख पर निराशा के अश्रु, तुम क्यो मुझे अब और परेशान करने आए हो।" वही नागमती जो वियोग-काल में सवति से प्रार्थना कर रही थी 'सवति न होहि तू बैरनि' आज अचानक प्रिय को समीप पाकर फिर मानिनी हो उठी। यह 'मान' आत्मा का क्षणिक विद्रोह मात्र रहा अधिक उग्र न बन सका। राजा के खुशामद करने पर कि—

नागमती तू पहिलि ब्याही।[3]

नागमती सारी व्यथा भूल गई, उसने राजा को आत्म-समर्पण कर दिया। सामन्त-युगीन नारी की यह विवशता थी, अकेली नागमती क्या करती ?

प्रवास

हिन्दी-काव्य जगत् में 'पद्मावत' की नागमती की विरह-वेदना का सानी सम्भवतः और कोई ग्रन्थ नही रखता। नागमती की विरह तड़पन को मीरा पहुँची है किन्तु उनका आलम्बन भी अपार्थिव गिरिधर गोपाल है, उन्ही जैसे हाड-माँस का पुतला इन्सान नहीं। यह ठीक है कि मीरा उससे सपने में मिल चुकी है, किन्तु फिर भी उसके वास्तविक रूप का परिचय नहीं हो पाता। इधर चित्तौड़ के राजा रतनसेन की महारानी नागमती है जिसका प्रिय किसी अन्य स्त्री के लिए इसका तिरस्कार करके चला गया है और नागमती—

नागमती चितउर पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा।
नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोर पिउ मोसौ हरा॥

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १६०
२. वही, पृष्ठ १८१
३. वही, पृष्ठ १८१

सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नही जात जात वर जीऊ ॥[1]

प्रिय से वियुक्त होने पर—

सूखा हिया, हार भा भारी। हरे-हरे प्रान तजहिं सब नारि ॥[2]

× × ×

प्रान पयान होत को राखा ? को सुनाव पीतम के भाखा ?[3]

आत्मा रूपी हंस विरह की अग्नि से व्याकुल होकर शरीर से निकल भाग जाना चाहता है:

आहि जो मारे विरह के। आगि उठे तेहि लागि।
हस जो रहा शरीर महँ। पाँख जरा गा भागि ॥

कवि के रूप मे कोई व्यक्ति नागमती से सवेदना का अनुभव करता हुआ उससे कहता है—

पाट महादेइ हिय न हारू। समुझि जीउ चित चेत सँभारू।[4]

× × ×

भौर कँवल संग होइ मेरावा। सँवरि नेह मालती पहँ आवा।
पपहै स्वाती सौ जस प्रीति। टेकु पियास बाँधु मन थीती ॥
धरतिहि जैस गगन सौ नेहा। पलटि आव बरखा ऋतु मेहा ॥

× × ×

मिलहि जो बिछुरे साजन, अंकम भेटि अहंत।
तपनि मृगसिरा जो सहै, ते अद्रा पलुहत ॥[5]

और तब तपती हुई धरती के आकाश पर मेघ छा गए। धरती तो सन्तुष्ट हुई किन्तु विरहिणी नागमती के लिए—

खडग-बीजु चमके चहुँ ओरा
बुद बान बरसहि घनघोरा।
ओनइ घटा आइ चहुँ फेरी।
कत उबारू मदन हौं घेरी ॥[6]

पुण्य नक्षत्र के उदित होने पर सब अपने-अपने घरो पर छत छाने लगे, अनाथ नागमती के यहाँ स्वामी के बिना कौन छत छाए—

पुण्य नखत सिर ऊपर आवा।
हों बिनु नाह मदिर को छावा ॥[7]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१
२. वही, पृष्ठ १५१
३. वही, पृष्ठ १५१
४. वही, पृष्ठ १५१
५. वही, पृष्ठ १५२
६. वही, पृष्ठ १५२
७. वही, पृष्ठ १५२

सावन में सब ओर पानी-पानी हो गया। इस कठिन परिस्थिति में विरही की नाव कौन पार लगाए—

बाट असूझ अथाह गभीरी, जिउ बाउर भा फिरै भंभीरी।
जग जल बूढ जहाँ लगि ताकी, मोर नाव खेवक बिनु थाकी ॥[1]

भादों में बादल झकझोर-झकझोरकर जैसे पानी बरसा रहे है वैसे ही नागमती की भावनाएँ उसे झकझोर रही है, नेत्रों से अश्रु बरस रहे है :

बरसै मघा झकोरि झकोरि। मोर दुइ नैन चुवै जस ओरी ॥[2]

क्वार आने पर प्रकृति पुनः मुस्कराने लगी। घर से दूर गए पशु-पक्षी तक लौट आए किन्तु प्रिय विदेश मे भूले हुए हैं :

सरवर सँवरि हस चखि आए, सारस कुरलहि खंजन देखाए।
भा परगास कास बन फूले, कतन फिरे विदेसहि भूले ॥[3]

कार्तिक में दीवाली का मनोरम पर्व आया। ग्रीष्म से तप्त ससार शीतलता का अनुभव करने लगा, चन्द्र की ज्योत्स्ना मुस्कराने लगी। जिनके प्रिय समीप है उनके सब मनोरथ पूर्ण हुए, किन्तु नागमती को पति विरह तो है ही दूसरे सवति का दुख भी सता रहा है :

कार्तिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल हों विरहे जारी ॥
× × ×
चहूँ खड लागै अँधियारा। जो घर नाही कत पियारा।
अबहूँ निठुर आउ एहि बारा। परब देवारी होइ ससारा ॥[4]
× × ×
जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा। मो कहँ विरह सवति दुख दूजा ॥[5]

विरह की रात्रि बितानी वैसे ही कठिन थी, अब अगहन मे रातें और लम्बी हो गई—

अगहन दिवस घटा निसि बाढी। दूभर रैनि जाइ किमि गाढी ?[6]

पूस और माघ के महीने भी ऐसे ही विरह की कठिनाइयाँ झेलते हुए व्यतीत हुए। नागमती के विरह में कही भी गोरख-धन्धा नही है। फागुन में नागमती का तन पत्तों की भाँति पीला पड़ गया। पवन के झकझोर से पत्ते झड़े किन्तु फिर दूसरे आ गए, प्रकृति फूल-पत्तो से फिर समृद्ध हो गई। वनस्पति के जीवन मे उल्लास छाया किन्तु

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १५२, रामचन्द्र शुक्ल
२. वही, पृष्ठ १५३
३. वही, पृष्ठ १५३
४. वही, पृष्ठ १५३
५. वही, पृष्ठ १५४
६. वही, पृष्ठ १५४

नागमती का जग दुगना उदास हो गया।

तन जस पियर पात भा मोरा। तेइ पर विरह देह झकझोरा।
तरिवर झरहिं, झरहिं बन ढाखा। भइ ओनन्त फूरि फरि साखा।
करहिं बनस्पति हिये हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू॥[1]

उसकी इस उक्ति में विवशता सीमा पर पहुँच जाती है :

यह तन जारों छार के, कहौ कि पवन ! उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥[2]

सखी ने सांत्वना दी थी कि मालती का स्मरण करके भ्रमर लौट आता है। वसंत में भ्रमर को मालती के पास देखकर नागमती हताश हो जाती है :

सहस भाव फूली वनस्पती। मधुकर घूमहि सँवरि मालती॥[3]

और—

मोकहँ फूल भए सब काँटे॥[4]

बैसाख में गर्मी बढ़ जाती है। विरहिणी नागमती अन्तर-बाहर की तपन से विकल हो उठती है किन्तु फिर भी वह तपती हुई बालू मे पड़े अन्न के दाने के समान विरह को छोड़ नही सकती :

लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिर-फिर भूजेसि तजिउँ न बारू॥[5]

विरहिणी की पीड़ा की, गरम रेत पर पड़े अन्न के दाने से उपमा करना जायसी की अपूर्व कल्पना है। एक ओर अपने प्रेम पर अनन्य विश्वास दूसरी ओर प्रिय का विश्वासघात, प्रेमी को अभूतपूर्व कठिन परिस्थिति में डाल देता है किन्तु फिर भी वह विरह की कठिनाइयों को झेलता है। विरहावस्था की इससे और अधिक सुन्दर व्यजना मिलनी असम्भव न भी हो तो दूभर अवश्य है।

जेठ में विरह की अग्नि से नागमती ही नही यमुना भी क्षीण और काली पड़ गई है :

दहि भइ साम नदी कालिंदी। विरह क आगि कठिन अति मंदी॥[6]

कवि मुहम्मद के अनुसार जिस अग्नि को रवि, शशि, मेघ और समुद्र भी सहने में असमर्थ हैं, उसको जो सती सहती है वह धन्य है :

मुहम्मद सती सराहिए, जरे जो अस पिउ लागि॥[7]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० १५१, रामचन्द्र शुक्ल
२. वही, पृष्ठ १५५
३. वही, पृष्ठ १५५
४. वही, पृष्ठ १५६
५. वही, पृष्ठ १५६
६. वही, पृष्ठ १५६
७. वही, पृष्ठ १५६

चकवी की विरहावधि भी सीमित होती है परन्तु नागमती की अनन्त थी। वह कहती है :

चकई निसि बिछुरे दिन मिला। हौं दिन राति विरह कोकिला ।।[1]

विरह में अपने से इतर जगत् से सद्भावनापूर्ण एकात्म अनुभव करने की जो शक्ति है, वह किसी और दशा को प्राप्त नहीं। नागमती के विरह की अतिशयोक्ति भी अपनी अतिशयता में मार्मिक स्वभावोक्ति ही बन गई है :

पिउ सों कहो सदेसड़ा, हे भौरा! हे काग।
सो धनि विरह जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग ।।[2]

करुण विप्रलभ

रतनसेन की मृत्यु के पश्चात् नागमती और पद्मावती के विरह में स्त्री सुलभ बिलखाहट नही है, दार्शनिक का-सा धैर्य है। सती होने के पश्चात् पुनर्मिलन की आशा ने सम्भवतः यह धैर्य उन्हे प्रदान किया हो। वह करुण रस नही है, करुण विप्रलम्भ भी शास्त्रनिष्ठ परिभाषा के अनुसार नही। किन्तु मिलन यदि केवल शरीर का ही मिलन नहीं है, अमूर्त आत्मा का भी है तो उसे करुण-विप्रलम्भ कहने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

एक जो भाँवरि भई बियाही।
अब दूसरे होइ गोहन जाहीं।
जियत कंत तुम हम गर लाई।
मुए कंठ नहिं छोड़हि साँई ।।
औ जो गाँठि, कन्त तुम्ह जोरी।
आदि अन्त लहि जाइ न छोरी ।।[3]

सूफियों के अतिरिक्त इस युग के अन्य सब साधकों की विरहानुभूति का आलम्बन मूलतः 'अपार्थिव' है और उसकी अभिव्यंजना भी उसी कोटि की ही।

निर्गुणियों के अरूप के प्रति प्रणय-निवेदन को रहस्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। मानव-मानव की एकात्मता स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है, उसी को ईश्वर सम्बन्ध में भी सब भक्तो ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया। सगुण भक्तों ने उसे माधुर्य-भक्ति का नाम दिया और निर्गुण भक्तों ने रहस्यवाद का।

मध्ययुग में भक्तों की मुख्यतयः दो कोटियाँ हुई निर्गुण और सगुण। निर्गुणियों का प्रतिनिधित्व कबीर करते है। अतः हमने उन्हीं के विरह के अध्ययन का प्रयत्न किया है, सगुण भक्तों की रामकाव्य और कृष्णकाव्य शाखाएँ हैं उनके प्रतिनिधि कवियों में एक

१. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १५४ रामचन्द्र शुक्ल
२. वही, पृष्ठ १५४
३. वही, पृष्ठ ३००

ओर तुलसीदास और दूसरी ओर मीरा तथा सूरदास की विरहानुभूतियों के संक्षिप्त विवेचन का प्रयत्न है।

पूर्वराग

भक्त कवियों का आलम्बन यद्यपि अपार्थिव था किन्तु उन्होंने अपनी पीड़ा को रसमय बनाने के लिए उसे सगुण रूप दे दिया था। **कबीर** जैसे निर्गुणियों का प्रियतम भी भावना के आधिक्य में सगुण साकार बन गया है। भक्तिकाव्य की यह विशेषता है कि इसमे सनातन पुरुष ब्रह्म के सम्मुख विरही भक्त स्वय को उसकी चिरविरहिणी आत्मा मानकर विरह निवेदन करता है। तभी पुरुष कबीर सनातन पुरुष के सन्मुख स्त्री बन जाते है और वियोग-तप्त होकर पुकार उठते है :

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कन्त सुजाण।
वेगि मिलौ तुम आइ करि, नहि तर तजौ पराँण॥[1]

एक बार स्वप्न में प्रिय से साक्षात्कार हुआ था किन्तु वह अनुभूति के क्षण अत्यन्त लघु थे, यथार्थ के सन्मुख लुप्त हो गए, फिर भी वही कबीर के हृदय मे प्रेम की पीड़ा जगा गए है :

सुनि सखी सुपिनै की गति ऐसी, हरि आए हम पास।
सोवत हीं जगाइया, जागत भए उदास॥
चलु सखी बिलम न कीजिए, जब लग सास सरीर।
मिलि रहिए जगनाथ सूँ, यूँ, कहै दास कबीर॥[2]

आत्मा इस शरीर मे सयुक्त होकर ही प्रिय (अपार्थिव ब्रह्म) से मिलन की अनुभूति करना चाहती है। इसलिए उस अनुभूति मे तनिक भी विलम्ब हो जाने पर वह विकल हो उठती है। कबीर कहते है :

सुनहुँ हमारी दादि गुसाई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भाँडै नीर॥[3]

आलम्बन के अपार्थिव होने मे प्रेम की प्रक्रिया इस प्रकार रहती है—प्रिय के गुण-श्रवण से मन में उसके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, भक्त अधिकाधिक उसकी महिमा से अभिभूत होकर उससे मिलन को आकुल हो उठता है। विरहानुभूति के जाग जाने पर भक्त मिलन के लिए तड़पने लगता है। भक्तिकाव्य में जहाँ राम और कृष्ण का रूपक नही है वहाँ प्रेम की यही प्रक्रिया देखने में आती है। कभी-कभी अनुभूति के क्षणों में स्वप्न-सा प्रिय स्वप्न में दिखाई भी पड़ जाता है तो भी दूसरे ही क्षण अपनी क्षणभंगुरता में स्वप्न, स्वप्न हो जाता है। वह विरहीभक्त की पीड़ा को तीव्रतर बना

---

१. कबीर ग्रन्थावली (सुन्दरि को अंग), श्यामसुन्दर दास
२. कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १९०
३. वही, पृष्ठ १९१

जाता है। निरन्तर प्रतीक्षा करता हुआ भक्त पुकार उठता है—

वै दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ॥
हौ जानूँ जे हिल-मिल खेलूँ, तन मन प्रान समाइ।
या कामनाँ करौ परिपूरन, समरथ हौ रामराइ॥

इस वियोग में कबीर की सेज उन्हें काटने लगी है—

माँहि उदासी माधो चाहे, चितवत रैनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ॥[1]

सगुण साकार ईश्वर की महिमा के गायकों में **तुलसी** सर्वोपरि है। राम के प्रभावशाली व्यक्तित्व में ईश्वर का सम्पूर्ण ईश्वरत्व समाहित हो गया था, स्वयं तुलसी ने उन्हें भगवान् करके ही पूजा। किन्तु फिर भी राम के हृदय में वही धड़कन सुनाई पड़ती है जो मानव-हृदय की ही विभूति है। यही हाल जगत्-जननी सीता का है। पुरातन पुरुष और उसकी कार्यकारिणी शक्ति अर्धांगिनी लक्ष्मी, पृथ्वी पर अवतरित, होते ही पृथ्वी के जीव हो गए।

जनक की पुष्पवाटिका में सखी के कहने से जब सीता ने राम को देखा तब—

सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥
नखसिख देखि राम के सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥[2]

यह संयोग-मात्र था कि राम धनुष को तोड़ सके अन्यथा वास्तव में तो पुष्प-वाटिका में ही सीता राम पर अपना सर्वस्व वार चुकी थी, मन में पिता के कठोर प्रण का स्मरण करके अत्यन्त दुखी थी। सीता के मन की दुविधा और विवशता सखियों से भी छिपी न थी—

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयऊ गहरू सब कहहिं सभीता॥
पुनि आउब एहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहसि एक आली॥[3]

सीता के मन का यह नवीन अनुभव और उद्वेलन सखियों की चिन्ता का कारण भी बन गया था और इसी से उन्होंने डरकर कहा, "अब घर चलो देर हो रही है। नायिका की सखियों में कुछ ऐसी चुलबुली भी होती हैं जो इस प्रकार के भाव को प्रोत्साहन देती हैं अतः उनमें से एक ने हँसकर कहा, "चलो, कल फिर यहाँ इसी समय आएँगे।"

ऐसी परिस्थिति में देर हो जाने से माता का डर स्वाभाविक है। राम सीता के

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९१
२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ २२६, गीता प्रेस गोरखपुर, अष्टम संस्करण
३. वही

समय से तुलसीदास तक और तब से अब तक भी कुमारी कन्याओं के लिए इस भय का अंकुश रहता ही है।

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ विलंबु मातु भय मानी ॥[1]

राम के हृदय में भी प्रेम का अंकुर तभी उदित हो गया था। हृदय की दीवार पर उन्होंने सीता का चित्र अंकित कर लिया—

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारू चित्त भीतीं लिखि लीन्हीं ॥[2]

गुरु से विदा लेने और सन्ध्या-वन्दन करने के पश्चात् राम को एकान्त की जब दो घड़ियाँ मिलीं तो सीता की स्मृति सजीव हो उठी। चन्द्रमा को देखकर सीता का मुख याद आया—

प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा ॥

किन्तु प्रियतमा के सौन्दर्य के सन्मुख चन्द्रमा फीका लगा—

बहुरि विचारू कीन्ह मन माहीं। सीय वदन सम हिमकर नाही ॥
जनम सिंधु पुनि बंधु विष दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक ॥[3]

यह आकर्षण ही राम को सीता स्वयवर मे ले गया। सब राजा जब धनुष तोड़ने में असमर्थ रहे तब राम उठे। लक्ष्मण ने राजाओं को ललकारा था किन्तु राम ने उन्हें धनुष तोड़ने का अवसर नही दिया। लक्ष्मण ने ललकार कर जब कहा—

तोरों छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जो न करौ प्रभु पद सपथ कर न धरौ धनु भाथ ॥[4]

तब राम ने अत्यन्त चातुर्य से काम लिया—

सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे।
प्रेम समेत निकट बैठारे ॥[5]

यदि लक्ष्मण धनुष तोड़ देते तो सम्भवतः राम-कथा दूसरी ही होती। परन्तु राम-कथा के संस्कारगत प्रभाव में पोषित तुलसी के सन्मुख यह क्षेत्र नहीं था अतः तुलसीदास ने परिस्थिति को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से संभाल लिया। गुरु ने राम को आज्ञा दी—

उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा ॥[6]

राम और सीता के जीवन का उपर्युक्त विवेचन यद्यपि हमारी परम्परा से चली

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ २२७, गीता प्रेस गोरखपुर, अष्टम संस्करण
२. वही, पृष्ठ २२७
३. वही, पृष्ठ २२९
४. वही, पृष्ठ २४३
५. वही, पृष्ठ २४३
६. वही, पृष्ठ २४३

आती हुई भावना को एकाएक झझकोर देता है, किन्तु यदि पूर्वाग्रह के बिना उस पर विचार किया जाए तो क्या वह गलत है ?

राम को धनुष तोड़ने की शक्ति उनकी प्रियतमा की प्रार्थना उन्हे दे रही थी। सब देवताओं को मनाने के पश्चात् सीता शिव-धनुष से प्रार्थना कर रही थीं।

सकल सभा के भै मति भोरी । अब मोहि सभु चाप गति तोरी ॥
निज जडता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥
अति परिताप सीय मन माही। लव निमेष जुग सय सम जाही ॥[1]

सीता की इस अत्यन्त विकलता को राम ने भी देखा—

देखि विपुल विकल वैदेही। निमिष विहात कलप सम तेही ॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तडागा ॥
का वरषा सब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछितानें ॥
अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेषी ॥[2]

तृषा से मरते हुए प्यासे तथा वर्षा से विरहित खेती के समान सीता को देखकर राम का हृदय प्रणयोल्लास से कितना फूल उठा होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। उसी उल्लास से प्रेरणा पाकर गुरु को प्रणाम करके राम ने जब धनुष उठाया तब—

दमकेउ दामिनी जिमि जब लयउ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयउ ॥
लेत चढावत खेचत गाढे। काहु न लखा देख सबु ठाढें ॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ॥[3]

मिलन के मार्ग मे शिव-धनुष ही एक बाधा थी। उसके टूट जाने के पश्चात् सीता की दशा ऐसी थी—

तन सकोचु मन परम उछाहु।

भक्त तुलसी आराध्य के मनोरथ को सफल देखकर गा उठे—

गूढ प्रेम लखि परइ न काहू ॥[4]

तुलसी की मर्यादा की शालीनता में बधी सीता के समकक्ष भक्त कवियों में सूर की राधा का चित्र आता है, जो कृष्ण के प्रेम में वशीभूत होकर कुल की मर्यादा, लोक-लज्जा सबका त्याग कर देती है। एक दिन यमुना तट पर राधा ने कृष्ण को देखा था—

स्याम मिले मोंहि ऐसे माई। मै जल को जमुना तट आई।
अचक आए तहाँ कन्हाई। देखत ही मोहनी लगाई ॥

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ २४६, गीता प्रेस गोरखपुर, अष्टम संस्करण
२. वही, पृष्ठ २४८
३. वही, पृष्ठ २४९
४. वही, पृष्ठ २५१

तबहीं तें तन-सुरति गँवाई। सूधें मारग गई भुलाई॥
बिनु देखे कल परे न भाई। सूर स्याम मोहनी लगाई॥[1]

श्याम की मोहनी से राधा की जो दशा हुई, उसकी मार्मिक व्यजना सूर इन शब्दों में करते हैं—

सूर सकल लागति ऐसीयै, सो दुख कासों कहिए।
ज्यों अचेत बालक की वेदन, अपने ही तन सहिए॥[2]

अचेत बालक जैसे अपनी पीड़ा किसी से भी नही कह सकता, वैसी ही दशा राधा की थी। सूर की राधा अत्यन्त सीधी और भोली हैं। इसी से उनके हित की बात यदि कोई उन्हे समझाता है तो यह उस पर विशेष महत्त्व नहीं देती—

तुम कुलवधु निलज जनि ह्वै हो।
यह करनी उनहीं को छाजै, उनके संग न जैहौ॥
राधा-कान्ह-कथा ब्रज घर-घर, ऐसे जनि कहवैहौ।
यह करनी उन नई चलाई, तुम जनि हमहिं हँसैहौ॥
तुम हो बड़े महर की बेटी, कुल जनि नाउँ धरैहौ॥[3]

× × ×

यह सुनिके हँसि मौन रही री।
ब्रज उपहास कान्ह राधा को, यह महिमा जानी उनहींरी॥
जैसी बुद्धि हृदय है इनकें, तैसीयै मुख बात कही री।
रवि को तेज उलूक न जानै, तरनि सदा पूरन नभहीं री॥[4]

किसी अच्छे कुल की कन्या की ऐसी स्थिति में, जिसमें राधा थी क्या दशा होती है? यह बताना भी सूर नहीं भूलते। एक दिन एकान्त में राधा जब कृष्ण से मिलती है तो रो-रोकर अपना हाल उनसे कहती है—

मातु-पिता अति त्रास दिखावत।
भ्राता मोहि मारन कोंधिरवै, देखें मोहि न भावत।
जननी कहति बड़े की बेटी, तोकौ लाज न आवति॥
पिता कहै कैसी कुल उपजी, मनही मन रिस पावति॥
भगिनी देखि देति मोहिं गारी, काहें कुलहिं लजावति।
सूरदास प्रभु सौ यह कहि-कहि, अपनी विपति जनावति॥[5]

इस तरह कष्ट देने वाले सगे-सम्बन्धी राधा को अच्छे नहीं लगते—

---

१. सूरसागरसार, पद ५४, सम्पादक : धीरेन्द्र वर्मा
२. वही, पद ५७
३. वही, पद ६७
४. वही, पद ६८
५. वही, ७३

धिक वै मातु पिताधिक भ्राता, देत रहत मोहिं खोंचन।
सूर स्याम मन तुमहिं लगान्यौ, हरद-चून-रंग-रोचन॥

वह कृष्ण के सन्मुख अत्यन्त दीन हो जाती है—

प्राननाथ मेरी सुरति किन करौ।
मैं जु दुख पावति हों दीनदयाल, कृपा करौ, मेरौ काम
दंद-दुख और विरह हरौ॥[1]

और कृष्ण तब अत्यन्त आर्द्र होकर राधा को हृदय से लगा लेते हैं—

विहँसि राधा कृष्ण अंक लीन्हीं॥[2]

सूर की राधा यदि आत्मा का प्रतीक और कृष्ण परमात्मा का प्रतीक न बने तो राधा की मर्म कहानी मुग्धा परकीया की कहानी है, जो प्रिय के लिए अपने सब हितैषियों—माता-पिता, भाई-बहन को छोड़ देती है। यदि वह विश्वासघाती निकले तो असहाय-सी सबसे बुरी बनकर लोक-उपहास की ज्वाला में जलती है। इसी ज्वाला मे विवश राधा को जलना पड़ा था जब कृष्ण राजा बनकर उसे छोड़कर चले गए थे। कृष्ण के 'प्रवास' के 'भ्रमर गीत' प्रसंग में गोपिकाएँ रोती है परन्तु राधा मौन ही रहती है। राधा की मौन-व्यथा अपनी निस्वनता में ही मुखर है।

मीरा के प्रेम का आलम्बन अपार्थिव गिरधर गोपाल है। अपार्थिव शृंगार में आलम्बन के रूप का आकर्षण प्रेमी के हृदय में रति उत्पन्न करता है। यह राग ही विरहानुभूतियों के अनेक सोपानों का मार्ग तय करके तन्मयता में मिलन की अवस्था को प्राप्त होता है। माधुर्य साधना के प्रेम का प्रथम सोपान पूर्वराग है जो मिलन की पराकाष्ठा प्राप्त करके अन्त में विरह में ऊबता-डूबता है।

प्रेम-भावना के उदय के साथ ही विरह (प्रिय के अभाव की कल्पना) का उदय भी हो जाता है। कृष्ण के रूप-दर्शन से मीरा के नेत्र पराये हो गए है, लोक-लाज, कुल-मर्यादा किसी की चिन्ता नहीं करते—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय
....
लोक कुटुम्बी बरज बरजहीं बतियाँ कहत बनाय।
चंचल निपट अटक नहीं मानत परहथ गए बिकाय॥

अब कोई बुरा कहे या भला, इसकी उनको चिन्ता नहीं है—

भलो कहो कोई बुरी कहो मैं सब लइ सीस चढ़ाय॥[3]

मीरा के पूर्वराग में गाम्भीर्य है और भावना की एकनिष्ठता भी। उसके विषय

---

१. सूरसागर सार, पद ७६, सम्पादक : धीरेन्द्र वर्मा
२ वही, पद ७८
३. श्रीमती सावित्री सिन्हा—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ १३८

में श्रीमती सिन्हा का यह वक्तव्य ठीक ही है—"उनके अनुराग के प्रादुर्भाव के मूल में ही निष्ठा है।"[१]

मान

कबीर ने स्वयं को प्रिय की पतिव्रता स्वकीया माना है। वह स्वकीया, जो प्रिय के महत्त्व से अभिभूत रहती है और उसके सम्मुख स्वयं को अत्यन्त नगण्य मानती है; फिर वह मान कैसे कर सकती है? अतः मानविप्रलम्भ का मान पक्ष कबीर की नायिका में नही है। हाँ, सर्वगुण सम्पन्न, सर्वशक्तिमान प्रिय कभी किसी दोष के कारण इससे रूठ सकता है, तब वह अत्यन्त दीन होकर मनुहार करने लगती है—

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे॥
सबको कहै तुम्हारी नारी मोको यह अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे॥
है कोई ऐसा परउपगारी हरि सु कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भए है बिन देखे जिव जाइ रे॥[२]

सम्पूर्ण **'रामचरित मानस'** मे 'मान' का केवल एक प्रसंग है—कैकेयी के कोप-भवन में जाने का दृश्य। यह यौवन उल्लास से परिपूर्ण दम्पत्ति के मान-मनुहार का मनोरम चित्र नहीं है, 'वृद्धस्य भार्या तरुणी' की चातुरी के दाँव-पेंच की मनोवैज्ञानिक गाथा है।

मन्थरा ने कैकेयी को सीख दी—

तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुहु मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ॥
चतुर गंभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी॥
पठये भूप भरतु ननिअउरे। राम मातु मत जानब रउरे॥

और—

कद्रूं बिनतहि दीन्ह दुख तुम्हहि कौसिला देव।
भरतु बंदि गृह सेइहहि लखनु राम के नेव॥[३]

तब कैकेयी सहम गई। दशरथ की सबसे प्रिय रानी सपत्नी की सेवा स्वीकार करे, असम्भव है। उसने मन में ठान लिया कि वह कभी ऐसा न होने देगी। और—

---

१. श्रीमती सावित्री सिन्हा—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ १३८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९२, सम्पादक : श्यामसुन्दरदास
३. रामचरितमानस, अयोध्यकांड, पृष्ठ ३४९-३५०

बहुविधि चेरिहि आदरू देई। कोपभवन गवनी कैकेयी ॥[1]

दशरथ कैकेयी पर पूर्ण अनुरक्त हैं। रानी कोपभवन में गई है, यह सुनकर वह अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं—

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ ॥

अत्यन्त विनय से मनुहार करते हुए वे उससे कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केइ दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा ॥
कहु केहि रंकहि करऊँ नरेसु। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसु ॥[2]

जब राजा ने कैकेयी की माँग पूरी करने के लिए राम की शपथ खा ली :

भामिनी राम सपथ सत मोही।

तब रानी ने अपना दाँव फेंका—

माँगु माँगु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दइ तेउ पावत संदेहु ॥

इस पर दशरथ ने जब कहा—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरू बचन न जाई ॥[3]

तो रानी ने राम का वनगमन और भरत को राजतिलक दो वरदान माँग लिये। यह राजा दशरथ के प्रण की परीक्षा ही थी, उस परीक्षा में राजा उत्तीर्ण हुए। प्राण चले गए किन्तु वचन से वे पीछे नहीं हटे।

राम और सीता के प्रेम की अनेक परिस्थितियों में मान के कुछ सुन्दर प्रसंगों के कल्पना हो सकती थी, विशिष्टतः वनवास में, कभी कहीं रम्य वातावरण में; किन्तु तुलसी ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उनकी आदर्श नारी सीता कभी प्रिय से रूठ ही नहीं सकती थी। राम के प्रति तुलसी की पूज्य भावना भी इस प्रकार की कल्पना में बाधक हुई है। माण्डवी और उर्मिला के प्रति कवि का उपेक्षा का भाव था अतः उनके रूठने मनाने के प्रसंगों का तो प्रश्न ही नही उठता।

सूर की राधा के प्रेम में भी 'मान' का लगभग अभाव ही है, क्योंकि सूर का भक्त-हृदय यह मानकर चलता है कि कृष्ण अन्तर्यामी भगवान् है, उनके रूठने पर आत्मा का कल्याण नही हो सकता; वह अपनी हानि स्वयं करेगी। सूर की राधा कहती है—

मैं अपने जिय गर्व कियो।
वै अन्तरजामी सब जानत, देखत ही उन चरचि लियौ

---

१. रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड, पृष्ठ ३५३
२. वही, पृष्ठ ३५४
३. वही, पृष्ठ ३५७

कासौ कहौं मिलावै को अब, नैकु न धीरज धरत जियौ ।
वे तो निठुर भए या बुधि सौ, अहंकार फल यहै दियौ ।।[1]

आत्मा परमात्मा के इस आध्यात्मिक पक्ष के अतिरिक्त परोक्ष रूप में कवि की तत्कालीन परिस्थितियाँ भी उसे यही सोचने को बाध्य करती हैं। सामन्ती राजा की एकनिष्ठा रानी अथवा प्रेयसी कभी उससे एकान्तिक प्रेम के प्रतिदान की आशा नहीं कर सकती। इसी से राधा कहती हैं—

सूर स्याम प्रभु वे बहुनायक, मोसी उनके कोटि तियौ ।[2]

फिर भी प्रेमगर्विता स्वकीया प्रिय की व्यभिचारिणी प्रवृत्ति से आहत होकर कभी-कभी लघु विद्रोह कर बैठती है। राधा कहती है—"तुम समझते हो कि तुम ही सब कुछ जानते हो और सब तो मूर्ख है। तुम्हारी इस अनेक-निष्ठा प्रवृत्ति के कारण ही तो मेरा और तुम्हारा दोनों का उपहास हो रहा है—

तुम सर्वज्ञ और सब मूरख, सो रानी अरू दासी ।
मैं देखत हृदय वह बैठी, हम तुमको भई हाँसी ।।

प्रिय के मनुहार करने पर कि—

कहा भई धनि बावरी, कहि तुमहि सुनाऊँ ।
तुम तें को है भावती जिहि हृदय बसाऊँ ।।
वृथा क्रोध पिय क्यों करौ कहि बारम्बारा ।
तुमहिं स्रवन नैन हो, तुम प्रान अधारा ।।
भुज गहि ताहि बतावहू, जेहि हृदय बतावति ।
.....।।[3]

मानिनी का रोष लुप्त हो जाता है

पियहिं निरखि प्यारी हँसि दीन्हो
रीझे स्याम अंग-अंग निरखत, हँसि नागरि उर लीन्हो ।।[4]

राधा और कृष्ण के मान मनुहार का कोई आध्यात्मिक अर्थ नहीं किया जा सकता, इसकी अनुभूति शुद्ध लौकिक है।

मीरा के प्रेम-वैभव-परिपूर्ण संसार में महान् और लघु कोई नहीं है। मीरा भी

---

१. सूरसागर सार, पद ९८, सम्पादक : धीरेन्द्र वर्मा
२. वही
३. वही, पद १२१-१२२
४. वही, पद १२३

यद्यपि स्वयं को स्वकीया मानती है किन्तु वह, प्रेमगर्विता स्वकीया हैं जो प्रिय की किसी अन्य स्त्री में अनुरक्ति देखकर उसे दो-चार खोटी-खरी भी सुना सकती है। कुब्जा के प्रति कृष्ण ने जो प्रीति दर्शाई है, उससे मीरा उतनी ही क्षुब्ध हैं, जितनी कोई भी स्त्री पति को अन्य स्त्री में अनुरक्त देखकर हो सकती है :

कुछ दोष नहीं कुबज्या ने, बिरी अपना स्याम खोटा
आप न आवे, पतिया न भेजे, कागज का कांई टोटा
नौ लख धेनु नन्द घर दूधे, माखन का नांई टोटा
आपहीं जाय द्वारिका छाये, ले समुदर की ओटा
कुब्ज्या दासी कंसराय की, वे नन्द जी का ढोटा
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, कुब्ज्या बड़ी हरि छोटा।

× × ×

सषी आपणा स्याम खोटा, दोष नहीं कुबज्या में।[1]

× × ×

कुबजा दासी कसराय की सरब सुख लोरे रे।[2]

कहीं-कहीं कृष्ण की अपने प्रति निरन्तर अवहेलना का अनुभव करती हुई मीरा अपूर्व टीस से पीड़ित हो जाती है—

माई म्हारी हरिहू न बूझी बात।
पिंड मां सू प्राण पापी निकसी क्यों न जात॥[3]

हरि ने उनको प्रेम का प्रत्युत्तर नहीं दिया। उनके प्रेम की उपेक्षा की, मौन व्यथा का भार लिये हुए ही सन्ध्या की धूमिलता प्रभात के आलोक में परिणित हो गई—

पाट न खोल्या मुखां बोल्या साँझ भई परभात–
अबोलगा जुग बीतन लागो तो काहे की कुशलात।[4]

यद्यपि कहीं-कही पति के अन्य स्त्री-अनुरक्त होने पर उसको बुरा-भला कहने की प्रेरणा देने वाली क्षुब्धता का चित्रण है, किन्तु अधिकांश प्रिय से तिरस्कृत और अवहेलित स्वकीया की मार्मिक मौन व्यथा ही मीरा में भी मिलती है जो अपनी विवशता में कभी-कभी असह्य हो जाने पर मुखर हो उठती है; अपनी स्थिति पर हहा खाती हुई, दुहाई देती हुई—

पिंड मां सूं प्राण पापी निकसी क्यों न जात॥

---

१. पद्मावती शबनम—मीरा-बृहद्-पद-संग्रह, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३५
२. वही, पृष्ठ ३६
३. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, पृष्ठ १३८,
४. वही, पृष्ठ १३९

प्रवास

तुलसी में 'प्रवास' का वर्णन सीताहरण प्रसंग और अशोक-वाटिका में सीता की विरह दशा में मिलता है। 'मानस' में प्राप्त प्रवास-विप्रलम्भ का यह वर्णन शुद्ध लौकिक है, तुलसी की राम सीता के प्रति पूज्य बुद्धि इसमें नहीं मिलती। इसका स्पष्ट कारण भी तुलसी दे देते है। सीताहरण से पहले ही राम-सीता से कहते है :

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मै कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जो लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सबु कहा बखानी। प्रभु पद धरि हिय अनल समानी॥
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता। तैसिय सील रूप सुविनीता॥[१]

अर्थात् राम के यह कहने पर कि मैं जब तक राक्षसों का नाश करूँ, तुम अग्नि में प्रवेश कर जाओ, वास्तविक सीता अग्नि में प्रविष्ट हुई और एक माया-सीता उदित हुई। इसी माया-सीता का हरण रावण ने किया और इसी के लिए राम वन-वन में उन्मादी होकर घूमे। राम नर-लीला कर रहे थे और उनका विरह जगत्-जननी सीता के लिए न होकर माया-सीता के लिए था। राम के विरह की उन्माद अवस्था में इसीलिए ऐसी उक्तियाँ आई है—

श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥[२]

तुलसी को बराबर यह ध्यान है कि वह मर्यादा का उल्लंघन करके शृंगार वर्णन कर रहे हैं। इसी से वह बार-बार पाठकों को स्मरण दिलाते रहे हैं—

पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अविनासी॥[३]

राक्षसों का नाश करने के लिए राम ने यह लीला रची थी। 'प्रवास' कार्य हेतुक है। जटायू से सीता का पता मिल जाने पर राम उनको अपनी प्रतिज्ञा सुना देते है—

सीता हरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम त कुल सहित कहिहि दसासन आइ॥[४]

राम वन-वन में सीता को खोजते घूमते रहते है, विप्रलम्भ की उन्माद-संयुक्त प्रलाप दशा का वर्णन है। यह वर्णन परम्परागत ही है, प्रकृति का रूप उद्दीपक है। कहीं-कहीं राम अपनी विवश स्थिति की व्यंजना मार्मिक ढंग से करते हैं—

हमहि देखि मृगनिकर पराहीं। मृगीं कहहीं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग यह खोजन आए॥[५]

'कंचन मृग यह खोजन आए' में छिपा व्यंग्य कितना कठिन है, इसकी अनुभूति

१. रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, पृ० ६२६, गीता प्रेस, गोरखपुर, अष्टम संस्करण
२. वही, पृष्ठ ६३४
३. वही, पृष्ठ ६३५
४. वही, पृष्ठ ६३६
५. वही, पृष्ठ ६४२

सहृदय ही कर सकते हैं। इतनी लघु शब्दावली में यह व्यंग्य तुलसी की ही कला है।

राम का यह विरह, सीता के प्रति अनन्य प्रेम, केवल भावना मात्र नहीं रहता वह प्रयत्न रूप मे परिणत होकर राक्षसकुल का नाश करता है।

प्रवास-विप्रलम्भ का दूसरा वर्णन अशोक-वाटिका प्रसंग में है।

राक्षसों का स्वामी रावण सीता को वश में करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद सब नीतियाँ प्रयुक्त कर चुका था। हरेक प्रकार से असफल हो खीझकर वह अपना अन्तिम निर्णय सीता को सुना गया था—

मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढि कृपाना॥[1]

सीता अत्यन्त दुखी थी। इसी विकल परिस्थिति में तुलसी उनसे हमारा साक्षात्कार कराते है। रात्रि का समय था, आकाश में चन्द्र अपनी तारा-मण्डली के साथ विद्यमान था। विरहिणी सीता को वातावरण का वह सुन्दर रूप, चन्द्र की ज्योत्स्ना अग्नि-सी लगी। शीतल पदार्थों का दाहक लगना तो विरह की उद्दीप्ति में स्वाभाविक और परम्परागत है किन्तु सीता की विवश दशा की मार्मिक अभिव्यजना उनकी इस उक्ति से और भी बढ जाती है—

पावक मय ससी स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥[2]

"अग्निमय चन्द्रमा आग बरसाकर भी मुझे जला क्यों नही रहा?" वह अशोक से विनती करने लगीं—

नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन करहि निदाना॥[3]

सीता की यह दशा 'उन्माद' है, जहाँ जड़ वस्तुओं को भी विरही चेतन समझने लगता है।

इसके पश्चात् तुलसी ने प्रिय के अभिज्ञान-चिह्न, गुण-श्रवण और संदेश आदि की योजना कराई है। ये सब विरह में विरही को अत्यन्त सान्त्वना पहुँचाते है। हनुमान ने अशोक वृक्ष से मुद्रिका को जब नीचे फेंका तो सीता ने समझा कि उनकी विनती सुनकर अशोक ने उन्हें अंगारा प्रदान किया है। जब हाथ में आने पर राम की मुद्रिका को पहचाना तो एक साथ ही हर्ष और विषाद से अभिभूत हो उठी। इतने दिन पश्चात् प्रिय से सम्बन्धित वस्तु प्राप्त हुई थी अतः प्रसन्न होना स्वाभाविक था किन्तु दूसरे ही क्षण आशंका ने आ घेरा 'यह मुद्रिका राक्षसों की नगरी में कैसे आई? माया की तो है नहीं और राम के जीते जी उनके हाथ से इसको उतार कौन सकता है—

चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष विषाद हृदय अकुलानी॥
जीति को सकइ अजय रघुराई। माया ते असि रचि न जाई॥[4]

---

१ रामचरितमानस, पृष्ठ ६९५ गीता प्रेस गोरखपुर, अष्टम संस्करण
२. वही, पृष्ठ ६९६
३. वही, पृष्ठ ६९७
४. वही, पृष्ठ ६९७

सीता के हृदय की यह प्रतिक्रिया अत्यन्त मनोविज्ञान संयत है। प्रिय व्यक्ति के विषय में दुशंकाएँ ही प्रायः पहले आती हैं। हनुमान ने जब राम का गुणकथन किया तब सीता को कुछ आश्वासन हुआ। इसके पश्चात् हनुमान का प्रगट होना और राम का संदेश देना वर्णित है। संदेश भी अत्यन्त लघु और मार्मिक है—

तत्त्व प्रेमकर ममअरु तोरा, जानत प्रिया एक मनु मोरा।।
सो मन रहत सदा तोहि पाही। जानु प्रीति रस एतनुहि माही।।[1]

इसी आश्वासन पर सीता लंका-विजय तक राक्षसों से घिरी हुई भी जीवित रही थी। प्रिय के प्रेम और मिलन की आशा का आश्वासन ही विरही को जीने की तथा कष्ट सहने की शक्ति देता है। यही विरह भावना का मूल तत्त्व भी है।

भक्ति का अन्तिम संस्थान विरह कहा जाता है। प्रिय के प्रेम में निमग्न विरहिणी आत्मा जीवन पर्यन्त उसके लिए तड़पती है और यही उसके प्रेम की पराकाष्ठा भी मानी जाती है। तदपि कृष्ण की जीवन कथा के प्रसंग में शाश्वत काल तक गोपियों को तड़पाना समझ में नहीं आता क्योंकि वहाँ कृष्ण निर्गुण एव अप्राप्त नहीं थे। **भ्रमर गीत** (सूर) की महत्ता और उद्धव पर गोपियों के प्रेम की विजय यद्यपि भक्त के दृष्टिकोण से ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय सिद्ध हो सकती है किन्तु राधा और गोपियों की दृष्टि से उसका मूल्य क्या है? कुरुक्षेत्र प्रसग में राधा से पुनः भेंट होने पर सोलह हजार रानियों के स्वामी कृष्ण ने उन्हें भी क्यों नहीं स्वीकार किया, ब्रज वापस जाने को क्यों कहा? यह समझ मे नहीं आता। इसका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी स्पष्ट नही होता। साधारण लौकिक अर्थ में यह अवश्य कहा जा सकता है कि मामूली गोप के घर में उत्पन्न राधा को पटरानी बनाने में द्वारिका के राजा को हिचक रही होगी। खैर, राधा वंचक कृष्ण के प्रति निवेदन भी नहीं करतीं। जब गोपियाँ रोती हैं तो राधा मौन रहती है। वह अपने किए पर मन-ही-मन पछताती है, मुख से कुछ नहीं बोलती; स्वनिर्दिष्ट पथ पर चलकर मनमानी करने तथा अपना लोक-उपहास कराने वाली वह तरुणी कर भी क्या सकती थी।

गोपियों का विरह अवश्य मार्मिक है। उन सीधे-साधे ग्रामवासियो के जीवन में प्रसन्नता की लहर जिस व्यक्ति ने ला दी थी उसके अकस्मात् चले जाने पर वे व्यथित हो उठते हैं; कुछ भी उन्हे अच्छा नहीं लगता, ब्रज की हरी-भरी भूमि भी—

मधुवन तुम कत रहत हरे
चिर वियोग में स्याम सुन्दर के ठाड़े
क्यों न जरे।[2]

ब्रजवासी ही नहीं पशु-पक्षी भी कृष्ण के वियोग में व्याकुल हैं—

---

१. रामचरित मानस, पृष्ठ ६९९ गीता प्रेस, गोरखपुर, अष्टम संस्करण
२. सूरसागर, (मथुरा गमन), पद ६८, सम्पादक : धीरेन्द्र वर्मा

मधुकर इतनी कहियतु जाई
तुम बिन व्याकुल अतिहि भई हैं परम दुखारी गाई
जहाँ-जहाँ गो-दोहन कीन्हों सूँघती सोई-सोई ठाऊँ ॥[1]

उनके संदेशों का उत्तर भी कृष्ण ने नहीं दिया—

संदेसनि मधुवन कूप भरे ।[2]

राधा की व्यथा सूर के इन शब्दों से व्यक्त होती है—

अधमुख रहति अनत नहिं चितवति,
ज्यों गथ हारे थकित जुवारी ।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने
ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भइ
इक विरहिनि, दूजे अलि जारी ॥[3]

उद्धव से तर्क-वितर्क राधा नहीं करती । वह जीवन की बाजी हार गई थी, फिर तर्क करके भी उन्हें क्या मिलता ?

करुण विप्रलम्भ

राम-कथा में करुण विरह का वर्णन सीता-वनवास के प्रसंग में हो सकता था, तब इस जीवन में राम और सीता का मिलन दुर्लभ-सा हो गया था । तुलसी ने परम्परित राम-कथा के इस प्रसंग को स्वीकार ही नहीं किया क्योंकि इससे राम के उदात्त चरित्र में कलक लगता था, 'मानस' का अत राम के राज्य-तिलक से हो जाता है, अतः राम और सीता से सम्बन्धित कथा में करुण-विरह का अभाव है ।

तदपि जन्मान्तर तक मिलन की आशा से उद्विग्न सती की जीवनकथा मानस में है । हिमालय की पुत्री पार्वती जब विवाह के योग्य हुई तो नारद मुनि ने उसकी हस्त-रेखा देखकर बताया—

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेख
अस स्वामी इहि कह मिलिहि परी हस्त असि रेख ॥[4]

"इसकी हस्तरेखा बता रही है कि इसे जटाजूटधारी, विरक्त-मन और नग्न शरीर वाला पति मिलेगा ।" माता-पिता, नारद के वचन सुनकर दुखी और भयभीत हो गए किन्तु गिरिजा प्रसन्न थीं—

---

१. सूरसागर सार, पद ६८
२. सूरसागर सार, पद ९३,
३. उद्धव संदेश, पद १५८
४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ ९४, गीता प्रेस, गोरखपुर

सुनि सुनि गिरा सत्य जिय जानी,
दुखु दंपतिहि उमा हरषानी ।।[१]

इसके पश्चात् माता-पिता की आज्ञा से कठिन तपस्या करके पार्वती ने शंकर को पाया।

सूर ने जीवनपर्यन्त कृष्ण के विरह में तड़पती राधा का मौन सकेत तो किया है किन्तु वर्णन नहीं किया। सूर केवल इतना कहकर चुप हो जाते है कि कुरुक्षेत्र की भेट के पश्चात् राधा कृष्णमय हो गई और ब्रज को लौट गई—

राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति होइ जो गई ।।[२]

राधा के कृष्णमय हो जाने से क्या सूर का तात्पर्य यह है कि राधा अपनी सुधि-बुधि भूलकर उन्मादी हो गई थी? जीवनपर्यन्त अन्य जन्म मे भी कृष्ण से भेट की आकांक्षा लेकर राधा कैसे तड़पी थी इसका वर्णन सूर ने नही किया।

मीरा की अनुभूति अपार्थिव गिरिधर नागर के प्रति थी। वह उनके वियोग में साधारण लौकिक नायिका की भाँति ही विरह के अनेक संस्थानो से गुजरी थी। उनके वियोग को 'प्रवास' नहीं कहा जा सकता क्योकि उनका प्रिय इस लोक का नही है। वह इस लोक में अथवा अन्य मे भी सशरीर प्रिय से मिलना चाहती है। अतः उसको करुण-विप्रलम्भ के समीप रखना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है—

अब छोड़त नही बने प्रभुजी हँसि कर तुरत बुलावो हो।
मीरा दासी जनम-जनम की अग से अंग लगावो हो।।

विरह में उनकी यह दशा हो गई है—

अँगुलियाँ ही मूंदड़ी म्हारे आवन लागी बाँहि।

वह काग द्वारा स्वयं को नुचवाकर प्रिय को उसकी निष्ठुरता का स्मरण कराना चाहती है—

काढि कलेजो मै धरूँ कागा तू ले जाइ।
ज्याँ देसा म्हारा पिव बसै वे देखे तू खाइ ।।[३]

प्रकृति की अनेक रूप मादकता में प्रिय-विरहित व्यक्ति के हृदय का आन्दोलन, उद्वेलन भी मीरा ने प्रस्तुत किया है—"काले मतवाले बादल आ गए किन्तु प्रिय ने सदेश

---

१. रामचरित्रमानस, पृष्ठ ९४, गीता प्रेस, गोरखपुर
२. सूरसागर सार
३. श्रीमती सावित्री सिन्हा—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ० १४२

नहीं भेजा।" सूनी रातों में एकाकिनी भावनाएँ तड़प रही है।[१]

दादुर मोर पपइया बोले कोयल सबद सुनाए रे।
कारी अँधियारी बिजरी चमके विरहिणी अति डरपाये रे॥[२]

उस अँधियारी में उनकी नीरव अधीरता आँसू बनकर छलक उठी—

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी॥[३]

पपीहे ने अभाव की करुणा को जगाकर सजीव कर दिया, 'ऐसा लगा जैसे किसी ने जले पर नमक छिडक दिया हो—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितारयो।
मै सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो।
दाध्या ऊपर लूण लगायो हिड़वो करवत सारयो॥[४]

पपीहे के प्रति एक स्थान पर ईर्ष्या-भाव अनुपम है—

पिव मेरा मैं पीव कोरे, तू पिव कहे से कूण॥[५]

जीवन के राग-रगमय-पर्व विरही को अच्छे नहीं लगते, होली का हास-विलास मीरा के मन को नही भाता—

होली पिया बिन मोहि न भावे, घर-आँगन न सुहाए।
सूनी सेज जहर ज्यूं लाए सुसुक-सुसुक जिय जावे॥[६]

प्रकृति के सब काम क्रम से होते जाते है। प्रत्येक मास, प्रत्येक ऋतु एक नया परिवर्तन, नया उल्लास लाती है किन्तु वियोगी के मर्माहत प्राण प्रिय की प्रतीक्षा में आकुल, तड़पते ही रहते है। बारहमासे के एक पद में मीरा कहती है—

काग उड़ावत दिन गया बूँझू पडित जोसी हो।
मीरा विरहिणी व्याकुलौ दरसण कब होसी हो॥[७]

आलम्बन अपार्थिव है, अतः शारीरिक अभाव भीस्थूल न रहकर भी अनुभूतिजन्य हो गया है। वह केवल भावना की विह्वलता मात्र बन गया है, वह विह्वलता जो उस अनुभूति से अपरिचित व्यक्तियों के लिए कुतूहलमय प्रश्न है और विरही का जीवन—

तुम देख्या बिन कल न परत है जानति मेरी छाती।
ऊँची चढ-चढ पंथ निहारू रोय-रोय अंखियाँ राती॥

अथवा—

---

१. श्रीमती सावित्री सिन्हा—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृष्ठ १४२
२. वही, पृष्ठ १४१
३. वही, पृष्ठ १४१
४. वही, पृष्ठ १४२
५. वही, पृष्ठ १४२
६. वही, पृष्ठ १४१
७. वही, पृष्ठ १४२

आकुल-व्याकुल फिरूँ रैन दिन विरह कलेजो खाय।
दिवस न भूख नींद नहीं रैना मुख सों कथत न आवो वैणा।
कहा कहूँ कुछ कहत न आवे मिल कर तपत बुझाय॥[1]

भक्तिकाव्य के उपर्युक्त विरह सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस युग की शृंगार-भावना और विरह मूलतः अन्य युगों से भिन्न नहीं है। आलम्बन अपार्थिव है यह बौद्धिक विश्वास यद्यपि अधिकांश वर्तमान रहता है किन्तु फिर भी डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"जहाँ बौद्धिकता का तिरस्कार है, गोपियों व मीरा में (राम के विरह में भी) वहाँ आलम्बन स्थूल इन्द्रियगम्य बन जाने से पार्थिव प्रेम से मूलतः भिन्न नहीं है। आलम्बन अप्राप्य होने से केवल उसका शारीरिक पक्ष कुण्ठित रहता है मानसिक पक्ष तीव्र रहता है।"[2]

"भक्तिकाल का अपार्थिव प्रेम भारतीय दर्शन की दृष्टि में आत्मा का परमात्मा की ओर सहज उन्मुखी भाव है, मनस्तत्व की दृष्टि से रति का उन्नयन।"[3] डा० नगेन्द्र के इन शब्दों के साथ यह भी कहें कि यदि यह बौद्धिक विश्वास संस्कार हमारे मन में न हो कि राम और कृष्ण भगवान् है तो प्रबन्ध के प्रवाह मे तुलसी और सूर में भी वह रति का उन्नयन न रहकर विरह-भावना की सहज अनुभूति और अभिव्यक्ति बन जाती है जैसा कि उसके उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है।

रीतिकालीन विरह-काव्य और उसकी पूर्व परम्परा

मुगल शासनकाल के उत्तरार्द्ध में भारतीय जीवन निश्चिन्त हो गया था। विलासिता का साम्राज्य था। स्थानीय राजा मुगल सम्राटों के केन्द्रीय निरीक्षण तथा छत्रच्छाया में निःशंक होकर अपनी-अपनी रियासतों और जागीरों पर शासन कर रहे थे। क्षत्रियत्व के गौरव की रक्षा का अवकाश न था क्योंकि सभी ने मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली थी। बाह्य जीवन में आत्मप्रतिष्ठा के मार्ग को कुण्ठित पाकर, कवियों की संगति करके ये लोग 'हम भी संस्कृत रुचि रखते हैं' इस बहलावे में जीवन-यापन कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में कविता का दरबारी हो जाना स्वाभाविक ही था। दरबार के वातावरण में वाहवाही पाने के लिए कविता में दो विशेषताएँ आवश्यक थीं—एक तो स्फुट छन्दों में एक पूर्ण चित्र अथवा परिस्थिति की योजना, क्योंकि अधिक समय तक ग्रन्थों का प्रणयन करने का अवकाश इन राजा रईसों के पास न था। दूसरे अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन जो हृदय को गुदगुदा दे और सुनने वाला चमत्कृत होकर कह उठे 'वाह-वाह, क्या बात है।' अतः यह दोनों प्रवृत्तियाँ रीतिकाल में खूब फूलीं फलीं। हिन्दी काव्य में इन प्रवृत्तियों का बीजारोपण केवल रीतिकाल में हुआ हो, यह बात नहीं है। इनकी

१. श्रीमती सावित्री सिन्हा—मध्यकलीन हिन्दी कवित्रियाँ, पृष्ठ १४३
२. डा० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका
३. वही

परम्परा हिन्दी के प्रारम्भिक काल से और उससे पहले संस्कृत काव्य में भी दिखाई पड़ती है। इस काल की परिस्थितियों ने केवल उनको प्रोत्साहन दिया था, व्यजन करके उन्हें उद्दीप्त कर दिया था।

रीतिकाल में बिहारी एक दोहे में पूर्ण रस की व्यंजना करने में समर्थ होने के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध उक्ति है—'सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर', किन्तु नावक के तीरों से भी सूक्ष्म बन्ध में रसयोजना करने वाले तुलसीदासजी को क्या अणुबम का प्रयोक्ता कहें? दोहे से सूक्ष्मतर बन्ध 'बरवै' में तुलसीदास एक परिस्थिति प्रस्तुत करते हैं—

डहकु न है उजियरिया निसि नहिं घाम।
जरत सबै जग लागत मोहि बिनु राम॥[1]

'अशोक वाटिका' में सीता को चौंकते देखकर त्रिजटा कहती है, "चौंक क्यों रही हो, यह तो रात्रि की ज्योत्स्ना है धूप नहीं।" तो सीता उत्तर देती है कि राम के बिना सम्पूर्ण विश्व मुझे जलता हुआ दिखाई पड़ रहा है। यहाँ विप्रलम्भ रस अपने सम्पूर्ण अंगों के सहित अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्फुटित हुआ है। विरह की स्मृति-अवस्था है, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना उद्दीपन तथा राम आलम्बन हैं। आश्रय सीता का चौकना, उद्विग्न होना अनुभाव केवल उन तक ही सीमित नहीं है, त्रिजटा पर भी प्रकट हो गया है। हृदय में सम्पूर्ण विश्व जलता हुआ-सा दिखाई पड़ना सात्विक भाव है। किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि तुलसी में ऐसे स्थल इने-गिने हैं और बिहारी के काव्य में भरे पड़े हैं। तुलसी में प्रतिभा का अभाव था, यह नहीं कहा जा सकता। बिहारी के समय तक परिस्थिति अनुकूल हो गई थी जो उन्हें उस प्रकार की रचना करने का प्रोत्साहन दे रही थी।

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी रीतिकालीन कवियों की ही निजी निधि नहीं है। जायसी ने स्थान-स्थान पर नागमती के विरह की कृशता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है—

रकत के आँसु परे भुइँ टूटी, रेगि चली जस बीर बहूटी॥[2]

तथा

रक्त ढरा आँसू गरा, हाड़ भए सब संख॥[3]

किन्तु रीतिकाल में कृशता की यह दशा हो गई कि मृत्यु को भी चश्मा लगाना पड़ा और तब भी नायिका उसे दिखाई नहीं दी—

करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीने हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु॥[4]

---

१. बरवै रामायण
२. जायसी का पद्मावत, नागमती वियोग खण्ड, पद ३४५
३. वही, पद ३५०
४. बिहारी रत्नाकर, दोहा १४०

नन्ददास की रुक्मिणी की माला के मोती विरह के ताप से तपकर लाल हो जाते हैं—

उपजि विरह दुख दवा अँवा तन तापत ये हैं।
कोउ कोउ हार के मोतिया तचि तचि लाल भये है ॥[1]

फूलों की माला को नायिका अपने हाथ से नहीं छूती कि कही ताप से मुरझा न जाएं—

अपने कर जो विरह जरै जानत अति तातै।
मति मुरझाय सो माल बाल डरपति है यातै ॥[2]

रीतिकाल में ताप की सीमा और प्रभाव इतना बढ़ा कि माघ के महीने में लू के चलने की बात सुनकर प्रवासी प्रिय को यह अनुमान लगाना पड़ा कि अभी उसकी प्रियतमा बेचारी जी रही होगी। इसी से वायु गरम होकर लू बन गई है, सखियों को गीले वस्त्र करके निकट जाना पड़ा, आँख का आँसू छाती पर गिरते ही हृदय की आग से छनछना-कर सूख गया—

सुनत पथिक-मुँह, माह निसि, चलति लुवै उहिं गाम।
बिनु बूझै बिनु ही कहै जियति बिचारी बाम ॥[3]
आड़े दै आले वसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति ॥[4]
पलनु प्रगटि बरूनीनु बढि, नहि कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु, छनाछनाइ, छिप जात ॥[5]

रीतिकाल में अतिशयोक्ति की प्रचुरता के होते हुए भी विरह की मार्मिक अभिव्यंजना का अभाव नही है। लोक मे प्रचलित पूर्वानुभूतियों को भी रीतिकालीन कवियों ने अपने ढग से रखने का प्रयत्न किया है। एक प्रवत्स्यपतिका नायिका अपने पति से कहती है—

जो हो कहूँ रहिये तो प्रभुता प्रकट होत,
चलन कहौ तो हित हानि नाहिं सहनौ।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्राननाथू
साथ लै चलहु कैसे लोकलाज बहनो ॥
केशोराय की सौ तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाही आजु रहनो।

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, रुक्मिणी मंगल, प्रथम संस्करण, पद १७, सम्पादक : ब्रजरत्नदास
२. वही, पद १०
३. बिहारी रत्नाकर, दोहा २८५
४. वही, दोहा २८३
५. वही, दोहा ६५९

तैसिय सिखावो सीख तुमहीं सुजान पिय,
तुमही चलत मोहि जैसो कछु कहनो ।।[1]

केशव का उपर्युक्त पद सस्कृत के सुभाषितों के इस श्लोक से कितना मिलता-जुलता है—

मा याहीत्यपमगलं ब्रज किल स्नेहेन शून्यं वच-
स्तिष्ठेते प्रभुता यथारूचि कुरुष्वैषाप्युदासीनता ।।
नो जीवामि विना त्वयेति वचन संभाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचित वक्तुं त्वयि प्रस्थिते ।।[2]

संस्कृत से भाव ग्रहण करते हुए भी केशव ने उसको ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया। विदेश जाते हुए पति से नायिका अमंगलसूचक कोई बात नही कहना चाहेगी, यह मनोवैज्ञानिक बात है। अतः सस्कृत श्लोक की प्रथम पंक्ति को केशव ने बिलकुल ही छोड़ दिया है। संस्कृत श्लोक की तीसरी पंक्ति के इस व्यर्थ के तर्क को भी केशव ने छोड़ दिया है कि तुम चले जाओगे तो न जाने जीऊँगी कि नहीं, उसके स्थान पर वे कहते हैं कि मै साथ चलने को कहूँ तो लोकलाज का भार उठाना पडेगा। मध्यकाल के सामन्तीयुग में स्त्री का पति के साथ विदेश जाने का हठ उच्छृंखलता ही समझी जाती। अतः केशव की नायिका युग के अनुकूल बात ही कहती है कि लोक-लज्जा का सामना वह कैसे करे!

पावस के मेघ ने कालिदास के विरही यक्ष की चेतना को अभिभूत कर दिया था। ये मेघ हिमालय के अंक में बसी अलकानगरी को भी जाएँगे यह सोचकर उनके हाथ उसने अपनी प्रियतमा के पास संदेशा कहलवाया था। किन्तु उसकी प्रिया बिसासी नहीं थी, वह तो प्रिय की स्मृति में सूखकर अत्यन्त दुर्बल हो गई थी, पहचानी भी नहीं जाती थी। इधर विरही घनानन्द है, उनकी प्रिया बिसासी है अतः करुणा और भी आर्द्र हो गई है। बादल से वह प्रार्थना करते है कि सुजान के आँगन मे घनानन्द के आँसुओं को वह बिखेर दे। कालिदास के लिए मेघ संदेश ले जाएँ इतना पर्याप्त था किन्तु यहाँ प्रियतमा के हृदय को आर्द्र बनाने के लिए अपने आँसुओं को उसके सन्मुख बिखेर देना अनिवार्य हो गया—

पर काजहि देह को धारि फिरौ
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ
निधि नीर सुधा की समान करौ
सबही विधि सज्जनता सरसौ
घनआनन्द जीवन दायक हौ
कछु मेरी य पीर हिए परसौ

---

१. डा० नगेन्द्र—रीतिशृंगार (केशव) पृष्ठ ११
२. सुभाषितावलि शृंगार पद्धति, श्लोक १०४९

कबहूँ वा बिसासी सुजान के
आँगन मो अँसुवानिहि ले बरसौ।[1]

घनानन्द की इस उक्ति में कहीं भी ऊहा नही है, विरह-वेदना की मार्मिक व्यंजना है। विरही किसी भी मूल्य पर प्रिय से प्रेम का प्रतिदान पाने की कामना करता है, ऐसी स्थिति में आँसुओं का उसके सन्मुख उमड़ आना स्वाभाविक है। व्यथा के प्रकट करने का और कोई उपाय न पाकर बादल से अपने आँसू ले जाने की यदि वह प्रार्थना करे तो इसमें आश्चर्य क्या है। उसके मार्ग में बाधा है, बादल के मार्ग में नहीं। घनानन्द के इस विश्वास को हृदय का क्रन्दन ही कहा जाएगा, कला और वाक्चातुर्य का प्रदर्शन नहीं।

वायु से भी ऐसी कुछ प्रार्थना उन्होंने की है। विवशता की चरम-स्थिति में प्रिय की पगधूलि के लिए भी प्रेमी तरस जाता है—

विरह विथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन पायनि की हा हा नैकु आनि दै॥[2]

विप्रलम्भ के विभिन्न प्रकारों की परिस्थितियों की सुन्दर अभिव्यंजना भी रीतिकाल में मिल जाती है। केवल करुण-विप्रलम्भ नही मिलता। सम्भवतः इसलिए कि मुक्तकों के लघु आकार में जन्मान्तर में भी स्थित रहने वाले महान् प्रेम की अभिव्यक्ति समर्थ नहीं हो सकती थी। करुण-विप्रलम्भ के लिए परिस्थिति की वृहद् पृष्ठभूमि का परिचय अत्यन्त अनिवार्य था जो मुक्तकों में सम्भव नहीं था। पूर्वराग, मान और प्रवास की परिस्थितियों का रीतिकाल में अभाव नहीं है।

पड़ौस में प्रिय रहते है, मन सब प्रकार से उनका हो चुका है किन्तु लोक-लाज की बड़वाग्नि नायिका को प्रेम के समुद्र में डूबने नहीं देती—

जो चितऊँ तो रहे चित में
चुभि याही ते भूलि न दीठ उठाऊँ।
गुपाल परोस बसे बस माई हो,
को लगि अँचर आँखि दुराऊँ॥
गंग कहे हरि को मुख चद
विलोकत ही भरि आनन्द पाऊँ।
देखि सखी बढ़वानल लाज तें
प्रेम समुद्र न बाढन पाऊँ॥[3]

नेत्रों की लज्जा को तिलांजलि देकर जब नायिका पूर्ण रूप से प्रिय को हृदय में बसा लेती है, तब अपने प्रेम की पीर को उसके सन्मुख उपस्थित करने को विह्वल हो उठती है—

---

१. डा० नगेन्द्र—रीतिशृंगार (घनानन्द) पृष्ठ १२८
२. वही, (घनानन्द) पृष्ठ १२८
३. वही, (गंग) पृष्ठ ७

सौहे दिवाय दिवाय सखी इक
बारक कानन आनि बसाये।
जाने को केशव कानन ते कित ह्वै
हरि नैननि माँझ सिधाये॥
लाज के काज धरेई रहे,
तब, नैनन लै मन ही सो मिलाये।
कैसे करौ अब क्यों निकसे री
हरेई हरे हिय में हरि आये॥[1]

पूर्वराग में गुणश्रवण से उत्पन्न हुए प्रेम की प्रक्रिया का यहाँ सूक्ष्म अध्ययन हुआ है। प्रिय एकाएक हृदय पर प्रभाव नही जमाता। धीरे-धीरे अपना आधिपत्य स्थापित करता है 'हरेई हरे हिय में हरि आये।' रीतिकाल की इन विरहानुभूतियों को ऊहा नहीं कहा जा सकता, मनोभाव का सूक्ष्म दिग्दर्शन ही मानना पड़ेगा।

मान और मनुहार के अनेक सुन्दर चित्र रीतिकाल में उपलब्ध हैं। मान को संस्कृत काव्य-शास्त्रियो ने दो प्रकार का बताया है[2]—प्रणयमान और ईर्ष्यामान, दोनों ही प्रकार की परिस्थितियाँ रीतिकालीन काव्य में मिलती है। प्रणयमान तब होता है जब एक पक्ष के मनुहार करने पर की दूसरा पक्ष नही मानता और फिर मनुहार करने वाला पक्ष ही 'मान' कर बैठता है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इसे प्रेम को अत्यधिक कषायित करने में समर्थ बताया है। कृपाराम ने दो पंक्तियों में 'मान' की इस अनुपम परिस्थिति का बड़ा सुन्दर चित्र खीचा है—

गए रूसि जदुपति सखी, निरखि उदधि सो मान।
बढवानल ते विषम उर, उपजो विरह कृशान॥[3]

राधा के समुद्र के समान मान को देखकर कृष्ण रूठ गए तब उसके हृदय में बढ़वानल से भी कठिन विरह-वेदना उत्पन्न हो गई। प्रणया-मान की यह स्थिति अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। 'मान' का रोष झूठा होता है और यदि कोई उसे सच्चा मानकर दुखी हो जाए तो प्रेम की अभिव्यक्ति मे बाधा उत्पन्न हो जाती है, मानी पक्ष मन ही मन पश्चाताप करने लगता है कि मैंने मान क्यों किया।

कहीं-कही प्रणयमान संयोग का संचारी बनकर भी आया है। इस परिस्थिति में मान की विरह वेदना नहीं मिलती प्रत्युत वह मिलन की स्थिति को उद्दीप्त करता है—

छबिसों छबीली वृषभानु की कुँवरी आज
रही हुती रूपमद मान मद छकि कै।

१. डॉ० नगेन्द्र—रीतिशृंगार, (केशव), पृष्ठ १६
२. वही, प्रथम अध्याय देखिए।
३. वही, (कृपाराम), पृष्ठ ३

मारहू तै सकुमार नंद के कुमार ताहि
आये री मनावन सयान सब तकिकै ।।
हँसि हँसि सौंह करि करि पाय परि परि,
केशोराय की सों जब रहे जिय जाकि कै ।
ताहीसमै उठे घन घोर-घोर, दामिनी सी
लागी लौटि श्यामघन उर सों लपकि कै ।।[1]

प्रकृति का उद्दीपक रूप भी इस मिलन में सहायक होता है ।

ईर्ष्यामान का भी अत्यन्त सुन्दर उदाहरण कृपाराम के काव्य में मिलता है—

इन्द्र धनुष सी पति अधरन की शोभा ।
निरखि वधूमन उपजो पूरन क्षोभा ।।[2]

पति की अधरकान्ति की शोभा इन्द्रधनुष के समान देखकर वधू के मन में क्षोभ उत्पन्न होने से यह ध्वनि निकलती है कि नायिका अन्य संभोग दुखिता है । पति के होंठ अन्यनायिका के काजल तथा अन्य प्रसाधन आदि के चुम्बन के कारण अनेक वर्ण के हो गए हैं, इसी से नायिका समझ लेती है कि प्रिय अन्य स्त्री के समीप होकर आया है और दुखी हो जाती है । रीतिकाल की इन उक्तियों मे ऊहा कहीं भी दृष्टिगोचर नही होती, सामन्ती युग की विवश-नारी के हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है, जो विद्रोह नहीं कर सकती केवल आह भर सकती है । ईर्ष्या का कारण मनोवैज्ञानिकों ने शक्ति का अभाव और विवशता का अवलम्बन माना है; जहाँ आहत व्यक्ति अपने को हीन अनुभव करते हुए पीड़ा पहुँचाने वाले को दण्ड नहीं दे सकता, वही ईर्ष्या होती है । इसी कारण ईर्ष्यामान से पीड़ित नायिका का क्रोध पति पर इतना नही होता जितना प्रतिपक्षी स्त्री पर होता है । पति के सम्मुख 'मान' का अभिप्राय: केवल अपने अहं को प्रतिष्ठित करने के लिए होता है और जहाँ उसकी भी आशा नहीं रहती वहाँ 'मान' की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह केवल मन का क्षोभ बनकर रह जाता है—

'निरखि बधू मन उपजो पूरन क्षोभा' ।[3]

एक स्थान पर प्रिय के चित्रदर्शन से सन्तुष्ट होकर दिन बिताती हुई नायिका को सखि समझाती है—

आँखिन सो बाँधै अन्न काहू की न भागी भूख,
पानी की कहानी रानी प्यास क्यों बुझाई है ?
... ...

---

१. डॉ० नगेन्द्र—रीतिशृंगार (केशव), पृष्ठ १९
२. वही, (कृपाराम), पृष्ठ ३
३. वही, पृष्ठ ३

ऐसे दिन ऐसे ही गँवावति गँवार कहा
चित्र देखे मित्र के मिले को सुख पाई है ।।[1]

यह रीतिकाल की विशेषता है कि कवियों ने शारीरिक पक्ष की अवहेलना नहीं की। वे भक्तिकाल के कवियों की भाँति अपार्थिव से प्रेम नहीं कर रहे थे जो 'पानी की कहानी' मात्र से संतुष्ट हो जाते अथवा उसके अतीन्द्रिय रूप को प्रेम करते। वे इस पृथ्वी के जीव थे और हाड़ माँस से युक्त पृथ्वी के जीवों से ही प्रेम भी करते थे। परम्परा युक्त राधा-कृष्ण शब्द को उन्होंने अवश्य अपनाया किन्तु उनकी विशेषता इनके सम्मुख नायक नायिकाओं से तनिक भी अधिक नहीं है। इसे लोग अश्लीलता भी कह सकते हैं और यथार्थ भी किन्तु हमारी समझ में तो यह यथार्थ ही है। इतना अवश्य है कि यथार्थ जीवन के सम्पूर्ण चित्र को यह कवि आत्मसात नही करते उसके एक अंग मात्र को केवल लेते हैं।

एक मानिनी की अनुनय करते-करते थककर सखी उसे समझाती है—

नाही अबै सुख देत है केशव,
नाह सदा सुख देत रहैगो ।।[2]

मान की 'नहीं' 'नहीं' का अन्त तो कहीं करना पड़ेगा अन्यथा हँसी में रोना हो जाने का भय है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकाल में मान व उसकी मनःस्थितियों के अनेक मनोरम चित्र मिलते है जिनमें कृत्रिमता लेशमात्र भी नही है।

रीतिकाल के प्रवास वर्णनों में कोई विशेष नवीनता नहीं है। प्रकृति का उद्दीपन रूप ही मिलता है। मिलन के समय की सब सुखद वस्तुएँ वियोग में दुखदाई हो जाती हैं—

आछे मनभावने जे विविध बिछावने जे,
सकल सुहावने डरावने से कै गयो ।।[3]

सूर की 'प्रिया बिन साँपिन काली रात' की अनुभूति यहाँ भी मिलती है—

तुम बिनु सूनी राति कारी साँप ह्वै है खाति,
राति सेज देखि देखि छाती उमगति है ।।[4]

कहीं प्रकृति भी विरही की समवेदना में कुम्हलाने लगती है। जायसी की ऊहा का प्रभाव यहाँ दृष्टिगत होता है—

प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पै जु
लागत ही और गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूक्यो भूमि दरकी ।।[5]

---

१. डा० नगेन्द्र—रीतिशृंगार (केशव), पृष्ठ १८
२. वही, (केशव), पृष्ठ १८
३. वही, (गंग), पृष्ठ ८
४. वही, (गंग), पृष्ठ ८
५. वही, (गंग), पृष्ठ ८

इस ऊहात्मक पद्धति के समक्ष रीतिकाल में ही अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्तियाँ भी मिलती है। ठाकुर की विरहिणी कहती है—

कवि ठाकुर कूबरी के बस ह्वै
रस में बिस बावरो बो गयो है।
मनमोहन को हिलिबो मिलिबो
दिन चारिक चाँदनी हो गयो है॥[1]

ईर्ष्या भाव नायिका की असहाय अवस्था को और भी कचोट रहा है। बहुत रोने-धोने के स्थान पर वह अपने अन्धकारमय वर्तमान और भविष्य की यातना सहती हुई अतीत के उज्ज्वल क्षणों की स्मृति में डूब जाती है—'दिन चारिक चाँदनी हो गयो है।'

विरह में एक तो नीद नहीं आती और यदि आती है तो स्वप्न में प्रिय का दर्शन वेदना को तीव्रतर कर जाता है—

सापने हौ फुलवाई गई,
हरि अंक भरी भुज कंठन मेली।
हौं सकुची कोउ सुन्दरी देखत,
ले जिन बाँह सो बाँह पहेली॥[2]

ये क्षण अभाव की पीड़ा को अधिक उद्दीप्त कर देते हैं—

ठाकुर भोर भये गये नीद के।
देखहुँ तौ घर माँझ अकेली॥[3]

प्रेमी की यही आशा विरह की पीड़ा को सहने की शक्ति उसे बराबर देती रहती है—

काहे अरे मन साहस छाँड़त,
काहे उदास है देह तजै है।
वे सुख वे दुख आये चले गये,
एक सी रीति रही नहिं रैहै।
ठाकुर काको भरोस करै हम,
या जग जालन भूल न ऐहे।
जानै संयोग में दीन्हो वियोग,
वियोग में सो का संयोग न दैहै॥[4]

इस आशा की प्रेरणा प्रेमी की एकनिष्ठता है जिसके विषय में ठाकुर कहते हैं—

---

१. डॉ० नगेन्द्र—रीति शृंगार, (ठाकुर), पृष्ठ २०१
२. वही, पृष्ठ २००
३. वही, पृष्ठ २००
४. वही, पष्ठ २००

एक ही सो चित चाहिए ओर लों
बीच दगा कौ परै नहिं डाँको।
मानिक सो मन बेचिके मोहन
फेर कहा परखाइबो ताको॥
ठाकुर काम न या सबकौ
अब लाखन में परवा नहै जाको।
प्रीति करे मैं लगै है कहा,
करिकै इन और निबाहिबो बाँको॥[1]

प्रेम पात्र के विपरीत होने पर प्रेमी उससे प्रेम करना नही छोड़ता, यह उसका दोष नही तो किसका है ?

कवि ठाकुर भूल कछु अपनी,
तिहि तै तुम्हे दोष न दीजतु है॥[2]

ठाकुर को सच्चे प्रेम की सफलता पर पूर्ण विश्वास है—

कवि ठाकुर यों निज भेद सुनो,
अरूझावत सो सुरझावत है।
परमेसुर की परतीत यही,
मिल्यौ चाहत ताहि मिलावत है॥[3]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दरबारी वातावरण होने पर भी रीतिकाल की कविता में विरह की मार्मिक अभिव्यंजना का अभाव नही है। समय के प्रोत्साहन तथा परम्परागत काव्य परम्परा के प्रभाव से अतिशयोक्ति पूर्ण कविता भी हुई किन्तु वह उसके उज्ज्वल रूप को विस्मृत नहीं करा सकती।

---

१. डा० नगेन्द्र—रीतिशृंगार (ठाकुर), पृष्ठ २००
२. वही, पृष्ठ २००
३. वही, पृष्ठ २००

द्वितीय खंड

विषय-विवेचन

प्रथम अध्याय

प्रारम्भिक आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना

आधुनिक युग का प्रारम्भ, युगचेतना और भारतेन्दुयुगीन कविता

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १८५७ की क्रान्ति के साथ हुआ। १८५७ के विप्लव में भारत की जीर्ण-शीर्ण सामन्ती-व्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचा। अंग्रेज़ों की प्रबल शक्ति के सन्मुख राजा, रईस, बादशाह और उमराव सब बिखर गए और देश की सामाजिक व्यवस्था का एक नये सिरे से निर्माण होना आवश्यक हो गया। अंग्रेजों ने एक ओर जहाँ भारत को पराधीन बनाया था वहाँ दूसरी ओर (अपनी सुविधा के लिए ही सही) नवीन यातायात और व्यवसाय के साधन डाक, तारघर, रेल आदि भी दिए थे। परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप देश में एक नवीन व्यावसायिक वर्ग का जन्म हो गया जो आगे चलकर मध्यवर्ग के रूप में विकसित हुआ। रेल, डाक, तारघर आदि के सहयोग से अंग्रेज़ भारत में एकछत्र शासन स्थापित करना चाहते थे, वह उनकी स्वार्थ-सिद्धि का अस्त्र था। किन्तु यही अस्त्र उनके लिए घातक सिद्ध हुआ। व्यावसायिक मध्यवर्ग में ही देशभक्ति के बीज उगे और बढ़े जिनके विषफल के कटु-आस्वाद के सन्मुख अंग्रेज़ अधिक दिन भारत में न रह सके, एक शताब्दी के समाप्त होते-होते उन्हें भारत छोड़कर जाना पड़ा।

यद्यपि १८५७ से पहले ही पाश्चात्य प्रभाव भारत पर पर्याप्त मात्रा में पड़ चुका था किन्तु इस क्रान्ति के पश्चात् शासन की बागडोर 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के हाथ से निकलकर 'ब्रिटिश साम्राज्य' के हाथ में चली गई। इससे पूर्व अंग्रेज़ों का ध्यान राज्य-विस्तार की ओर था अब विजित राज्यों के पुनर्गठन और शासन-व्यवस्था की ओर गया। शासन की दृष्टि से अनेक नीतिपूर्ण प्रयोग भारत में किये जाने लगे। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति हमारे इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने से यह अनुभव होता है कि अंग्रेजों ने मुगल, मरहठों, अमीर, उमरावों को दबाकर भारत का बड़ा उपकार किया, एकछत्र शासन के शान्तिपूर्ण सुख-समृद्धिमय राज्य की स्थापना की किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। भारत का शासन अंग्रेजों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन्होंने उसे अपने देश के धन-वैभव को बढ़ाने का साधन बना लिया। एक ओर जहाँ उन्होंने भारत के पुराने उद्योग-धन्धों को समाप्त किया वहाँ दूसरी ओर नवीन युग के

आविष्कारों, 'कलयुग' की विशेषताओं से परिचित नहीं कराया। उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय कच्चे माल को अंग्रेजी मिलों में खपाने का था, यदि यह न होता तो नवीन मशीनों के परिचय से भारत में ही धन समृद्धि की वृद्धि हो सकती थी। भारतीय औद्योगिक पहले सामन्तों के परस्पर विग्रह से पीड़ित थे अब विदेशी वस्तुओं की बाढ़ ने उन्हे बिलकुल समाप्त कर दिया। मशीनों के बने हुए सस्ते माल के सन्मुख वे न ठहर सके, उन्होंने उद्योग-धन्धे छोड़-छोड़कर खेती-बाड़ी अपनाना प्रारम्भ किया किन्तु वहाँ भी बेरोजगारी का ही सामना करना पड़ा। कृषकों के पास उत्पादन के नवीन साधन न थे। ग्राम्य व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। छोटी-मोटी वस्तुओं के लिए भी भारत पश्चिम का मुँह ताकने लगा।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के प्रभाव से आधुनिक हिन्दी काव्य ओत-प्रोत है, अतः उसके प्रारम्भिक काल को भारतेन्दुकाल कहते है। एक युग के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ की कोई तिथि निर्धारित करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि नवीनता के आगमन में पुरातन के अवशेष अनायास ही लुप्त नही हो जाते किन्तु फिर भी नवीन मे कोई विशेषता रहती है जो पुरातन से उसका सम्बन्ध-विच्छेद कराती हुई-सी प्रतीत होती है। यही विशेषता भारतेन्दु के साहित्याकाश मे अवतरित होने के साथ दिखाई देती है। इस युग में भारतीय जीवन और साहित्य प्राचीन परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर नवीन विकास के मार्ग को खोजता हुआ दिखाई पड़ता है।

उस युग के प्रत्येक चिन्तक के सम्मुख यह स्पष्ट था कि अंग्रेज वाणिज्य वृत्ति से प्रेरित हैं, वे भारत के धन को लूट रहे है। उसको भिखारी बना रहे हैं। किन्तु शताब्दियो से फैली हुई राजनीतिक अराजकता की अव्यवस्था के सन्मुख वे इनके सुव्यवस्थित राज्य को वरदान समझते थे। इसी से भारतेन्दु और उनके समकालीन प्रसिद्ध कवियों में भारत की आर्थिक अवस्था के प्रति असन्तोष और क्षोभ का भाव होते हुए भी राजभक्ति बराबर मिलती है—

अंग्रेज राज सुख साज सबै सुख भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

—भारतेन्दु

१८५७ की क्रान्ति के विषय में भी उन्नीसवी शताब्दी के इन प्रसिद्ध कवियो में अंग्रेजों के प्रति सद्भावना और भक्ति का भाव है।

सर्वप्रथम वाग्विलास के लेखक 'सेवक' की कृति में हमें इस क्रान्ति का उल्लेख मिलता है। अपने आश्रयदाता राजा हरिशंकरसिंह जी तथा गौरीशंकरसिंह जी की प्रशंसा करते हुए सेवक कहते हैं—

गुनगन के हरिया उभे दान मान के रूप।
षैरषाह अंग्रेज के मन-मन सोहित रूप॥

वोनइस सै तेरा प्रगट सम्मत हो छिति कंत।
बलवा में हाकिमन की करी सहाय अनन्त ॥[1]

तथा

सुनतहि या विधि को समर षुसी भये अंगरेज़।
षिलत सारटीफिकट हू दीन्हौ सहित मजेज ॥[2]

सुप्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र का मत इस सम्बन्ध में देखना अत्यन्त आवश्यक है। क्रांतिकारियों के प्रति मिश्रजी की कोई सहानुभूति नही है। वह इस विषय में अंग्रेज़ों की प्रशंसा ही करते है—

सन सत्तावन माहिं जब कछु सेना बिगरी।
तब राजा दिशि ही रही सुदृढ ह्वै परजा सिगरी ॥
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हो।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हों ॥
ठौर-ठौर निज घर लुटवाए अरू फुँकवाए।
प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्राण बचाये ॥[3]

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी क्रांतिकारी सिपाहियों को मूर्ख बताते हैं और उनके दमनकर्ता अंग्रेजों की दयादृष्टि की सराहना करते है—

देसी मूढ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा संग।
कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढंग ॥
बढ्यो देश में दुख, बनि गई प्रजा अति कातर।
फेर्यो तुम तब दया दीठ भारत के ऊपर ॥[4]

उपर्युक्त उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस युग मे साधारण भारतीय अंग्रेज़ों के साथ था, वह क्रान्तिकारियों को मूर्ख विद्रोही समझता था। इन कवियों के इन विचारों को देखकर आश्चर्य होता है। अंग्रेज़ों के प्रति प्रशसा के क्या अर्थ थे यह समझ में नही आता। डा० वार्ष्णेय ने अपने प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में उन अज्ञात अप्रसिद्ध कवियो का भी उल्लेख किया है जिनकी समवेदना भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ थी, जिन्होने स्पष्ट स्वरो में अंग्रेजी शासको की भर्त्सना की है। तब क्यो यह प्रसिद्ध कवि भी जनजीवन के साथ होकर अंग्रेजी विजेताओं को भर्त्सना नही दे सके यह स्पष्ट नहीं होता।

रायबरेली जिले के बजरंग भट्ट ने शंकरपुर के राना बेनीमाधवसिंह की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

१,२. डा० लक्ष्मीसागरवार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २८१
३. वही, पृष्ठ २८१-२८२
४. वही, पृष्ठ २८२

हिम्मत को हाकिम हजारन में देखि आयो,
खेदिके हटायो अंगरेज़ हू सकाना है।
जाको तेज तीखन तपत महिमण्डल में,
हटिगे उलूक से न लागत ठिकाना है।
कहै बजरंग बैसवंस अवतंश भयो,
कम्पनी विलाइत सकल बिललाना है।
नेक न डेराना छीन लीन्ह्यो तोपखाना,
वीर बाँधे वीर बाना बैस राना विरम्दाना है॥[1]

एक अन्य कवि ज्वालाराय ने भी बेनीमाधव बक्ससिंह की प्रशंसा में लिखा है—

चण्डिका के चेले बैस लड़त है अकेले फौजें
आया लीना घेरि गोला खूब ही बजायो है।
मारे जनरैल और कंडैनल को कैद कीन्हो
मारे कपतान गोरा भेट ही चढ़ायो है॥[2]

श्री वार्ष्णेयजी के अनुसार कोटारा जिला इटावा में बुन्देलों की मरदानी रानी की प्रशंसा में एक गीत इस प्रकार मिलता है—

खूब लड़ी मरदानी अरे झाँसी वाली रानी।
बुरजन-बुरजन तोपें लगाइ दईं, गोला चलाये असमानी॥
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।
सगरे सिपाहियों को पेड़ा, जलेबी आपने चबाई गुड़धानी॥[3]

प्रसिद्ध हिन्दी कवियों के इस विषय में मौन का कारण केवल यही समझ में आता है कि ये कवि मध्यम व्यावसायिक वर्ग के व्यक्ति थे। पिछली दो शताब्दियों से भारत में व्यवसाय की क्षति से ये क्षुब्ध थे अतः १८५७ के पश्चात् शान्ति के स्थापन का इन्होंने अभिनन्दन किया। वे किसी भी ऐसी बात का समर्थन नहीं करना चाहते थे जिससे उन्हें आर्थिक क्षति पहुँचे। सिपाहियों के विद्रोह को वे भय की दृष्टि से देखते थे किन्तु अंग्रेजों के व्यापार की कूटनीति से भी वह कम भयभीत नहीं थे। यह जानते हुए भी कि धन विदेश जा रहा है, स्पष्ट शब्दों में उस शासन का विद्रोह करने का साहस उनके पास न था।

इतना होने पर भी सामन्ती संस्था के अवशेष पर खड़े हुए इन व्यावसायिकों में शिक्षा की नवजाग्रति के साथ नवीन चेतना प्रस्फुटित होती गई जो समय पाकर भारतीय-स्वतन्त्रता-आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त हुई।

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २८३
२. वही, पृष्ठ २८५
३. वही, पृष्ठ २८६

१८५७ में जब भारतीय शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकलकर अंग्रेज़ी सरकार (महारानी विक्टोरिया) के हाथ में आई तो उसे सुव्यवस्थित रूप से चलाना आवश्यक हो गया। इससे पूर्व 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' अपने आधीन राज्यों की व्यवस्था स्थान-स्थान पर सैनिक बल से किया करती थी। अब मुगल सम्राट् के पतन से राज्य का विस्तार बहुत बड़ा हो गया अतः विलायत से आये हुए कर्मचारियों से ही काम न चल सकता था। राज्य के विधान को सुचारू रूप से चलाने के लिए अंग्रेजों को अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवकों की आवश्यकता पड़ी। १८५७ में ही कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। यह कार्य यद्यपि अंग्रेजी सरकार के हित के लिए किया गया था किन्तु भारतीयों को इससे बहुत लाभ हुआ। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी। 'लार्ड मेकाले' की दृष्टि भारतीय साहित्य के विषय में कितनी ही संकुचित क्यों न रही हो किन्तु उनकी रिपोर्ट से अंग्रेज़ी भारत में शिक्षा का माध्यम बनी। इस नवीन शिक्षा को भारतीय मध्य वर्ग ने काफी अपनाया। अंग्रेजी साहित्य के प्रणयन और अध्ययन से नवयुग की जागृति और विज्ञान तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार भारत के उर्वर मस्तिष्क में घर करने लगे।

उन्नीसवी शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते अधिकांश भारतीयों के धर्म 'हिन्दू-धर्म का रूप अत्यन्त विकृत हो गया था; राधा और कृष्ण की लीला के नाम पर मठों-मदिरों में कुत्सा और व्यभिचार पोषित हो रहा था। अतः हिन्दुत्व के रूप को सुरक्षित रखना आवश्यक हो गया था। सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना हुई जिसने धर्म और धार्मिक अन्धविश्वासों की छानबीन करके उनमें सुधार के मार्ग को प्रशस्त किया। अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवको में श्रीयुत राममोहनराय का नाम चिर-स्मरणीय रहेगा। बाल-विवाह बहिष्कार विधवा-विवाह व सती-प्रथा उन्मूलन से उनका नाम अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। सन् १८७९ में मैडम बैल्वटस्की और कर्नल अलकाट भारतवर्ष में आए और थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इससे उन्होंने एक ओर भारतीयों को पाश्चात्य-विचार-दर्शन से परिचित कराया दूसरी ओर भारत की ज्ञान-गरिमा के गौरव को भी उचित श्रेय दिया, श्रीमती ऐनी बेसेंट ने इस मत को और अधिक प्रोत्साहित किया। इन सबके फलस्वरूप भारत की प्रसुप्त आत्मा फिर से जाग उठी। विवेकानन्द जैसे महान् चिन्तकों का जन्म हुआ जिन्होंने भारतीय दर्शन और अध्यात्म का नए सिरे से वैज्ञानिक विश्लेषण किया।

उपर्युक्त परिवर्तित परिस्थितियों में युग की चेतना का कविता में मुखर होना स्वाभाविक था। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई इन सभी समस्याओं पर विचार और चिन्तन भारतेन्दुकालीन कविता में हुआ। भारत के दुःख-दारिद्रय और आर्थिक अवस्था पर क्षोभ, उसकी पराधीनता पर चिन्ता, राजनीतिक और शासन सम्बन्धी सुधारों की माँग तथा आपसी संगठन के लिए भारतीयों को प्रोत्साहन आदि के भाव भारतेन्दुकालीन कविता में स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

सामाजिक कुरीतियो के उन्मूलन का प्रचार भी इस युग के कवियों ने किया। इन कुरीतियों में मुख्य थीं जातिभेद, अविद्या, स्त्रियों की शिक्षाहीनता, विवाहों के समय का अपव्यय, बहु-विवाह, बाल-विवाह और विधवा-विवाह निषेध। भारतेन्दुकालीन कवि भारत की वर्तमान दुर्दशा का ज्ञान भारतीयों को कराकर उनमें प्राचीन गौरव के भाव जगा रहे थे, साथ ही मातृभाषा के प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य भी कर रहे थे।

किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन कवियों ने अंग्रेजी सरकार का स्पष्ट विरोध नही किया न ही विद्रोहियो के प्रति सम्वेदना के भाव प्रकट किए। इसका कारण सम्भवतः अंग्रेजी सत्ता का आतंक भी रहा हो जैसा कि भारतेन्दु के इन शब्दों से स्पष्ट होता है—

कठिन सिपाही-द्रोह अनल जा जलबल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारत वासी॥[1]

—भारतेन्दु

भारत की दुर्दशा के प्रति ये कवि सजग थे, स्वतन्त्रता के भाव भी इनमें थे किन्तु इनकी स्वतन्त्रता का अर्थ ब्रिटिश शासन का निष्कासन नहीं था प्रत्युत अंग्रेजों के अधिकार में रहकर ही ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतन्त्र नागरिकों के अधिकारों को प्राप्त करना था। अंग्रेजो को निकालकर १८५७ से पहले की अव्यवस्थित दशा की पुनरावृत्ति ये नहीं चाहते थे। इसीलिए अवसर उपस्थित होने पर भारतीय जनता की माँगों को सरकार के सम्मुख उपस्थित करते थे साथ ही जुबली, राजकुमार आगमन, राजकुमार जन्मोत्सव के समय प्रशस्ति-गीत लिखकर अपनी राजभक्ति प्रकट करते थे।

भारतेन्दुकालीन कवियों का युग-चेतना के प्रति रुख 'मानसोपायन' के प्रारम्भ में भारतेन्दु के इस पत्र से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है—

"अग्रजोपम स्नेहपूजास्पद प्रिय कुमार,

जब आपसे कुछ भी कहने की इच्छा करते हैं तो चित्त में कैसे विविध भाव उत्पन्न होते हैं। कभी भारतवर्ष के पुरावृत्त के प्रारम्भ काल से आज तक जो बड़े-बड़े दृश्य यहाँ बीते हैं और जो महायुद्ध, महाशोभा और महादुर्दशा भारतवर्ष की हुई है, उनके चित्र नेत्र के सामने लिख जाते है। कभी हिन्दुओं की दशा पर करुणा उत्पन्न होती है कभी स्नेह कहता है कि हाँ यही अवसर है खूब जी खोलकर जो कुछ हृदय में बहुत काल से भाव और उद्‌गार संचित हैं, उनका प्रकाश करो। पर साथ ही राजभक्ति और आपका प्रताप कहता है कि खबरदार हद से आगे न बढ़ना, जो कुछ विनती करना बड़ी नम्रता और प्रमाण के साथ। इधर नई रोशनी के शिक्षित युवक कहते हैं—'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो'। सुनते-सुनते जी थक गया, कोई मस्तिष्क की बात कहो। उधर प्राचीन लोग कहते हैं हमारे यहाँ तो 'सर्व्वदेवमयो नृपः' लिखा है जितना बन सके इनका आदर करो। कितने यहाँ के वासी इतने मूढ़ हैं कि इन बातों को अब तक जानते ही नहीं। जाने

१. डा० वार्ष्णेय—साहित्य चिन्तन, पृष्ठ १२६

कहाँ से, हजारों वर्ष से राजसुख से वंचित है। आज तक ऐसा शुभ सयोग आया ही न था कि आप-सा सुखद स्वामी इनके नेत्रगोचर हो। इसी से तो आपके आगमन से इन लोगों को क्या आनन्द हुआ है, वह कौन जान सकता है। प्रिय ! हम सब स्वभावसिद्ध राजभक्त है। बेचारे छोटे पद के अंग्रेजों को हमारे चित्त की क्या खबर है, ये अपनी ही तीन छटाँक पकाने जानते है। अतएव दोनो प्रजा एकरस नही हो जाती, आप दूर बसे हमारा चित्त देखने वाला कोई नही, बस छुट्टी हुई। आपके आगमन के केवल स्मरण से हृदय गद्‌गद और नेत्र अश्रुपूर्ण हमी लोगो के हो जाते है और सहज मे आप पर प्राण न्यौछावर करने वाले हमी लोग है क्योकि राजभक्ति भरतखड की मिट्टी का सहज गुण है पर कोई कलेजा खोलकर देखने वाला नही।

.....'जिस तरह आप अनेक कौतुक देखते है, कृपापूर्वक इस प्रजा के चित्त रूपी आतशी शीशे से (क्योकि वह आपके वियोग और अपनी दुर्दशा मे सतप्त हो रहा है) बनी हुई सैरबीन की भी सैर कीजिए और उस परिश्रम को क्षमा कीजिए जो इसके पढ़ने मे हो, क्योंकि हमने तो चाहा कि थोड़ा लिखें और यह बहुत थोडा ही है पर आपको श्रम देने को बहुत है।

१ जनवरी, १८७७ ई०

हरिश्चन्द्र"[1]

युवराज की प्रशस्ति मे भारतेन्दु गाते है—

बहुत दिनन की सूखी डाढी, दीना भारत भूमि।
लहिहै अमृत वृष्टि सो तुव पदपकज चूमि॥
जेहि दलमल्यौ प्रबल दल लैकै बहुविधि जवन नरेस।
नास्यौ धरम-करम सबहिन के मारि उजार्‌यो देस॥[2]

—भारतेन्दु

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि औरंगजेब तथा उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के साम्राज्य में भारत की प्रजा सुखी नही थी अतः उसने अंग्रेजों का स्वागत किया। भारत की दुर्दशा से ये क्षुब्ध थे और इनको अंग्रेजों से बड़ी आशाएँ थीं जो अवसर आने पर यत्र तत्र प्रकट हो जाती थीं।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता के प्रारम्भिक काल में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के फलस्वरूप नवीन विषयों का आगमन हो रहा था। समष्टिगत स्तर पर भारत की दुर्दशा, स्त्रियों की शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह बहिष्कार आदि सामाजिक कुरीतियों पर प्रकाश डालती हुई अनेक रचनाएँ हो रही थीं और इन सबमें सुधार का आग्रह भी था। भारतेन्दु कालीन कविता भाव से अधिक विचार प्रधान है अतः समष्टिगत स्तर पर यद्यपि युगचेतना के फलस्वरूप उत्पन्न प्रभाव

१. ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ७२१-२२
२. वही, पृष्ठ ७२३

काफी स्पष्ट था किन्तु वैयक्तिक क्षेत्र में इन विचारों को जीवन की विविध परिस्थितियों के साथ कवि नहीं गूथ सका। वैयक्तिक स्तर पर रची गई कविता का रूप परम्परागत ही रहा।

शृंगार के क्षेत्र में रीतिकालीन प्राचीन परिपाटी का अनुसरण ही कवि ने किया, राधा और कृष्ण की शृगार-लीलाएँ ही काव्य का विषय बनती रहीं। भारतेन्दु पुराण अथवा इतिहास में से कवि उन स्थलों को न चुन सका जो स्त्री-पुरुष के वैयक्तिक सम्बन्ध के साथ नये युग के जागरण को भी मुखर कर सकते; जैसा कि आगे चलकर द्विवेदीकाल की कविता में हुआ; न ही पौराणिक चरित्रों मे युगानुकूल कोई मौलिक परिवर्तन हुआ। अतः भारतेन्दु काल की शृंगार सम्बन्धी रचनाएँ अपने युग से बिलकुल असम्पृक्त पुरानी परम्परा की प्रतिध्वनिमात्र रह गई। जीर्णावशेष इस कविता मे यदि कहने को कोई मौलिकता है तो कला सम्बन्धी है भाव सम्बन्धी नही। कला के क्षेत्र में नये छन्दों—कजली विरहा, मल्हार आदि का समावेश लोकगीतों के आधार पर और रेखता तथा ग़ज़ल कानिर्माण उर्दू के प्रभाव से हुआ। भाव के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी का अनुसरण ही होता रहा।

आधुनिक युग में उत्तर-मध्यकालीन विरह-भावना का अवशेष (भारतेन्दु युग)

भारतेन्दु युग के सांस्कृतिक जागरण सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि १८५७ के स्वतन्त्रता-आन्दोलन रूपी क्रान्ति के भूचाल ने प्राचीन रूढ़ियों की नींव पर खड़ी सामंती इमारतों को ढा दिया था। समाज की सृष्टि का नवीन सिरे से निर्माण आवश्यक हो गया था जिसकी इमारतों को बनाने के लिए भारत की चूना-मिट्टी के अतिरिक्त पश्चिम का लोहा व स्टील भी अनिवार्य हो गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन विचार परम्परा पश्चिम के सम्पर्क मे आकर स्वय को सुदृढतम बना रही थी, स्वतन्त्रता के नवीन विचार भारतीय समाज की नींवो मे घर कर रहे थे, किन्तु उस भूचाल में भी यत्र-तत्र जीर्ण खण्डहर बच गए थे जहाँ पुराना चूना-मिट्टी सूख सड रहा था। वे खण्डहर जहाँ एक ओर अपनी पुरानी भव्यता और ऐश्वर्य के दिनों का स्मरण दिलाते थे वहाँ दूसरी ओर, उससे विहीन, निर्जन में अपने अतीत के लिए रोते थे। न उनमें वह चमक थी न शान और शौकत। सामन्ती जीवन के अवशेष अत्यन्त हीन रूप में उपस्थित थे, कहीं-कहीं पुरातन वैभव विलास का आभास उससे मिल जाता था।

भारतेन्दु युग मे कविता के यद्यपि विविध विषय जाग रहे थे जैसा कि सांस्कृतिक जागरण के विवेचन से स्पष्ट है, विदेशियों के प्रति आक्रोश, अपनी दुर्दशा और उसके सुधार के लिए आग्रह आदि। किन्तु शृंगार उस काल में भी उन्हीं सड़ी-गली सामन्ती इमारतों में पलता रहा इसीसे नवीनता उसको स्पर्श करके उज्ज्वल न बना सकी। भारतीय शृंगारी कवि अपनी संस्कृति और इतिहास से कविता का विषय चुन सकता था, जो उसके समाज और जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अधिक अनुरूप बैठता, उसको

वह नवीन विकास का पथ भी दिखलाने का प्रयत्न कर सकता था जैसा कि आगे चलकर द्विवेदी युग में हुआ भी। भारतेन्दु काल का शृंगारी कवि प्राचीन परम्परा से ही विषय-सामग्री लेता रहा। कहीं-कहीं भक्ति साहित्य और अधिकांश रीतिसाहित्य उसकी कविता सामग्री के आधार बने। रीतिकाल में अलंकार, छन्द तथा शृंगार की विविध स्थितियों के विषय में काफी कुछ लिखा जा चुका था, अब उस तरह लिखने के लिए कुछ भी अवशेष न रहा था। अतः जो कुछ लिखा गया वह परम्परा का पिष्टपेषण मात्र रह गया। कजरी विरहा, मल्हार आदि की उद्भावना अवश्य हुई, कहीं-कहीं प्राचीनता के वैभव का आभास भी मिलता रहा। इस युग की शृंगारी कविता प्राचीन सामन्ती खण्डहरों में उठने वाली विलास की प्रतिध्वनि मात्र बनकर रह गई जिसमें कहीं-कहीं बात स्पष्ट-सी सुनाई पड़ती थी; अधिकाश धुँधली थी; उलझी-सी अस्पष्ट और फीकी-सी।

इस सम्बन्ध में डा० वार्ष्णेय ने कहा है :

"अंग्रेज़ी राज्य के विस्तार के साथ-साथ कवियों को राजाश्रय की प्राप्ति में कमी होती जाती थी। पाश्चात्य प्रभाव और देश की दीन-हीन दशा के कारण विद्वानों और सुदृढ़ समाज का ध्यान कृष्ण के केलि-कुंजों की ओर से हटकर भारत की पतितावस्था और भर-पेट भोजन न पाने वाली पीड़ित और दरिद्र जनता की ओर गया। तो भी रीवाँ, अयोध्या, सुठालिया, रामपुर (जिला मथुरा), काशी, हरिहरपुर आदि राजदरबारों और काशी, मथुरा, प्रयाग, कानपुर आदि साहित्यिक केन्द्रों मे शृंगार की रचना नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण और कुछ साहित्यिक परम्परा के रूप मे बराबर हो रही थी। 'कवि समाज' (काशी) और रसिक समाज (कानपुर) जैसी संस्थाओं ने भी प्राचीन परम्परा बनाए रखने की चेष्टा की। स्वतन्त्र रूप से समस्या पूर्तियों के रूप में कवि अपनी रचनाएँ करते थे। हिन्दी साहित्य के इस सक्रान्ति काल मे प्राचीन परम्पराओं से एकदम विमुख हो जाना आसान भी न था।"[1]

रीतकाल में शृंगार का विशद विवेचन हो चुका था। उस समय के कवियों ने अपनी प्रौढ और स्तुत्य रचनाओं से साहित्य के इस अग की सर्वांग पूर्ति कर दी थी। इसलिए इस काल के कवियों को अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का अवसर कम रह गया था। प्राचीन साहित्य का जो कुछ प्रभाव शेष रह गया था उसी के अन्तर्गत अब के कवि उसका पिष्टपेषण करते रहे। परन्तु इस पिष्टपेषण में भी वे कोई विशेष और महत्त्वपूर्ण कला-कौशल न दिखा सके।

"कुछ सुन्दर रचनाओं को छोड़कर यह साहित्य अपने प्राचीन गौरव से हीन और क्षीण रूप में हमारे सामने आता है।"[2]

भारतेन्दुकालीन शृंगारी कविता के विषय में डा० वार्ष्णेय का उपर्युक्त मन्तव्य ठीक ही है किन्तु उनकी इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि उस संक्रान्ति-काल

१. डा० वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ३५६-५७
२. वही, पृष्ठ ३५६-५७

में कवि का प्राचीन परम्परा से विमुख होना सरल न था। भारतेन्दु युग यद्यपि प्राचीन और नवीन के बीच की कड़ी है किन्तु फिर भी उसका झुकाव नवीन की ओर अधिक है। इसीसे वह आधुनिक युग का प्रारम्भ भी है। इस युग का शृंगारी कवि भी युग समस्याओं से कंधे से कन्धा मिलाकर चल सकता था यदि वह सामन्ती-व्यवस्था के अवशेष दरबारों के वातावरण से स्वय को मुक्त कर देता।

जो कुछ भी हो, कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग के शृगार और फलतः विरह-भावना में पूर्व परम्परा की तुलना में कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं पडता। विरह भावना यद्यपि हृदय की वस्तु है अतः मूल मे वह वही है जब सृष्टि के आदि पुरुष और नारी ने परस्पर आकर्षण का अनुभव किया था किन्तु फिर भी परिस्थिति प्रेरित परिवेश के अनुकूल उसका रूप बराबर बदलता रहा है; इस युग मे भी बदल सकता था परन्तु वैसा नही हुआ। जहाँ तक विरह का सम्बन्ध है भारतेन्दुकालीन कविता का नाता आधुनिक काल से अधिक रीतिकाल से है।

विरह के पूर्वराग, प्रवास और मान विभेद अपने परम्परागत रूप में ही मिलते हैं। करुण विप्रलम्भ परम्परागत नही है किन्तु यत्र-तत्र विश्वासघाती प्रिय के प्रति भी अनन्त प्रेम सँजोने के रूप में मिल जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसे एक पक्ष की उदासीनता के कारण उत्पन्न सम्बन्ध विच्छेद की स्थिति कह सकते है। सम्बन्ध विच्छेद में प्रेमी पक्ष प्रेम का प्रतिदान न पाने पर भी प्रिय की काल्पनिक मूर्ति हृदय मे सँजोए रखता है और जन्म-जन्म मे प्रिय से मिलने की कामना करता है। रीतिकाल मे 'मान' का काफी वर्णन हुआ है किन्तु भारतेन्दुकाल में वह अत्यन्त विरल है। अधिकांश विरह-वर्णन इस युग मे प्रवास के अन्तर्गत मिलते है, जिनमें कही-कही प्रोषितपतिका के अनुभावों की सुन्दर अनुभूति तथा शकुन आदि का उस पर प्रभाव अत्यन्त सुन्दरता से लक्षित है। विरह के सम्बन्ध में षट्ऋतु, बारहमासा आदि का विशद वर्णन भी प्राप्त है, उसका विवेचन विरह के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत न करके पृथक् रूप से किया गया है।

पूर्वराग

पूर्वराग में प्रेमी का मन प्रिय के दर्शन, गुणश्रवण चित्र दर्शन आदि से उसके प्रति आसक्त हो जाता है। मिलन से पूर्व की इस स्थिति में मिलने की विकलता रहती है। प्रेमी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसका अपने ऊपर वश नही रहा। सम्पूर्ण विश्व प्रियमय ही दिखाई पड़ता है, नेत्र उसी को देखना चाहते है, कान उसीका गुणश्रवण करना चाहते हैं और जिह्वा उसकी कथा कहते तृप्त नही होती। जब तक मिलन का कोई उपाय न हो जाए तब तक अपूर्व विवशता का अनुभव प्रेमी को होता है। उसी विवशता में प्रेमी अपने नेत्रों को बुरा-भला कहता है जिनके कारण उसकी वह दशा हो गई है :

माने कानि काहू की न आनत कछुक उरलाज
काज मानहुँ रसातल तले गए।

हारी हौं सिखायत उठानत न क्यों हूँ तोष
ऐसे ही कछूक छलछन्दन छले गए ।।
द्विजदेव जा दिन ते दरश दिखाय कहूँ
अतिही निकट मनमोहन चले गये ।
होते जो हमारे तो हमारी कही मानते री
बीस बिसे आली मेरे नैन बदले गये ।।[1]

—द्विजदेव

"ये मेरे नेत्र किसी की लज्जा नहीं मानते, इनके हृदय की लज्जा तो जैसे रसातल को चली गई है। समझाते-समझाते मै थक गई किन्तु इन्हे धैर्य नही होता न जाने किस प्रपंच के वश मे ये हो गए हैं। जिस दिन से वह प्रिय दिखाई दिया है उसके निकट ही रहते है। हे सखी ये नेत्र अवश्य ही अब मेरे नहीं है, यदि होते तो क्या मेरा कहना न मानते ?"

हरिश्चन्द्र की नायिका प्रिय को सम्बोधित करके अपने नेत्रों की दशा का वर्णन इस प्रकार करती है :

यह संग में लागियै डोलै सदा, बिन देखे न धीरज
आनती हैं ।
छिनहु जो वियोग परे हरिश्चन्द तौ, चाल प्रलै
की सु ठानती है ।।
बरूनी में थिरें न, झपै उझपै, पल में न
समाइबो जानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अँखियाँ
दुखियाँ नहीं मानती हैं ।।[2]

—हरिश्चन्द्र

दुखिया अँखियों का न मानना परम्परागत है परन्तु नेत्रों की विकलता का सूचक 'बरूनी में थिरें न, झपै, उझपै हरिश्चन्द्र की अपनी मौलिक उद्भावना है। पलकों के स्वाभाविक गति से बन्द होने खुलने को भी आँखें सहन नही कर सकतीं, निरन्तर एक-टक प्रिय की प्रतीक्षा में खुली रहती हैं, उसकी बाट जोहा करती हैं। प्रतीक्षा करती हुई आँखों की विकलता का अत्यन्त सजीव वर्णन है ।

लज्जा की बेड़ी प्रिय को नेत्र भर निहारने भी नहीं देती, प्रेमिका इसे तोड़ देना चाहती है—

---

१. द्विजदेव—हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, विरह विषय के कवित्त व सवैया ९२, पृष्ठ ३२९
२. ब्रजरत्नदास बी० ए०—भारतेन्दु ग्रन्थावली (प्रेम माधुरी), पद ४३

जरौ ऐसी लाज, आवै कौन काज जानै आज
लखन न दीनो भरि नैन प्रान नाथ को।[1]

किन्तु रहीम तो पहले ही कह चुके हैं—

खैर खून खाँसी खुशी बैर प्रीति मद प्रान।
रहिमन दाबै न दबै जानत सकल जहान॥

लज्जा चाहे इसको कितना कचोटे, मन में ये अपने भाव चाहे जितने छिपाये परन्तु क्या उसे संसार की दृष्टि से बचा सकती है? मेल परी बात, राजा रंक जान लेते हैं और चवाई बातें बनाने लगते है :

ब्रज में अब कौन कला बसिए, बिन बात हीचौगुनौ चाव करै।
अपराध बिना 'हरिचन्द जु' चबाइनै घात कुदाव करै॥
पौन मौं गौन करै ही लरी परै, हाय बड़ोई हियाव करै।
जो सपनेहूँ मिलै नन्दलाल तो, सौतुस में ये चवाब करै॥[2]

—हरिश्चन्द्र

बिना अपराध के ही अपने बारे में बाते बनाते देखकर मन का हियाव खुल जाता है, साहस बढ़ जाता है। विद्रोह करता हुआ मन कहता है कि जब बदनाम ही हो गए तो फिर प्रिय से मिलने का उपाय करने मे हानि क्या है—

नाम धरौ सिगरो ब्रज तौ, अब कौन-सी बात को सोच रहा है।
त्यों 'हरिचन्द जू' औरहू लोगन, मान्यो बुरो अरी सोऊ सहा है॥
होनी हुती सुतो होय चुकी, इन बातन में अब लाभ कहा है।
लागै कलंकहू अंक लगै नहिं, तौ सखि भूल हमारी महा है॥[3]

"जब कलंक लग ही गया तो प्रिय का सान्निध्य सुख भी क्यों न प्राप्त किया जाए?" परकीया के मन की यह प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी से लोक-लज्जा को तिलांजलि देकर दुःसाहस से वह प्रिय से मिलने का उपाय करती है। सखी, हितैषी किसी का समझाना-बुझाना उसे अच्छा नहीं लगता—

मोहि औरन सों कछु काम नहीं, अब तो जो कलंक लग्यो
सो लग्यो।
रंग दूसरो और चढ़ेगो नहीं, अलि साँवरो रंग रंग्यो
सो रंग्यो॥[4]

—हरिश्चन्द्र

---

१. ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु ग्रन्थावली (प्रेम माधुरी), पद ६०
२. वही, पद २०
३. वही, पद ११२
४. वही, पद ११३

सखियाँ भी सोचती हैं कि इसका तो दिमाग खराब हो ही गया है साथ हम भी क्यों अपना करें, उसके पास आना-जाना छोड़ देती है। किसी निकटतम सखी का मन नहीं मानता। जब वह उसे समझाती है कि ऐसे पर-पुरुष के साथ निरंकुश घूमने से कलंक लगता है तो यह खीझ जाती है, 'तुम्हें इससे क्या हम कुछ ही करें, यदि हम कलंकिनी हैं तो तुम हमारे पास क्यों आती हो ? न आया करो कहीं तुम्हें भी कलंक लग जाए।'

हौं कुलटा हौ कलंकिनी हौं, हमने सब छाँड़ि दयो सब खोलौं।
आछी रहौ अपने घर में तुम, क्यों यहाँ आइ करेजहिं छोलौ॥
लागि न जाय कलक तुम्हे कहुँ, दूर रहौ संग लागि न डोलौ।
बावरी हौ जो भई सजनी, तो हटो, हमसे मति आइकै बोलौ॥[1]

—हरिश्चन्द्र

पूर्वराग में प्रेमी के मन में प्रेम का उद्दाम प्रवाह रहता है, वह किसी प्रकार की बाधा भी सहन नहीं कर सकता। माँ-बाप, भाई-बहन, सखी और सहेली सब प्रिय के सम्मुख पराये हो जाते है। प्रेमी हृदय की इसी मनोवृत्ति का सुन्दर दिग्दर्शन भारतेन्दु के उपर्युक्त पदो से होता है।

पूर्वराग की इस स्वाभाविक अनुभूति के अतिरिक्त रीतिकाल की ऊहा वाली प्रवृत्ति भी भारतेन्दु काल में मिल जाती है। 'हफीजुल्लाह खाँ के हजारे' में दिया गया किसी अज्ञात नामा कवि का यह पद देखिए—

सोई मेरी वीर जोई लावै बलवीर ताहि देहौं
दोऊ बीर मेरो विरह बँटाइले।
भंजन छपाकी पीर छपैना छपाये पीर छपा कर छपै
तौ छपाकर छपाइलै॥
मदन लगोहै धाय धाय से कहौरी धाय
येरी मेरी धाय नैक मोहूँ तन चाइले।
देह मेरी थरथराइ देहरी चढ़ो न जाइ देहरी
तनक हाथ देहरी नँघाइले॥[2]

वही रीतिकालीन ऊहा है। मन में सिमिटकर रह जाने वाली विरह-व्यथा की अनुभूति नही है, दौड़कर धाय को बुलाने का आग्रह है। चन्द्रमा मदन की अग्नि को अधिक तीव्र कर रहा है। देहरी नहीं लाँघी जाती, कंप दशा है, घबराकर पुकारती है 'अरे कोई मुझे देहरी तो लँघवा दो।' अनुप्रास और यमक के चक्कर में स्वाभाविक अनुभावों की ओर कवि ने ध्यान नहीं दिया है।

एक और स्थान पर एक कवि 'प्रणय मान' को अत्यन्त स्थूल अर्थ में लेता है।

---

१. प्रेम माधुरी, पद ६५
२. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा—विरह सम्बन्धी कवित्तऔर सवैये पद ७, पृष्ठ ३०६

दूती नायक को एक ओर तो बताती है कि वह नायिका मकरन्द में डूबने से डरती है दूसरी ओर कहती है कि वह मान कर रही है। वस्तुतः स्थिति मान की न होकर पूर्वराग की भय दशा की है—

एक हती खीनी पर एते पै न एते मान भई
अति दूबरी विरह ज्वाल जरती।
पास धरी चन्दन सुबास ही बढ़े ताप होती
जो समीर तो उसासें न उसरती॥
चन्दन की रेख रही आभा अवसेख सुतो
देखत बनत पै न कहत बनै रती।
ल्यावती गोविन्द अरविन्द की कली मै राखि
जो न मकरन्द बीच डूबिबे को डरती॥[1]

'तन्वंगी नायिका विरह ज्वाला से जलती हुई अत्यन्त कृशकाय हो गई है, चन्दन की सुगन्ध से शरीर का ताप बढ जाता है।' समीर के स्पर्श से साँस बन्द होने लगती है। चन्दन की क्षीण रेखा के सदृश वह हो गई है किन्तु फिर भी मान करती है। प्रिय के संसर्ग रूपी मकरन्द मे डूबने से वह डरती है। 'यह स्थिति नायिका के मान की सूचना न देकर पुरुष के सम्पर्क की अनभिज्ञता की सूचना देती है, इसी से वह नायक के निकट आने से भयभीत है। किन्तु कामभावना उसे सता रही है अतः वियोग की, मिलने की अभिलाषा की अग्नि में जल-जलकर वह दुबली हो गई है, उपचार अच्छा नहीं लगता।

पूर्वराग के विवेचन से स्पष्ट है कि उसका दिग्दर्शन इस युग में परम्परागत है। कवि की भाव ग्राहकता के अनुरूप हरिश्चन्द्र के काव्य में उसकी प्रक्रिया का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है।

मान

स्त्री-पुरुष के उन्मुखी भाव में मान वह स्थिति है जब ईर्ष्या अथवा किसी और कारण से पति-पत्नी अथवा प्रिय प्रियतमा के बीच में मन-मुटाव हो जाता है। ये दोनों समीप रहने पर भी तथा हृदय में प्रेम का भाव होने पर भी एक-दूसरे से दूर-दूर रहते हैं। प्रेम की कार्यरूप परिणति नहीं होती, 'मा' और 'न' के निषेधवाचक शब्दों से नायिका अथवा दूसरा पक्ष तर्जना करता है।

मान को काव्यशास्त्रियों ने दो प्रकार का माना है प्रणय मान और ईर्ष्यामान।[2] प्रणय के आधिक्य में अथवा उसमें त्रुटि होने से प्रणयमान होता है। मान के समय जब मनुहार करता हुआ पक्ष ही खीजकर रूठजाता है तब प्रणयमान की स्थिति होती है। इसमें

---

१. मनोमंजरी, नखशिका वाली कलिका-विरह निवेदन पद ८९, पृष्ठ २० नकछेदी तिवारी द्वारा संगृहीत-सन् १९०६, भारत जीवन मंत्रालय से प्रकाशित

२. विरह का काव्य शास्त्र सम्बन्धी विवेचन, प्रथम अध्याय देखिए

मनुहार कर्ता पक्ष के रूठ जाने पर मान कर्ता पक्ष स्वयं में पछताता है कि मैंने मान क्यों किया ? इसे काव्यशास्त्रियों ने प्रेम-भाव को तीव्रता प्रदान करने वाला गुण बताया है।[1] इस स्थिति में मानकर्ता पक्ष में विरह-व्यथा का जन्म होता है क्योंकि प्रेम की एकात्मता के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है।

ईर्ष्यामान तब होता है जब प्रिय के किसी अन्य व्यक्ति में अनुरक्त होने से प्रेमीपक्ष स्वयं को हीन अनुभव करता हुआ अपने प्रतिपक्षी से ईर्ष्या करता है।[2] ईर्ष्यामान का चित्रण नायिका के पक्ष में ही अधिक होता है, पुरुष ईर्ष्या की व्यथा को सहन नहीं कर सकता वह प्रतिपक्षी से बदला लेने का उपाय करता है। ईर्ष्या आहत व्यक्ति का दुर्बल विद्रोह ही है।

भारतेन्दु युग की नारी सामन्ती पुरुष के कठोर अकुश में सहमी हुई-सी प्रतीत होती है और इसीलिए वह दुर्बल विद्रोह भी पति के सम्मुख नहीं कर सकती। हरिश्चन्द्र की नायिका मे स्त्री-सुलभ ईर्ष्या और मान का पूर्ण अभाव है। वह आहत होकर, मान-हानि सहकर भी प्रिय की कृपा की आकाक्षा ही करती है। सम्भवतः यह उस युग का प्रभाव ही था जब पुरुष के विलास की कारा में बन्द नारी पराधीनता के दीन-हीन जीवन को ही अपनी निधि, अपना मान अभिमान समझ बैठी थी। अपराधी पति का रोषपूर्ण तिरस्कार करने के स्थान पर वह उसके सामने घिघियाती है—

हौ तो तिहारे सुखी सों सुखी,
सुख सौ जहाँ चाहिए रैन बिताइए।
पै बिनती इतनी हरिचन्द,
न रूठि गरीब पै भौंह चढ़ाइए॥
एक मतों से कियो तुम सों तिन
सोऊ न आवै जो आप न आइये।
रूसिबे सों पिय प्यारे तिहारे
दिवाकर रूसत है क्यों बताइये॥[3]

अन्य स्त्री के साथ रात्रि व्यतीत करने वाले नायक को प्रातः समय अपनी प्रिया के पैर पकडकर मनाना नहीं पड़ता, वह अब भी भौंह चढा सकता है तथा वह भौंह न चढ़ाने की विनती करती है। इस प्रकार की उक्तियों को प्रेम का आहत होना कहें या पराधीनता को जीवन का अंग बन जाना ?

ईर्ष्यामान का क्षीण स्वर कहीं सुनाई भी पड़ता है तो वह भी पति के प्रति दीन विनय के अतिरिक्त कुछ नही है—

---

१. विरह का काव्य शास्त्र सम्बन्धी विवेचन प्रथम अध्याय में देखिए
२. प्रथम अध्याय में विरह का मनोवैज्ञानिक विवेचन देखिए
३. डा० नगेन्द्र—रीति शृंगार

तुम चारि याम रजनी के जागो आन साथ
हम विरहानल की ज्वालन सों जागतीं।
ह्वै घरबसी जे तिहारे घरबसी प्यारे हम परबसी
ह्वैहैं तिनकी धौं कहा गती ।।
भनत कवीन्द्र देखे भाल में महाउर की भोर ही।
निहारि और भोर लगि जागती।
आँखे जे हमारी लागी तुम सों अनोखे लाल
तिन अब आँखिन की पलकें न लागतीं ।।[1]

उस युग की नारी अपने एकनिष्ठ प्रेम के अपमानकर्ता को ताड़ना नहीं दे सकती, वह कार्य की व्यस्तता में अपने हृदय के तडपते हुए भावों को सुला देना चाहती है—

रूसिबै सों पिय प्यारे तिहारे,
दिवाकर रूसत है क्यों बताइये ।।

'दिन भी नही निकलता जो गृहकार्य की सलग्नता मे अपनी व्यथा को भूल जाऊँ, सारी रात्रि एकाकी व्यतीत होने से निद्रारहित और भयावह-सी प्रतीत होती है।' ईर्ष्यामान की यह विरह-वेदना अत्यत मार्मिक, हृदयस्पर्शी और असह्य है।

प्रणयमान के चित्र भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते है, उनका रूप परम्परागत ही है—

कछु दोस सुनाई सरोस करी सजनी रसवाद सवाद भरे।
चख चोट के घूँघट ओट कर्‌यो बदले रूख त्योर तनेन करे।।
छबि गोकुल प्रान पियारे की हेरि हियो हरख्यो लगिवे को गरे।
टरि मान गयो पहिले तिय को पिय को फिरि पाइन पानि परे ।।[2]

नायिका मुग्धा है उसे व्यर्थ ही तंग करने के लिए नायक कुछ बुरा-भला कहता है। उसका अभीष्ट सफल हो जाता है—नायिका रूठकर मुँह फेर लेती है, घूँघट की ओट में तेवर चढ जाते हैं। किन्तु मान अधिक देर नही ठहरता, वह प्रिय के गले से लिपट जाती है तब उसके सरल स्वभाव पर मुग्ध उसका प्रिय पाँव पकड़ लेता है। मनुहार का अवसर ही उपस्थित नही होता। यहाँ नायिका के हावों और अनुभावों का बहुत सुन्दर और संक्षिप्त वर्णन है।

एक और नायिका 'मान' के समय की अपनी दुष्ट बुद्धि को कोसती है कि उसके कारण प्रिय से इसने व्यर्थ ही कलह की। अब समझ में नही आता कि प्रिय को कैसे मनाए—

सिसकि सिसकि हियो कसकि कसकि उठे ताके
अफसोसन न कढ्यो भौन कोने सों।

---

१. हफीजुल्लाह खां का हजारा, विरह सम्बन्धी कवित्त-सवैये ८२, पृष्ठ ३२७
२. चैत चन्द्रिका गोकुलनाथ, सवैया १९३, पृष्ठ ४८

एकता न लागे मुकुतान के अनेक हार बकसै
दराज काज रूपे सों न सोने सों।।
भनत कविन्द्र ऐसे नाह सों गुनाह बिन कियो
मै बिगार धार टरे कहा टोने सों।
ऐरी तू कुमति मोसों कलह करायो अब
सुलह करावै कौन साँवरे सलोने सों।।[1]

मनुहार करता हुआ प्रिय मनाते-मनाते रूठ गया तब गर्व के कारण यह न मानी, अब मिलन के मार्ग में बाधा हो जाने से अत्यंत व्यथित हो उठी है 'सुलह करावै कौन साँवरे सलोने सों।' प्रेम के क्षेत्र में यह मान-मनुहार छोटे-मोटे झगड़े, जीवन की एक-स्वरता को भंग करते हैं, वे प्रेम के भाव को तीव्रतर करते रहते है।

प्रवास

नायक के किसी भी कारणवश विदेश जाने को 'प्रवास' कहते हैं। प्रवास विप्र-लम्भ का ही सबसे अधिक वर्णन काव्य में हुआ है, क्योंकि इसमें काल की दीर्घ अवधि होने के कारण वियोग-व्यथा की विभिन्न दशाओं का दिग्दर्शन सम्भव होता है। काव्यशास्त्रियों ने इसे 'कार्य हेतुक' और 'शाप हेतुक' कहा है। एक तीसरा भेद 'प्रणय हेतुक' भी हो सकता है जैसा रतनसेन का सिंहलद्वीप गमन था।

पति के विदेश जाने पर ही नहीं किन्तु उसका समाचार मात्र सुनने से ही नायिका के हृदय में विरह-व्यथा उत्पन्न हो जाती है। प्रिय के ससर्ग का भावी अभाव उसको उदास कर देता है—

जा दिन ते चाह सुनी नाह के गवनवारी तबहीं ते
सुधि खान-पान की बिसारी है।
भनत कविन्द्र वै सिंगार आभरण डारे सखिन
सों बोलनि हँसनि डारी न्यारी है।।
कज्जल कलित वाकै दृगन में आँस फिरै पैरी
मनोमीननि कालिन्दी धार कारी है।।
कौन सौ भरम कहे परम लजीली बाल
मौन तपसीलो खड़ी मौन में निहारी है।।[2]

नायिका को पहनना-ओढ़ना अच्छा नहीं लगता, सखियों से हँसती-बोलती नहीं। काजल से युक्त उसके नेत्र अश्रुओं में डूबे रहते है। वह अपनी व्यथा को प्रकट नहीं करती,

---

१. हफीजल्लाह खाँ का हजारा, पद ८३ : विरह सम्बन्धी कवित्त और सवैये, पृष्ठ ३२७
२. हफीजुल्ला खाँ का हजारा, विशेष रस के चुहचुहाते हुए कवित्त-सवैयों में, पद १००, पृष्ठ २८०

मौन तपस्विनी की तरह, भवन में चुपचाप उसे छिपाये रहती है।

कही 'पावस' मे बादलों से प्रार्थना करती है कि प्रिय के जाने से पहले ही बरस जाएँ जिससे वह अपना जाना स्थगित कर दें। किन्तु जब वे नहीं बरसते, जाने की बेला उपस्थित हो जाती है तो कुढ़कर अपनी सखी से कहती है, ये व्यर्थ ही गरजने के लिए आए हैं मेरे उपकार के लिए नहीं—

कहै धनसिह महाबारिद से देखियत बारितनु देत
तो क्यों बारिद कहाये है?
संकट सहाये काम एकऊ न आए हाइ
गरजन आए मेरी गरज न आए है।।[1]

निम्नलिखित पद किसी संस्कृत 'सुभाषित' का अनुवाद-सा प्रतीत होता है। यह भारतेन्दु की रचनाओं में मिलता है प्रवत्स्यपतिका[2] का प्रिय के प्रति आग्रह है—

रोकहि जो तो अमंगल होय,
ओ प्रेम नसै जो कहै प्रिय जाइये।
जो कहै जाहु न तो प्रभुता,
जो कुछ न कहै तो सनेह सनाइये।।
जो हरिचन्द कहै तुमरे बिन जी है न,
तो यह क्यों पतिआइये।
तासौ पयान समै तुमरे हम,
का कहै आपै हमैं समझाइये।।[3]

प्रवत्स्यपतिका की इस उक्ति में अनुभूति से अधिक वाक्चातुरी है। विदेश जाते हुए प्रिय से इस प्रकार तर्क-वितर्क करना हृदयस्पर्शी नही लगता; कवीन्द्र कवि की नायिका की मौन व्यथा अत्यन्त मार्मिक है—

कौन सौ भरम कहे परम लजीली बाल
मौन तपसीलों खड़ी भौन में निहारी है।
—कवीन्द्र

प्रोषितपतिका की विरह-व्यथा को हरिश्चन्द्र ने सुन्दरता से मुखर किया है—

थाकी गति अंगन की मति परि गई मन्द मुख
झाँझरी सी ह्वै के देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई
सुख के समाज जितहित लागे दूर जान।।

---

१. षट्ऋतु हजारा, परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत, धनसिंह कवि, पृष्ठ १८०
२. डा० नगेन्द्र—रीति शृंगार
३. देखिए—रीतिकाल में केशव सम्बन्धी विवेचन।

हरीचन्द रावरे विरह जग दुखमयो भयो
कछू और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे बैनहू अथान लागे
आओ प्राननाथ अब प्राण लागे मुरझ

विरह के वेदना से विरही के सब सुख नष्ट हो जाते हैं। प्रिय के बिना कुछ अच्छा नही लगता, बुद्धि पागल-सी हो जाती है, सोचने-विचारने की शक्ति क्षीण तथा देह थक-सी जाती है, मुख कुम्हलाया-सा हो जाता है और नेत्रों मे भी उल्लास नहीं रहता। केवल एक आशा के सहारे विरही जीवित रहता है; वह यह कि उसका प्राणप्रिय कब आएगा? विरही को एक रट ही लगी रहती है। "हे प्राणप्रिय कब आओगे मेरे प्राण नष्ट होने लगे है।" इस आशा के सहारे विरही वियोग की अवधि काटता है, अपने प्राण नष्ट नहीं होने देता और हृदय में प्रेम को संजोये रखता है।

तुलसी की सीता की 'सुनहू विनय मम विटप अशोका' सत्य नाम करू हरू मम शोका' की पद्धति पर प्रकृति से अपनी सहायता के लिए याचनाके कवित्त इस युग में भी मिलते हैं—

हे अशोक शोक हरि हरि को मिलाय मोंहि
लोहि को शपथ करि साँचो निज नाम को।
हे पलाश आश पूरि दूरि करि निज नाम
अहे पारिजात करि पूरो मम काम को॥
हे रसाल लाल को लखाय ये रसाल रूप
हे तमाल धरे हो स्वरूप तुम श्याम को।
ताते तुम्हें जानिये गुपाल मिलें दीनद्याल
काहे को विहाल हाल देखियत वाम को॥[3]

कृष्ण के विरह में दुखी राधा की उद्वेग, प्रलाप, शैथिल्य और जड़ता की दशाओं का चित्रण चण्डीदत्त के इस पद में अत्यन्त मर्मस्पर्शी है—

विरह बिहारी के विकल बिलखात बाल
बौरी सी लगति दुख अतिशय मलान की।
चण्डीदत्त आहिकै धरै है पग इत उत
घूमि के गिरी है ज्यो धरी है देह आन की॥
साँस न भरत पै शिथिल-सी दिखाई देत
होनी न मिटाई मिटै विधि बलवान की।
अतर लपेटि काल्हि कुंजन में भेटी
आज धूरि में धुरेटी लेटी बेटी वृषभान की॥[3]

---

१. हफीजुल्ला खां का हजारा, विरह सम्बन्धी, पद ४८, पृष्ठ ३१८
२. वही, पद ५१, पृष्ठ ३१८-३१९
३. वही, पद ३, पृष्ठ ३०८

रीतिकालीन काव्य पद्धति से प्रभावित, बारहमासा में क्वार के प्रभाव को व्यक्त करता हुआ यह पद भी बड़ा सुन्दर है। प्रकृति के विषम ज्वर से जलता हुआ विरही अपने हृदय की बेकली को छिपाने का कैसे प्रयत्न करता है, देखिए—

जात हिलमिली जोखन में झाँकति-झरोखन में
हियरा में हिलकी दृगन अँसुवा रमे।
कालिदास कहै आन कामिनी कुरंग नैनी
दामिनी ज्यों देखि जाति दमक दुआर में॥
जोन्ह में दहेगी दुख ऐसे क्यों सहेगी
जैसे सीता पार सागर के रघुवर वार में।
नन्द के कुँवर कान्ह कैसी कही पैहो जान
छाड़ि वृषभान की कुँअरि कुआर में॥[1]

प्रवत्स्यपतिका की उद्वेग और अश्रु के भावों की सुन्दर व्यजना यहाँ दूति की उक्ति में हुई है।

विरह की अवधि व्यतीत करती हुई नायिका प्रिय के आने के लिए सगुन मनाती है—

गिरि-गिरि जात कील पायल की शिवनाथ
फिरि-फिरि विलोके द्वार सगुन मनावती।[2]

जब कभी अनुकूल शकुन हो जाते है तो विरहिणी के जीवन में उल्लास छा जाता है। विरह के सारे दुख को वह भूल जाती है, व्यथा से पीला हुआ मुख आनन्द की लालिमा से दमकने लगता है। सुबह काग का बोल जाना, अंगों में अनायास उमंग का होना, हर्ष प्रफुल्लतासे बाजूबन्द का टूटना और सिर की साड़ी खिसकना विरहिनी के लिए प्रिय के भावी आगमन की सूचना देते है, हर्षातिरेक से वह झूम उठती है—

बोलि गयो काग आज बड़े भोर आँगन में
अंगनि उमग अनुराग सरसति है।
बाहन बहाली बढ़े बाजूबन्द टूटि जात
नराशिर सारी सरकति है॥
नीबी निबकाय अधिकाय सुख डाकन त्यों
आतुर अनंग के उरोज थरकति है।
आनन आनन्द की ललाई आनि छाई चाही
आवै आज साई आँखि बाई फरकती है॥[3]

---

१. मनोमंजरी, नखशिख कलिका, पद २५३, पृष्ठ ६७, भारत जीवन यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित
२. हफीजुल्ला खां का हजारा, विरह, पद ९१, पृष्ठ ३२९
३. वही, पद ४, पृष्ठ ३०८

भारतीय पारिवारिक जीवन में पति लौटकर आने के समय पहले परिवार के लोगों से मिले बिना पत्नी से नहीं मिल सकता। विरह में पति के आने की प्रतीक्षा करती हुई नायिका यही सोचती है। समाज की परिस्थितियों का काव्य में ध्वनित होना बड़ा स्वाभाविक है—

आवैगो कुंजबिहारी जबै नर नारि सबै मिलि मंगल गाइकै।
बजैगी अनन्द बधाई तबै गुरु लोग सबै मिलि हैं उर लाइकै॥
लोग विदा करि साँझहि श्याम भुजागहि कोमल अंग लगाइकै।
बहुरो कबहुँ दिन ह्वै है भटू ब्रज आयो पिया कहिहै कोउ आइकै॥[1]

प्रवास में प्रिय का गुणकथन और उसे संदेश भेजने की पद्धति का चित्रण भी स्थान-स्थान पर हुआ है।

करसों कर ग्रन्थि कपोलन छवै भरि अंक भटू बहुरो उर लावते।
मेरे लिए हरि चम्पकली अवली गुहि हार हिये पहिरावते॥[2]

× × ×

पाती मैं कहा लौं लिखौं कहियो पथिक जाय भयो
साई कियो रहै काहू के न कहन हौ।
जानि के अधीन तजी तलफत मीन लौं न आनी उर
दया भरे कपट में ऐन हौ॥
साँवरे मैं तरसत रावरे को गोहन को कहा कहौ
मेरे मन मोहन को मोन हौ॥
कैसो धरौ धरि नैन देखे बिन चैन है न
प्यारे सुख दैन हाय लगे दुख दैन हौ॥[3]

नायिका के पक्ष में ही नहीं नायक के पक्ष में भी विरह की व्यंजना इस युग में उपलब्ध है। सावन के मादक वातावरण में प्रिया की याद हृदय को झकझोर देती है, स्मृति का भाव कवि इस तरह व्यक्त करता है—

घाघरे की घुमड़ उमड़ चारू चूनरी को पायन मलूक
मखमल बार जोरे की।
भृकुटि कुटिल छूटी अक्कै कपोलन पै बड़ी बड़ी
आँखिन में छबि लाल डोरी की।
तीखन तरल जराउ जरबीली जोर स्वेदकन
ललित बलित मुख गोरे की।

---

१. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, विरह सम्बन्धी पद ८६
२. वही, पद ८७
३. वही, पद १२०

भूलत न भामिनी को गावन गुमान भरी
सावन में श्रीपति मचावन हिंडोरे की ॥[1]

करुण विप्रलम्भ अथवा सम्बन्ध विच्छेद

काव्य-शास्त्रियों ने करुण विप्रलम्भ की स्थिति तब मानी है जब प्रेमी युग्म में से एक पक्ष के मरणोपरान्त दूसरा पक्ष उसके जन्मान्तर में भी सशरीर उससे मिलन की अभिलाषा करता है।[2] करुण विप्रलम्भ की स्थिति तब भी काव्य में मिलती है जब इस शरीर के साथ नहीं किन्तु जन्म-जन्मान्तर तक प्रिय के मरण के पश्चात् प्रेमी उससे मिलने की कामना करता रहता है 'रति' इसका उदाहरण है। मिलन जब इस जीवन में असम्भव-सा प्रतीत हो और प्रिय के जीवित होने न होने का पता न हो तब भी करुण विप्रलम्भ होता है, यदि मिलन की आशा प्रेमी में बनी रहे जैसे कि उत्तररामचरित की सीता और राम तथा शाकुन्तलम् के दुष्यन्त और शकुन्तला की स्थिति है। इनके अतिरिक्त प्रिय के जीवित होते हुए भी तथा उसका पता होने पर भी जब मिलन असम्भव हो जाए और प्रेमी को मिलन की आशा जन्म-जन्म में बनी रहे और वह विरह में तड़पता रहे तब भी करुण-विप्रलम्भ की स्थिति ही माननी चाहिए। इसमें प्रिय यद्यपि चाहे प्रवास में ही हो किन्तु इस जन्म में उससे मिलन दुर्लभ हो जाता है। यथार्थ का तिरस्कार करके प्रेमी फिर भी अपने मन में प्रेम को जीवित रखना चाहता है। राधा का प्रेम और विरह इसी प्रकार का है।

प्रिय की उदासीनता के कारण अथवा विश्वासघात से जब सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब प्रेमी अपने हृदय में उसकी काल्पनिक आदर्श मूर्ति सँजोये रहता है और उसे ही प्रेम करता रहता है। प्रेम के क्षेत्र में दोनों पक्ष चेतन होते है अतः एक में हृदय परिवर्तन कोई अनहोनी बात नहीं है।[3] इस प्रेम को एक पक्षीय प्रेम कह सकते है। किन्तु उसमें विरही की मनोस्थिति बिलकुल वही होती है जो शास्त्रीय करुण-विप्रलम्भ मे है। प्रिय उसके लिए जीवित हुआ न हुआ बराबर है। यह करुण विप्रलम्भ शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ से और भी अधिक करुण इसलिए है कि यहाँ प्रेम के प्रतिदान में मरण जैसी बाधा न होकर प्रिय की उदासीनता होती है। मरण पर प्रिय का वश नहीं, उदासीनता पर वश होता है अतः विरह की वेदना और भी अधिक होती है। प्रेमी प्रिय का हृदय परिवर्तन चाहता है। राधा और गोपियों का विरह इसी श्रेणी का है। काव्य में विरह की इस मनःस्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण मिलता है। नायिका विश्वासघात पाने पर स्वयं को अत्यंत विवश अनुभव करती है। भुवनेश की उक्ति है—

---

१. श्रीपति—मनोमंजरी नखशिख कलिका, विरही वर्णन, पृष्ठ ६०, पद २३१
२. विरह का काव्य शास्त्रीय विवेचन प्रथम अध्याय में देखिए।
३. देखिए, विरह का काव्यशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक विवेचन (प्रथम अध्याय)

तजिकै कुल की कुलकानि सबै तुम सों हम आनि कै प्रीति करी।
भुवनेश अहो भई हौ ब्रज में बदनाम सोउ मन मैं न धरी॥
निबही न सोई अब तो तुम सों लगी तारिबे मैं नहीं एकोघरी।
परमेश्वरई अब जानत हैं कहते न बनै हम पै जो परी॥[1]

वह अपनी व्यथा का वर्णन किसी से नही कर सकती। लोग हँसेंगे, बातें बनाएँगे अतः चुप बैठी रहती है—

जानत कौन है प्रेम विथा केहि सों चरचा या
वियोग की कीजिए।
को कही माने कहा समझै कोऊ क्यों बिन
बात की सारहि लीजिए॥
कूर चबाइन में पड़िके हरिचन्दजू क्यों इन
बातन छीजिए।
पूछत मौन क्यों बैठी रही सब प्यारे कहा इन्हें
उत्तर दीजिए॥[2]

'अपने मन की व्यथा को हृदय में छिपाए रहती हूँ। क्या कहूँ, कहूँगी तो लोग बातें बनाएँगे अतः चुप रहती हूँ।' प्रसाद की 'निकल मत बाहर दुर्बल आह लगेगा तुझे हँसी का शीत' उक्ति का भाव यहाँ भी मिल जाता है।

प्रिय से मिलने की सब आशा समाप्त होने पर भी मन उसे नहीं भूलता। मृत्यु नहीं आती। समाज का निरादर झुलसाए जाता है किन्तु पापी प्राण न जाने किस आशा से शरीर का त्याग नहीं करता—

सब आश तो छूटी पिया मिलिवे की
न जाने मनोरथ कौन सजैं।
हरिचन्दजु दुःख अनेक सहै पै अड़े हैं
टरैना कहूँ को भजैं॥
अब सो निरशंक ह्वै बैठि रहै सो निरादर हू
सो कछू न लजैं।
नहिं जानि परै कछु या तन को केहि मोह ते
पापी न प्राण तजैं॥[3]

विरही उन्मादी हो जाता है। वास्तविक स्थिति का ज्ञान उसको नही रहता। अभिसार के लिए नायिका अब भी सहेट-स्थल पर जाती है, प्रिय विलम्ब होने पर भी जब नहीं आता तो सोचती है कि राह में आते हुए कहीं काँटा चुभ गया होगा। प्रतीक्षा

१. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, विरह सम्बन्धी कवित्त सवैये, पद ३५, पृष्ठ ३१९
२. वही, पद २१
३. वही, पद २२

करते-करते प्रातःकाल हो जाता है, चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं, तब—

तकि तकि चहुँ ओर जकि सी रही है थकि बकि
बकि उठै छकि छैल की लगन में।
हाहा बलबीर को बताय मेरी बीर एरी धाय धाय
बूझति है कुंज के मगन में॥
नन्द के किशोर चितचोर कित खड़े ह्वै हैं
कहूँ कुश कण्टक पगन में।
अजहूँ न आए बनमाली कित गए आली
बोली चटकाली लाली लहकि गगन में॥[1]

इस पर भी प्रिय यदि सन्देश भेजे कि मुझे भूल जाओ अथवा ईश्वर से एकात्म करके देखो तो सहनशक्ति की सीमा हो जाती है। एक ओर तो 'रत्नाकर' की विरहिणी गोपियों की तरह नायिका ब्रह्म से भी कृष्ण की मूर्ति मिलाने को आतुर हो जाती है और यदि वह न मिले तो लौट आने को प्रस्तुत। दूसरी ओर, बुद्धिवादी युग की प्रतिनिधि-सी कहती है कि हे उद्धव यदि वे पृथ्वी के जीव नही है तो कुब्जा के वक्षस्थल पर हाथ रखे कैसे सुख का अनुभव कर रहे हैं। निराशा को ईर्ष्या ईंधन देती हुई-सी प्रतीत होती है—

कुबिजा जग के कहा बाहर है नंदलाल ने जा उर हाथ धर्‌यो।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय के प्यारे निवास कर्‌यो॥
हरिचन्द न काहू को दोष कछू मिलिहै सोइ भाग से जो उतर्‌यो।
सबको जहाँ भोग मिल्यो तहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्‌यो॥[2]

गोपियों का विरह भी करुण विप्रलम्भ ही है। भारतेन्दु युग को गोपियाँ कृष्ण के विरह में पागल हुई-हुई भी उनके बहानों और उनकी कार्य-व्यस्तता को वैसे ही परम्परागत रूप में स्वीकार नहीं कर सकतीं। कृष्ण के प्रपंच को वे जानती हैं अतः कहती हैं यदि कृष्ण हमसे मिलना चाहते तो मथुरा भूमि पर ही है आकाश में नहीं, वे मिल सकते थे। सत्य यही है कि वे हम से मिलना नहीं चाहते। गोपियों के इस वक्तव्य को आधुनिक-युग की सजग-बुद्धिवादी-चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न कहा जा सकता है।

षट् ऋतु वर्णन

भारतेन्दु काल की शृंगारिक कविता में प्रकृति का उद्दीपक रूप ही प्रखर रहा है। ऋतु का विरही के मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, वह उसकी वेदना की उद्दीप्ति किस भाँति करती रहती है इसी का विशद् वर्णन इस युग में हुआ। ऋतु के उपस्थित होने पर ही नहीं प्रत्युत उसके आगमन की आशंका मात्र से भी विरही उद्विग्न हो जाता है।

१. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, विरह, पद २२
२. वही, विरह, पद ५९

वसन्त

वसन्त ऋतु के विषय में भारतेन्दु युग के सभी शृंगारी कवियों ने कुछ न कुछ भाव व्यक्त किए हैं। वसन्त ऋतुराज है, उसका प्रभाव विरही पर सबसे अधिक हो यह स्वाभाविक ही है।

एक प्रोषितपतिका नायिका को सखी समझाती है कि वसन्त के उपस्थित होने पर तो प्रिय अवश्य ही आएँगे। क्या आम, कदम्ब व टेसू में फूल लगेंगे। कोकिला गाएगी तब भी प्रिय का मन आर्द्र न होगा ?

फूलनदे अबै टेसु कदम्बन अम्बन बौरन छावन देरी ।
री मधुमत्त मधूकन पुंजन कुंजन शोर मचावन देरी ॥
क्यों सहि है सुकुमारि किशोर अरीकल कोकिल गावन देरी ।
आवत ही बनिहै घर कंतहि बीर बसंतहि आवन देरी ॥[1]

—किशोर कवि

एक दूसरी विरहिणी वसन्त के आगमन पर पति के आने की अभिलाषा करती है—

होन लागे शोर चहुँ ओर प्रति कुजन में त्योंही पुज पुजन
पराग नभ छायगो ।
फूल फल साजन को आयसु विपिन माँहि शीतल
सुगंध मंद पौन पहुँचायगो ॥
द्विजदेव भूले भूले फिरत मलिंदन की सुखमा विलोकि
हिये सुखसरसायगो ।
आए हुते आगे ते हरौलन के लोग इत आवत
हमारे उत ऋतुपति आयगो ॥[2]

—द्विजदेव

इस अभिलाषा के साथ कहीं-कहीं आशंका भी होती है कि यदि वसन्त के न आने पर भी प्रिय न आए तब क्या होगा ?

भूलै-भूलै भोर बन भाँवरे भरेंगे चहूँ फूलि-फूलि
किंशुक जके से रहि जाय हैं ।
द्विजदेव की सौ वह कूजनि बिसारि कूर कोकिल
कलंकी ठौर-ठौर पछिताय हैं ॥

---

१. षट्ऋतु हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत, किशोर कवि, पृष्ठ ६, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में सन् १८६४ में प्रकाशित।

२. वही, द्विजदेव, पृष्ठ २१

आवत बसन्त के न ऐहै जो पे श्याम तोपे बावरी
बलाय सो हमारेहू उपाय है।
पी है पहिले ही तें हलाहल मँगाय या कलानिधि
की एको कला चलन न पाय हैं॥[1]

—द्विजदेव

वसन्त में जब मद में भूले भ्रमर वन-वन में घूमेंगे, किंशुक फूलेगा, कोकिल का कलरव होगा तब भी यदि प्रिय न आए तो मै क्या करूँगी? चन्द्रमा की कला मेरी व्यथा को बढ़ाने का उपाय करेगी परन्तु मेरे पास क्या अपनी रक्षा का उपाय नही है? वसन्त के आगमन से पहले ही मैं जहर खा लूंगी। प्रिय से मिलने की आशा विरही को निरन्तर जीने की प्रेरणा देती है किन्तु निराशा के क्षणों में कभी-कभी वह प्रेम को हृदय में सुरक्षित रखते हुए जीवन का अन्त भी कर देना चाहती है, क्योकि प्रतिदान के अभाव मे उसके पास जीने की शक्ति नहीं रहती।

'रघुनाथ' की विरहिणी भी वसन्त को सन्मुख उपस्थित देखकर ऐसे ही सशंकित हो गई है। 'वसन्त में अनार, कचनार, आम, शिरीष सब फूलेगे। हे सखी! प्रिय ने जो विरह का विरवा लगाया था क्या वह भी प्रफुल्लित होगा? उसमें भी फल-फूल लगेंगे?' विरहिणी ने विरह मे प्रतीक्षा के इतने क्षण व्यतीत किये है क्या इस तपस्या के फल की प्राप्ति उसको भी होगी? प्रिय दर्शन होगे?—

फूलैगे अनार कचनार नहसुत आम,
फूलेगे सिरिस औ पनस फूल सुलैगो।
फूलैगी सु पाण्डर औ मालती अमिलतास,
सेमर पलाश फूलि आग रूप तूलैगो॥
फूलैगो कनेर माधवी चमेली
रघुनाथ फूलैगे गुलाब जिन्हे देख चित भूलैगो।
विरह को बिरवा लगायो जौन कन्त सखि
आवत बसन्त कहौ वही अब फूलैगो॥[2]

—रघुनाथ

प्रकृति का मानव-हृदय से शाश्वत सम्बन्ध है। वातावरण को उल्लासमय पाकर वह भी मत्त होकर उसके साथ झूम जाना चाहता है। यदि ऐसी स्थिति में प्रिय निकट न हो तो अभाव से प्रताड़ित विरही को प्रकृति के सुख से ईर्ष्या होने लगती है। मलय पवन उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके मिस मलयगिरि ने विरहियों को तड़पाने के लिए अपने सर्पों का विष वायुमण्डल में फैला दिया हो। कोकिला का राग उसके हृदय

---

१. षट्ऋतु हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत, द्विजदेव, पृष्ठ २३
२. वही, रघुनाथ कवि, पृष्ठ ५७

कचोट को तीव्रतर करता रहता है—

मलयगिरि मारूत के मिसि विरहाकुलनि
दिशि दिशि व्यालन को विष बगरायोरी।
तापर किशोर तैसो पंचम नवलराग
कोक की कलान भीनो कोकिलन गायोरी॥
कौन सुनि मौचे मान लौचे कौन मिलन को
शौचैं कौन श्याम देखि नेह सरसायोरी।
आमन के भौर लागे अंकुरन मौर लागे
भौर लागे भ्रमन बसन्त अब आयोरी॥[1]

—किशोर कवि

विरही को वसन्त के सब सुखद उपकरण दुखी दिखाई पड़ते है। 'जामुनों को लगा देखकर उसे ऐसा लगता है जैसे जामुन के वृक्ष की हरियाली को किसी ने जला दिया हो और कोयले अवशेष रह गए हों। कोयल कराहती-सी लगती है, वायु विष से भरी हुई तथा पलाश वन अग्नि से दग्ध-सा प्रतीत होता है। 'नरेश' कविकी इस उक्ति में कोयल का कराहते हुए से प्रतीत होना अत्यन्त स्वाभाविक है किन्तु जामुनों का कोयले जैसा लगना अतिशयोक्ति ही कही जाएगी। इस प्रकार की दूर की सूझ भारतेन्दु कालीन कवियों को रीतियुग से विरासत में प्राप्त हुई थी—

भोरिसे कौन लये बन बाग ये कौन जुआमन की हरियाई।
कोयल काहे कराहती है वन कौने चहुँदिशि धूरि उड़ाई॥
कैसी नरेश बयारि बहै यह कौन धौं कौन सों माहुर नाई।
हाय न कोउ तलाश करै ये पलाशन कौन दवारि लगाई॥[2]

—नरेश

विरही को मृग वसन्त की अग्नि से तड़पते-से प्रतीत होते हैं और कोयल भी अपने समान ही तप्त प्रिय को रक्षा के लिए पुकारती हुई-सी लगती है—

प्यार के वियोग आली उठी आगि वृन्दावन
जरती सदेह कुंजे सुन्दरी महाँ-महाँ।
बौरे कचनार आँच उठती पलाशन ते
कुसुम करील डीठ परति जहाँ-जहाँ॥
मन्साराम तिन्हैं भेटि आवत समीर बीर
तजो जात तन ताती लागति तहाँ-तहाँ।

---

१. षट्ऋतु का हजारा, किशोर कवि, पृष्ठ ७
२. वही, नरेश कवि, पृष्ठ २९

मृग अधमारे बिललात है भँवर कारे
कोयल हू कोपलै पुकारती कहाँ-कहाँ ॥[1]

—मन्साराम

कहीं-कहीं कवि वसन्त की तपन जलन का विशद् वर्णन न करके जब केवल उसके आगमन पर अपनी विरहिणी की दशा को व्यक्त करता है तो अनुभूति अत्यन्त मार्मिक हो जाती है—

जानति ही न वसंत को आगम बैठहि ध्यान धरे निजु पी को।
एते में कानन ओर सों आइकै कानन में पर्‌यो बोल पिकी को ॥
हे रघुनाथ कहा कहिये कहि आयो हा आयो गरो भरि तीको।
लोचन वारिज सों अँसुवा को अथाह बह्यो परवाह नदी को ॥[2]

—रघुनाथ

वसन्त के आगमन की नायिका को सुधि नहीं थी, वह प्रिय के ध्यान में मग्न बैठी थी। इतने में ही कोयल ने कूक कर उसका ध्यान भंग कर दिया, वसन्त के आगमन की सूचना पाकर उसका गला भर आया और नदी के प्रवाह के समान अविरल अश्रु उसके नेत्रों से बहने लगे। अतिशयोक्ति से विहीन स्वाभाविक अनुभावों में विरहिणी की दशा का यह चित्रण वास्तव में विरह काव्य की निधि है। तप्त उच्छ्वास और मौन अश्रु विरहिणी की व्यथा को मुखर बना रहे हैं।

किसी विरहिणी का प्रिय वसन्त ऋतु में आने वाला था। सखियों ने उसे ढाढ़स दिया था कि जब कोयल कूकेगी तभी प्रिय से मिलन होगा तब तक धैर्य रखो। इसी आश पर विरह के दिन व्यतीत करती हुई नायिका वसन्त के आगमन पर उद्विग्न हो जाती है—

तोहि बसन्त के आवत ही मिलिहै इतनी कहि राखी हितूजे।
सो अब बूझति हों तुम सों कछु बूझेते मेरे उदासन हूजे ॥
काहे ते आये नहीं रघुनाथ ये आइके औध के बासर पूजे।
देखु मधुव्रत गूंजे चहुँदिशि कोयल बोलि कपोत्तउ कूजे ॥[3]

—रघुनाथ

विरही जीवन पर वसन्त के इस घातक प्रभाव को देखकर एक कवि विधाता उलाहना देता है। संसार में यदि विधाता ने नर-नारी को उत्पन्न भी कर दिया था उनके बीच में परस्पर प्रेम सम्बन्ध क्यों स्थापित किया ? प्रेम का सम्बन्ध भी कि था तो संयोग और वियोग का विधान क्यों बना दिया ? यदि वियोग की व्यथा भी

---

१. षट्ऋतु का हजारा, मन्साराम कवि, पृष्ठ ४९
२. वही, रघुनाथ, पृष्ठ ५८
३. वही, पृष्ठ ५८

थी तो भूल कर भी कम से कम वन उपवनों में वसन्त का प्रसार तो नहीं करना चाहिए था।

लोक न सँवारो न बिगारो कछु लोक न सँवारि
नर नारिन सँवारतो।
कीन्हें नर नारि तौ न प्रेम को प्रचार देतो
प्रेम को प्रचारो तौ न मैन को प्रचारतो ॥
मैन को प्रचारो तो प्रचारो ना संयोग देतो
कीन्हे जो संयोग तो वियोग न बिचारतो।
नन्दराम कीन्हों जो वियोग विधनातो भूलि
बौरे बन बागन बसंत न बगारतौ ॥[1]

—नन्दराम कवि

वसन्त के दिन भी समाप्त होने लगते है तो विरही के धैर्य का बाँध टूट जाता है—

बीतन लागे बसन्त के वासर औधि की आश अजै अभिलाखौ।
मण्डन ये इतने संग राम पियारे की सीखन तीखजनाखौ ॥
क्षीण भई तन मोतन अन्तर दाह निरन्तर कौन सभाखौ।
दारूण भार अंगार की आगि रूई में लपेट कहाँ लग राखौ ॥[2]

—मण्डन कवि

'वसन्त के मोहक वातावरण में कामाग्निसे दग्ध शरीर की रक्षा कहाँ तक करूँ।'

वसन्त ऋतु का चन्द्रमा मानिनी के मानरूपी दुर्ग को तोड़ने के लिए सुभट योद्धा बन जाता है। वसन्त के समस्त उपकरण उसकी सेना के सैनिक बनकर अपने बल का प्रयोग करते है। तत्कालीन युद्ध की परिस्थितियो में वसन्त का यह रूपक अत्यन्त सुन्दर है—

तारे जहाँ सुभट नगारे पिकनाद जहाँ
पैदल चकोर कोर बाँधे बंदवेश की।
गुजरत भौर पुंज कुंजरत मोर जहाँ पौन झकझोर
घोर घमक हमेश की ॥
भनत कबिन्द्र शर फौज है बसंत आली मिलै तंत
कंत सो मनोज मनायेश की।
मानावरी गढ़ी पै गुमान ढाइबे को आज चढ़ी है
सवारिया निशाकर नरेश की ॥[3]

—कबिन्द्र कवि

द्विजदेव और भारतेन्दु दोनों इस युग के सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि कहे जाते हैं वसन्त के सम्बन्ध में दोनों की उक्तियाँ ही अनुपम है। वसन्त के आगमन पर द्विजदेव कल्पना

१. षट्ऋतु का हजारा, नन्दराम, पृष्ठ ३०
२. वही, मण्डन, पृष्ठ ४८
३. वही, कबिन्द्र पृष्ठ ६

करते हैं कि काम-देव और रति विरहियों को सताने के लिए अपने वसन्तरूपी इन्द्रजाल का प्रसार करते हैं। इस कार्य की सफलता के लिए वे नई-नई युक्तियाँ खोजते रहते हैं—

गुंजरन लागीं भौंर भीरैं कलिकुंजन में क्वैलिया के
मुख तें कुहूकन कढै लगी।
द्विजदेव तैसे कछु गहब गुलाब तें
चहकि चहूँघा चटकाहट बढै लगी॥
लागो सरसावन मनोज निज ओज रति
विरही सतावन की बतियाँ गढै लगी।
होन लागी प्रीति रीति बहुरि नई सी
नवनेह उनई सी मति मोह सों मढ़ै लगी॥[1]

—द्विजदेव

'वसन्त के मादक वातावरण में कहीं किसी कुंज में छिपकर कामदेव अपने रूप को सुन्दरतर बनाने लगा और रति, विरहियों को कैसे सताया जाय इसके नये-नये उपाय खोजने लगी। नवीन स्नेह उमड़ आया और प्रेमियों के मन पर उसका उन्मादक प्रभाव छाने लगा।' वसन्त ऋतु का इससे सजीव और सजल वर्णन और कहाँ मिलेगा? एक जीवित चित्र नेत्रों के सन्मुख छा जाता है—कहीं किसी कोने में काम और रति अपने-अपने प्रयोगों की नई युक्तियाँ, रीतियाँ सोच रहे है।

वसन्त के उस मादक रूप के विपरीत विरहिणी नायिका के जीवन में वसन्त के आगमन की मार्मिक कल्पना भारतेन्दु ने की है। जीवन में वसन्त का आगमन उल्लास का द्योतक होता है किन्तु विरही के जीवन में वह व्यथा का मूर्त्तिमान रूप बन गया है—

पीरो तन पर्‌यो फूली सरसौ सरस सोई
मन मुरझानों पतझार मानो लाई है।
सीरी स्वांस त्रिविध समीर सी बहति सदा
अँखियाँ बरसि मधु झरि सी लगाई है॥
हरिचन्द फूलें मन मैन के मसूसन सों
ताहि सों रसाल बाल बदि कै बोराई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कन्त के हिमन्त अन्त
तेरी प्रेम जोगिनी बसन्त बन आई है॥[2]

—हरिश्चन्द्र

जैसे हेमन्त के बाद वसन्त आता है वैसे ही नायिका के व्यक्तित्व में उसके व्यथा-पूर्ण जीवन से संसिक्त होकर वसन्त का आगमन हुआ है। त्रिविध समीर के सदृश उसके

१. मनोमंजरी (चतुर्थ कलिका) पृष्ठ ३४, (नखशिख के अपूर्व कवित्तों का संग्रह) —भारत जीवन यन्त्रालय काशी से प्रकाशित, सन् १९०६
डा० नगेन्द्र—रीति शृंगार

उच्छ्वास निरन्तर उठते रहते हैं, आँखों से प्रेमसिक्त अश्रु रूपी मधु की वर्षा होती रहती है। आम्र के बौर की भाँति उसका सरस मन भी बौरा गया है। 'प्रेमयोगिनी' वसन्त-सी बन गई है।

वसन्त के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में प्रकृति का रूप उद्दीपन होते हुए भी पूर्णतः परम्पराभुक्त नहीं कहा जा सकता। ऋतु विरही-मानस पर प्रभाव डालती है यह बात तो ठीक है और परम्पराभुक्त भी है किन्तु प्रभाव की परिस्थितियों की व्यजना और उनके विभिन्न मार्मिक चित्र इन कवियों की अपनी मौलिक कल्पना है। इस युग के कवियों ने ऋतु के सम्बन्ध से विरही-मानस की मनोस्थितियों को मथकर निकालने की चेष्टा की है और उसके क्षण भी ढूढ़े हैं। वसन्त के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं के विषय में भी यह बात युक्ति सगत ही है।

पावस

दूसरी ऋतु जिसका विशद वर्णन इस युग में हुआ वह पावस है। यद्यपि प्रत्येक ऋतु का अपना-अपना आकर्षण है किन्तु वसन्त और पावस ये दोनों विशेष आकर्षक मानी गई हैं और उसी अनुपात से ये अभाव से पीडित विरही के मन को झकझोरती भी हैं।

आकाश में जब ग्रीष्म की तपन के बाद मेघ घुमड़ने लगते हैं, सूखी, प्यासी और मृतप्राय धरती में फिर से प्राण संचार होता है ; हरी भरी वनस्पति के मिस वह अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगती है तब विरही के लिए फिर एक बार कठिन परीक्षा का समय उपस्थित हो जाता है। सम्पूर्ण प्राणीजगत् प्रकृति के उल्लास में जब डूब जाता है तब विरही का प्राण विकल हो उठता है, उसका क्या अपराध है वह भी क्यों प्रसन्न नहीं हो सकता, उससे यह अधिकार किसी अज्ञात प्रेरणा ने क्यों छीन लिया है ? केवल इसीलिए न कि जिस प्रिय मे उसकी आत्मा ने अपने दर्शन किए थे वह उसके पास नहीं है। ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न होने पर द्विजदेव की नायिका प्रिय के पास वापस लौट आने की अनुनय के लिए पत्र लिखने को व्याकुल हो उठती है—

धुंधरित धुर धुरवान की सुछाई नभ जलधर धारैं धरा
परसन लागी री।
द्विजदेव हरी-भरी ललित कछारैं त्यों कदम्बन की
डारैं रस बरसन लागीरी॥
कालिही ते देखि बन बेलिन की बनक नबेलिन की
मति अति अरसन लागी री।
बेगि लिखु पाती या सघाती मनमोहन को
पावस अवाती ब्रज दरशन लागी री॥[1]

—द्विजदेव

१. षट्ऋतु का हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संग्रहीत, द्विजदेव, पृष्ठ १७०

सावन की मोहक अँधियारी रात में जब पपीहा पिउ-पिउ पुकारने लगता है, बिजली की दमक हृदय में तड़पन-सी उत्पन्न करती है तब मदमत्त यौवन और अभिलाषा से पीड़ित विरहिणी अपने घर की सूनी सेज में कामाग्नि से दग्ध फूट-फूटकर रो पड़ती है—

यौवन प्रवेश में विदेश मधुसूदन जी
निपट अँध्यारी कारी सावन की यामिनी।
एकटक रटत पपीहा पिक नीलकण्ठ
हियो चमकत दमकत जब दामिनी॥
सूने सेज मंदिर में सुंदरि बिसूरै बैठी
प्रीतम सुजान बिन कैसे जियै भामिनी।
नैन भरि-भरि ढरै मुख हरि-हरि करै
उछरि-उछरि परै काम भरी कामिनी॥[1]

—नीलकंठ

दादुर कोकिल व मोर का शब्द उसकी वेदना को तीव्रतर करता है, हृदय में अग्नि-सी जलने लगती है—

सावन की रैन मन भावन गोविन्द बिन देत दुख झारन में
झिल्लिन के शोर हैं।
कालिदास प्यारी अँधियारी में चकित होत
उमड़ि-उमड़ि घन घहरत घोर है॥
सूने कुंज मंदिर में सुंदरि बिसूरै बैठि
दादुर ये दहक सी लेत चहुँ ओर है।
हिय में वियोगिन के विरह की हूक उठी
कूक उठी कोयल कुहुक उठै मोर है॥[2]

—कालिदास कवि

बार-बार उमड़-घुमड़कर बरसते हुए बादलों के वातावरण में अपने जीवन की भरसक रक्षा करती हुई विरहिणी हताश हो जाती है। पापी पपीहा अपनी रटन का त्याग ही नहीं करता, मन में काम भावनाएँ उत्पन्न करता है, पवन के झकोर हृदय को झकझोर रहे हैं। मेघ मल्हार का सुन्दर राग गाते हुए मोर हृदय में टीस उत्पन्न करते हैं—

कैसी करौ हेरि यह घेरि दिशा विदिशानि फेरनभ
मण्डल घमण्ड घन छायोरी।
पीड़ित पियास परमातुर पपीहा पापी
पीउ-पीउ कह तन अतन जगायो री॥

---

१. षट्ऋतु का हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संग्रहीत, नीलकंठ, पृष्ठ १८५-१८६
२. वही, कालिदास, कवि १४६

कहत किशोर तैसी पवन झकोरन सों मोरन
त्यों महत मलार सुर गायोरी।
बड़े-बड़े बुन्दन विलोकि बारि धारा बीर
अबहीं बरसि गयो फेरि झपि आयोरी ।।[1]

—किशोर कवि

इतने दिन तक प्रिय के वियोग में जीवन की रक्षा की किन्तु अब वर्षा में कैसे करूँ ?—

छाय के प्रेम गये जब ते तब ते मैं बची
करि कोटि उपाय कै।
पायकै पावसरी ऋतु सो अब
को बचि है उठि कोकिल गाय कै ।।
गाय कैसो नन्दलाल कहै चपला चमकै
चहुँ ओर सौं आय कै।
आय के हाय मिले नहिं मोहन
मेरी अटापै घटा रही छाय कै ।।[2]

—नन्दलाल

खीझकर वह दुष्ट चातक, मोर, दादुर व पपीहे को ताड़ना देने लगती है कि वे अपने क्रूर उन्मादक शब्दों को बन्द करें। पवन, बादल और बिजली भी अब उसके साथ कठिन व्यवहार न करें।

चातक चिहुँक मत मुरवा कुहुक मत
भींगुर किहुँक मत भेकी भननाय मत।
चकवा चिकार मत पपीहा पुकार मत
बुंदझर धारमत धार धहराय मत ।
कृष्णलाल गाय मत पीर उपजाय मत
बालम विदेश पाय मैन तन ताय मत ।।
पौन फहराय मत चपला चवाय मत
धाय मत धुरवा औ घन घहराय मत ।।[3]

—कृष्णलाल कवि

× × ×

घहरि-घहरि घन सघन चहूँघा घेरि
छहरि-छहरि विष बिन्दु बरसावैना ।।

---

१. षट्ऋतु का हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत, किशोर कवि, पृष्ठ १४८
२. वही, नन्दलाल, पृष्ठ १८६
३. वही, कृष्णलाल कवि, पृष्ठ १५१

द्विजदेव की सौं अब चूक मति दाबि
अरे पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना ।।
फेरि ऐसो औसरन ऐहै तेरे हाथ येरे ।
मटकि-मटकि मोर शोर तू मचावै ना ।।
हौं तौ बिन प्राण देह चाहत जोई अब ।
कतहि मरसि तू अकाश बीच धावै न ।।[1]

—द्विजदेव

आषाढ़ में ही पीले नवीन अंकुर धरती से जब फूटने लगते हैं तब विरही को ऐसा लगता है जैसे ये बादल उसके प्राण लेने आये हों—

कहै कविराम पीरे अंकुर मही ते कढ़े बढ़ी पीर ।
बनिता के देखें जल बाढ़ के ।
काम के उमाहक विरही जन दाहक ये आये,
प्राण ग्राहक बलाहक अषाढ़ के ।।[2]

—कविराम

आषाढ़, फिर सावन भी बीतने लगता है, बादल उसकी व्यथा से निरपेक्ष बरसते रहते है तब विरही विवश होकर प्रिय से ही रक्षा की प्रार्थना करने लगता है—

केकी जब कूकैं तब सूकैं प्राण काशीराम,
हरी-हरी भूकैं हेरे शोच सरसाती है ।
भाक-सी भयो है भौन भरैं दुख कौन दीजै,
छति लौन ऐसे पौन गौन परसतु है ।।
विपति नरेश तुम छाये परदेश अति विपति,
हमारी ह्याँ विधाता दरसतु है ।
वेगि सुधि लेहु नातो छूटी जाति देह,
अब कोप्यो है अदेह अरु मेह बरसतु है ।।[3]

—काशीराम

परम्परागत विधि में वह सोचने लगती है कि क्या जिस देश में प्रिय है उसमें पावस नहीं होती; दादुर, मोर, पपीहा नहीं बोलते ?—

कैधौं वह देश शेष दादुर चवाइ डारे
कैधौं शैल शिखर शिखीन बैठि बोले ना ।
भनत दिवाकर की इन्द्र के न देश वह
धारा में न धार जल गान वह टोलैना ।।

१. षट्ऋतु का हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत, द्विजदेव, पृष्ठ १७१
२. वही, कविराम, पृष्ठ १५३
३. वही, काशीराम, पृष्ठ १५२

झिल्लि गण मूक भइँ शबद सुनावै नाहिं
विपिन विहँग संग करत कलोलै ना।
ऐसे समय दुन्द मोहिं वुदन उठाय हाय
पावस निशानो श्याम आवत अबौलैना ।।[1]

—दिवाकर

मकरन्द की विरहिणी के हृदय में दुविधा है कि या तो प्रिय के देश में वर्षा होती ही न होगी अतः उनका मन कामोदीप्त न हुआ अथवा इतनी हुई होगी कि नदी-पथ भर गए और प्रिय मार्ग में बाधा होने के कारण न आ सके। क्या चातक, पपीहा, मोर सब वहाँ मर गए जो प्रिय के भाव को नही जगाते। नायिका सखी से कहती है कि या तो शिव ने फिर से काम भस्म कर दिया होगा या काम के पंचबाण भी मेरे प्रिय पर प्रभाव न डाल सके होंगे—

कैधौं वहि देश घन घुमड़ि न बरसत
कैधौं मकरन्द नदी नदपथ भरिगे।
कैधौं पिक, चातक, चकित चक्रवाक
मत्त भये दादुर मधुप मोर मरिगे ।।
मेरे मन आवत न आली प्यारे आवत है
काम कुर निकर महीतेधौं निकरिगे।
कैधौ पंचशर हर फेर के भसम कीन्हों
कैधौ पंच शरजू के पाँचो शर सरिगे ।।[2]

—मकरन्द कवि

बेनी कवि की विरहिणी विद्युत् को उलाहना देते हुए कहती है कि हे विद्युत! तुम वृक्षादि का नाश कर देती हो, मयूर और पपीहे तुमसे काँपते हैं, तब विरही के प्राणों का अंत भी क्यों नही कर देतीं? उसको केवल तड़पाकर ही क्यों छोड़ देती हो?—

है अफसोसन रोसन वासै बिन हौसलता रहि
रूखन सो भिरि।
बेनी पपीहन मोरन हूँ हहरानन दूंदि
करै बहुतै फिरि ।।
ज्यों डरपै तड़पै बिजुरी परैकाहू वियोगिनी पै
नकहूँ गिरि ।।[3]

—बेनी कवि

---

१. षट्ऋतु का हजारा, दिवाकर कवि, पृष्ठ १७६
२. वही, मकरन्द कवि, पृष्ठ २१०
३. वही, बेनी कवि, पृष्ठ १९५

एक ओर निराशा के ऐसे भाव जहाँ विरही के मानस को झकझोरते हैं वहाँ दूसरी ओर कोई प्रिय के प्रेम में अनन्त विश्वास रखता हुआ; पावस के मादक वातावरण में वे कैसे दिन बिताते होंगे इसकी सोच करता है। एक नायिका अपनी सखी से कहती है—

घूमि घटा घन की गरजै चमकै चपला क्षिति छ्वै फिरै फेरि।
शोर करै चहुँ ओर ते मोर जुरि करै क्वैलिया कूक घनेरी॥
गोकुल सीरौ समीर लगै केहि भाँति सौ धीर रहेंगे धरेरी।
मोहि बिना यह सावन की निशि भावन कैसे बिताय हैं एरी॥[1]

—गोकुल कवि

विरह की टीस का दिग्दर्शन भारतीय काव्य में स्त्री के पक्ष में अधिकतर किया गया है क्योंकि वह प्रकृति से अधिक भावुक और सहनशीला है, प्रेम का प्रतिदान न पाने पर भी वह अपने भाव का पोषण बड़ी सफलता से कर सकती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुरुष में विरह की कोमल वृत्ति होती ही नहीं, होती है किन्तु अपने गम्भीर स्वभाव और कार्य व्यवस्तता के कारण वह उसको अभिव्यक्त नहीं होने देता। विरह की विकलता नायक की धीर-गम्भीर प्रकृति से मेल नहीं खाती इसीलिए हमारे यहाँ नायक के पक्ष में उसका दिग्दर्शन बहुत ही कम हुआ है किन्तु फिर भी यत्र-तत्र उसकी झलक मिल जाती है। अपने मन को समझाते हुए नायक कहता है—

प्राणप्रिया मिलि है मन तू न तरस न तरस न तरस न तरस।
छिन एक क्षमा कर मैन हिये न सरस न सरस न सरस न सरस॥
रसिकेश अरे विरहा अब तो न दरस न दरस न दरस न दरस।
इत आवहि प्यारी घटा तब लौं न बरस न बरस न बरस न बरस॥[2]

—रसिक बिहारी

विरह की वेदना प्रिय से वियुक्त होने पर ही नहीं होती, वियोग की आशंका मात्र से भी हो सकती है, प्रवत्स्यपतिका में उसकी स्थिति इसी रूप में है। आकाश में मेघ देख कर नायिका कामना करती है कि वर्षा हो जाय तो उसका पति विदेश जाने का विचार स्थगित कर दे। जब पानी नहीं बरसता तो वह बादल को उलाहना देती है—

भोर ही चलत परदेश प्राण प्यारे सुनि
मेरो दुख धाइ आइ गगन घन छाये हैं।
बूँदउ न छूटै लाल चलबै को ऊटै
त्यों त्यों मेरो प्राण छूटै अब क्यों न झरि लाये हैं॥
कहै धनसिंह महावारिद से देखियत
वारि तनु देत तौ क्यों वारिद कहाए हैं।

---

१. षट्ऋतु का हजारा, गोकुल कवि, पृष्ठ १५६
२. वही, रसिक बिहारी, पृष्ठ २१६

संकट सहाये काम एकऊन आये हाइ
गरजन आये मेरी गरज़ न आये हैं॥[1]

—धनसिंह

यमक की योजना से उक्ति अत्यन्त सुन्दर बन गई है। एक ओर बादल गरजकर नायिका के शृगार भावों की उद्दीप्ति कर रहे हैं दूसरी ओर बरसते भी नहीं जिससे उसकी स्वार्थ-सिद्धि हो सके यह ध्वनि 'गरजन आये मेरी गरज न आये है,' उक्ति से स्पष्ट हो रही है। नायिका के हृदय का यह संघर्ष अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर है।

कविवर रत्नाकर ने पावस के समस्त उपकरणों को नायिका के जीवन में संयोजित किया है। पावस का मूर्तिमान रूप बनकर विरहिणी अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन गई है—

रहति सदाई हरियाई हिय घायनि में
उरध उसाँस सो झकोर पुरवा की है।
पीय-पीय गोपी पीर पूरित पुकारति है
सोई रत्नाकर पुकार पपिहा की है॥
लागी रही नैननि सौ नीर की झरी औ'
उठे चित्त में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम धाम ब्रजमण्डल में
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥[2]

—रत्नाकर

सूर ने भी 'निशि दिन बरसत नैन हमारे' कहकर अपने जीवन में पावस का आगमन घोषित किया था किन्तु यहाँ नेत्रों की झड़ी के अतिरिक्त पपीहे के शब्द से गोपियों की आतुर पुकार और विद्युत से हृदय की टीस का साम्य अनुपम है।

मान विप्रलम्भ के प्रसंग में भी पावस का उद्दीपन रूप ही मिलता है। पावस की अंधाधुध में कौन-कौन क्या-क्या नहीं लूट रहा? दूतिका नायिका से कहती है कि तू मान के कारण समय को व्यर्थ ही गँवा रही है—

लीन्हे लेत ज्ञान कोऊ छीने लेत आनि वानि
लूटे लेत कोऊ हठि लाज के समाज को।
द्विजदेव की सों या अंध्यारी अंधाधुधि में
कि लेत कोऊ कान्ह सुख सम्पत्ति के साज को॥
येरी मेरी तोहि जऊ मानि मान दोष तऊ
समय विचारि कीजै ऐसे-ऐसे काज को।

---

१. षट्ऋतु का हजारा, धनसिंह, पृष्ठ १८०
२. कविवर रत्नाकर—उद्धव शतक, पृष्ठ ८९

तोहि इतमान के अनादरन घेरो
इत बादरन घेरो जाय जाय ब्रजराज को ॥[1]

—द्विजदेव

पावस का उद्दीपन रूप ही इस काव्य में मुख्य रहा है । सुखी व्यक्ति मादक वातावरण में अधिक सुखी हो जाता है तथा दुखी अधिक दुखी, विरही के मन की व्यथा का ऐसे समय में अधिक अभिव्यक्त होना स्वाभाविक ही है—

सरदार कवि ने पावस को पुरुष पर कटु व्यंग करने का माध्यम भी बनाया है।

श्रावन पूरन मास भये यह कौन लला चित में अभिलाषी।
छोड़त प्राणप्रिया अपनी पर भूमि तकावन को मति माखी ॥
ए सरदार विचार करो किनका सुध सोध सबै सुचि नाखी।
साखी दै देवन को कर में घर राखत हैं परकी बर राखी ॥[2]

—सरदार कवि

सरदार की इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युग में शृंगार विषयक रीति परम्परा का प्रतिपादन यद्यपि हो रहा था किन्तु साथ-साथ नैतिक विचार भी जाग रहे थे। अपनी प्रिया को छोड़कर अन्य पर आसक्त होना रीतिकालीन शुद्ध शृंगार परम्परा के लिए गर्हित न था। रूढ़िवादी सामन्ती पुरुष पर इससे अधिक कटु व्यंग और क्या हो सकता है—'साखी दै देवन को कर में घर राखत है पर की बर राखी'।

यही नैतिकता आगे चलकर द्विवेदी युग में जब रीतिकाल के विलासी अनाचार का घोर विरोध हुआ तब पूर्णतः अभिव्यक्त हुई वसन्त और पावस का विशद् विवेचन करके हमने देखा है कि भारतेन्दुयुगीन कवियों ने ऋतु को उद्दीपन रूप में स्वीकार करके विरही मन की अनेक मनोस्थितियों को ढूंढने का प्रयत्न किया है। अन्य ऋतुओं के वर्णन में कोई विशेषता नहीं है। परम्परागत स्थितियों का वर्णन उद्दीपन रूप में कवियों ने किया है अतः उसका वर्णन विस्तार से न करके कुछ संक्षिप्त उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किये गए है—

ग्रीष्म

एक नायिका ग्रीष्म के वातावरण का वर्णन करके प्रिय से रुकने की प्रार्थना करती है—

सीरे तहखाने तामें खासे खसखाने सौधे अतर गुलाब की
बयारैं रपटती है।
भूधर सुधारैं हौज छूटत फुहार भारे बारे ताप
दानन में धूप दपटति है ॥

---

१. षट्ऋतु का हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत, द्विजदेव, पृष्ठ १७२
२. वही, सरदार कवि, पृष्ठ २२४

नायक के पक्ष में भी इस उद्दीपन के प्रभाव का वर्णन उपलब्ध है—

शरद की ऋतु में उचाट चित्त ब्रजराज
राधे को विरह व्याथो उठत यों भाखि भाखि।
कियो कहा चाहत है रैनि चारि चित चोरयेरे चन्द
चाँदनी की चटकहि राखि राखि॥[1]

—देवमणि कवि

राधा के विरह में कृष्ण चन्द्रमा से अपनी चाँदनी समेट लेने को कहते हैं।

हेमन्त

उद्दीपन—

पल-पल दिन-दिन यामिनी घटन लागी
भामिनी जगन लागी यामिनी यकंत में।
भनत दिवाकर संयोगिनी सुखीनी कीनी दुःखिनी
वियोगिनी लगीनी हँसी हंत में॥
धर धर धरधर बाजत कपाट फट
सटफट सेज पै मजेज छबिवन्त में।
सखी यह पाख में जो आयो न हमारे कन्त
होंगे प्राण अन्त नही पाय कै हेमन्त में॥[2]

—दिवाकर

शिशिर

बारूनी ओर की वायु बहै यह शीत की ईति है
बीस बिसा मे।
रीति बड़ी युग सी नसि राति रह्यो
हिम पूरि दिशा विदिशा में॥
गोकुल डारिहै मैन मरोरि कहोव
कहा कहै मानकिशा में।
कौन की छाँह छिपैगी तिया छातियाँ तजि नाह
की माह निशा में॥[3]

—गोकुल कवि

इस तरह भारतेन्दु युग के षट्ऋतु वर्णन में हम पूर्व परम्परा की शृंखला ही पाते

१. षट्ऋतु का हजारा, देवमणि कवि, पृष्ठ २६६
२. वही, दिवाकर कवि, पृ० ३९१
३. वही, गोकुल कवि, पृष्ठ ३०७

हैं। नवीनता केवल विरह की विभिन्न मनोस्थितियों के दिग्दर्शन की है।

बारह मासा के रूप में भी प्रकृति वर्णन इस युग के काव्य में हुए किन्तु उनका रूप वही है जो षट्ऋतु वर्णन में है अर्थात् उद्दीपन रूप है अतः स्वतन्त्र रूप से उसका विवेचन यहाँ नहीं किया गया।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतेन्दु युग में विरह का विविध चित्रण हुआ है। उसका स्थूल रूप यद्यपि परम्परागत है किन्तु उसमें अनुभूति का अभाव नहीं है। यत्र-तत्र अपने युग की बुद्धि सजगता का प्रभाव भी विरह की अनुभूति में दिग्दर्शित हो जाता है।

यहाँ इस ओर भी इंगित करना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु-युग के इन कवियों के साथ प्राचीन विरह-स्फुट काव्य की परम्परा आधुनिक युग में लुप्त हो गई।

द्वितीय अध्याय

सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता में विरह-भावना

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर्याप्त परिवर्तित हो गई थी। अंग्रेजी-राज्य के पाँव भारत की धरती पर दृढ़ता से जम चुके थे, उन्हें उखाड़ना कठिन ही नहीं असम्भव-सा हो गया था। राजनीतिक दासता के साथ सामाजिक और नैतिक पतन से देश की व्यवस्था विशृंखल हो गई थी अतः विदेशी सत्ता का स्पष्ट विद्रोह सम्भव न था।

शताब्दियों से फैली हुई अशान्ति और अराजकता का अंग्रेजी शासन ने अन्त किया था अतः साधारण जनता उनके प्रति कृतज्ञ थी। किन्तु प्रत्येक मनस्वी यह जानता था कि विदेशी शासन देश के लिए घातक है, आत्म-गौरव उसे कचोटता रहता था। डा० नगेन्द्र के शब्दों में वह 'इस क्षति की पूर्ति के लिए अपने प्राचीन गौरव का आह्वान करता था।'[1] संगठन के अभाव में इनी-गिनी आवाज़ों का कोई मूल्य न था। अतः जहाँ एक ओर इन मनीषियों का लक्ष्य सांस्कृतिक जागरण का सन्देश देकर जनता के सुप्त आत्माभिमान को जगाना था जिससे वह स्वतन्त्रता के मूल्य को समझ सके वहाँ दूसरी ओर कारागार की बेड़ियों से बचे रहकर स्वतन्त्रता की आवाज़ को जीवित रखना था (खुले विद्रोह का अर्थ उस समय कारागार था)।

सांस्कृतिक जागरण के लिए उस युग के विद्वान-चिन्तक कवियों ने भारतीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक साहित्य के उन स्थलों तथा पात्रों को अंकित किया जिनका सम्बन्ध भारतीयों के गौरव और स्वाभिमान से अविच्छिन्न था। आदर्श व्यक्तियों के अंकन के लिए अनेक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई।

प्रबन्ध काव्यों की रचना के विषय में डा० कृष्णलाल ने अपनी 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में लिखा है—"प्रबन्धकाव्य प्रायः परिवर्तनकाल में ही मिलते हैं।.....जब प्राचीन साहित्यिक आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह जाता, जब जनता की रुचि प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं से हट जाती है और नए आदर्शों, नई रूढ़ियों और नई परम्पराओं का कोई निश्चित निरूपण नहीं हुआ रहता ऐसे परिवर्तन-

---

१. डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ २१

काल में लोग सरल और साधारण प्रबन्ध काव्यों की शरण लेते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी ठीक ऐसा ही हुआ।"[१]

डा० कृष्णलाल का सांस्कृतिक-प्रबन्ध-काव्य विषयक उपर्युक्त विवेचन सर्वांग-सा प्रतीत नही होता। प्रबन्धकाव्यों की रचना उस युग में इसलिए नहीं हुई थी कि कवियों को अपनी पुस्तकों के लिए 'मार्केट' बनानी थी, बल्कि इस कारण हुई थी कि उनके द्वारा जनता के सन्मुख भारतीय संस्कृति के गौरव और आत्माभिमान को प्रस्तुत करना था। कहानी उसके कहने का सबसे सरल उपाय थी। इस युग के प्रबन्ध काव्य इसके प्रमाण हैं। परवर्ती प्रबन्ध-काव्यों की रचना का उद्देश्य भी यही रहा।

राम और कृष्ण के महत् चरित्रों की महत्ता का पुनःस्थापन भी सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता से ही हुआ। इससे पूर्व अनेक सामाजिक और धार्मिक कारणों से रीतिकाल में वह नीति परिपाटी के शृगार तथा कला की प्रतिध्वनि मात्र बन गए थे। केवल अपनी जाति के आदर्श चरित्रों में ही आदर्श नहीं ढूंढा गया प्रत्युत परम्परा से शत्रु माने जाने वाले रावण सरीखे चरित्रों में भी कवि ने उसे खोजने की चेष्टा की। 'रावण' महाकाव्य और 'दैत्यकुल' जैसे ग्रन्थों की रचना हुई।

शृगार के क्षेत्र में कवि ने उसके परम्परागत रूप की स्वीकृति न करके नवीन मार्ग के निर्माण का प्रयत्न किया। एक ओर माण्डवी और उर्मिला जैसे उपेक्षित स्त्री चरित्रों का उद्धार हुआ, दूसरी ओर शृगार स्वतन्त्र काव्य-विषय न रहकर जीवन की विविध उलझी हुई परिस्थितियों में से एक बन गया जो जीवन की गति की अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुरूप अनेक रूपो में प्रवाहित तथा उन्नयनित होता रहता है। इसके फलस्वरूप राधा, सीता, उर्मिला, माण्डवी और धन्यमालिनी (रावण की पत्नी) जैसे पात्रों की नई विशेषताएँ और सम्भावनाएँ प्रकाश में आई। परम्परागत 'बारह-मासा और ऋतुवर्णन' भी साथ-साथ होता रहा किन्तु अधिकांशतः उनका वर्णन कवि का लक्ष्य न था।

प्रस्तुत अध्याय में द्विवेदी-युग के प्रसिद्ध प्रबन्ध लेखकों की रचनाओं से लेकर आधुनिक युग के वर्तमान प्रबन्ध काव्यों तक को सम्मिलित किया गया है। यद्यपि अनेक प्रबन्ध-काव्य इस युग में लिखे गए हैं किन्तु यहाँ केवल उन्हीं का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध भारत की नवजागृति और संस्कृति से है तथा जिनमें विरह की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट रूप में मुखरित हुई है।

सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता की विरह-भावना का विवेचन रामनरेश त्रिपाठी की 'स्वप्न' और 'पथिक' रचनाओं से प्रारम्भ हुआ है। इसके पश्चात् क्रमशः हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही बनवास' तथा मैथिलीशरण गुप्त के अनेक प्रबन्ध काव्यों 'साकेत', 'यशोधरा,' जयद्रथ वध,' 'द्वापर', 'जय भारत,' 'शकुन्तला,' और 'विष्णुप्रिया,' में प्राप्त विरह-भावना का अध्ययन है। इनके अतिरिक्त आधुनिक युग के अन्य लब्धप्रतिष्ठ प्रबन्ध

१. डा० कृष्णलाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (सं० १९०० से १९२५ तक), पृष्ठ ९७

काव्यों में विरहाभिव्यक्ति के अध्ययन और अंकन का प्रयत्न भी किया गया है ये ग्रन्थ हैं १. जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी,' २. निराला का 'तुलसीदास', ३. डाक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र का 'साकेतसंत', ४. द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन', ५. हरदयालुसिंह का 'रावण महाकाव्य', ६. रामानन्द तिवारी की 'पार्वती' और गुरु भक्तसिंह का 'नूरजहाँ'। शास्त्रीय 'विरहाभास' की श्रेणी के अन्तर्गत आने वाली कुछ प्रसिद्ध प्रबन्ध रचनाओं की विरह-भावना की मनोवैज्ञानिक स्थिति और रससिद्धता का मूल्यांकन 'विरह अथवा विरहाभास' के शीर्षक से किया गया है, इसमें मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' और सोहनलाल द्विवेदी की 'कुणाल' और 'उर्वशी' का उल्लेख है।

रामनरेश त्रिपाठी

(१) **स्वप्न**—'स्वप्न' नामक प्रबन्ध काव्य में कवि ने देशभक्ति के मूलभाव पर दृष्टि केन्द्रित करके नारी को पुरुष की मूल प्रेरणाशक्ति के रूप में स्वीकार किया है। स्वप्न का नायक बसन्त अपनी प्रिया पर आसक्त है। उसके रूप के समुद्र और नेत्रों की मादकता में वह डूबा रहता है। सुमना भी अपने पति की इस एकान्त स्थिति से अत्यन्त प्रसन्न है। पार्वतीय प्रदेश की सुषमा ने इन दोनों को आत्म विभोर कर रखा है।

देश पर शत्रु का आक्रमण होता है। सबके पति स्वदेश के स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए युद्ध में जाते है किन्तु सुमना स्वार्थवश अपने पति को नहीं जाने देती। जिन युवकों ने मातृभूमि की रक्षा के लिए बलिदान किया था, उनके यश-सौरभ से वातावरण गूँज उठा, सुमना के पति का गुणगान किसी ने नही किया। वह विकल हो उठी। उसने पति से युद्ध में जाने की प्रार्थना की किन्तु वह नहीं गया।

निराश सुमना एक रात पति को सोता हुआ छोड़कर न जाने कहाँ चली गई। बसन्त पागल हो गया और उसके विरह में व्यथित रहने लगा।

बसन्त का विरह वर्णन अधिकतर इति-वृत्तात्मक है। कथन शैली के कारण पीड़ा का अनुभूति पक्ष काफी दब गया है। किन्तु फिर भी गीति-काव्य के अनुभूति रूप यत्र-तत्र प्राप्त हो जाते है। स्मृति दशा संचारी बनकर विरह को उद्दीप्त कर रही है।

किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी
नीरवता से व्याकुल होकर
अपने अधर रख दिए मैने
उसके अरुण वर्ण अधरों पर
चौक उठी वह, किन्तु जानकर
मेरी व्याकुलता का कारण
विद्युत सी खिलखिला पड़ी वह
हाय! भूलता नहीं एक क्षण॥[१]

१. श्री रामनरेश त्रिपाठी—स्वप्न, सर्ग ४, पद १४

उन्माद, प्रलाप, अश्रु, स्मृति और मूर्च्छा दशाओं का समावेश स्थान-स्थान पर किया गया है—

उसके भूषण वसन उठाकर
हृदय लगाकर गद्‌गद होकर
बार बार चुम्बन कर दृग से
अश्रु गिराकर उन्हें भिगोकर
सहसा उस निर्जन घर में बह
सुमना कहकर गिरकर भू पर
मूर्च्छित सा रहता था प्रायः
बहुत समय तक उसे स्मरण कर ॥[1]

कुछ नवीन कल्पनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। संसार में अनेक ज्योतिर्पिंड होने पर भी विरही को प्रिय के बिना अन्धकार ही दिखाई पड़ता है, इस भावकी व्यंजना बसन्त इस तरह करता है—

दीप, वह्नि, तारे हिमाशु रवि,
हैं प्रकाश के स्रोत बहुत पर
प्रियाबिना मुझको लगता है
अन्धकारमय यह सचराचर ॥[2]

रामनरेश त्रिपाठी द्विवेदी काल के कवि है अतः वर्णन की इतिवृत्तात्मकता आदि विशेषताओं का उनके काव्य में होना स्वाभाविक है। किन्तु 'स्वप्न' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह कवि अपने विषय वर्णन में, अपने युग का प्रतिनिधित्व ही नही करता, आगामी नवीन युग की भावनाओं का बीजारोपण भी करता चलता है। वैयक्तिक अनुभूति को सर्वात्म के मिस देखना, स्थूल प्रेम को सूक्ष्म व अतीन्द्रिय रूप देना तथा अनन्त में चिर विरह का सकेत करना छायावादी युग की रहस्यात्मक अनुभूति की विशेषताएँ मानी जाती हैं। यहाँ बसन्त के विरह मे हमे ये सब मिल जाती हैं—

पता नही किसके वियोग में
बन में नदी-तटों पर तरुवर
मेरी तरह रुदन करते है
फूल नाम के अश्रु गिराकर
कोई रोता है अनन्त में
जिसके अश्रुबिन्दु है उडुगण
ओस नाम से तृण तरुओं पर
बिखरे रहते हैं जिनके कण

१. रामरेश त्रिपाठी—स्वप्न, सर्ग ४, पद ७
२. वही, पद २०

चश्मों से बहते हैं यह किस
विरही के हैं अश्रु अनवरत
ये प्रपात हैं किस विदग्ध का
अनल बुझाने में सतत रत
किसकी विषम वियोग व्यथा से
विह्वल है हृदतनया का उर
प्रगतिशील होती सुमना भी
कहीं हाय यों ही मिलनातुर ।।[1]

विरही की व्यथा सम्पूर्ण विश्व को आर्द्र बनाती है और वह उसका करुण-विरहगान गाता है यह भाव भी नवीन युग की कल्पना है। त्रिपाठी जी ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

उसकी विरह वेदना अगणित
कंठों में हो उठी निनादित
हृदयों में हो उठा चतुर्दिक
करुणा पारावार तरगित ।।[2]

इन नवीन अनुभूतियो के साथ रीतिकालीन परम्परा के अवशेष भी नायिका वर्णन में मिल जाते है।[3] संक्षेप मे 'स्वप्न' भारतेन्दु काल के खण्डहरावशेषों को नई इमारतों में बदलता-सा दिखाई पड़ता है।

चरम नैराश्य की स्थिति पर पहुँचकर बसन्त स्वयं से और प्रेम से भी विरक्त हो गया। वह आत्म-सुख की खोज करने लगा। यह आत्म-सुख एक नवयुवक की प्रेरणा से उसे देश की रक्षा में मिला। बसन्त के सहयोग से देश की विजय हुई। राजा ने उसको विजय मुकुट पहनाया। विजय मुकुट पहनने के अवसर पर जब उसने उस युवक की खोज की तो वह उसकी प्रियतमा सुमना ही थी—

वह मेरा प्रिय बन्धु कहाँ है ?
मैं स्वदेश को उसका परिचय
देने को अति ही उत्सुक हूँ
वर्णन कर उपकार समुच्चय
प्राणनाथ की सुमधुर वाणी
सुनकर सुमना गद्‌गद् होकर
सकुचा कर धीरे से बोली
मैं ही हूँ वह, हे प्राणेश्वर।[4]

---

१. रामनरेश त्रिपाठी—स्वप्न, सर्ग ४, पद २१-२२
२. वही, पद २५
३. वही, सर्ग ४, पद १८, २७
४. वही, सर्ग ५, पद ४१

बसन्त का विरह एकान्त वेदना होकर भी उसे अकर्मण्य नहीं बनाता, देश की रक्षा की ओर उन्मुख कराता है। स्वयं सुमना भी परम्परागत नायिकाओं की भाँति केवल रोना-झींकना नहीं जानती, आत्म-सम्मान की प्रताड़ना पीड़ित होकर देश की रक्षा करती है और पति को भी प्रेरणा देती है। ऐसी स्त्रियाँ ही कवि का 'स्वप्न' है।

(२) **पथिक**—ब्रिटिश साम्राज्य में राजा की कूटनीति और अत्याचार तथा प्रजा और राजा के बीच की खाई का सकेत त्रिपाठीजी ने अपने 'पथिक' खण्डकाव्य में किया है। उसका निदान भी असहयोग-आन्दोलन में ढूँढ़ा है।

दक्षिण समुद्र के तटपर पथिक अपनी प्रिय पत्नी से बहुत दिन के पश्चात् मिलता है। पत्नी उसको पहचानकर घर वापस लौट चलने की प्रार्थना करती है, अपने छोटे बच्चे को अपनी बाँहों से मुक्त करके वह उसे ढूँढने को निकली थी। पत्नी की अनुनय-विनय का पथिक पर कोई प्रभाव नही पडता। वह ससार के दुखों से घृणा करता है, उसके अनुसार वनश्री संसार से कही अधिक सुखद है। निराश स्त्री लौट जाती है। पथिक की सांसारिक संघर्ष से पलायन करके प्रकृति के चित्रित आँचल मे शरण लेने की प्रवृत्ति में त्रिपाठीजी की समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव लक्षित है।

इस निराश भावुक को साधु प्रवृत्ति का मार्ग दिखाता है। उसने कहा कि 'पौरुष, साहस, सत्य, न्याय, श्रद्धा और करुणा आदि गुण ईश्वर ने मनुष्य को धरोहर रूप में दिये हैं। इन गुणों का यथासंभव उपयोग करना मनुष्य का धर्म है और इनसे पलायन ईश्वर के साथ विश्वासघात। तुम मानव-समाज मे जाओ और यथानुसार इन गुणों का उपयोग करो।' साधु के उपदेश से पथिक की आँखे खुल जाती है। वह देश भ्रमण करता है और इस प्रकार अपने देशवासियो के अत्यन्त निकट आ जाता है। वह देखता है कि प्रजा बहुत दुखी है और राजा उस पर मनमाना अत्याचार कर रहा है। राजा के अत्याचार का एकमात्र उपचार वह प्रजा को उससे असहयोग करने में बताता है। राजा क्रुद्ध होकर पथिक को प्राण-दण्ड देता है। उसकी मृत्यु से पहले उसकी पत्नी और पुत्र भी आत्मबलि दे देते है। ससार मे जय-जयकार गूँज उठती है।

पथिक के बलिदान से प्रजा में सगठन हो जाता है और वह विद्रोह करके राजा को देश-निकाला दे देती है। प्रजा इसके बाद सुखी हो जाती है और देश में सुख और समृद्धि का राज्य स्थापित होता है। इस तरह वह सच्चा प्रेमी देश को आत्मशक्ति के बल पर अत्याचार के बन्धन से मुक्त करता है।

देशभक्ति के भाव से प्रेरित 'पथिक' का लक्ष्य यद्यपि राष्ट्र संगठन है किन्तु उसके मुख्य पात्र पथिक के जीवन के पारिवारिक पक्ष का भी कवि ने पूरा ध्यान रखा है। पथिक की पत्नी की विरह-व्यथा का दिग्दर्शन हमें इस काव्य में मिलता है। पथिक के विरह-भाव को 'कार्यवश' प्रवास की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसके आदर्श की पूर्ति उसके परिवार के बलिदान में होती है।

सबसे प्रथम 'पथिक' काव्य में इस बात की ओर ध्यान जाता है कि द्विवेदी-युग के

कठोर नैतिक अनुशासन के कारण कवि की सौन्दर्य-दृष्टि नायिका के स्थूल अंगों से हटकर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय बन रही थी। पथिक की स्त्री का सौन्दर्य कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरण सी बामा।
कवि के स्वप्न समान, विश्व के विस्मय सी अभिरामा॥[1]

सौन्दर्य का यह विस्मय रूप ही आगे चलकर छायावाद में अत्यन्त स्पष्ट हुआ। उसके यह उपमान पूर्ववर्ती युग के लिए अपरिचित थे।

विरहिणी, पथिक की पत्नी को प्रिय के दर्शन से जो सुख मिला वह भी अपूर्व है—

अन्धे को दृग, महा रंक को विश्व सम्पदा सारी।
जेठ दुपहरी मे मरुथल के तृषित पथिक को वारी।
मिलने से जो सुख होता है आत्म-रहस्य यती को।
उससे बढ़ सुख मिला अचानक विरह विदग्ध सती को॥[2]

प्रिय मिलन के सुख की उपमा यती के आत्मरहस्य की प्राप्ति से, अनुपम है। आत्म-रहस्य की प्राप्ति में जो चिर आत्म विसर्जन का भाव है वही विरही के पुनः प्रिय मिलन की व्यंजना करने में समर्थ हो सकता है। उपमा अत्यन्त सशक्त है।

मिलन को कवि प्रेम की 'सुषुप्ति' और विरह को 'जागृत गति' मानता है। यह ठीक भी है। मिलन में प्रेमी आत्मविभोर हो जाते है किन्तु विरह मे प्रेम के कोमल भाव का सावधान रहकर यथाशक्ति पोषण करते है—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है॥[3]

'स्वप्न' की तुलना मे 'पथिक' में इतिवृत्तात्मकता कम है। कथोपकथन की शैली कवि ने अपनाई है। पथिक की स्त्री अपने अतीत के दिनों का स्मरण कराकर उससे घर लौट चलने की प्रार्थना करती है—

कहते थे तुम—कोमलता नीरज की ज्योति रतन की।
मोहकता शशि की, गुलाब की सुरभि, शांति सज्जन की॥
रति का रूप, रंग कचन का, लेकर स्वाद सुधा का।
विरचा है विधि ने मुख तेरा सुख लेकर वसुधा का॥
मेरे मुख को चन्द्र बताकर तुम चकोर बनते थे।
नीर भरे घन से मेरे कच देख मोर बनते थे॥

---

१. रामनरेश त्रिपाठी—पथिक, प्रथम सर्ग, पद ४
२. वही, सर्ग १, पद ६
३. वही, पद १२

आँखों का जीवन कह मुझको सदा देखते रहते।
मेरी बातों को स्वप्राण की साँस तुम्हीं थे कहते॥
देख-देख निशि वासर मेरी नींद भरी सुन्दरता।
फूले नहीं समाते थे तुम हे मेरे दुःख हर्ता॥
मैं समझे थी, पृथ्वीतल पर केवल हैं हम दो ही।
सो तुम हाय! हो गये ऐसे निठुर और निर्मोही॥[1]

अपने प्रेम की तरगों की उपमा सागर की लहरों से करके वह कहती है कि मैं तुम्हारे पीछे पागल हूँ किन्तु प्रकृति तुम्हारी ओर ध्यान भी नहीं देती।—

प्रेम-पयोधि हृदय यह अस्थिर, वारिधि से बढकर है।
सच कहती हूँ नाथ! तुम्हारे लिए सदा दुस्तर है॥
तव सेवा के लिए हृदय में है जो मधुर उमगे।
क्या उससे बढ़कर है ये खारी जल जन्य तरंगें॥[2]

पथिक के मन पर स्त्री की विनती का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तब वह हताश हो जाती है—

रमणी हुई परम मर्माहत सुन विरक्ति पति द्वारा।
बरस पड़ी आँखें पावस के घन सी भर जल धारा॥
कहने लगी—'विषम पीड़ा सह प्रभु! तब विरहानल में
आई थी मैं आज शरण लेने को सागर तल में॥
हो निराश सब अग प्राण को रोक-रोक जब हारे।
आज अभागिनि के नसीब तुम मिले मृत्यु के द्वारे॥
पहले-पहल पयोधर देकर जिसके कोमल मुख में।
मग्न हुई अति नव्य अनिर्वचनीय अलौकिक सुख में॥
उसी सुमन-संग्रह से शिशु के कसे बाहु बन्धन को।
खोल निठुरता से धाई थी मै विरहाकुल वन को॥
माँ-माँ कहता हुआ आँख में आँसू भर वह धाया।
हा! वह दृश्य एक पल मुझसे जाता नहीं भुलाया॥[3]

पथिक की स्त्री परम्परित भारतीय नारी है। पथिक अपने सुख के लिए जीवन से पलायन करके उसे छोड़ आया था, यह उसका अपमान था। किन्तु आत्मसम्मान के आहत होने से पत्नी को पीड़ा नहीं होती, दुधमुँहे पुत्र के मोह को छोड़कर भी वह पति को ढूंढ़ने के लिए निकल पड़ती है। दूसरी ओर मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' है जो

---

१. रामनरेश त्रिपाठी—पथिक सर्ग १, पद २७-३१
२. वही, पद ३८, ३९
३. वही, पद ४१-४२

पति के इस प्रकार चले जाने को अपना घोर अपमान मानती है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात॥

आत्म-सम्मान की रक्षा करती हुई वह राहुल का पोषण करती है। गौतम के विरह से उसका हृदय व्यथित है किन्तु वह प्रणय की भीख नहीं माँगती।

रामनरेश त्रिपाठी की नायिका परम्परित आदर्श गृहिणी है और मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा नवयुग की जागृति में अपना मूल्य समझने वाली सजग नारी।

हरिऔध

(१) **प्रियप्रवास**—हरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य कहा जाता है। इसमें कवि ने कृष्ण के मथुरागमन तथा उनके विरह में दुखी ब्रजवासियों और मुख्यतः राधा का वर्णन किया है। कृष्ण के वियोग में विह्वल ब्रजभूमि का वर्णन अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने भी किया है किन्तु उनकी राधा मौन ही रही है, यहाँ उसकी पीडा मुखर हो गई है।

इस अवसर पर हरिऔधजी ने कथा में एक मौलिक परिवर्तन किया है। कृष्ण के मथुरागमन के समय राधा अकेली नही है ललिता भी उसके पास है। प्रिय के विदेश जाने का समाचार सुनकर राधा की जो दशा हुई उसका चित्रण कवि ने अनुभावों द्वारा इस तरह किया है—

विकसिता - कलिका हिमपात से।
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है॥
सुन प्रसंग मुकुन्द प्रवास का।
मलिन त्यों वृषभानुसुता हुई॥[1]

'विवर्ण' अनुभाव के वर्णन से वियोगिनी राधा की व्यथा काफी मार्मिक प्रतीत होने लगती है किन्तु इसके पश्चात् ही कवि ने प्रलाप का रुदन प्रस्तुत किया है। युग-युग की मौन राधा प्रियप्रवास में इतनी मुखर हो गई है कि उसका मर्म छिछला-सा लगने लगता है। उनका रुदन पारसी नाटकों की अभिनेत्री के लम्बे-चौड़े गानों की याद दिलाने लगता है—

कल कुवलय के से नेत्र वाले रसीले।
वररचित फबीले पीत कौशेय शोभी॥
गुणगण मणिमाली मंजुभाषी सजीले।
वह परम छबीले लाडिले नन्द जी के॥
यदि कल मथुरा को प्रातः ही जा रहे हैं।
बिन मुख अवलोके प्राण कैसे रहेंगे॥

१. हरिऔध—प्रियप्रवास, चतुर्थ सर्ग, पद २६, पृष्ठ ४०

युग सम घटिकायें बार की बीतती थीं।
सखि दिवस हमारे बीत कैसे सकेंगे॥
जन मन कलपाना मैं बुरा जानती हूँ।
परदुख अवलोके मैं न होती सुखी हूँ॥
कह कर कटु बातें जी न भूले जलाया।
फिर यह दुखदायी बात मैने सुनी क्यों?
अयि सखी! अवलोके खिन्नता तू कहेगी॥
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कही है।
पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता॥[1]

अच्छा होता यदि हरिऔधजी इतना विवरण न देकर अनुभावो के वर्णन से ही व्यथा की व्यंजना कराते। तब अनुभूति अधिक मार्मिक और स्वाभाविक होती। प्रिय-प्रवास की राधा ललिता से यह भी स्पष्ट कहती है कि वह कृष्ण को हृदय से वरण कर चुकी है और विधिवत् वरण करने की लालसा भी उनके मन मे थी, जो अब पूरी होती दिखाई नहीं देती—

हृदय चरण में तो मै चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी॥
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल में जो लिखा है॥[2]

कृष्ण के जाने से पहले ही अपनी भावी दशा का आभास राधा को होने लगता

अहह सिसकती मै क्यों किसे देखती हूँ।
मलिन-मुख किसी का क्यों मुझे है रुलाता॥
जल-जल किसका है छार होता कलेजा।
निकल-निकल आहें क्यों किसे बेधती है॥
सखि, भय यह कैसा गेह में छा गया है।
पल-पल जिससे मै आज यों चौकती हूँ॥
कँपकर गृह में की ज्योति छाई हुई भी।
छन-छन अति मैली क्यों हुई जा रही है॥[3]

प्रवत्स्यपतिका राधा के इस प्रलाप में केवल दो पद अत्यन्त मार्मिक प्रतीत होते हैं—

---

१. प्रियप्रवास, चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ४०-४१
२. वही, पृष्ठ ४१, पद ३५
३. वही, पृष्ठ ४२, पद ३८-३९

सब नभ-तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
व्रजदुख अवलोके क्या हुए है दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं।
हर-हर किरणें जो फूटती है दिखाती।
वह मिष इनके क्या बोध देते हमें है॥
कर वह अथवा यों शान्ति का है बढ़ाते।
विपुल-व्यथित जीवों की व्यथा मोचने को॥[1]

राधा के हृदय की स्तब्धता का तारों की स्तब्धता से साम्य सुन्दर है। बीच-बीच में किरणों के फूटने से और उन्हे उनका शान्ति का कर (हाथ) मानने से यह संकेत मिलता है कि भविष्य के विरह में आशा की एकमात्र किरण जन की सेवा और उनकी विपुल व्यथा के मोचने का प्रयत्न होगा। राधा को ललिता के समीप दिखाकर सखी की सांत्वना की नवीन योजना भी हरिऔधजी ने कराई है। सखी को धैर्य बँधाती हुई ललिता का चित्रण अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है—

नाना बातें दुख शमन को प्यार से थी सुनाती।
धीरे-धीरे नयन-जल थी पोंछती राधिका का॥
हा! हा! प्यारी दुखित मत हो यों कभी थी सुनाती।
रोती-रोती विकल ललिता आप होती कभी थी।
सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखे विपुल जल में डूबती जा रही थीं॥
शकाएँ थी विकल करती काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम-मलिना उन्मना राधिका थी॥[2]

कृष्ण का रथ गोकुल का पथ छोड़कर आगे बढ़ गया केवल मार्ग में उड़ती हुई धूल ही शेष रह गई। उद्भ्रांत राधा उसी को सम्बोधित करके कहने लगी—

क्यों होती है भ्रमित इतनी धूलि क्यों क्षिप्त तू है।
क्या तू भी है विचलित हुई श्याम से भिन्न होके॥
आ-आ, आके लग हृदय से लोचनों में समा जा।
मेरे अंगों पर पतित हो बात मेरी बना जा।
मैं पाती हूँ सुख रज तुझे आज छूके करों से।
तू आती है प्रिय निकट से क्लान्ति मेरी मिटा जा॥[3]

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ४, पृष्ठ ४२-४३, पद ४१-४२
२. वही, चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ४४, पद ५२-५३
३. वही, सर्ग ५, पृष्ठ ५७, पद ७१-७२

प्रिय के निकट से आती हुई धूल भी इतनी स्पृहणीय बन जाती है कि विरही उसी को हृदय से लगा लेना चाहता है। राधा को अपनी मनुष्य देह पर बड़ी ग्लानि है, यदि वह भी धूल होती तो प्रिय के साथ किसी तरह चली जाती। धूल को उलाहना देती हुई वह कहती है—

जो तू जाके विशद रथ में बैठ जाती कहीं भी।
किंवा तू जो युगल तुरंगों के तनों में समाती॥
तो तू जाती प्रिय स्वजन के साथ ही शान्ति पाती।
यों हो-हो के भ्रमित मुझ सी भ्रांत कैसे दिखाती॥
हा! मैं कैसे निज हृदय की वेदना को बताऊँ।
मेरे जी को मनुज तन से ग्लानि सी हो रही है॥
जो मैं होती तुरग अथवा यान ही या ध्वजा ही।
तो मैं जाती कुँवर वर के साथ क्यों कष्ट पाती॥[1]

राधा की यह विरह दशा 'उन्माद' है जहाँ विरही जड़ और चेतन में भेद नहीं कर पाता और जड़ को ही चेतन समझ लेता है। विक्षिप्त-सी राधा एक ओर तो प्रिय के निकट से आने वाली धूल का आलिंगन करती है, दूसरी ओर वह (धूल) प्रिय को छोड़कर चली आई इसलिए उससे कुढ़न का अनुभव भी करती है।

इसके पश्चात् षष्ठ सर्ग में प्रोषितपतिका राधा का चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। उनका मन उद्विग्न रहता था और वह दिन-रात रोती थीं, मन में प्रिय-मिलन की अनन्त अभिलाषा थी और वियोग की वेदना हृदय को साल रही थी—

रो-रो चिंता सहित दिन को राधिका थीं बितातीं।
आँखों को थीं सजल रखतीं उन्मना थी दिखातीं॥
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थी।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्धिता थी॥[2]

चुपचाप एक दिन घर में खिन्न मन से वह ऐसे ही बैठी आँसू बहा रही थी कि एक पवन का झोंका आया। स्निग्ध वातावरण से प्रिय के अभाव में मन और भी विकल हो गया—

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियाएँ,
थोड़ी-सी भी न सुखद हुई हो गई वैरिणी सी।
भीनी-भीनी महक मन की शान्ति को खो रही थी,
पीड़ा देती व्यथित चित को वायु की स्निग्धता थी।[3]

---

१. हरिऔधजी—प्रियप्रवास, पंचम सर्ग, पद ७४-७५, पृष्ठ ५७
२. वही, षष्ठ सर्ग, पद २६, पृष्ठ ६३
३. वही, पद २९, पृष्ठ ६३

प्रथम तो वायु के इस अतिचार से राधा क्रुद्ध हो गई—

तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को।
हा ! पापिष्टे फिर किसलिए ताप देती मुझे है ॥[1]

किन्तु दूसरे ही क्षण ध्यान आया कि वह कृष्ण के पास उनका सन्देश ले जा सकती है। उन्होंने उसे बहन कहकर सम्बोधित किया और कृष्ण के पास अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना की—

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले।
जाके आए न मधुबन से औ' न भेजा सन्देशा ॥
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुना दे ॥
तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है ॥
मै हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनी बिगड़ी बात मेरी बना दे ॥[2]

परहित की भावना प्रियप्रवास की राधा मे प्रारम्भ से ही है। पवन से वह कहती हैं—

जाते-जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे।
तो जाके सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना ॥
धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना।
सद्गन्धों से श्रमित जन को हर्षितों-सा बनाना ॥[3]

पवन बोलना नही जानती इस तथ्य को हरिऔधजी के बुद्धिवादी युग की राधा समझती है। अतः सन्देश मात्र कहने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होती, पवन उसके (राधा के) क्रियाकलाप कृष्ण के सन्मुख कैसे अभिव्यक्त करे इसकी भी विधियाँ वह उसे बताती है। कहीं-कहीं यह युक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक हो गई है—

तेरे में है न गुण यह जो तू व्यथाएँ सुनाए।
व्यापारों को प्रखर मति और युक्तियों से चलना ॥
बैठे जो हो निज सदन में मेघ-सी कान्ति वाले।
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना ॥
जो चित्रों में विरह विधुरा का मिले चित्र कोई।
तो जा जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना ॥
प्यारे होके चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी ॥[4]

---

१. हरिऔधजी—प्रियप्रवास, षष्ठ सर्ग, पद ३१, पृष्ठ ६४
२. वही, पद ३३ से ३६ तक, पृष्ठ ६४-६५
३-४. वही, पद ६७-६८, पृष्ठ ७०

यदि उस समय कृष्ण घर में न होकर उपवन में हों तो—

जो प्यारे मंजु उपवन या वाटिका में खड़े हों।
छिद्रों मे जा क्वणित करना वेणु-सा कीचकों को।।
यों होवेगी सुरति उनको सर्व गोपांगना की।
जो हैं वंशी श्रवण रुचि से दीर्घ उत्कण्ठ होतीं।।[1]

इसी प्रकार विरह की अश्रु, रोमांच, वेपथु, कृशता और वैवर्ण्य आदि दशाओं की अभिव्यक्ति का उपाय भी राधा पवन को बताती है—

अश्रु—

ला के फूले कमल दल को श्याम के सामने ही।
थोड़ा-थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना।।
यों देना ऐ भगिनी जतला एक अंभोज-नेत्रा।
आँखों को हो विरह-विधुरा वारि में बोरती है।।[2]

रोमांच—

धीरे लाना वहन करके नीप का पुष्प कोई।
ओ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना।।
ऐसे देना प्रकट दिखला नित्य आशकिता हो।
कैसे होती विरह वश मैं नित्य रोमांचिता हूं।।[3]

वेपथु उद्वेग—

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम होवें उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।।
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजित चित्त का क्लान्त हो काँप जाना।।[4]

कृशता—

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पडी हो।
तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलीन औ' सूखते नित्य जाना।।[5]

वैवर्ण्य—

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे ही।।
धीरे-धीरे सँभल रखना औ' उन्हे यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता सा हमारा।।[6]

१. हरिऔधजी—प्रियप्रवास, षष्ठ सर्ग, पद ७१, पृष्ठ ७०
२-६. वही, पद ७२, ७३, ७४, ७५, ७६

पंचदश सर्ग में कवि ने वियोगिनी राधा की दशा का विस्तृत वर्णन किया है जिसका संक्षिप्त सूत्र यह है—

रोई आके कुसुम-ढिग औ भृंग के साथ बोली।
वंशी द्वारा भ्रमित बनके बात की कोकिला से॥
देखा प्यारे कमल-पग के अंक को उन्मना हो।
पीछे आई तरणि-तनया-तीर उत्कण्ठिता हो॥[1]

सम्पूर्ण सर्ग में उन्माद की दशा है। अनुभूति यद्यपि कहीं-कहीं काफी मार्मिक है जैसे कोयल से राधा का यह कहना कि—

यथैव पालित हो काक अंक में।
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय है॥
तथैव माधो यदुवंश से मिले।
अशोभना, खिन्न-मना मुझे बना॥[2]

तथा—

विरक्ति बातें सुन वेदना भरी।
पिकी हुई तू दुखिता नितान्त ही॥
बना रहा है तव बोलना मुझे।
व्यथामयी, दाहमयी, द्विधामयी॥
अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा।
सुना स्व-बेधी स्वर जीवितेश को॥
अभिज्ञ वे हों जिससे वियोग की।
कठोरता, व्यापकता गभीरता॥[3]

यमुना से—

तब तट पर आके नित्य ही कान्त मेरे।
पुलकित बन भावों में पगे घूमते हैं॥
एक दिन उनको पा प्रीत जी से सुनाना।
कल कल ध्वनि द्वारा सर्व मेरी व्यथाएँ॥[4]

किन्तु अत्यधिक विस्तार के कारण मन ऊबने लगता है। बीच-बीच में आई हुई ये मार्मिक विरहानुभूतियाँ भी उसमें विस्मृत होने लगती हैं। अधिकांश विरह भावों में कोई नवीनता नहीं है, न ही कोई विशेष मार्मिकता है।

इसके पश्चात् कवि ने षोड़श सर्ग में, वसन्त ऋतु के मादक वातावरण में, कुंज में

१. हरिऔधजी—प्रियप्रवास, पंचदश सर्ग, पद १२७, पृष्ठ २३६
२. वही, पद ९१, पृष्ठ २३०
३. वही, पद ९८ से १००, पृष्ठ २३१
४. वही, पद १२४, पृष्ठ २३५

एकान्त विचरण करती हुई राधा को उद्धव द्वारा कृष्ण का संदेश दिलवाया है। राधा के प्रति अलग से यह संदेश हरिऔधजी की मौलिक कल्पना है, किसी अन्य पूर्ववर्ती कवि ने इस प्रकार की संयोजना नहीं की है। कृष्ण ने राधा के लिए संदेश भेजा था—

प्राणधारे परम-सरले प्रेम की मूर्ति राधे !
निर्माता ने पृथक् तुमसे यों किया क्यों मुझे है ।।
प्यारी आशा प्रिय मिलन की नित्य है दूर होती ।।
कैसे ऐसे कठिन-पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ ।।[1]

तथा—

हैं प्यारी औ' मधुर सुख औ' भोग की लालसाएँ ।
कान्ते लिप्सा जगत हित की और भी है मनोज्ञा ।।
इच्छा आत्मा परम-हित की मुक्ति की उत्तमा है ।
वांछा होती विशद उससे आत्म उत्सर्ग की है ।।
जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से ।
आत्मार्थी है, न कह सकते है उसे आत्मत्यागी ।।
जी से प्यारा जगत-हित औ' लोक सेवा जिसे है ।
प्यारा सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है ।।[2]

'हरिऔध' की राधा उद्धव से भी अधिक ज्ञानी है। वह उन्हें सच्चे प्रणय, रूप-मोह और भक्ति के अनेक प्रकारों पर विद्वत्तापूर्ण उपदेश देती है। प्रणय भाव की यह व्याख्या अत्यन्त सुन्दर है (देखिए—'प्रियप्रवास', षोड़श सर्ग, पृष्ठ २४७-२४९) किन्तु वह किसी काव्यशास्त्री के मुख से अच्छी लगती, वियोगिनी राधा की व्यथा को उससे आघात पहुँचता है। उसकी वेदना तो केवल तब ही मुखर होती है जब कवि उससे कहलवाता है—

मैं नारी हूँ, तरल उर हूँ प्यार से वंचिता हूँ ।
जो होती हूँ विकल विमना व्यस्त वैचित्र्य क्या है ?[3]

वह सेवा मार्ग में पहले ही दीक्षित होने का प्रयत्न कर रही है, किन्तु अभी साधक है, सिद्ध नहीं; प्रिय की स्मृति और विरह वेदना बीच-बीच में आकर उसे कचोटती रहती है—

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते ।।
वैसी वांछा जगत हित की आज भी है न होती ।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ।।[4]

१-२. हरिऔधजी—प्रियप्रवास, षोडश सर्ग, पद ४ -४२, पृष्ठ २४४
३. वही, पद ५०, पृष्ठ २४५
४. वही, पद ५६, पृष्ठ २४६

वह उद्धव से प्रतिज्ञा करती है कि—

जो इच्छा है परम प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उसको भूल कैसे सकूँगी॥
यों भी मेरे परम व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊँगी अधिक अब मैं दत्तचित्ता उन्हीं में॥[1]

इस तरह अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति और कृष्ण के संदेश से 'प्रियप्रवास' की राधा के प्रेम का उन्नयन, लोक-सेवा में होता है। लोक सेवा की वृत्ति हरिऔधजी के समय की माँग है और राधा के प्रणय मे कवि ने उसका सुन्दर समावेश किया है। युग की माँग के अनुसार हरिऔधजी की राधा (प्रणयिनी नायिका) अपनी व्यथा का समाधान लोक-सेवा में करती है, व्यस्त जीवन में केवल रोने-धोने से ही काम कहाँ चलता है; कवि ने इस सत्य के मर्म को समझा है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' में यद्यपि कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार, भाव के प्रस्फुटन में बाधा पहुँचाता है किन्तु फिर भी उसके विरह वर्णनों में मार्मिकता और नवीन उदभावनाओं की कमी नहीं है।

(२) **वैदेही-बनवास**—हरिऔधजी की दूसरी प्रसिद्ध प्रबन्ध कृति 'वैदेही-बनवास' है। वैदेही-बनवास की कथा पहले कई बार दुहराई गई, सीता निर्वासन की कथा है। कवि ने कथा की मुख्य रूपरेखा परम्परित रूप में स्वीकार करते हुए भी उसमें आधुनिक लोकादर्शों का समावेश करने की सफल चेष्टा की है। आवश्यकतानुसार मौलिक परिवर्तन भी किए है।

प्रबन्ध का प्रारम्भ प्रातःकालीन दृश्य से होता है। उस अत्यन्त रम्य दृश्य का देखकर सीता अनायास ही उद्विग्न हो जाती है—

जनकसुता ने कहा प्रकृति महिमा है महती
पर वह कैसे लोक-यातनाएँ है सहती।
क्या है हृदय-विहीन? तो अखिल हृदय बना क्यों
यदि है सहृदय आँखों से आँसू न छना क्यों?[2]

रजनी, मयक और सरयू सब उन्हें तेजहत दिखलाई पड़ते हैं। रजनी के भाग्य पर विचार-सा करती हुई वह कहती हैं—

अमित दिव्य-तारक-चय द्वारा विभु विभुता की।
जिसने दिखलाई दिव-दिवता की वर-झाँकी॥
भव-विराम जिसके विभवों पर है अवलंबित।
वह रजनी इस काल काल द्वारा है कवलित॥[3]

---

१. हरिऔधजी—प्रियप्रवास, षोडश सर्ग, पद १२९, पृष्ठ २५८
२. वही, वैदेही बनवास, प्रथम सर्ग, पद २८
३. वही, पद ३२

कल के मुस्कराते हुए फूल भी आज श्रीहीन हैं—

कल मैंने था जिन फूलों को फूला देखा।
जिनकी छबि पर मधुप-निकर को भूला देखा।।
उनमें से कुछ धूल में पड़े हैं दिखलाते।
कुछ है कुम्हला गए और कुछ हैं कुम्हलाते ।।[1]

सीता के इस प्रकार उन्मन होने से भविष्य की किसी विपत्ति की आशंका होने लगती है, आगामी विरह की अस्पष्ट ध्वनि वहीं अपनी छाया में वातावरण को समेटती-सी प्रतीत होती है। अतीत में (राम-रावण युद्ध में) कलह का मूल स्वयं को मानकर सीता खिन्न भी हो जाती हैं। राम उनके मन की स्थिति को पहचानकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

कहा राम ने यहाँ इसलिए मैं हूँ आया।
मुदित कर सकूँ तुम्हें प्रियतमे कर मन भाया।।
किन्तु समय ने जब है सुन्दर समा दिखाया।
पड़ी किसलिए हृदय-मुकुर में दुख की छाया।।[2]

वह उन्हे समझाते है कि सृष्टि की सेवा में रत समीर से यदि कोई दीपक अनायास बुझ जाता है अथवा किसी रोगी की काया को कष्ट पहुँचता है तो वह उसकी भलाई के अनुपात में नगण्य ही है। समीर और दावाग्नि के सहयोग से यदि कोई तिनका जल जाता है तो इसमें उनका क्या दोष ? यह सब तो किसी अदृष्ट शक्ति के हाथ में है, जिसके ऊपर किसी का वश नहीं है। जीवन में दुख-सुख-पूर्ण अनायास घटित होने वाली घटनाएँ अक्सर घटा करती है किन्तु उनके मूल में भी कोई न कोई कल्याण भावना छिपी रहती है—

यह चाहता समीर न था तृण उड़ जल जाए।
थी न आग की चाह राख वह उसे बनाए ।।
किन्तु पलक मारते हो गई उभय क्रियाएँ।
होती है भव में प्रायः ऐसी घटनाएँ ।।[3]

भव के सब परिवर्तन हैं स्वाभाविक होते।
मंगल के ही बीज विश्व में वे हैं बोते।

राम का विश्वास है कि जीवन में घटित इन सब परिवर्तनों के मूल में कल्याण-भावना निहित रहती है। राम के इस वक्तव्य में भविष्य में उनके न चाहने पर भी सीता को जो निर्वासन मिला उसका संकेत मिल जाता है। 'लोकापवाद' जनसाधारण की

---

१. वैदेही बनवास, प्रथम सर्ग, पद ३६, ३७
२. वही, पद ५३
३. वही, पद ६६

स्वाभाविक प्रवृत्ति से निसृत समीर के समान था किन्तु उसका आशय यह कदापि न था कि उसके कारण सीता को विरह में दग्ध होना पड़े।

राम का यह अटल विश्वास कि लोकमंगल की कामना इन आकस्मिक घटनाओं में निहित रहती है, उनको गर्भवती सीता के निर्वासन का साहस दे सका होगा ?

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है, समाज के अतिरिक्त वह अकेला जी नहीं सकता, यह आज के व्यक्तिवादी युग का भी कटु सत्य है फिर राम के त्रेतायुग की तो बात ही क्या। उस स्थिति में दो बातें हो सकती थीं या तो राम समाज को चुनौती देकर सीता का त्याग नहीं करते या जैसा उन्होंने किया वैसा ही (आज का बुद्धिवादी व्यक्ति राम का पक्ष लेने में असमर्थ है, निर्दोष सीता के परित्याग का राम जैसे मनस्वी के लिए क्या अर्थ था ? किन्तु 'हरिऔधजी' द्विवेदी युग की मर्यादा में पले है जहाँ समाज सर्वोपरि है अतः उन्होंने राम के इस कार्य को स्वीकार करके भी न्याय संगत बनाने का प्रयत्न किया है।

'सीता बनवास' के विषय में अब तक चली आ रही परम्परा से भिन्न परिस्थिति कवि ने रखी है। परम्परागत कथा में राम चुपचाप सीता को निर्वासित कर देते है और मार्ग में लक्ष्मण ही सारा वृत्तान्त उन्हें समझाते है। राम मे वहाँ साहस की कमी दिखलाई पड़ती है। उनके आलोचकों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि यदि राम का सीता पर इतना अनन्य विश्वास था तो कायर की भाँति उन्होने सीता को वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ क्यों रखा ? इसी लांछन को धोने के लिए लोकापवाद के विषय मे कवि राम के मुँह से कहलवाता है—

'लोकाराधन के बल से लोकापवाद को दल दूँगा।'[1]

वह स्वयं सीता को सारी परिस्थिति से परिचित कराते है। सीता भावी वियोग की आशंका से एकबारगी सिहर उठती है—

प्राणनाथ सब तो सह लूंगी क्यों जायेगा विरह सहा।[2]

किन्तु फिर राम के धैर्य से स्थिरमति होकर सब सहने का साहस ग्रहण करती हैं—

किन्तु आपके धर्म का न जो परिपालन कर पाऊँगी।
सहधर्मिणी नाथ की तो मैं कैसे भला कहाऊँगी॥
वही करूँगी जो करने की आज्ञा मुझको होगी।
त्याग करूँगी इष्ट सिद्धि के लिए बना मन को योगी।
सुख वासना स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुख मोड़ूँगी।
लोकाराधन या प्रभु आराधन निमित्त सब छोड़ूंगी॥[3]

'वैदेही-वनवास' की सीता कठिन कर्त्तव्य को पालन करने के लिए पूर्णतः

१. वैदेही-बनवास, पंचम सर्ग, पद २०
२. वही, पद २२
३. वही, पद २६-२७

सजग हैं—

यदि कलंकिता हुई कीर्ति तो कैसे मुख दिखलाऊँगी।
जीवनधन पर उत्सर्गित हो जीवन धन्य बनाऊँगी॥
विरह वेदनाओं से जलती दीपक सम दिखलाऊँगी।
पर आलोकदान कर कितने उर का तिमिर भगाऊँगी॥
बिना वदन अवलोके आँखें आँसू सदा बहाएँगी।
पर मेरे उत्तप्त चित्त को सरस सदैव बनाएँगी॥[1]

तथा—

आप जिसे हित समझें उस हित से ही मेरा नाता है।

प्रियप्रवास की राधा की भाँति वैदेही-वनवास की सीता भी परहित की वेदी पर अपनी भावनाओं को न्योछावर कर सकती है—

लगी लालसाएँ लालायित हो होकर कल्पाएँगी।
किन्तु कल्पनातीत लोकहित अवलोके बलि जाएँगी॥[2]

वैदेही-वनवास की सीता के निर्वासन का समाचार अयोध्या में सबको ज्ञात है। सीता कौशल्या से अपने निर्वासन काल में राम का ध्यान रखने को कहती है। उनका इस प्रकार कहना भारतीय समाज के वातावरण के अनुकूल-सा नहीं लगता परन्तु कौशल्या भी वधू से कहती है 'हाँ बेटी, तू ठीक कहती है।' उन्हे उनकी समझदारी पर पूर्ण विश्वास है।

अत्यन्त धीरा सीता को राम, राजकुल और पुरवासी सब साश्रु विदा करते है। मार्ग में सौमित्र से वार्तालाप में भी, सीता सर्वहित-साधन की वेदी पर आत्मसुख की बलि करने के प्रण पर अटल दिखाई पड़ती है—

वियोग का काल है अनिश्चित
व्यथा-कथा वेदनामयी है।
बहु गुणावली रूप-माधुरी
रोम-रोम में रमी हुई है।
अतः रहूँगी वियोगिनी मैं
नेत्र वारि के मीन बनेगे।
किन्तु दृष्टि रख लोक-लाभ पर
सुकीर्ति मुक्तावली जनेगे॥[3]

'कभी कुचिन्ता चपला फिरेगी' आदि उक्तियों में वह अपने भावी विरह का विकराल चित्र भी खींचती है—

---

१. वैदेही-वनवास, पंचम सर्ग, पद २९-३०
२. वही, पद ३२
३. वही, सप्तम सर्ग, पद ६२-६३

कभी आह आँधियाँ उठेंगी
कभी विकलता-घंटा घिरेंगी।
दिखा चमक चौंक-व्याप्त उसमें
कभी कुचिन्ता चपला फिरेगी।
परन्तु होगा न वह प्रवंचित।
कदापि गन्तव्य पुण्य-पथ से॥
कभी नही भ्रान्त हो गिरेगा।
स्वधर्म आधार दिव्य रथ से॥[1]

राम के चरण कमलों की आराधिका सीता अपनी मानवी-दुर्बलताओं को स्वीकार करती हुई कहती हैं—

मैं अबला हूँ आत्म सुखों की।
प्रबल लालसाएँ प्रतिदिन आ॥
मुझे सताती रहती है जो।
तो इसमे है विचित्रता क्या॥

किन्तु—

विधु सुन्दर बर-वदन ध्यान कर
सारा अंतर- तिमिर हरूँगी॥[2]

हरिऔधजी का विरही के लिए एक जीवन दर्शन है। उनका कहना है कि प्रेमी प्रिय के प्रेम को विश्वप्रेम में परिणत कर दे तभी सुखी हो सकता है। यह शाश्वत सत्य भी है। किन्तु प्रेम का यह उन्नयन स्वाभाविक गति से प्रेमी के अनजान में, स्वयं धीरे-धीरे होता रहता है। वह भावुक विचारक की भाँति पहले से ही प्रिय के प्रेम और विश्व प्रेम में तटस्थ भाव से मनन नही किया करता। हरिऔधजी की नायिकाएँ भावुक विरहिणी के स्थान पर मननशीला उपासिकाएँ-सी प्रतीत होती है। सीता लक्ष्मण से कहती है—

सर्वोत्तम साधन है उर में।
भव-हित पूत-भाव का भरना॥
स्वाभाविक-सुख-लिप्साओं को।
विश्व प्रेम में परिणत करना।[3]

राम से निरवधि वियोग-प्राप्त सीता के मुख से हम उद्विग्न उर के कुछ उद्‌गार सुनना चाहते हैं, योगी का उपदेश नही। धीर से धीर नारी की मनःस्थिति भी ऐसी परिस्थिति में डाँवाडोल हो जानी स्वाभाविक थी परन्तु यहाँ हरिऔध की सीता आवश्यकता से अधिक समझदार दिखाई पड़ती है। सहृदय पाठक उनकी समझदारी से

१. वैदेही वनवास, सप्तम सर्ग, पद ६६-६७
२. वही, पद ७२
३. वही, पद ७५

अपनी भावनाओं का सामंजस्य बैठाने में असमर्थ रह जाता है। सीता की विरह दशा नवम सर्ग में प्रथम बार हम सौमित्र के मुँह से सुनते हैं—

किन्तु एक अति-पति परायण की दशा।
उनकी मुख-मुद्रा उनकी मार्मिक व्यथा।
उनकी गोपन भाव भरित दुख-व्यञ्जना।
उनकी बहु सयमन प्रयत्नों की कथा।
मुझे बनाती रहती है अब भी व्यथित॥[1]

यद्यपि लक्ष्मण के वर्णन से ज्ञात होता है कि सीता के धीर वचन उनके भर्राये हुए कण्ठ से निःसृत हुए होंगे किन्तु पहले के वर्णन से उस तरह की व्यथा की प्रतीति किंचित् भी नहीं होती।

वाल्मीकि के आश्रम में सीता का नवीन जीवन प्रारम्भ हो जाता है। चन्द्र की ज्योत्स्ना से संसिक्त एक रात को अपने कर्तव्य और धैर्य को कुछ क्षण के लिए वह भूल जाती है। वह चाँदनी से प्रश्न करती है—

तुम तो लाखों कोस दूर की अवनी पर जाती हो।
फिर भी पति से पृथक् न होकर पुलकित बनी दिखाती हो।
... ...
और किसलिए थोड़े अन्तर पर रह मै उकताती हूँ।
बिना नवल नीरद तन देखे दृग से नीर बहाती हूँ॥
ऐसी कौन न्यूनता मुझमें है, जो विरह सताता है।
सिते बता दो मुझे क्यों नही, चन्द्र वदन दिखलाता है॥[2]

यह क्षण-भर का टोना, रजनी का भुलावा सीता पर से जैसे एकाएक टूट जाता है और वह 'तिमिरावृत्त न्यूनता के निरसन' की प्रार्थना करने लगती है। अर्थात् अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न विरह-वेदना को भुला देना चाहती है।

निरपराधिनी सीता राम के हाथों व्यर्थ कष्ट भोग रही हैं किन्तु वह उसे क्लेश नहीं मानती। राम के विषय में वह कहती है—

पर निरपराध को प्रियतम ने कभी नही कलपाया।
उनके हाथों से किसने कब कहाँ व्यर्थ दुख पाया॥[3]

अपनी दशा की व्याख्या वह इस प्रकार करती हैं—

चातक से जिसके दृग हैं छवि स्वाति-सुधा के प्यासे।
प्रतिकूल पड़ रहे हैं अब, जिससे सुख वासर के पासे॥[4]

---

१. वैदेही-बनवास, नवम सर्ग, पद १५-१६
२. वही, दशम सर्ग, पद ४७ से ६५ तक
३. वही, एकादश सर्ग, पद ४०
४. वही, पद ४९

वर्णन मार्मिक है किन्तु समझ में नही आता कि सीता की क्या वस्तुतः यही दशा है कि उनके सुख-वासर के पासे प्रतिकूल पड़ रहे है? तब कैसे राम के लिए वह कह सकती हैं कि उन्होंने किसी निरपराध को कभी नही सताया।

वाल्मीकि के आश्रम मे एक वर्ष बीत जाने पर भी सीता विरह-वेदना को, राम से मिलने की उत्कण्ठा को, कर्त्तव्य से अधिक प्रश्रय न दे सकी। कर्तव्य सतत उनके भावों को दबाता जा रहा है। इतनी कर्त्तव्य-निष्ठा सीता 'हरिऔध' की ही निधि है। कालिदास, भवभूति और दिङ्नाग कोई भी अपनी सीता को इतना धीर और कर्मठ न बना सके थे। यहाँ जब सीता कहती है कि वह विरह से व्यथित है तो पाठक को सशय-सा होने लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का उद्देश्य सहृदय को सीता की विरह-व्यथा से परिचित कराना नही है, राम और सीता के धैर्य और कर्त्तव्य-निष्ठा का सन्देश देना है जो राम के वनदेवी के प्रति इस कथन से स्पष्ट है—

लोकाराधन राजनीति सर्वस्व है।
है परार्थ परमार्थ पंथ भी अति गहन॥
पर यदि ये कर्त्तव्य औ' सद्धर्म है।
सहनशक्ति तो क्यो न करे सकट सहन॥
कुलपति आश्रम वास जनक नदिनी का।
हम दोनों का सद्विचार मर्म है॥
वेद विहित बुध वृन्द समर्थित पूत तम।
भवहित मंगल मूलक वाछित कर्म है॥[1]

कर्त्तव्य के गुरु भार को सभालने मे भी विरह की मार्मिक व्यजना को अवसर मिल सकता था किन्तु वैदेही-वनवास मे वह पक्ष दबा हुआ-सा ही रह गया है।

सीता बारह वर्ष तक वाल्मीकि के आश्रम मे रही। उनके पवित्र आचरण की सत्कीर्ति सम्पूर्ण भारत मे फैल गई और लोकापवाद का मार्ग कुण्ठित होने लगा। तब राम ने अश्वमेध के अवसर पर सीता को पुनर्ग्रहण करने का विचार किया। सीता अश्वमेध यज्ञ में गईं किन्तु पति के पदस्पर्श करते समय हर्षातिरेक से भाव-विह्वल हो गई। उसी भाव-विह्वलता में उनके प्राण निष्ठुर ससार का त्याग करके आकाशगामी हो गए।

वैदेही-वनवास की कथा सीता निर्वासन की कथा होकर भी बिलकुल नवीन है। उसका उद्देश्य विरह के मर्म का दिग्दर्शन नहीं कर्तव्य मार्ग का प्रदर्शन है।

मैथिलशीरण गुप्त

(१) साकेत—'साकेत' की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना वियोगिनी 'उर्मिला' का विरह है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से इंगित पाकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के कवियों से उपेक्षित उर्मिला के उद्धार की अपील की थी और उस काल के काव्य-महारथियों में

१. वैदेही-बनवास, सप्तदश सर्ग, पद ७८-७९

मैथिलीशरण गुप्त ने इस कार्य को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया था।

वियोग की पीड़ा वास्तविक वियोग में ही नहीं प्रिय की अभाव कल्पना में भी होती है, 'उसके बिना जीवन कैसे बीतेगा, इस भाव से विरही का मानस सिहर उठता है। उर्मिला की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति साकेत में, 'प्रोषितपतिका' ही नहीं 'प्रवत्स्यपतिका' के रूप में भी हुई है।

राम को कैकेयी की कृपा से जब राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास मिला तब लक्ष्मण भी स्वेच्छा से उनके साथ जाने को प्रस्तुत हो गए। सीता ने तो सोच लिया—'सीता ने सोचा मन में—स्वर्ग बनेगा अब वन मे।'

किन्तु बेचारी उर्मिला कुछ न कह सकी। इस स्थिति में कवि ने उर्मिला से कुछ न कहलवाकर लक्ष्मण के मानस-पट पर उसकी करुण वियोगिनी मूर्ति की मौलिक कल्पना की है। माताओं और ज्येष्ठ के सन्मुख लक्ष्मण की नवविवाहिता पत्नी उनसे खुलकर बातचीत न कर सकती थी अतः उसकी अभिव्यक्ति का इससे सुन्दर कोई दूसरा उपाय न हो सकता था। कर्त्तव्यनिष्ठ लक्ष्मण भाई के साथ जाने को तत्पर थे किन्तु भोली-भाली उर्मिला के हृदय की व्यथा भी उनसे छिपी न थी। अतः मन ही मन कर्त्तव्य की गुरुता का उत्तरदायित्व उसको समझाने की चेष्टा उन्होंने की—

उठीं न लक्ष्मण की आँखें, जकड़ी रही पलक पाँखें।
किन्तु कल्पना घटी नहीं, उदित उर्मिला हटी नहीं॥
खड़ी हुई हृदयस्थल मे—पूछ रही थी पल-पल में।
मैं क्या करूँ? चलूँ कि रहूँ? हाय और क्या आज कहूँ?
आः! कितना सकरुण मुख था, आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था।
लक्ष्मण ने सोचा कि—'अहो, कैसे कहूँ चलो कि रहो॥
यदि तुम भी प्रस्तुत होगी—तो सकोच सोच दोगी!
प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे॥
नही-नहीं यह बात न हो, रहो! रहो, हे प्रिये रहो।
यह भी मेरे लिए सहो, और अधिक क्या कहूँ अहो॥[1]

लक्ष्मण के उस मन्तव्य को उर्मिला ने जैसे समझ लिया। उसकी विवश व्यथा अश्रुओं के रूप में फूट पड़ी—

श्री सीता के कन्धे पर—आँसू बरस पड़े झरझर।

माता से भी लक्ष्मण को जब वन जाने की स्वीकृति मिल गई तो उर्मिला अपने धड़कते हुए हृदय को समझाने लगी।—

कहा उर्मिला ने हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा! है अनुराग विराग भरा॥

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ७७-७८

तू विकार से पूर्ण न हो, शोक भार से चूर्ण न हों।[१]

वह और अधिक न सोच सकी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

उर्मिला का दूसरा वियोग चित्र षष्ठम् सर्ग में राम-लक्ष्मण के जाने के बाद प्रस्तुत होता है। यहाँ प्रोषितपतिका उर्मिला विरह-वेदना से अत्यन्त कृशकाय हो गई है। उसके विवर्ण-मुख से मन का 'उद्वेग' झलक रहा है—

कुम्हलाई तथा कैरवाली, या ग्रस्त चन्द्र की उजयाली।
मुखकान्ति पड़ी पीली-पीली, आँखें अशान्त नीली नीली॥
क्या हाय! यही वह कृशकाया, या उसकी शेष सूक्ष्म छाया?[२]

वियोग का अत्यधिक कष्ट सहकर भी उर्मिला कर्त्तव्य को प्रमुखता देती हुई गम्भीरता से परिस्थिति को सोचती-समझती है। उसके लिए इतना ही 'बस' है—

करना न सोच मेरा इससे, व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।
आने का दिन है दूर सही, पर है मुझको अवलम्ब यही॥
आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी॥[३]

उर्मिला के विरह का प्रारम्भ अत्यन्त सुन्दर हुआ है। उसमें वह संयत गरिमा है जो उसके चरित्र की निधि बन सकती थी। चित्रकूट में लक्ष्मण से अल्प मिलन के अवसर तक वह बराबर उसमें विद्यमान है।

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी॥[४]

किन्तु नवमसर्ग तक पहुँचते-पहुँचते न जाने वह गरिमा कहाँ विलुप्त होगई। गुप्तजी ने उसे अत्यन्त साधारण विरहिणी बना दिया, जो पति के वियोग में फूट-फूटकर रोती है, उन्मादिनी-सी रहती है, खाना-पीना उसे अच्छा नहीं लगता, सब सुखद उपकरण दुख-दायी हो गए है। इस परिस्थिति से यद्यपि विरही के जीवन के विविध रूप उपस्थित हो सके है किन्तु वे उर्मिला के चरित्र के अनुकूल नहीं लगते। सहृदय पाठक उसके महान् त्याग की व्यथा को अत्यन्त संयत देखने का इच्छुक था किन्तु वेदना के अजस्र प्रवाह ने उसके महत्त्व को कम कर दिया। इतनी त्यागमयी को इतना हल्का होकर रोने की क्या आवश्यकता थी।

कवि को उर्मिला से विरह के लम्बे चौदह वर्षों की अवधि किसी भाँति कटवानी थी और उसने राजगृह की वंचिता नववधू की भाँति ही काटी। इस लम्बे विरह वर्णन में

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, पृष्ठ ७६
२. वही, षष्ठम सर्ग, पृष्ठ ११५
३. वही, पृष्ठ ११७
४. वही, अष्टम सर्ग, पृष्ठ १६३

विरही के जीवन की अनेक सुन्दर स्थितियों का समावेश हुआ है।

प्रोषितपतिका उर्मिला को कर्तव्य भावना निरंकुश नहीं होने देती। मन प्रिय को समीप बुलाना चाहता है किन्तु कर्तव्य कुछ ही क्षण मे भावना पर विजय प्राप्त कर लेता है।

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी 'आओ',
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौक बोलकर 'जाओ'।[1]

उर्मिला के इस कथन की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने पृथक्-पृथक् ढंग से की है। कन्हैयालाल सहल कहते है—

"उर्मिला मध्या नायिका है। जागृतावस्था मे भी जब उर्मिला को चौदह वर्षों की अवधि का स्मरण न रहता तो वह लक्ष्मण को संयोग सुख के लिए आमन्त्रित करती थी' जब स्वप्न में लक्ष्मण से मिलन होता तो मध्या नायिका की भांति चौककर 'जाओ' कह उठती थी।"[2]

सहलजी का उपर्युक्त मन्तव्य कामशास्त्र के अनुसार 'मध्या नायिका' के भेद में (सोने जागने की अवस्था में) हो सकता है ठीक बैठता हो किन्तु वह उर्मिला के प्रसंग में मनोविज्ञान संगत नही है। जागते हुए का अर्थ यहाँ जाग्रत अवस्था नही है अर्ध-विस्मता-वस्था है। इस प्रसंग में स्वयं कवि का वक्तव्य अत्यन्त मान्य है—

"मैने तो यहाँ यही कहना चाहा था कि जागते में उर्मिला भले ही अवधि की सुधि भूलकर पीड़ा के कारण पति को पुकार उठती थी परन्तु स्वप्न में भी वह अवधि से पहले उनका आना नहीं चाहती थी—यदि कभी वे स्वप्न मे आ जाते तो 'जाओ' कहकर वह जाग उठती थी।"[3]

डा० नगेन्द्र इसे अर्धविस्मृतावस्था कहते है। इसके विषय में उनका कहना है—

"परन्तु उर्मिला की इस अर्धविस्मृति के पीछे इस युग के मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। इसमें रूढ़ि का पालन नही, स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है।...वहाँ आदर्श और कामना के बीच मे संघर्ष है। आदर्श कहता है 'जाओ' भाव कहता है 'आओ'। इसी द्वन्द्व की अन्तर्धारा उसकी अर्ध-विस्मृति के मूल में वह रही है।"[4]

नगेन्द्रजी का उर्मिला-विरह-विषयक यह विश्लेषण ठीक ही है। यह 'अर्धविस्मृता-वस्था' विरही की स्वाभाविक यथार्थ अनुभूति और उन्माद की अवस्था के बीच की कड़ी है। इसे उद्वेग से कुछ आगे की 'स्टेज' (स्थिति) कह सकते हैं। आदर्श और भावना के संघर्ष से जिस उद्वेग का मन में उदय हुआ वही इस अर्धविस्मृतावस्था के रूप में विरही की अवचेतना में छिपी यथार्थ कामना और उसके चेतन को झकझोरते हुए आदर्श का द्वन्द्व

१. साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ १९५
२. साकेत के नवम सर्ग का 'काव्य वैभव' पृष्ठ ८-९,
३. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत के नवम सर्ग का 'काव्य-वैभव', पृष्ठ १५७-१५८
४. डा० नगेन्द्र—साकेत एक अध्ययन, पृष्ठ ७१

बनकर प्रकट होता है। इसी से भावावेश में उर्मिला कहती है—

अरण्य से हैं प्रिय लौट आते,
छिपे-छिपे आकर देखते सभी,
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते।[1]

उसकी विरह-व्यथित स्थिति को लक्ष्मण भी देख सकते तो कितना अच्छा होता। कम से कम उसके प्रणय के मूल्य को तो पहचान ही लेते। विरही की यह कामना कि जिसके लिए वह कष्ट झेल रहा है उसे भी पता चल सकता अत्यन्त भोली है।

उसी भोली कामना में बहते-बहते उसे अनुभव होता है जैसे उसके प्रिय आ गए हैं—

सुभग आ गए, कान्त आ गए।[2]

आरती और अर्घ्य सब कुछ अर्पण करने को मन लालायित हो उठता है—

त्वरित आरती ला उतार लूं।
पद दृगम्बु से मै पखार लूं।
चरण भरे देख धूल से,
विरह सिन्धु में प्राप्ति कूल से।
उदित उर्मिला भाग्य धन्य है,
अब कृती कहाँ कौन अन्य है?[3]

किन्तु तभी उसे भास होता है कि लक्ष्मण अकेले लौटे है। कर्त्तव्य कचोटने लगता है—

प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
वह नहीं फिरे, क्या तुम्ही फिरे।
हम गिरे अरे तो गिरे गिरे!

वह लक्ष्मण से प्रश्न करती है—

दयित क्या आर्त जान के,
धर दिया तुम्हें भेज आप ही,
यह हुआ मुझे और ताप ही।[4]

भावना और कर्त्तव्य के आरोह-अवरोह में उर्मिला ऊबती-डूबती रहती है। उर्मिलाके विरह का यह रूप अत्यन्त स्तुत्य है। कवि के शब्दों में वह विरहिणी बाला प्रिय की आरधना में स्वयं आरती बन गई थी—

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ १९५
२. वही, पृष्ठ २४१
३. वही, पृष्ठ २४२
४. वही, पृष्ठ २४३

मानस मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप ॥[1]

देव के मन्दिर में जलती हुई आरती का वह श्रद्धामय रूप उर्मिला के व्यक्तित्व में बना रहता यदि वह साधारण स्वार्थमय नारी की भाँति अपने वियोग का कारण सीता को मानकर उन पर व्यंग्य न करती। सखि जब उससे कुछ खाने-पीने की प्रार्थना करती है तो वह खीज से अपनी उदासीनता प्रकट करती हुई कहती है—

बन की भेंट मिली है, एक नई जड़ी मुझे जीजी से,
खाने पर सखि, जिसके गुड़ गोबर-सा लगे स्वयं ही जी से।[2]

उर्मिला का वह वक्तव्य चाहे वह उन्माद में भी हो, उसके चरित्र के अनुकूल नहीं लगता। विवशता में भी अपने वियोग का दोषी सीता को ठहराना हीन-सा प्रतीत होता है। ऐसा था तो पहले ही उसे लक्ष्मण के वन जाने का विरोध करना चाहिए था। न जाने क्या सोचकर मैथिलीशरण गुप्त ने उसके मुँह से यह कहलवाया है।

वैसे वियोगिनी उर्मिला की दशा बहुत ही करुण है। उसको खाना-पहनना अच्छा नहीं लगता किन्तु विरह की लम्बी अवधि का समुद्र पार करने के लिए शरीर की रक्षा नितान्त अनिवार्य हो गई है। सखी से वह कहती है—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि पहन लूँ ला, सब करूँ,
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता धीरज धरूँ?
अरी कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ ॥[3]

सखी जब मैले वस्त्र बदलने को कहती है तब लक्ष्मण के कठिन जीवन का स्मरण करके उसे उत्तर देती है कि वस्त्र कितने ही मैले हों वल्कल से तो अच्छे हैं—

धूलि धूसर हैं तो क्या, यों तो मृण्मात्र गात्र भी,
वस्त्र ये वल्कलों से तो हैं सुरम्य, सुपात्र भी ॥[4]

घर के सब व्यक्ति उसकी स्थिति से अत्यन्त चिन्तित हैं, वह इस बात से पूर्णतः अभिज्ञ है किन्तु विरह की इस उन्मन पीड़ा पर उसका कोई वश नही है। वह इतनी प्रौढ़ा और गम्भीर नहीं कि उसका किसी निर्माणात्मक क्षेत्र में उन्नयन कर सके—

रोती है और दूनी निरखकर मुझे दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवरश्री नत, हत बहन छोड़ती हैं उसासें।
आली तू ही बता दे, इस विजन बिना मैं कहाँ आज जाऊँ?
दीना, हीना, अधीना ठहरकर जहाँ शांति दूँ और पाऊँ?[5]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ १९५
२. वही, पृष्ठ १९६
३-५ वही, पृष्ठ १९७

कोक के प्रति सहानुभूति रखती हुई वह कोकी को सान्त्वना देती है—

कोक शोक मत कर हे तात,
कोकि कष्ट में हूँ मैं भी तो सुन तू मेरी बात,
धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात।
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात॥[१]

क्योंकि उर्मिला का दृढ विश्वास है कि वियोग में दोनों पक्ष विरह की वेदना से व्यथित रहते है—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है।[२]

यहीं दीपक व पतंग के मिस अपने और लक्ष्मण के जीवन की व्याख्या भी वह करती है। एक के त्याग को तो विश्व में सराहना मिलती है और दूसरा उपेक्षित-सा चुपचाप कष्ट झेलता रहता है—

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतंग भाग्य-लिपि काली किसका वश चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।[३]

मकड़ी के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई वह उससे अपना साम्य करती है। दोनों विवश जाल में फँसी हुई हैं इसका संकेत उसने किया है। वस्तुतः यह साम्य भ्रामक है क्योंकि मकड़ी जाल में स्वयं नहीं फँसती औरों को फंसाती है।

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूतिवशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा।[४]

उर्मिला के विरह में मार्मिक स्थलों की कमी नहीं है किन्तु वे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उसके भाग्य पर रोना आने लगता है जब वह कहती है—

कूड़े से भी आगे पहुँचा अपना अदृश्य गिरते-गिरते,
दिन बारह वर्षों में घूड़े के भी सुने गए हैं फिरते।[५]

कभी अपने मन को समझाती है—

नयनों को रोने दे मन, तू संकीर्ण न बन, प्रिय बैठे हैं,
आँखों से ओझल हों, गए नहीं वे कहीं यहीं पैठे हैं।

विरह के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहती हैं—

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ २०८
२-३. वही, पृष्ठ २०४-२०५
४. वही, पृष्ठ २२४
५. वही, पृष्ठ २३६

सिद्ध है स्वयं साधना भाग, सुधा क्या क्षुधा जो न होती।

... ...

मिलन-सूत्र सूची से कम क्या अनी विरह के शूल में।[1]

उसका कहना है कि विरह ने उसे बुरे समय की पहचान करा दी है—

जहाँ विरह ने गार दिया है किया वहाँ उपकार भी,
सुध-बुध हर ली, किन्तु दिया है काल ज्ञान विचार भी।[2]

उर्मिला के विरह में शारीरिक पक्ष की उपेक्षा नहीं है। असह्य वेदना में वह अपने यौवन बाल को बचाकर रखना चाहती है—

मेरे चपल यौवन बाल।
अचल अंचल में पडा सो, मचलकर मत साल

... ...

मन पुजारी और तन इस दुखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल![3]

जीवन के मध्याह्न में ही उसका प्रिय से वियोग हो गया था, अतृप्त अभिलाषाओं की यह कामना अत्यन्त स्वाभाविक है। यौवन की उपमा चपल बाल से काफी उपयुक्त है।

नवम सर्ग की उन्मन व्यथा दशम सर्ग मे मानसिक व्याधि-सी बन गई है। न अब उर्मिला अपनी-सी दुखिनी प्रोषितपतिकाओं को बुलाकर उनसे दुख-सुख बाँटना चाहती है, न पशु-पक्षियों को अपनी स्नेहार्द्र दृष्टि से सहानुभूति अर्पित करती है। वह कहीं एकांत कोने में बैठी रोया करती है, केवल सखी सुलक्षणा उसके साथ है। कवि उसकी दशा की व्यंजना इस भाँति करता है।

कृश देह, विभा भरी-भरी,
धृति सूखी, स्मृति ही हरी-हरी।
उड़ती अलकें जटा बनी,
बनने को प्रिय पाद-मार्जनी![4]

नैराश्य इतना अधिक होगया है कि 'सरयू' में डूबकर मरने की चेष्टा करती है—

यह नीचे सरयू, इसे धरूँ।
इसका कल कर्ण में भरूँ,
जल क्या है बस डूब ही मरूँ॥[5]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग पृष्ठ २३३
२. वही, पृष्ठ २०४
३. वही, पृष्ठ २३७
४. वही, दशम सर्ग, पृष्ठ ३२५
५. वही, पृष्ठ ३२७

वह अपनी सुध-बुध बिलकुल भूले हुए हैं। सखी सुलक्षणा न पकड़ती तो क्या जाने वह डूब ही जाती—

धर यों मत, बात थी अरी
मरती हूँ कब मैं मैं मरी मरी ?[1]

विस्मृत-सी होकर वह अतीत की स्मृति में डूब जाती है और जड़ सरयू को अपने जन्म, जनक के यहाँ बालपन, लक्ष्मण के प्रति प्रथम आकर्षण और धनुष यज्ञ प्रसंग आदि की लम्बी गाथा सुनाती है। इसको 'उन्माद' की 'गुणकथन' अवस्था कह सकते हैं। वाणी में अभिव्यक्ति होने से वह 'प्रलाप' के अत्यन्त समीप आ जाती है किन्तु उसे प्रलाप इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि उसमे अनर्गलता नहीं है ; भाव की तन्मयता है। कर्त्तव्य का द्वन्द्व इस स्थिति में भी उसकी चेतना से लुप्त नही होता—

सुवधू इस गण्य गेह की,
दुहिता होकर मैं विदेह की,
प्रिय को, धर देह-भोग से
करती वचित क्या सुयोग से ?[2]

संक्षेप में कह सकते है कि उर्मिला के विरह की अनेक कामदशाएँ उद्वेग, उन्माद, वैवर्ण्य और अश्रु आदि परम्परित व्यथा के भार को सम्भालते हुए भी अधिक मनोविज्ञान संयत हैं ; क्योंकि उर्मिला के बुद्धिवादी व्यक्तित्व ने स्वयं कर्त्तव्य के उत्तरदायित्व को निभाने का प्रण किया था। 'अचेतन' में जो अतृप्ति उसको साल रही थी, उस पर 'चेतन मन' कठोर अंकुश रखने का प्रयत्न करता रहा। ऋतु वर्णन को भी कवि ने वियोगिनी उर्मिला की व्यथा ससिक्त दशा के अनुरूप ही व्यजित किया है। अतीत की स्मृति को जगाकर वे भी उसकी वेदना को तीव्रतर करती है।

अंत में उर्मिला के विरह के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसकी भावराशि बिखरी होने पर भी अत्यन्त मार्मिक है। बिखरी हुई सम्भवतः वह इसलिए है कि गुप्तजी ने उसकी अर्धविस्मृत अवस्था को ही यथार्थ माना है। भावावेश और आदर्श का द्वन्द्व उसे बराबर झकझोरता रहा है किन्तु वियोग की उस लम्बी अवधि में समय के साथ वह समझदार प्रौढ़ा नहीं बनती, भावुक मुग्धा ही रहती है। भावुक मुग्धा रूप में दुर्बलता के होते हुए भी वह आदर्श से कहीं च्युत नहीं हुई। केवल एक स्थान पर न जाने जीजी को क्यों बुरा कह बैठी—

वन की भेंट मिली है, एक नई वह जड़ी मुझे जीजी से।

मैथिलीशरणजी ने उर्मिला की वियोग वेदना को स्वाभाविक गति से भाग्य से टकराने दिया है, अपने हाथों उसे राह नही दिखाई है। इसी कारण वह (यदि अंग्रेजी के एक शब्द में उसके चरित्र को बाँधें तो कहना होगा) बहुत 'ह्यूमन' है। 'ह्यूमन' रहते हुए

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, दशम सर्ग, पृष्ठ ३२७
२. वही, पृष्ठ ३६६

उन्नयन की उसने आवश्यकता ही नहीं समझी।

(२) **यशोधरा**—गुप्तजी की यशोधरा आधुनिक सांस्कृतिक कविता के विरह-भाव की अमूल्य निधि है। भारतीय नारी के सांस्कृतिक गौरवपूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व जितने सुन्दर रूप में यशोधरा करती है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यशोधरा गौतम की नवयुवा विवाहिता है। संसार के करुण-वेदनामय रूप से भयभीत होकर सिद्धार्थ एक रात अनायास उसको अकेली सोती हुई छोड़कर सिद्धि की खोज में घर से चले गए। अभिमानिनी यशोधरा अपमान से काँप गई। प्रिय सिद्धि की कामना के लिए गए थे, इसका उसे दुख न था, दुख था तो इस बात का कि उसको वह वंचना से छोड़कर गए; यदि कहकर जाते तो क्या वह उन्हें मना कर देती? 'ग्लानि' से उसका मन भर आता है। उसका स्वाभिमान आहत हो उठता है :

सखि वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वह अपनी पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना;
जो वे मन में लाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र धर्म के नाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।[1]

यही कसक उसके मन में तब भी रहती है जब वह कहती है कि सास-ससुर जब मुझसे पूछेंगे कि तुमसे तो कहकर ही गए होंगे, कहाँ जा रहे हैं, तब क्या उत्तर दूँगी। क्या यह कहूँगी कि मुझसे कुछ नहीं कहा?

सास-सुसर पूछेंगे
तो क्या उनसे अभी कहूँगी मैं?
हा! गर्विता तुम्हारी
मौन रहूँगी, सहूँगी मैं।[2]

वियोग की असह्य वेदना सहकर भी वह सिद्धार्थ को ढूंढ़ने के प्रस्ताव को मना कर देती है। शुद्धोधन जब कहते हैं—

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ २४
२. वही, पृष्ठ २६

तू क्या कहती है बहू, पाऊँ मैं जहाँ कहीं,
चतुर चरों को भेज खोजूँ भी उसे नहीं ?[१]

तब यशोधरा कहती है—

तात, नहीं

तथा—

खोज करना उन्हीं के प्रतिकूल है।

शुद्धोधन जब पूछते हैं—

कैसे ?.....

तब यशोधरा अत्यन्त गम्भीर उत्तर देती है—

तात, सोचो, क्या गए वे इसी अर्थ हैं,
खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ है ?[२]

विरह की कसक से वह पीड़ित न हो ऐसी बात नहीं है। छन्दक जब लौटकर गौतम का सारा वृतान्त कपिलवस्तु में सुनाता है तो वह उन्मादी-सी हो जाती है। कोई शृंगार उसे अच्छा नहीं लगता। विरह के चरम नैराश्य मे सखी से कहती है—

जाओ मेरे सिर के बाल।
अलि, कतरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल ?[३]

किन्तु दूसरे ही क्षण संभल जाती है। वात्सल्य उसे जीने की प्रेरणा देता है—

मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल।
क्या है अंजन अंगराग, जब मिली विभूति-विशाल ?
बस, सिन्दूर बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल,
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल।[४]

यशोधरा के विरह की अवधि अनिश्चित है, गौतम यदि सिद्धि प्राप्त करके लौट भी आएँगे तब भी पति-पत्नी सम्बन्ध की तो समाप्ति हो ही गई; इस दृष्टि से उसका विरह करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत आता है।

सुख के दिनों के सब उपकरण यशोधरा के लिए दुखदायी हो गए हैं। वही कुंज हैं, वही उनके पालित पक्षी कोकिल, कीर, शिखी आदि हैं किन्तु प्रिय के बिना सब अनाथ से लगते हैं—

उनका यह कुंज कुटीर वही
झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं
सुन चातक की रट 'पीव कहाँ' ?

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ३०
२. वही, पृष्ठ ३१
३-४. वही, पृष्ठ ३४

अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि जा पहुँचे सुध संग कहीं
यह अंध सुगन्ध समीर वहाँ।[1]

यशोधरा की यह कामना कितनी भोली और स्वाभाविक है—

सखि जा पहुँचे सुध संग कहीं
यह अंध सुगन्ध समीर वहाँ।

प्रिय का गुण कथन करती हुई वह कहती है—

देख कराल काल-सा जिसको काँप उठें सब भय से
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से
क्यों न गंजती रंगभूमि फिर उनकी जय जय जय से?
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल पराक्रमकारी ?[2]

विरही की वेदना और सहनशक्ति की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना यशोधरा के इन शब्दों में हुई है।

जलने को ही स्नेह बना
उठने को ही वाष्प बना है,
गिरने को ही मेह बना
जलता स्नेह जलावेगा ही,
फोले वाष्प फलावेगा ही,
मिट्टी मेह गलावेगा ही।
सब सहने को देह बना।
जलने को ही स्नेह बना॥[3]

स्नेह करके मनुष्य को जलना ही पड़ता है, प्रेम में ही विरह का अस्तित्व होता है। विरही की अतृप्त अभिलाषाएँ आँसू बनकर उमड़ती रहती हैं और शरीर तिल-तिल करके गलता जाता है। सूर ने भी कहा था—

'प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो।'

यशोधरा के विरह वर्णन में ऋतु-वर्णन भी अनुपम है। सब ऋतुएँ उसके जीवन पर घटित होती जाती हैं। साकेत की उर्मिला के विरह में भी ऋतु का लगभग वही रूप है किन्तु वहाँ आलंकारिता के बोझ में भाव पक्ष दब-सा गया है। यशोधरा की-सी सीधी

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४४
२. वही, ३७
३. वही, ४१

मार्मिक अभिव्यक्ति वहाँ नहीं है। गौतम के जाने के बाद विरहिणी यशोधरा की वही दशा हो गई है जो वसन्त की समाप्ति पर ग्रीष्म के आने से प्रकृति की होती है।

वसन्त :

सखि वसन्त से कहाँ गये वे,
मैं ऊष्मा सी यहाँ रही।[1]

ग्रीष्म :

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय ! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।
सूखा कण्ठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि अँधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।
मेरा ताप और तप उनका,
जलती है हा ! जठर मही।[2]

वर्षाकाल में न जाने कहाँ का वाष्प जो पहले प्रकृति में सोया पड़ा था, उमड़ आया। ऋतु के उद्दीपन से विरहिणी यशोधरा की अश्रुधारा भी उमड़ आई है। विस्मृति के गर्भ में डूबती हुई स्मृति पुनः सजीव हो गई—

जागी किसकी वाष्प राशि जो सूने में सोती थी ?
किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-दृष्टि रोती थी
विश्ववेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी।
किसके भरे हृदय की धारा
शतधा होकर आज वही ?[3]

ऋतु का यह वर्णन विरही की मानवीय भावनाओं के अत्यधिक अनुरूप है। वाष्प के उठने में 'उच्छ्वास' और मेह के गिरने में 'अश्रु' की ध्वनि है। वाष्प के वर्षा के रूप में परिणत होने के सहज वैज्ञानिक तथ्य को विरही के जीवन पर कवि ने कुशलता से घटाया है।

शरद के मिस वह गौतम के गुणों की और तपस्या की ही प्रशंसा करती है।

उनकी शान्त-कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल-पल में
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल-थल में,
नाच उठी आशा प्रतिदल पर किरणों की झल-झल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कल-कल में।

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४१
२. वही, पृष्ठ ४१
३. वही, पृष्ठ ४२

पर मेरे मध्याह्न बता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही ?[1]

हेमन्त और शिशिर उसके दुख को उद्दीप्त करते हैं—

हेमपुंज हेमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज बिसारूँ ?
किन्तु शिशिर यह ठंडी साँसें हाय ! कहाँ तक धारूँ ?
तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ ?[2]

उसके विरह दुख का अंधकार ही सम्पूर्ण सृष्टि पर आच्छादित होता हुआ प्रतीत होता है—

पेड़ों ने पत्ते तक उनका त्याग देखकर, त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे
उनके तप के अग्निकुण्ड से घर-घर में हैं जागे,
मेरे कम्प, हाय ! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे
पानी जमा, परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध दही ।[3]

स्वप्न में यदि प्रिय से साक्षात्कार होता है तो वह उन्मत-सी उनसे प्रार्थना करने लगती है—

नाथ कहाँ जाते हो ?
अब भी अंधकार छाया है ।

रोकने के प्रयत्न में नींद खुल जाती है तो वह विवश-सी कह उठती है—

हा ! जग कर क्या पाया,
मैंने स्वप्न भी गँवाया है ।

यशोधरा की अनेक वियोग दशाओं में 'मरण' तक का बड़ा सुन्दर वर्णन मैथिलीशरणजी ने किया है । प्रकृति का उद्दीपन रूप रखकर वह कहते है—

फूलों पर पद रख, कूलों पर रख लहरों से रास,
मन्द पवन के स्यन्दन पर चढ़ बन आया सविलास ।
भाग्य ने अवसर पाया री ।
मरण सुन्दर बन आया री ।

प्रिय के विरह में यशोधरा मरण का सुयोग भी प्राप्त नहीं कर सकती । इसकी विवशता और भी स्वाभाविक और सुन्दर है—

फिर भी गोपा के कपाल में कहाँ आज वह भोग ?
प्रियतम का 'क्या', यम का भी है दुर्लभ उसे सुयोग ?

१-२. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४३
३. वही, पृष्ठ ४०

बनी जननी भी जाया री।
मरण सुन्दर बन आया री।

जीवन रूपी नौका यशोधरा के लिए दुर्वह-सी प्रतीत हो रही है—

जीर्ण तरी भूरि भार, देख, अरी, एरी।
कठिन पन्थ, दूर पार, और यह अँधेरी।
सजनी उलटी बयार,
वेग धरे प्रखर धार,
पद पद पर विपद-वार
रजनी घन घेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार, देख, अरी, एरी![1]

किन्तु राहुल रूपी रत्न जो गौतम ने उसे सौंपा था, उसको उन्हें लौटाने का भार भी तो उसी पर है—

समय हो रहा सपत्न,
अपने वश कौन यत्न?
गाँठ मे अमूल्य रत्न
बिसरी सुध मेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार, देख, अरी, एरी।
भव का यह विभव साथ,
थाती भर किन्तु हाथ।
ले लें कब लौट नाथ?
सौंप बचे चेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार, देख, अरी, एरी।

राहुल के पालन-पोषण के इस उत्तरदायित्व ने यशोधरा की पीड़ा को और भी करुण बना दिया है। वह फफक-फफककर रो नहीं सकती। फिर भी अपनी व्यथा भूलकर उसे रसमय बनाना चाहती है।

कभी प्रिय की स्मृति आती है और राहुल कहानी कहने का हठ करता है तो उसके पिता की कहानी सुनाकर उसका मन बहलाती है—

सुन उपवन में बड़े सवेरे,
तात भ्रमण करते थे तेरे,
जहाँ सुरभि मनमानी।
... ...
गाते थे खग कल-कल स्वर से
सहसा एक हंस ऊपर से

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४८

गिरा, विद्ध होकर खर-शर से
हुई पक्ष की हानी'
... ...
चौक उन्होने उसे उठाया,
नया जन्म सा उसने पाया
इतने में आखेटक आया
लक्ष्य-सिद्धि का मानी
... ...
माँगा उसने आहत पक्षी,
तेरे तात किन्तु थे रक्षी।
तब उसने जो था खग भक्षी—
हठ करने की ठानी।[1]

वह राहुल को लोरी गाकर सुलाती है—

सो मेरे अन्तर्धन सो।[2]

किन्तु अन्यमनस्क-सी कभी-कभी उसके बहुत रोने पर खीज जाती है। उसे उद्वेग की स्थिति मान सकते है।

चुप रह चुप रह हाय अभागे।
रोता है अब किसके आगे?
तुझे देख पाते वह रोता,
मुझे छोड़ जाते क्यों सोता?
अब क्या होगा? तब कुछ होता
सोकर हम खोकर ही जागे
चुप रह चुप रह! हाय! अभागे॥[3]

यहि राहुल गौतम के जाते समय रोया होता तो.....

तभी उसे ध्यान आता है कि बालक राहुल का रोने में क्या दोष है, उसे क्या पता कब रोना चाहिए कब नहीं? वस्तुस्थिति से परिचित होकर फिर से विवश-सी राहुल को सान्त्वना देने लगती है—

बेटा मैं तो हूँ रोने को,
तेरे सारे मल धोने को।
हँस तू है सब कुछ होने को,
भाग्य आयेंगे फिर भी भागे॥[4]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ५९-६०
२. वही, पृष्ठ ६१
३-४. वही, पृष्ठ ४६

राहुल जब बोलना सीखता है तो माँ, माँ कहकर पुकारता है। यशोधरा उससे पिता कहने को कहती है—

आ मेरे अवलम्ब बता क्यों अम्ब-अम्ब कहता है ?
पिता, पिता कह बेटा, जिनसे घर सूना रहता है ।।[1]

यशोधरा का राहुल से 'पिता' कहने का आग्रह करना उसकी मनोस्थिति के अत्यन्त अनुकूल है।

ऐसे ही राहुल का पिता को ढूँढ़ने का भाव—

विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं
मंडल बनाकर मैं घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस वन में ।।[2]

अत्यन्त स्वाभाविक है। उसमें दोष निकालना 'बालमनोविज्ञान' का अपरिचय दिखाता है। किन्तु कुछ नवीन आलोचकों ने राहुल के इस कथन को असंगत ठहराया है।[3]

कहना न होगा कि इस प्रकार की दोषान्वेषण से युक्त आलोचना गुप्तजी की 'यशोधरा' के सहृदय पाठक के लिए अत्यन्त असह्य है। न जाने किस कारण इन नवीन आलोचकों ने इतनी असम्भव और असंगत आलोचना की है। माता और बालक के व्यवहार से परिचित कोई भी समझदार व्यक्ति उनके मत से सहमत नहीं हो सकता।

वस्तुतः राहुल, माँ की पीड़ा को बहुत कुछ बाँटने का प्रयत्न करता है। यशोधरा की विवश स्थिति की व्यंजना राहुल के इन शब्दों में अत्यन्त सशक्त है—

गाती तू मेरे लिए रोती उनके अर्थ।
हम दोनों के बीच तू पागल-सी असमर्थ ।।[4]

सिद्धार्थ के विरह में वह इतनी दुर्बल हो गई है कि राहुल उसके चित्र को पहचान नहीं पाता। इतना कष्ट सहन करके भी यशोधरा पति को एक बार भी बुरा नहीं कहती। गौतमी जब कहती है कि 'राजकुमार अत्यन्त निष्ठुर हैं हम सबको छोड़कर चले गए' तब वह उसे मना करती है—'अरी तू उन्हें निर्दय कैसे कहती है ? वे तो किसी कीट पतंग का दुख भी नहीं देख सकते।'[5]

गौतमी—'तभी न हम लोगों को इतना सुख दे गए हैं।'

यशोधरा—'नहीं वे अपने दुख का भागी बनाकर हमें अपना सच्चा आत्मीय

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४६
२. वही, पृष्ठ ५५
३. विन्देश्वरसिंह—यशोधरा का काव्य रूप, पृष्ठ ४४
४. मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ११७
५. वही, पृष्ठ ७३

सिद्ध कर गए हैं और हम सबके सच्चे सुख की खोज में ही गए हैं।'

यशोधरा का गौतम के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र जीवन दर्शन था और वह था संसार में रहकर संघर्षों से विजय प्राप्ति। वह स्पष्ट मुक्ति को चुनौती देती है, 'कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।' यही तर्क गिरिजादत्त शुक्लजी के शब्दों में 'भावुकता से सिक्त होकर प्रवाहित हुआ है'—। यशोधरा के गौतम के प्रति ये भाव भी इसी दर्शन का द्योतन करते हैं—

जल में शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते हम न तरसते
देखो दो-दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी।
आओ ओ बनवासी ॥[1]

नदी, बादल, हंस और पवन सबसे विरही, प्रिय के पास संदेश ले जाने की प्रार्थना करता रहा है। प्रिय की स्मृति में डूबी, एकाकिनी यशोधरा नदी के प्रदीप दान करती हुई प्रिय के पास अपना संदेश ले जाने को कहती है। संदेश जितना संक्षिप्त है उतना ही मार्मिक भी—

तुझे नदीश मान दे,
नदी प्रदीप दान ले।
तुझे और क्या दूँ? थोड़ा भी आज बहुत तू मान ले,
तम में विषम मार्ग का इसको तुच्छ सहायक जान ले।
मिलें कहीं मेरे प्रभु पथ में, तू उनका सन्धान ले,
तुझे कठिन क्या है यह, यदि तू अपने मन में ठान ले।
मेरे लिए तनिक चक्कर खा, नव यात्रा की तान ले,
घूम-घूमकर झूम-झूमकर, थल-थल का रस पान ले।
कह देना इतना ही उनसे जब उनको पहचान ले—
'धाय तुम्हारे सुत की गोपा बैठी है बस ध्यान ले।'[2]

अन्तिम पंक्ति में मातृत्व के उत्तरदायित्व को सम्भाले बैठी हुई वियोगिनी यशोधरा का सजीव चित्र साकार हो जाता है। 'तुझे नदीश मान दे' में मान वंचिता मानिनी यशोधरा की करुण व्यथा मुखरित हुई है, जो अत्यन्त हृदयस्पर्शी है।

यशोधरा जितनी अनुरागमयी है उतनी ही मानिनी भी। गौतम के जाने के बाद ही अपने अपमान की याद करके कहती है—

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ११६
२. वही, पृष्ठ ११५

गए, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे।
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते - गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ।।[1]

सचमुच, गौतम के सिद्धि प्राप्त करके लौट आने के समय महाप्रजावती जब उससे उन्हें लिवा लाने को कहती है—

बाधा कौन-सी है तुझे आज वहाँ जाने में ?[2]

तब वह उत्तर देती है—

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी।
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मै, आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मै ? छान डालती धरित्री को !
सिंहनी - सी काननों में, योगिनी - सी शैलों में।
शफरी-सी जल में, विहंगिनी - सी व्योम में।[3]

वह गौतम को लेने नहीं जाती किन्तु उनके आगमन के लिए उत्कंठित है—

फिर भी नाथ न आए।
लेने गये हाय जो उनको, वे भी लौट न पाये।[4]

जब वे बिलकुल ही द्वार पर आ जाते है तो मन को समझाती है—

रे मन आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुझसे बात न बिगड़े मेरी।
अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस अभाव के कारण वह था।
लोभ न था, जब लाभ न यह था;
सुन अब स्वागत भेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी।[5]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ २५
२. वही, पृष्ठ १२५
३. वही, पृष्ठ १२६
४. वही, पृष्ठ ३६
५. वही, पृष्ठ १४०

उसके मन में कसक यही है—

विदा न लेकर स्वागत से भी वंचित यहाँ किया है,
हन्त अन्त में यह अविनय भी तुमने मुझे दिया है।

गौतम स्वयं गोपा के पास क्षमा याचना को आते हैं और मानिनी, विरहिणी गोपा के आत्मसम्मान की रक्षा करते हैं—

माना दुर्बल ही था गौतम छिपकर गया निदान,
किन्तु शुभे, परिणाम भला ही हुआ, सुधा सन्धान।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री करुण पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।[1]

अपनी एकमात्र निधि राहुल को वह भिक्षुक बुद्ध को सौंप देती है। असमय में ही मिले हुए वैराग्य के लिए वह रोती चिल्लाती नहीं। उसके लिए जीवन का दाम्पत्य सुख स्वप्न हो गया था, उस रूप में गौतम से मिलन भी निरवधि, किन्तु उसकी शिकायत उसने कभी नहीं की। मन में विरह की एक टीस अवश्य थी किन्तु संकुचित स्वार्थ से उसे वह कलुषित न करना चाहती थी। अपनी सम्पूर्ण भौतिक अभिलाषाओं को बुद्ध को समर्पित करके जैसे वह निश्चिन्त हो गई। उसका यह त्याग अत्यन्त स्तुत्य है—

मेरे दुख मे भरा विश्व सुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी।
बुद्धं शरणं, धर्म शरणं, संघं शरणं गच्छामि॥[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यशोधरा का विरह हिन्दी-काव्य की अमूल्य निधि है। यशोधरा में नारी हृदय की कोमलता और जागरूक व्यक्ति के स्वाभिमान ने अद्भुत अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। इसी से विरह के असह्य दुख को सहकर भी उसने कहीं किसी भी स्थिति में अपने को हलका पड़ने नहीं दिया है। न वह गौतम को ढूंढने गई, न उनके लौटकर आने पर स्वागत के लिए दौड़ी। डा० मंजुरबाला सिंह

विरह की लम्बी अवधि को राहुल की देखभाल, पालन-पोषण से उसने मधुर बना लिया और साथ ही विरही के जीवन की स्वाभाविक स्थितियों, उद्वेग, उन्माद, अश्रु, गुणकथन और मरण आदि में भी ऊबती-डूबती रही। ऋतु का मादक वातावरण उसके विरह की उद्दीप्ति करके उसे और अधिक लग्न से प्रिय की बाट जोहने के लिए प्रेरित करता रहा।

विरह में संदेश पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वियोगिनी यशोधरा ने भी नदी के द्वारा संदेश कहलवाया है किन्तु वहाँ भी गौतम द्वारा आहत उसका स्वाभिमान उसे कचोटता रहा। इसी से 'नदीश मान दे' की नैसर्गिक भावना उसकी वेदना को तीव्रतर बना रही है।

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ १४३
२. वही, पृष्ठ १४७

यशोधरा के वियोगिनी जीवन में स्वाभिमान रक्षा के महत्त्व को स्वयं गौतम बुद्ध ने भी अन्त में प्रश्रय दिया।

(३) **जयद्रथ वध**—'जयद्रथ वध' में अभिमन्यु के युद्ध प्रयाण के अवसर पर मैथिलीशरणजी ने एक अपूर्व स्थिति की योजना की है। वह है उत्तरा का विलाप। अब तक विदेश जाते हुए पति को रोकने के प्रयत्नों का काव्य में पर्याप्त वर्णन मिलता रहा है किन्तु यहाँ अभिमन्यु विदेश नही जा रहा, युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहा है। उत्तरा के हृदय में अपशकुन के विचार उठ रहे हैं। इसीलिए वह उन्हें नही जाने देना चाहती।

प्रवत्स्यपतिका की-सी दशा उत्तरा की है किन्तु वह प्रवत्स्यपतिका नहीं है। करुण विप्रलम्भ की किस विशिष्ट श्रेणी में उसे रखा जाए, यह समझ में नही आता। अभिमन्यु से वह कहती है—

जो वीर पति के कीर्ति पथ में विघ्न बाधा डालती
होकर सती भी वह कहाँ कर्त्तव्य अपना पालती।
अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए
मत जाइए सम्प्रति समर में प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूँगी आज मैं प्रियतम तुम्हे संग्राम में,
उठती बुरी है भावनाएँ हाय! इस हृद्धाम में॥[1]

इस परिस्थिति का चित्रण हिन्दी विरह-काव्य के लिए एकदम नवीन है। आधुनिक युग से पहले ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिला।

अभिमन्यु की मृत्यु के बाद उत्तरा का विलाप करुण विरह है, करुण रस नहीं। प्रिय की मृत्यु पर शोक से पीड़ित होती हुई भी उत्तरा यह मानने को तत्पर नहीं है कि उसका पति अब त्रैलोक्य में कहीं नहीं है। वह कहीं किसी 'वह्नि पथ' पर भी प्रिय से मिलने को व्याकुल है—

तज दो भले ही तुम मुझे, मैं तज नहीं सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ मैं भज नहीं सकती तुम्हे?
है विदित मुझको वह्नि पथ त्रैलोक्य में तुम हों कहीं,
हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं॥
जो सहचरी का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश! तुमने ले लिया।
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य पद मुझको मिला
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला॥[2]

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ६
२. वही, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ २३

'कुमारसम्भव' की रति की भाँति वह भी सुरपुर की अप्सराओं से ईर्ष्या करती है। किन्तु अपने प्रणय पर विश्वास रखती हुई गर्व का अनुभव करती है—

सुरपुर गए हो नाथ ! क्या तुम अप्सराओं के लिए ?
पर जान पड़ती है मुझे यह बात मन में भ्रम-भरी,
मेरे समान न मानते थे तुम किसी को सुन्दरी।
हाँ अप्सराएँ आप तुम पर मर रही होंगी वहाँ,
समता तुम्हारे रूप की त्रैलोक्य मे रखी कहाँ ?
पर प्राप्ति भी उनकी वहाँ भाती नहीं होगी तुम्हें ?
क्या याद हम सबकी वहाँ आती नहीं होगी तुम्हे ?[1]

पति की मृत्यु हो गई, यह बात उत्तरा मानने को तैयार नही है। वह भूमिशायी अभिमन्यु की मनुहार करती है—

हे जीवितेश उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है !
है क्या तुम्हारे योग्य, यह तो भूमिसेज कठोर है।
रख शीश मेरे अंक में जो लेटते थे प्रीति से,
यह लेटना अति भिन्न है, उस लेटने की रीति से॥[2]

उत्तरा का विलाप परम्परागत 'करुण विरह' है जिसकी पूर्व कड़ी कालिदास के 'कुमारसम्भव' की रति के विलाप मे और 'स्वयंभू रामायण' की मन्दोदरी के विलाप में मिल सकती है।[3]

(४) द्वापर—'द्वापर' में कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित व्यक्तियो के आत्मकथन के रूप में, कवि ने, कृष्ण के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आज तक कृष्णकाव्य में कुब्जा एक तिरस्कृत नारी के रूप में ही रही है। वह कंस की दासी है, कृष्ण ने उसे अपनाया है और उद्धव प्रसंग में गोपियाँ उसका उपहास करती हैं। किन्तु मैथिलीशरण गुप्त के भावुक हृदय ने उसके हृदय को भी टटोला है, उसके मर्म को भी पहचानने का प्रयत्न किया है।

'द्वापर' की कुब्जा का 'पूर्वराग' वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। कृष्ण से प्रथम भेंट के पश्चात् जब कुब्जा का कायाकल्प हुआ तब उसके युवक हृदय में कृष्ण से मिलने की अभिलाषा का जन्म हुआ। पहले दासी के व्यवहार के अनुकूल ही वह सोचने लगी कि 'मै दासी हूँ यदि कृष्ण से मिलने स्वयं चली जाऊँ तो बाधा ही क्या है ?'—

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—जयद्रथ वध, पृष्ठ २४
२. वही, पृष्ठ २५
३. संस्कृत और अपभ्रंश सम्बन्धी काव्यों के विरह विवेचन में कालिदास और स्वयंभू की विरह-भावना के अन्तर्गत देखिए।

आने की न आप कहता तो
कुब्जा क्या राधा थी,
मैं तो चेरी थी, जाने में
मुझे कौन बाधा थी ?
किन्तु आज आकुल है बन में
जैसी वह ब्रजरानी,
दासी ने घर बैठे उसकी
मर्म वेदना जानी ॥[1]

फिर सोचती है कि यदि वह राधा की दूती होती तो कितना अच्छा था, कम से कम उनके संदेश के मिस ही कृष्ण से मिलन सम्भव हो जाता।

होती हाय ! आज कुब्जा ही
यदि राधा की दूती,
जाकर शरण इसी मिस से तो वे
अरुण चरण तो छूती ॥[2]

कुब्जा के अन्तर्द्वन्द्व का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। उसके मन में कृष्ण से मिलने की अदम्य अभिलाषा है। किन्तु साथ ही उसे अनुभव होता है कि कायाकल्प के साथ उसका मनःकल्प भी हो गया है, दासी के शील का निर्वाह वह नहीं कर पा रही। वह कृष्ण के पास जाना चाहकर भी नहीं जा सकती—

कल्प हुआ यह जिस काया का,
इसे कहाँ ले जाऊँ ?
आवे वही, उसे अर्पण कर
परित्राण मैं पाऊँ।
दे न गया वह यह शरीर ही
हाय ! शील भी ऐसा,
करते बनता, नहीं, चाहती
हूँ मैं करना जैसा ॥[3]

कृष्ण को गारूड़ी रूप मानकर वह कूबड़ को सर्प समझती है। वह सर्प उसकी पीठ में कुण्डली मारे बैठा था कृष्ण ने ही त्राण कराया, 'किन्तु अब विरह रूपी बिच्छू से कौन रक्षा करे ?'

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ १४४
२. वही, पृष्ठ १४५
३. वही, पृष्ठ १४५

कूबड़ न था, कुण्डली पकड़े—
जकड़े मुझे पड़ा था,
तूने कौन मंत्र फूंका, वह
उठ हट दूर खड़ा था।
किन्तु विरह - वृश्चिक ने आकर
अब यह मुझको घेरा,
गुणी - गारूड़िक, दूर खड़ा तू
कौतुक देख न मेरा ॥[1]

कुब्जा के आत्म-चिन्तन में सर्प और बिच्छू का यह रूपक कुछ बच्चों का खेल-सा लगता है।

मन के अन्तर्द्वन्द्व पर विजय प्राप्त करती हुई कुब्जा निश्चय करती है कि यदि कृष्ण उससे मिलने नहीं आएंगे तो भी वह स्वयं चली जाएगी। यही तो है, कृष्ण कहेंगे कि उसका आचरण दासी जैसा है तो वह कह देगी, 'हाँ मैं आपकी दासी ही हूँ—

यही कहेगा न तू—'अधीरे,
निकली तू चेरी ही।'
हाँ हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी,
तेरी ही, तेरी ही।[2]

रात्रि में उसे नींद भी नहीं आती। मन में कृष्ण को बसाकर वह सन्तुष्ट नहीं है, उसे सशरीर मिलन चाहिए। दिवस-रात्रि के पंख लगाकर कल्पना में वह आत्मविस्मृत हो जाना चाहती है, कृष्ण से पूर्ण तन्मय—

अहोरात्र के पंख लगाकर
सुध-सी उड़ती हूँ मैं,
तुझसे मिलने को अपने से
आप बिछुड़ती हूँ मैं।[3]

वह उनसे मिलने को अत्यन्त आकुल है—

तेरी व्यथा बिना सुन, मेरी
कथा न पूरी होगी,
तू चाहे जिसका योगी हो,
मेरा क्षणिक वियोगी ॥[4]

आज के कवि का ध्यान केवल राजा-रानी की कहानियों से हटकर साधारण जन

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ १५०
२. वही, पृष्ठ १५०
३. वही, पृष्ठ १५२
४. वही, पृष्ठ १५२

की ओर भी गया है। इसी से कुब्जा-सी तिरस्कृता दासी की विरह-व्यथा गुप्तजी की लेखनी में आकर अमर हो गई। प्रेम और विरह का कोमल तन्तु केवल धनिकों के हृदय का शासन ही नहीं करता निर्धनों के हृदय में भी धड़कता है। यह आज के कवि ने पहचाना है। हिन्दी में यह केवल आधुनिक युग की विशेषता है। भक्तिकाल में यदि सन्तों व भक्तों में उसकी स्थिति कही जाय तो संत कोई साधारण जन नहीं थे। मैथिलीशरण गुप्त की कुब्जा भक्त नहीं है वह नारी है, शुद्ध नारी ही, जो प्रणय-याचना के लिए तड़पती है।

इसके अतिरिक्त वृन्दावन के वन में एकान्त घूमती हुई राधा के 'प्रलाप' के रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने उनकी वेदना भी द्वापर में व्यक्त की है। मैथिलीशरण गुप्त की राधा (द्वापर में) कोई अति मानवीया नारी नहीं है, न उन्होंने अपनी व्यथा का उन्नयन देश-सेवा अथवा जन-सेवा में किया है। वह ऐकान्तिक प्रेमिका है। उसने जीवन में विश्वासघात पाया है, इस तथ्य को वह भली भाँति जानती है फिर भी अपने हृदय से प्रेम का त्याग नहीं कर पातीं।

कृष्ण की मधुप वृत्ति को ललकारती हुई राधा कहती हैं—

मेरे तृप्त प्रेम से तेरी
बुझ न सकेगी क्षुधा हरे।
निज पथ धरे चला जाना तू,
अलं मुझे सुधि, सुधा हरे॥[1]

कृष्ण के चंचल प्रेम को यह चुनौती प्रथम बार द्वापर की राधा से मिलती है। भक्तिकाल में तो राधा के लिए यह सोचना ही पाप था। (यद्यपि गोपियाँ उपालम्भ में कृष्ण को मधुप कहती हैं) रीतिकाल की राधा भी धर्म के आतंक को न भूल सकी। आधुनिक युग में भी राधा ने कई तरह से अपना मन बहलाना चाहा—सेवाव्रत अपना कर (प्रियप्रवास) अथवा स्थितप्रज्ञ होकर कृष्ण के बालरूप की झाँकी से गोकुलवासियों का मन बहला-बहलाकर (कृष्णायन)। किन्तु मैथिलीशरण गुप्त के द्वापर में राधा, द्वापर युग की सिकुड़ी सिमटी, अपनी लज्जा और पीड़ा को मौन से बचाती हुई नारी न रह सकी। वह आधुनिक युग की सजग आहत नारी बन गई।

उसने स्पष्ट रूप से कृष्ण को चुनौती देते हुए कहा कि 'मेरे और तुम्हारे प्रेम की वृत्ति में ही मूल रूप से अन्तर है। मैं तृप्त प्रेम में विश्वास करती हूँ और तुम अनेक के पीछे दौड़ने में। मैं तुम्हारे पीछे फिर भी पागल हूँ इसका कारण यह नहीं है कि तुम बहुत महान् हो बल्कि यह है कि मैं अपनी वृत्ति से विवश हूँ। इसीलिए मुख से भी कुछ नहीं कहती हूँ'—

कैसे तुष्ट करेगी तुझको,
नहीं राधिका बुधा हरे।

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ १२

पर कुछ भी हो नहीं कहेगी
तेरी मुग्धा मुधा हरे।[1]

ऐकान्तिक एकपक्षीय प्रेमी विश्वासघात पाने पर यह विश्वास नहीं करना चाहता कि उसे छला गया है; कल्पना के आदर्श में ही वह अपने प्रेम को संजोये रखना चाहता है, यही दशा राधा की है—

सब सह लूँगी—रो - रो कर मैं,
देना मुझे न बोध हरे।
इतनी ही विनती है तुझसे,
इतना ही अनुरोध हरे ॥[2]

कटु सत्य कहने के लिए वह कृष्ण से क्षमा माँगती है साथ ही कहती है कि इस सत्य के लिए उन्हें उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि वह उन्हें भूल जाय तो अवश्य दण्ड के योग्य हो जाएगी—

क्या ज्ञानापमान करती हूँ
कर ना बैठना क्रोध हरे।
भूले तेरा ध्यान राधिका,
तो लेना तू शोध हरे ॥[3]

यह भी मन की विवश स्थिति ही है कि आहत प्रेमी आघात पाने पर भी आघात-कर्ता की कृपा की आकांक्षा करता है।

मौन राधा मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' में मुखर हो गई हैं। कवि ने उन्हें अतिमानवीय रूप नहीं दिया, उनकी मनोस्थिति के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी यह प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है, स्वाभाविक तथा मार्मिक भी।

(५) **जयभारत**—मैथिलीशरण के 'जयभारत' में विधुर शान्तनु और मत्स्यराज की कन्या योजनगन्धा की प्रणय गाथा वर्णित है। विधुर शान्तनु गंगा के विरह में पीड़ित यमुना के तट पर घूम रहे थे वहीं उनकी भेंट सत्यवती से हुई। भेंट के पश्चात् कवि शान्तनु में अन्तर्द्वन्द्व व पूर्वराग के विरह की पीड़ा दिखा सकता था किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। प्रथम परिचय में ही राजा के कामुक हृदय ने विवाह का 'प्रस्ताव मत्स्य कन्या के सन्मुख रख दिया—

बोलो, नत मुख से ही बोलो, अधिक नहीं बस हाँ भर दो,
विरह विरस अपने राजा को फिर से हरा-भरा कर दो ॥[4]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ ११२
२. वही, पृष्ठ १३
३. वही, पृष्ठ १३
४. वही, जयभारत, सर्ग योजनगन्धा, पृष्ठ २३

उनके आकर्षण के चेष्टा रूप में परिवर्तित होने का संकेत भी कवि ने किया है।

अस्तु रात होने को है अब, चलो तुम्हें पहुँचा आऊँ।
असमय ठौर कुठौर अकेली छोड़ स्वयं कैसे जाऊँ?[१]

राजा के भेजे हुए अमात्य से जब धीवर ने अपने दौहित्र के राज्याधिकारी होने का प्रस्ताव रखा तो वह अत्यन्त क्रोधित होकर लौट गया। धीवर भी अपनी कन्या को केवल राजभोगिनी नहीं बनाना चाहता था। उसको 'भार्या पद' प्रिय था और इसीलिए उसका यह हठ था। अमात्य के जाने के पश्चात् वह सोचने लगा—

'भूप-भोगिनी भिक्षुक की भी भार्या को पा सकी कहीं?[२]

उधर अमात्य ने धीवर का मन्तव्य जब राजा को सुनाया तो वह हताश हो गए—

सुनकर मंत्री से सब बातें शान्तनु ने ली लम्बी साँस,
फिर कुरहाते-से बोले वे गड़ी हृदय में मानो गाँस।
राजनीति का घात नहीं, यह है सीधी सामाजिक बात,
मेरा जो हो पाय न मेरी प्रजा हाय! बाधा व्याघात।
धीवर को अधिकार, करे वह किसी पात्र को कन्यादान,
राज्य करे देवव्रत मेरा, मरूँ भले मैं अगति समान॥[३]

कवि ने राजा शान्तनु के चरित्र की रक्षा करने का काफी प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी वह उनकी दुर्बलता का उपचार नहीं खोज सका है। 'मरूँ भले मैं अगति समान' में राजा के हृदय की घोर निराशा की सूचना मिलती है। देवव्रत ने धीवर-राज से जब राज्य को त्यागने और आजन्म विवाह न करने की प्रतिज्ञा की तो धीवर राजी हो गया, तब भी शान्तनु उस विवाह का विरोध न कर सके। मैथिलीशरण तब भी शान्तनु की चारित्रिक दृढ़ता की रक्षा का प्रयत्न करते रहे। योजनगन्धा के घर आने पर उन्होंने कहा—

शान्ति गई शान्तनु की यद्यपि योजनगन्धा घर आई,
वे रो पड़े—'पुत्र बलि देकर मैंने नव पत्नी पाई'॥[४]

शान्तनु का यह आत्म पश्चाताप हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है। यदि वह चाहते तो देवव्रत से विवाह का विरोध कर सकते थे किन्तु वैसा करने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनका कामुक मन योजनगन्धा के सौन्दर्य का दास बन गया था, उसी से वह अत्यन्त संतप्त थे। सत्यवती पर रीझकर भी वह उसके पुत्र को राज्याधिकारी इसलिए नियुक्त नहीं कर सकते थे क्योंकि प्रजा राजकुमार के साथ थी। अतः स्वयं देवव्रत ने ही पिता के

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—जयभारत, पृष्ठ २४
२. वही, पृष्ठ २५
३. वही, पृष्ठ २५
४. वही, पृष्ठ २६

दुख का कारण जानकर भीष्म प्रतिज्ञा कर ली।

वृद्ध शान्तनु के सत्यवती के प्रति पूर्वाकर्षण के वर्णन का अवकाश मिलने पर भी मैथिलीशरण उसके वर्णन का साहस न कर सके। उनके नीतिप्रिय मन को जैसे वह अच्छा नहीं लगा। परम्परागत कथा में पतिवर्तन होना बहुत कठिन था अतः शान्तनु के मनःसन्ताप के रूप में कवि ने उसे नीति संगत बनाने का प्रयत्न किया है। उनके पूर्वराग का न तो विस्तृत वर्णन है न उसमें कोई विशेषता ही।

(६) **शकुन्तला**—मैथिलीशरण गुप्त ने कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तलम् का हिन्दी मे काव्य-रूपान्तर किया। शकुन्तला को कालिदास की कृति का अनुवाद कहा जाता है किन्तु अनेक स्थलों पर गुप्तजी ने कालिदास की कल्पना को भी अधिक परिष्कृत करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ 'शकुन्तला' के विरह का पूर्ण विवरण न देकर उन स्थलों की मौलिकता का संक्षिप्त अध्ययन ही उद्देश्य है।

प्रोषितपतिका शकुन्तला के दुर्वासा शाप प्रसंग में कवि ने नवीन कल्पनाओं का संयोजन करके उसे अधिक मार्मिक बना दिया है। प्रोषितपतिका शकुन्तला की दशा का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

भोली सूरत थी रसार्द्र उसकी प्रेमाम्बु की वृष्टि में,
हो ली सुन्दर रूप की चरम थी सीमा सभी सृष्टि में।
थे स्वाभाविक भव्य भाव उसके, है वेश की क्या कथा ?
बैठी है व्यस्त वसन्त के विरह में हो वन्य देवी यथा॥[1]

वनदेवी के वसन्त के विरह में श्रीहीन होने की उपमा शकुन्तला से करना अत्यन्त सुन्दर है, कलिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में यह उपमा नहीं मिलती।

दुर्वासा शाप प्रसंग में, शकुन्तला की तन्मयता के विषय में एक श्लोक देकर कलिदास ने दुर्वासा से उसे शाप दिलवा दिया है। 'शकुन्तला' में गुप्तजी ने यह प्रसंग कुछ अधिक विस्तृत करके शकुन्तला की मनोस्थिति को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रकृति और मानव के बीच एक सहानुभूतिपूर्ण सौहार्द्र की अनुभूति विषय को और भी मार्मिक कर देती है। शकुन्तला से दुर्वासा के आगमन की ओर ध्यान नहीं दिया इसलिए पवन उसका ध्यान उस ओर आकर्षित करने को आकुल हो उठी :

आया जान उन्हें, उसे पवन भी मानो जगाने लगी
खींचा वस्त्र अनेक बार उसने, तो भी न बाला जगी !
थी प्यारे पति के समीप वह तो कैसे भला जागती ?
तन्द्रा निश्चल प्रेम की सहज ही बोलो किसे त्यागती ![2]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—शकुन्तला, पृष्ठ १६
२. वही, पृष्ठ २१

शकुन्तला में ये संयोजनाएँ करके गुप्तजी ने प्रामाणित किया है कि लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की रचनाओं के अनुवाद में भी विषय को अधिक मार्मिक बनाने का अवकाश रहता है; यदि अनुवादक स्वयं को विषय की परिस्थिति में डुबा दे। 'शकुन्तला' का विरह वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी बहुत सुन्दर है।

(७) **विष्णुप्रिया**—देवी उर्मिला और यशोधरा की अश्रुसिक्त विवश पीड़ा की ओर दृष्टिपात करने के पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त की करुणार्द्र दृष्टि ने बंगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णव भक्त चैतन्यदेव की पत्नी देवी विष्णुप्रिया की एकाकिनी व्यथा को सिसकते पाया और अपनी लेखनी से उसे अमर कर दिया।

विष्णुप्रिया कुलीन ब्राह्मण कुल की कन्या थी। विवाह पूर्व भी गौरहरि अर्थात् चैतन्यदेव के प्रति उसके मन में अनन्य श्रद्धा थी; उसकी इस भावना को एक सखी के प्रति वार्तालाप में मैथिलीशरणजी ने संकेत रूप से व्यक्त किया है। सखी से विष्णुप्रिया कहती है—

हाय सखि, तूने यह क्या कर दिया अभी,
कैसी एक हूक सी उठा दी इस उर में
उठती रहे न यह जन्म भर ऐसी ही[1]

चैतन्य से विवाह के पश्चात् विष्णुप्रिया स्वयं को धन्यभाग मानने लगी। वह प्राणपण से सास की सेवा करती और गृहस्थी की देखभाल किया करती थी। निमाई (चैतन्यदेव) पितरों को पिण्डदान करने के लिए 'गया' गए और वहीं से वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर संन्यास लेने की आकांक्षा मन में लिए घर को लौटे।

घर लौटने पर उनकी दशा उद्भ्रान्त विक्षिप्तों की-सी ही हो रही थी। कृष्ण के प्रेम ने उन्हें पागल बना दिया था। माता को अपना मन्तव्य सुनाने के पश्चात् पत्नी की आज्ञा प्राप्त करना भी उन्होंने उचित समझा। विष्णुप्रिया 'निमाई' के गृह-त्याग के इस निर्णय के लिए तनिक भी प्रस्तुत न थी। इस स्थल पर उसके हृदय में उठते हुए अनेक भावों के द्वन्द्व का बड़ा सुन्दर व्यक्तीकरण हुआ है। प्रिय के भावी वियोग की आशंका से उद्विग्न, भ्रांत और स्तब्ध विष्णुप्रिया के अनुभावों की अभिव्यक्ति मैथिलीशरणजी इस प्रकार करते है—

विष्णुप्रिया स्तब्ध हुई सुनकर पहले।
भ्रांत-सी उन्हीं की ओर कुछ क्षण देखा की।
काँपी फिर और गिरी पैरों पर उनके,
निगड़ लता-सी गति रोध कर लिपटी।
रोई वह किन्तु बोल पाई नहीं कुछ भी,
आँसू बह निकले वचन नहीं निकले।[2]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ १७
२. वही, पृष्ठ ४०

'उद्वेग' की वेपथु और अश्रु दशाओं की मार्मिक अभिव्यंजना यहाँ हुई हैं।

विष्णुप्रिया में स्वकीया भाव का बहुत अभिमान है। स्वकीया भाव पर गर्व करती हुई वह निमाई को भर्त्सना देती हुई-सी कहती है—

इन्द्र इन्द्राणी को, त्यों वरुण वरुणानी को
संग रखते हैं, वे असंग नहीं तुमसे।
छल सकते है क्रूर कृष्ण भोली राधा को
किन्तु रुक्मिणी को एक बार छल देखें वे
गाँठ वह खोल नहीं सकता विधाता भी।
वेदी के समक्ष, साक्षी कर सब देवों को,
ग्रहण किया था यह पाणि क्या इसीलिए?
कौन योग पूर्ण होगा त्याग कर मुझको?
धर्म के विरुद्ध ही तुम्हारा यह कर्म है।[1]

किन्तु यह भत्सना क्षणिक, दुर्बल और विद्रोह मात्र थी। दूसरे क्षण ही उसका स्वाभाविक दैन्य प्रमुख हो उठा—

किसके शरण जाऊँ आज मैं अभागिन?
मेरे प्राण माँग लो, प्रयाण ही न माँगो यों।[2]

चैतन्य विष्णुप्रिया को अनेक भाँति समझाते रहे। उस रात वह घर में ठहर भी गए। विष्णुप्रिया समझी कि वह नहीं जाएँगे किन्तु उसे रात को अकेला सोता छोड़कर वह चले गए। निमाई के जाने के पश्चात् जब वह दुःस्वप्न देखकर अचानक जागी तब उनको न पाकर विलाप करने लगी—

हाय! मैं छली गई हूँ,छिपकर भागे वे,
जाग कर आप यहाँ मुझको सुला गए
.....
जानती थी, वंचक न होंगे, विदा लेंगे वे;
पूजकर उनको विसर्जित करूंगी मैं![3]

विष्णुप्रिया का उपर्युक्त वक्तव्य 'यशोधरा' के 'सखि वह मुझसे कहकर जाते' की फीकी प्रतिध्वनि मात्र-सा लगता है। उसमें वह प्रबल आक्रोश नहीं है जो यशोधरा में था।

वस्तुतः वंचना करके जाने का दोष निमाई पर व्यर्थ ही लगाया गया है। उन्होंने जाने की आज्ञा विष्णुप्रिया से माँगी थी और उसकी दुबलता को भी देख लिया था। पाठक

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ४२
२. वही, पृष्ठ ४३
३. वही, पृष्ठ ४७

को भी सहसा यह विश्वास नहीं होता कि विष्णुप्रिया सचमुच निमाई को पूजकर विसर्जित कर सकती थी।

वह निमाई के वैराग्य पर व्यंग्य करती है—

अबला के भय से भाग गए,
वे उससे भी निर्बल निकले,
नारी निकले तो असती है
नर यती कहा कर चल निकले।[1]

यशोधरा ने वात्सल्य के अवलम्ब से विरह के दिन काट लिए थे; विष्णुप्रिया को सहारा भी प्राप्त न था—

भरी गोद ही होती मेरी
तो रीते दिन सह लेती मैं
तिनके का भी कहाँ सहारा
जिसके बल पर बह लेती मैं
कौन यहाँ अब जिससे कुछ
अपने जी की कह लेती मैं
सुत पाती तो पति क्यों खोती
जैसे रहती रह लेती मैं।[2]

निराशा के किन्हीं क्षणों में वह अपनी परिस्थितियों की तुलना उर्मिला और यशोधरा से स्वयं भी करती है—

अयि उर्मिले, धैर्य रख मन में कट जावेगा काल,
भद्रे ऊँचा हुआ और भी भव में तेरा भाल।
यशोधरा, रख तू सँभालकर राहुल-सा निज लाल,
उसे माँगने को आवेंगे तेरे बुद्ध विशाल।
पर यह विष्णुप्रिया करे क्या लेकर शून्य कपाल ?
कापालिक थोड़े हैं उसके प्राणों के प्रतिपाल।[3]

सबकी सहज सहानुभूति के अवलम्ब पर वह विरह के दिन काट रही थी—

सबकी सहज सहानुभूति है,
इतना ही आधार है।
व्यथित हो रहा मेरे कारण
सारा स्त्री संसार है।
.....

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ५७
२. वही, पृष्ठ ५०
३. वही, पृष्ठ ७९

कहता है, 'नारी पर नर का
कितना अत्याचार है.....।'[1]

'स्वप्न' में प्रिय से मिलने की कामना विष्णुप्रिया करती है किन्तु निद्रा के अभाव में वह भी दुर्लभ हो जाता है। अभागिनी विष्णुप्रिया नींद को उलाहना देती है—

हा विश्वासघातिनी निद्रा !
मैं जब नहीं चाहती थी तब आई स्वयं सछिद्रा।
अब तू क्यों इतना इतराती,
नहीं मनाने पर भी आती
कहाँ स्वप्न भी उनका पाती
मैं दुःखिनी दरिद्रा।[2]

वियोग में 'मरण दशा' की अभिव्यक्ति विष्णुप्रिया की कामना के रूप में इस तरह व्यक्त हुई है—

स्वामी त्याग गए है गेह,
प्रस्तुत हूँ मैं, तज दूँ देह।

और

क्या मरना भी अपने अधीन।
जीवन मेरे दयनीय दीन।
पी रहा तिमिर-फणि प्राण वायु,
तनु-बन्धन से तन रहे स्नायु।
× × ×
जाने क्यों अब भी शेष आयु,
जन है तृण से भी आज हीन
जीवन मेरे दयनीय दीन।[3]

षट् ऋतु वर्णन भी वह 'पर्वोत्सवों' के मिस करती है। यह सुन्दर ऋतु परिवर्तन विष्णुप्रिया के दुख को उद्दीप्त ही करते हैं—

आया अब ऋतुराज, फूल
फूले है वन उपवन में,
मारी कोयल ने कूक, प्रेम की
हूक उठी जन-जन में।

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ५८
२. वही, पृष्ठ ५४
३. वही, पृष्ठ ५१, ६०

बौरें मधूक सहकार क्यों न,
अब आ पहुँची है होली,
उड़ गया किन्तु वह रंग राग ही
शेष रहा इस मन में।[1]

'विष्णुप्रिया' में कुछ स्थल अत्यन्त विचित्र हैं। प्रताप रुद्र राजा के भेजे हुए वस्त्राभूषण, चैतन्य, विष्णुप्रिया के पास क्यों भेजते हैं? यह बात समझ में नहीं आती। हाँ इस स्थिति की योजना से अभागिनी विष्णुप्रिया की विवश दशा का व्यंग्य भरा उपहास अवश्य स्पष्ट हो जाता है। उसके अपने शब्दों में—

टूट पड़ेगा मेरा छज्जा।
बैठूँ क्या उसके ऊपर मैं बनकर वासक सज्जा?
भेजा प्रिय ने वस्त्र विलक्षण,
जिसमें जड़े अग्नि के से कण।
धारण कर क्या उसे उसी क्षण
खोऊँ उलटी लज्जा।
टूट पड़ेगा मेरा छज्जा।[2]

'यशोधरा' का-सा स्वाभिमान विष्णुप्रिया में नहीं है। वह अत्यन्त दीन और भोली है। निमाई (चैतन्य) समीप ही शान्तिपुर में ठहरे हुए है। यह सुनकर वह तत्क्षण ही उनसे मिलने जाने के लिए तत्पर हो जाती है—

हो गईं शची माँ खड़ी जैसे वह बैठी थीं,
पीछे चली विष्णुप्रिया नीचे को निहारती।

किन्तु जब नित्यानन्द से उसने सुना—

'कहूँ कैसे मैं,
रोका है उन्होंने माँ, बहू को साथ लाने से।'

तो जैसे उस बेचारी पर वज्र टूट पड़ा—

'अम्बा! बहू जैसे उठी बैठ गई वैसे ही।'[3]

इस स्थल पर 'शची माँ' का वक्तव्य अत्यन्त सशक्त है। बहू की मर्यादा की रक्षा करती हुई वह अपनी ममता की माँग को भी कुचल देती है—

'लौट जा निमाई, तब मैं भी नहीं जाऊँगी।
यह नहीं उसकी तो मैं भी कह, कौन हूँ?
अब अधिकार इसे रोकने का क्या उसे?
देखूँ मुख मैं ही तब क्यों उस कृतघ्न का।'

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ६१
२. वही, पृष्ठ ७८
३. वही, पृष्ठ ६१

किन्तु विष्णुपिया तब भी कहती है—

'जो कुछ उन्होंने कहा ठीक ही कहा माँ
मेरा वहाँ जाना अब होगा अनुचित ही।'[1]

विरह की अनन्त अवधि को विष्णप्रिया सास की सेवा में बिताती है। वह रानी नहीं थी कि उसके खाने-पीने का प्रबन्ध घर बैठे हो जाता। मध्यवर्ग के परिवार की जीविका की समस्या को हल करने का प्रयत्न-सा करती हुई विष्णुप्रिया सास से कहती है—

किन्तु यों ही बैठकर कैसे हम खाएँगी ?.
कात कर सूत निज लाज अब रक्खेगी।[2]

सूत कातकर जीविका चलाना उसके चरित्र के रचयिता की गांधीवादी विचार-धारा को अभिलक्षित करता है। समस्या का यह समाधान सर्वथा आधुनिक-सा प्रतीत होता है।

निमाई के अपने पुर में आने का समाचार सुनकर विष्णुप्रिया का उनसे मिलने न जाने का निर्णय यशोधरा की फीकी नकल-सी लगती है। वैसा मान और दृढ़ता उसमें नहीं है। सखि ने जब कहा—

लज्जा दूसरों से रहे, क्या संकोच उनसे ?

तब वह कहती है—

उनको हुआ था तो मुझे भी वह क्यों न हो ?
छिपकर ही तो सखि, वे गये थे मुझसे।

न मिलने में एक संकोच और भी है—

राहुल की भेंट दी थी गौतम को गोपा ने,
'मैं उन्हें क्या दूंगी भला ?' 'तूने तो
प्रथम ही सब कुछ दे दिया है, छोड़ा नहीं कुछ भी।'[3]

एक ओर यशोधरा है जो कहती है—

बाधा तो यही है मुझे बाधा नहीं कोई भी।

और—

रे मन आज परीक्षा तेरी।

दूसरी ओर विष्णुप्रिया है जो—

देव अभी द्वार पर पहुँच न पाये थे,
आगे बढ़ विष्णुप्रिया पैरों पड़ी उनके।[4]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्ता—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ६१
२. वही, पृष्ठ ६५
३. वही, पृष्ठ १११
४. वही, पृष्ठ ११६

चैतन्य ने अत्यन्त कृशता के कारण उसे पहचाना भी नहीं किन्तु इससे विष्णुप्रिया ने स्वयं को तिरस्कृत अनुभव नहीं किया। कवि के शब्दों में, चैतन्य ने जब उससे पूछा—

बोले—तुम कौन हो? उठी वह तुरन्त ही
क्षुब्ध फणिनी सी नहीं, आकुल हिलोर सी।[1]

उसकी यह प्रतिक्रिया उसके स्वभावगत दैन्य को ही दिग्दर्शित करती है। चैतन्य उससे ईश्वर भजन में समय-यापन की जब बात कहते हैं तो उसके हृदय की मर्यादा का बाँध टूट पड़ता है। चैतन्य के रहते हुए वह अन्य पुरुष कृष्ण का ध्यान कैसे करे—

देते नहीं करने कृपण तुम वह भी।
आ आकर बीच में स्वयं ही बैठ जाते हो।[2]

चैतन्य से उनकी खड़ाऊँ पाकर वह अनन्य भक्त की भाँति ही तृप्त हो जाती है। किन्तु दाम्पत्य भाव से युक्त स्वकीया की कसक अभी भी शेष रहती है—

अब यहाँ न होगी भेंट,
वहाँ भी होगी, इसका क्या पता
कहाँ वह पुण्य पायेगी यह हता,
व्यवधान सके जो भेंट?[3]

यशोधरा ने 'संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि' कहकर प्रिय से तदाकार होने का भाव पा लिया था। किन्तु विष्णुप्रिया को लगता रहा कि उसके स्वामी के चरण इतने ऊपर उठ गए है जहाँ उसके माथे का पहुँचना असम्भव है। उसने अपनी आशा को अन्य जन्म की बाट जोहने में तल्लीन कर दिया—

नहीं पहुँचता मेरा माथ,
इतने ऊँचे उठे तुम्हारे
चरण अचानक नाथ।
उनका नीचे पड़ना भी क्यों
सहूँ स्वार्थ के साथ?
रही हमारी आशा अब तो
अन्य जन्म के हाथ।[4]

चैतन्य जब प्रभु-मूर्ति में तल्लीन हो गए तो उसके धैर्य का बाँध टूट गया। वह मृत्यु की कामना करने लगी किन्तु स्वप्न में चैतन्य ने उसे उपदेश दिया—

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ११७
२. वही, पृष्ठ ११७
३. वही, पृष्ठ ११९
४. वही, पृष्ठ ११९

आयु शेष रहते मरण आत्मघात है
स्थूल रूप से ही यदि चाहो तुम मुझको
मेरी एक मूर्ति रक्खो निज गृह कक्ष में[1]

उनके आदेशानुसार विष्णुप्रिया ने घर में एक मन्दिर बनवाकर प्रिय की मूर्ति उसमें स्थापित की। जीवन पर्यन्त वह उसीकी सेवा मे दिन व्यतीत करती रही।

विष्णुप्रिया का विरह निरवधि 'करुण विरह' है। वह यशोधरा की सी दृढ़-स्वभाव मानिनी नहीं है। उसके क्षणिक मान के क्षणों का पर्यवसान भी दैन्य में ही होता है। उर्मिला की भाँति उसका बिछोह भी यौवन के प्रभात मे ही हो गया था किन्तु असह्य व्यथा झेलते हुए भी वह उन्मादी नहीं हुई; न उसने अपना तमाशा बनाया और न अपने भाग्य का दोष किसी और के माथे मढा। अत्यन्त सयत, मर्यादित भाव से वह परिवार के प्रति सब कर्तव्यों को पूरा करती रही। यद्यपि चैतन्य को उसने अन्त में कृष्ण रूप मान लिया था; राग का उन्नयन भक्ति में होता हुआ-सा प्रतीत होता है; किन्तु कौन जाने हृदय के किसी निभृत कोने में चैतन्य से मिलन की आशा लिये हुए ही वह जीवन की दूभर घड़ियाँ व्यतीत कर रही हो!

जयशंकरप्रसाद

कामायनी—कामायनी में विरह की दो परिस्थितियाँ मिलती है, एक तो मनु और श्रद्धा के युग्म-जीवन से पूर्व के प्रणय के रूप मे और दूसरी, अहभाव से पूर्ण मनु के श्रद्धा से सम्बन्ध-विच्छेद के प्रसंग मे।

प्रथम, रूपदर्शन से उत्पन्न पूर्वराग की स्थिति है किन्तु मनु और श्रद्धा का यह पूर्वप्रणय हिन्दी काव्य के लिए एकदम नई चीज है। प्रसाद ने रूढि का पालन नहीं किया है। पूर्वराग के प्रसगों में पहले गुण-श्रवण अथवा रूप-दर्शन से प्रेमी पक्ष, नायक अथवा नायिका अनायास प्रेम पात्र की ओर आकर्षित हो जाते थे और उसके लिए अभिलाषा करने लगते थे। उनकी वह अभिलाषा प्रारम्भ में रूप लोभ से अधिक कुछ नहीं कही जा सकती। यहाँ परिस्थिति भिन्न है।

मनु और श्रद्धा के पूर्वराग का प्रारम्भ उनमें से किसी एक के रूप-वर्णन से नहीं बल्कि श्रद्धा के कौतूहलमय प्रश्न से हुआ है। उस एकान्त प्रदेश में चिन्तित से बैठे हुए मनु से श्रद्धा प्रश्न करती है—

कौन तुम? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ १३४

मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य।[१]

उस महाप्रलय के भीषण विप्लव में भाग्य से जीवित श्रद्धा ने जब अपने ही जैसे एक और व्यक्ति को भी पाया होगा तो उसके उल्लास की सीमा क्या होगी, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। वह व्यक्ति भी अपूर्व दीप्तिमान था अतः श्रद्धा सहज ही उसकी ओर आकर्षित हो गई। उसकी यह उक्ति कितनी सहज और निर्व्याज है—

और चंचल मनका आलस्य
मेरा मन तुम्हें देखकर अलसाने लगा है।

यहाँ प्रश्न मे भाव का सकोच नही है, हृदय की सरल अभिव्यक्ति है। इसी सरल प्रश्न से मनु, लुटे से, प्रश्नकर्ता को किकर्तव्य विमूढ से देखते ही रह गए।

एक झटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।[२]

वह सौन्दर्य जिसे मनु देख रहे थे, अनुपम था। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन में विशेषता यह है कि वह ऐन्द्रिय न होकर भावमय है—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।[३]

हृदय की उदारता और सरलता व शिशु का सा भोलापन जो श्रद्धा के स्वभाव की विभूति थी; वह सब उसके इस रूप वर्णन में प्राप्त है।

उसके स्थूल अंग-वर्णन में भी अभूतपूर्व उपमानों की संयोजना से एक नवीन चमत्कार आ गया है जिससे हम उसे अपने चर्म-चक्षुओं से न देखकर भाव-चक्षुओं से देखने लगते है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।[४]

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ४५
२. वही, पृष्ठ ४५
३-४. वही, पृष्ठ ४६

रूप का वह चित्र कवि के भाव-प्रवाह में पुनः अतीन्द्रिय हो जाता है—

कुसुम कानन-अंचल मे, मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।[1]

प्रथम परिचय में वासना की अभिलाषा इन दोनों में से किसी में भी उद्भूत नहीं होती। उनमें केवल अपना एक साथी मिलने की सुखद अनुभूति है जिसने उनके जीवन के एकाकीपन को तोड़ दिया। मनु श्रद्धा से पूछते है—

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार।
घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मंद बयार।
नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कान्त–
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शान्त![2]

कामायनी का पूर्वराग अभूतपूर्व है। प्रणय-भाव की हृदय पर धीरे-धीरे विजय का इतना सुन्दर व स्वाभाविक दिग्दर्शन इससे पूर्व उपलब्ध नही होता। मनु और श्रद्धा का प्रेम Love at first sight प्रथम दर्शन से उत्पन्न 'अभिलाषा' नहीं है, सानिध्य से धीरे-धीरे उत्पन्न हुई ममता है जो एक विशिष्ट सीमा पर पहुँचकर कोई बन्धन, कोई बाधा स्वीकार नहीं करती : दूसरे पक्ष का सब कुछ अपना बना लेना चाहती है और अपना सब कुछ उसको अर्पित कर देना। उन दोनो के उस भाव की अभिव्यक्ति प्रसाद ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से की है—

चल पड़े कब से हृदय दो पथिक से अश्रान्त,
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रान्त।
एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार,
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार॥

× × ×

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ४८
२. वही, पृष्ठ ५०

नदी तट के क्षितिज में नव जलद, सायंकाल,
खेलता दो बिजलियों से मधुरिमा का जाल।
लड़ रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश,
एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस।।
था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव,
थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सतत अटकाव।।
चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।।
नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष,
गूढ़ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन बन-पथ अन्त का आलोक,
सतत होता जा रहा हो नयन की गति रोक।।[1]

गूढ़ अन्तर में छिपे उस रहस्य को जब मनु के मन में काम और रति ने स्पष्ट कर दिया तब वह बाधा स्वयं ही हट गई। मनु कर्म के मार्ग में प्रवृत्त हुए और श्रद्धा को आत्मसमर्पण करना पड़ा।

मनु के श्रद्धा के प्रति कामनायुक्त युग्मभाव की अभिव्यक्ति प्रसाद ने उनके अत्यन्त सुन्दर शब्दों में इस भाँति प्रस्तुत की है—

वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य बल विश्राम।
हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा! कौन तुम छबि धाम।
कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज,
कौन हो तुम, इसी भुले हृदय की चिर खोज।
कुन्द मन्दिर-सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बाँट,
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट।।[2]

पुरुष के इतने समीप स्वयं को पाकर श्रद्धा ने प्रथम बार 'अभिलाष' से उत्पन्न नारी सुलभ लज्जा का अनुभव किया जो क्रमशः विवशता में परिणत होकर समर्पण में तदाकार हो गई।

मनु ने जब कहा—

'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' यही सुदृढ़ विचार,
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।
मधु बरसती विधु किरण है काँपती सुकुमार,
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधुभार।

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, वासना सर्ग, पृष्ठ ८१
२. वही, पृष्ठ ८७

तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण,
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण।[1]

तब श्रद्धा—

झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार।
और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव।
मधुर व्रीड़ा मिश्र चिंता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास॥[2]

आनन्द, लज्जा और चिन्ता से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व की योजना करके प्रसाद ने श्रद्धा के पूर्वराग को बहुत स्वाभाविक बना दिया है। 'अभिलाषा' मनु के प्रति समर्पण करने को प्रेरित करती है और लज्जा समझाती है—

इतना न चमत्कृत हो बाले !
अपने मन का उपकार करो,
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती,
ठहरो कुछ सोच-विचार करो।[3]

तब श्रद्धा अपने मन की दुर्बलता को स्वीकार करके उसकी अभिलाषा और विवशता को लज्जा के सम्मुख रखती है—

मैं आज समझ तो पाई हूँ
मै दुर्बलता मे नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।
पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है।
× × ×
सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा तरु छाया में
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया मे ?
× × ×

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, वासना सर्ग, पृष्ठ ८९
२. वही, पृष्ठ ९४
३. वही, लज्जा सर्ग, पृष्ठ १०४

मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ;
भुज लता फँसाकर नर तरु से
झूले सी झोंकें खाती हूँ।

अन्तर्द्वन्द्व को 'विश्वास' से जीतकर श्रद्धा मनु को आत्म-समर्पण कर देती है।

पूर्वराग के प्रसंग में श्रद्धा का यह अन्तर्द्वन्द्व हिन्दी काव्य के लिए अनुपम निधि है। कवि ने स्थूल को बहुत पीछे छोड़ दिया है और मन के संसार में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है; उस प्रयत्न में वह सफल भी हुआ है। कामायनी से पहले, नारी में आकर्षण के प्रभाव के फलस्वरूप 'लज्जा' केवल अनुभाव मात्र बनकर आती थी। उसकी यह मनोवैज्ञानिक व्याख्या इससे पूर्व प्राप्त नहीं होती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कामायनी में श्रद्धा और मनु का पूर्वराग-प्रसंग हिन्दी काव्य में अद्वितीय और अनुपमेय वस्तु है। पूर्व प्रणय का क्रमिक विकास और उसके प्रभाव से उत्पन्न अन्तःसंघर्ष की झाँकी का दिग्दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद के समान प्रतिभाशील अन्तर्मन के वेत्ता के हाथों में उसे जो निखार मिला है उसके कारण आधुनिक विरह-काव्य का 'पूर्वराग' आधुनिक से पहले के हिन्दी संस्कृत साहित्य के पूर्व-राग वर्णनों को श्रीरहित कर देता है। यहाँ 'पूर्वराग' केवल मिलन की 'अभिलाषा' न रहकर प्रेम की दृढ़ नींव बन गया है, वह नींव जो एक क्षण में नही खोदी जा सकती; उसके लिए समय की अवधि अपेक्षित है।

श्रद्धा में हृदय का समर्पण था और मनु में वासना, जो शरीर के उपभोग के लिए विकल थी। उपभोग भी जब उसके लिए अप्राप्त न रहा, तब वह कुछ और नवीन की चाहना करने लगी—

उठती अंतस्तल से सदैव
दुर्ललित लालसा जो कि कान्त,
वह इन्द्रचाप सी झिलमिल हो
दब जाती अपने आप शान्त।[1]

उधर मातृत्व का भार सम्भालती हुई श्रद्धा प्रणय-क्रीड़ाओं की चंचलता से दूर, गम्भीर होती जा रही थी। उसका वह अनायास परिवर्तन मनु को अच्छा न लगता था। प्रणय-लीलाओं के चांचल्य का अभाव उन्हें बहुत खटकता था, उसे उन्होंने स्वयं प्रणय का अभाव ही मान लिया। श्रद्धा के व्यवहार को देखकर मनु सोचने लगे—

श्रद्धा का प्रणय और उसकी
आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति,
जिसमें व्याकुल आलिंगन का
अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १३९

भावनामयी वह स्फूर्ति नहीं
नव नव स्मित रेखा में विलीन
अनुरोध न तो उल्लास नहीं
कुसुमोद्गम-सा कुछ भी नवीन।[1]

अपने मन में अनुभूत होती हुई इस कमी को जब उन्होंने श्रद्धा के सन्मुख व्यक्त किया तब मातृत्व के उल्लास से पूर्ण श्रद्धा ने उन्हे भविष्य के नवागन्तुक की सूचना दी और उसके प्रति अपने ममत्व को प्रगट किया। मनु श्रद्धा पर एकाधिकार शासन चाहते थे, वह ईर्ष्या से जलने लगे और श्रान्त कान्त और तड़पती हुई श्रद्धा को छोड़कर चले गए।

मनु की उदासीनता से उत्पन्न इस विषम परिस्थिति को हम करुण विप्रलम्भ के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि एक तो उदासीनता के कारण वियोग निरवधि हो गया है, दूसरे स्वप्न सर्ग से पहले श्रद्धा को यह भी नहीं पता कि मनु कहाँ है, जीवित भी हैं अथवा नहीं। 'स्वप्न' में मनु की विपत्ति की सूचना मिल जाने पर भी श्रद्धा के पास ऐसा कोई प्रमाणपत्र नही था कि इस जीवन में प्रिय से पुनर्मिलन सम्भव हो सकेगा।

मनु श्रद्धा से केवल इतना कहकर चले गए थे—

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुःख पाने दो स्वतन्त्र,
'मन की परवशता महा दुःख'
मै यही जपूंगा महामन्त्र।[2]

श्रद्धा अपने मन की दो बात भी उनसे न कर सकी। वह लौट आने की अभ्यर्थना ही करती रह गई—

रुक जा सुन ले ओ निर्मोही।
वह कहती रही अधीर श्रान्त।

'मनु के चले जाने के पश्चात् विरहिणी श्रद्धा का करुण वेदनामय चित्र स्वप्न सर्ग में मिलता है। कामायनी के विरह-वर्णन में कवि ने शास्त्रीय परम्परागत वियोग दशाओं को प्रश्रय नहीं दिया है, न ही उसका विस्तृत वर्णन किया है। एक मार्मिक करुण स्थिति का केवल एक चित्र प्रस्तुत किया है।/'कामायनी' की श्रद्धा के विरह की केवल एक संध्या कवि हमारे सन्मुख रखता है, उसी से कुमार के जन्म और उतने बड़े होने तक की अवधि का जब वह पर्वतीय प्रदेश में किलकारी मारता घूमता था हम अनुमान लगा लेते हैं।

एकाकिनी श्रद्धा हिमालय के उस एकान्त प्रदेश में थक कर पड़ी थी। वह विरह

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १३६
२. वही, पृष्ठ १५४.

वेदना सहते-सहते अत्यन्त कृशगात हो गई थी—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ !
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।[1]

उसकी मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कवि इन शब्दों में करता है—

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार रही,
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।[2]

विरह नदी के पार जाने में असमर्थ श्रद्धा अपने प्रेम पर अनन्त विश्वास रखती हुई मनु के कभी लौट आने की प्रतीक्षा कर रही थी क्योंकि 'अपने सोने से सपनों' को तो वह पहले ही अर्पित कर चुकी थी तथा 'विश्वास रजत नग पगतल में', 'पीयूष स्रोत-सी बहने' की प्रतिज्ञा भी उसने कर ली थी।

उस संध्या में, किरणें भी नींद की गोद में विश्राम लेने के लिए जा रही थीं किन्तु विरहिणी को, प्रिय की स्मृति वहाँ भी चैन लेने नहीं देती—

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग बालिका सी किरनें,
स्वप्न लोक को चलीं थकी-सी नीद सेज पर जा गिरने,
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नही
बिजली-सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने।[3]

मनु के साथ बीते हुए वे कुछ दिन अब वियोग के दुख की अनन्त-अवधि बन गए थे। श्रद्धा पास में बहती हुई मन्दाकिनी नदी से प्रश्न करने लगी—

जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनी कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुद्बुद् हैं गिन दोगी ?[4]

आह के उच्छ्वास से, मिलन से पहले ही जीवन का अन्त न हो जाय, यह भय भी उसे है। चरम नैराश्य में अनन्त वियोग वेदना सहकर भी मनु ने मिलन की उत्कट अभिलाषा बराबर हृदय में बनी हुई है। शलभ जब तक न मिले तब तक दीपशिखा को प्रतीक्षा में जलते ही रहना चाहिए। उसके जीवन की चरम-परिणति दोनों के एकाकार होने में है। एकाकार होने के पश्चात् कुछ भी हो जाय तो कोई भय नहीं—

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १७५
२. वही, पृष्ठ १७५
३. वही, पृष्ठ १७५
४. वही, पृष्ठ १७६

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल हूँ मैं आज यहाँ।
कितना स्नेह जलाकर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन-सी दीपशिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ।[1]

विरही के लिए जीवन की बीती घड़ियाँ कष्टपूर्ण होकर भी मधुर होती है। वह उन्हें भुलाना नही चाहता। श्रद्धा कहती है—

'अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ'

प्रकृति के सब सुखद उपकरण विरह मे श्रद्धा के लिए दुखदायी हो गए। कोकिल की कूक और पराग की मदान्धता में वैसी हलचल उसे दिखाई नहीं पड़ती ; अपने हृदय को यह समझाती है—

आज सुनूं केवल चुप होकर, कोकिल चाहे जो कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या
कामायनी ! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले।[2]

स्मृति में डूबी, दुखी श्रद्धा के एकमात्र सम्बल 'कुमार' ने जब 'माँ' कहकर उसे पुकारा तब उसकी भावधारा विशृंखल हुई—

'माँ फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।[3]

वात्सल्य का योग विरह की पीड़ा को और भी आर्द्र व मधुर बना रहा है। लुटरी खुली अलक वाले 'मानव' को हृदय से लगाती हुई श्रद्धा उसे उपालम्भ देती है—

कहाँ रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना।
अरे **पिता के प्रतिनिधि**, तूने भी तो सुख-दुख दिया घना,
चचल तू, बनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कही,
मैं डरती तू रूठ न जाये करती कैसे तुझे मना !

'पिता के प्रतिनिधि' में पिता के प्रति जो उपालम्भ है, वह अद्‌भुत है। तीन शब्दों में एक लम्बी कथा की संयोजना प्रसाद ने कर दी है, वह अतीत की कथा, जो श्रद्धा के हृदय को साल रही थी।

स्मृति और वात्सल्य के सहारे विरह के अनन्त दिवस वैसे ही बीतते जा रहे थे। वह सन्ध्या भी उसी तरह बीत जाती यदि रात्रि में मनु का इड़ा पर अत्याचार और प्रजा का मनु के प्रति विद्रोह, श्रद्धा को 'स्वप्न' में नही दिखाई देता। मनु विपत्ति में हैं यह जानकर वह विश्वासमयी प्रिय को ढूंढ़ने निकल पड़ी। अनेक कष्ट सहकर सारस्वत

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १७६
२. वही, पृष्ठ १७७
३. वही, पृष्ठ १७६

नगर पहुँची और मनु का विपत्ति से त्राण किया।

इड़ा और कुमार को राज्यकार्य सौंपकर ये दोनों कैलाश पर तपस्या के लिए चले गए। अन्त में 'चिरमिलन' की इसी स्थिति में हम मनु और श्रद्धा को देखते है।

कामायनी के दार्शनिक पक्ष के अतिरिक्त, मनु और श्रद्धा के जीवन का यह मानवीय पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पुरुष के स्वाभाविक अहं को नारी की समर्पण शक्ति व उदारता जीत सकती है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसी तथ्य का निरूपण प्रसाद ने सफलतापूर्वक कामायनी में किया है। विरह-वर्णन बहुत संक्षिप्त होने पर भी अपूर्व मार्मिक है; विरही की सहनशक्ति और मिलन की कामना के सहारे उसमे जीवन की चाहना, दोनों भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति प्रसाद ने यहाँ की है—

'शलभ समीप नहीं तो अच्छा सुखी अकेले जले यहाँ।'

तथा—

'कामायनी तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले।'[1]

निराला

तुलसीदास—'तुलसीदास' में निराला ने तुलसीदास और उनकी पत्नी रत्नावली की जीवन-गाथा मुखरित की है। किस तरह वह महाकवि और चिन्तक पत्नी के उलाहने की चोट से, जीवन से विरक्त होकर ईश्वरोन्मुख हो गया; यही इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय है।

निराला के तुलसीदास अत्यन्त संस्कृत-रुचि-सम्पन्न मानव हैं। कवि ने उनका चित्रण परम्परागत कामुक तुलसीदास के रूप में नही किया है। पत्नी को छोड़कर जाने से पहले वह मित्रों के साथ पंचवटी-भ्रमण के लिए गए थे। वहीं उन पुण्यस्थलों की स्मृति से भारत का प्राचीन वैभव और रामराज्य का स्वप्न उनके सम्मुख सजग हो गया—

सोचा कवि ने, मानस तरंग'
यह भारत सस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग-संग जन-गण को;
इस अनिलवाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल-जीवन-चुम्बनकर मानस-धन जो।
है वही मुक्ति का सत्य रूप
यह कूप-कूप भव-अंध कूप;
वह रंक, यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे।
चाहिए उसे और भी और,

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, पृष्ठ १७६

फिर साधारण को कहाँ ठौर?
जीवन के जग के यही तौर हैं जय के।
करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय
लड़ना विरोध से द्वन्द्व समर
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय?[1]

वह महान् चिन्तक कल्पना में स्वयं को जनहित के लिए जीवन के बन्धनों से मुक्त कर ही रहा था कि तभी रत्नावली और उसका प्यार चेतना को अभिभूत करने लगा—

उस क्षण, उस छाया के ऊपर,
नभ-तम की-सी तारिका सुघर,
आ पड़ी, दृष्टि में, जीवन पर सुन्दरतम
प्रेयसी, प्राणसंगिनी नाम
शुभ रत्नावली - सरोज - दाम
वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम।[2]

पंचवटी में तुलसी को वर्तमान से त्रेता में ले जाने वाली यह अनुभूति जीवन की गति में चेतन से लुप्त होकर अचेतन में स्थायी हो गई।

प्रवासी प्रिय तुलसीदास पत्नी की स्मृति में कुछ क्षण के लिए विश्व को भूल गए। एक काल्पनिक चुम्बन की अनुभूति में जीवन का सम्पूर्ण कष्ट, सारा क्लेश विलीन हो गया—

जिस तरह गन्ध से बँधा फूल,
फैलता दूर तक भी, समूल,
अप्रतिम प्रिया से, त्यों दुकूल प्रतिमा में
मैं बँधा एक शुचि आलिंगन,
आकृति में निराकार, चुम्बन;
युक्त भी मुक्त यों आजीवन, लघिमा में।[3]

तुलसीदास अपनी पत्नी पर अत्यन्त आसक्त थे, लौटने पर जब वह घर में नहीं मिली तो सम्पूर्ण घर सूना-सूना लगने लगा। मिलन की स्थिति में जो आँगन उल्लास से परिपूर्ण रहता था, वही आज वियोग में दुखी था, घर के नेत्र भी किसी अपरिचित

१. निराला—तुलसीदास, पद ३३-३५
२. वही, पद ३७
३. वही, पद ५४

अपराध से झुके हुए थे, वह घर नहीं था तुलसी के अपने हृदय का छायाचित्र बन गया था। वियोगी तुलसी को पत्नी के विरह में घर कितना बुरा लगने लगता है इसका बहुत सुन्दर वर्णन निराला ने किया है। विरह विह्वल प्रेमी की मनःस्थिति का अत्यन्त सुन्दर दिग्दर्शन यहाँ हुआ है—

देखा वह नहीं प्रिया, जीवन,
नत-नयन भवन, विषण्ण आँगन,
आवरण शून्य वे बिना वरण-मधुरा के
अपहृत श्री, सुख स्नेह का सद्म,
निःसुरभि, हंत हेमंत पद्म !
नैतिक नीरस, निष्प्रीति छद्म ज्यों पाते
यह नहीं आज गृह, छाया-उर
गीति से प्रिया की मुखर मधुर
गति-नृत्य, तालशिंजित नूपुर-चरणारूण,
व्यंजित नयनों का भाव सघन
भर रंजित जो करता क्षण-क्षण,
कहता कोई मन से, उन्मन, सुन रे सुन।
यह आज हो गई दूर तान,
इसलिए मधुर वह और गान,
सुनने को व्याकुल हुए प्राण प्रियतम के।[1]

कोई वस्तु जब हमसे दूर हो जाती है तब मन उसको पाने को और भी अधिक उद्विग्न और विकल होने लगता है 'अलभ है इष्ट अतः अनमोल' की भावना यहाँ भी है—

यह आज हो गई दूर तान
इसलिए मधुर वह और गान।

यहाँ कवि ने नायक के पक्ष में 'प्रवास' विरह की योजना की है। प्रकृति का रूप उद्दीपन है। तुलसी जब पत्नी को लौटा लाने के लिए चल पड़ते है तब मार्ग में—

मग में पिक - कुहरित डाल डाल,
हैं हरित विटप सब सुमन माल,
हिलती लतिकाएँ ताल-ताल पर सस्मित,
पड़ता उन पर ज्योति - प्रपात,
है चमक रहे सब कनक गात,
बहती मधु-धीर समीर ज्ञात, आलिंगित ॥[2]

---

१. निराला—तुलसीदास, पद ७१-७३
२. वही, पद ७४

ससुराल पहुँचकर पत्नी से जो उलाहना तुलसी को मिला वह कामुक के लिए केवल मान बनकर रह सकता था किन्तु यहाँ किसी ने जैसे संस्कारों को झकझोर दिया—

जागा, जागा सस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा वामा वह न थी, अनल प्रतिमा वह,
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान,
हो गया भस्म वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह ।।[1]

कवि की चेतना जो संसार के नश्वर लोभ में सो रही थी वह प्रेम की प्रताड़ना से तड़प उठी। जीवन का कोई अभाव जो एकान्त मे उसे कचोटता था सन्मुख स्पष्ट हो गया—

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,
कलि में सौरभ ज्यों चित में स्थित,
अपनी असीमता मे अवसित प्राणाशय,
जिस कलिका में कवि रहा बन्द,
वह आज उसी मे खुली मन्द,
भारती रूप मे सुरभि छन्द निष्प्रश्रय ।।[2]

प्रेम के नैराश्य (Frustration) की विरह व्यथा का जो उन्नयन (Sublimation) हुआ वह इतना उज्ज्वल था कि मुगल सस्कृति के तूफान में उसने हिन्दू संस्कृति के पोत को डूबने से बचा लिया। 'रामचरितमानस' तरिणी बनकर उदित हुई।

इस तरह तुलसीदास की जीवन-गाथा मे प्रेम और विरह का दिग्दर्शन एक चरम साध्य की प्राप्ति का साधन बना, वह साध्य था तुलसी की उत्कट भावना का उन्नयन, जनहित के लिए, राम में चरम आदर्श की खोज के लिए। प्रवास और मान की स्थितियाँ 'नैराश्य' में परिवर्तित होकर उसी आदर्श की ओर उन्मुख हुई, उनका वर्णन भाव को अग्रसर करने के लिए मिस मात्र था।

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र

साकेत संत—साकेत की भाँति साकेत सत का प्रारम्भ भी भरत और माण्डवी के हास-विलास से हुआ है। नवविवाहित भरत के जीवन की एक झाँकी कवि इस प्रकार देता है—

विपुल वैभव आकर साकेत,
औ' उसमे वह भूप निकेत।

---

१. निराला—तुलसीदास, पद ८६
२. वही, पद ९०

परम सुषमा का भी शुचि सार,
विलासों का था वर शृंगार।
भरत का भुवन वहाँ सुविशाल,
सभी ऋतुओं में सुखद रसाल।
विराजित था कर गगन विहार,
धरा का एक उच्छ्वसित प्यार ॥[1]

× × ×

उसी में एक दिवस सविलास,
निशागम पर भरकर उल्लास।
किये झंकृत वीणा के तार,
भरत ने छेड़ा राग मलार॥
रत्न उत्खचित मंच का मोर,
बना जीवित - सा भावविभोर।
भरत के चरणों पर चुपचाप,
हुआ न्योछावर अपने आप ॥[2]

उसी क्षण माण्डवी भी वहाँ आ पहुँची—

बढ़ी स्वर की लहरी इस तौर,
उठे रस के बादल सब ठौर।
उसी क्षण क्षणदा सी अभिराम,
माण्डवी पहुँची वहाँ ललाम।
प्रिया के आते ही तत्काल,
वंशियाँ सौ - सौ बजी रसाल।
हजारों दीप हुए अनुकूल,
करोड़ो महक उठे शुचि फूल॥
भरत खिल उठे, बढ़ उठे हाथ,
कहा, 'लो जीवित वीणा साथ।
मिले फिर से रति और अनंग,
सजे फिर घन विद्युत के संग॥[3]

माण्डवी भी कम आमोद-प्रिय नही है—

तनिक रुक गई माण्डवी आप,
इसे आलाप कहूँ कि प्रलाप?

---

१. डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—साकेत संत, प्रथम सर्ग, पद २
२. वही, पद १०, ११
३. वही, पद १२-१४

अधर पर एक मधुर मुस्कान,
लोल सी लहरा गई अजान ।।[1]

भरत अपनी प्रियतमा की छवि को निहारते ही रह गए—

कौन कहता है तुम हो एक,
एक होकर भी बनी अनेक।
तुम्हारी ही छबि का विस्तार,
विश्व मे देखूंगा साकार ।।[2]

वह प्रियतमा भी अपने प्रिय से स्नेह के आदान-प्रदान मे किसी भाँति न्यून नहीं है—

और मै तुम्हे हृदय में थाप,
बनूंगी अर्घ्य आरती आप।
विश्व की सारी कान्ति समेट,
करूँगी एक तुम्हारी भेट।
पुरुष-मन में छबि का विस्तार,
नारि मन मे संकोच अपार।
पुरुष का हो अनन्त पर चाव,
नारि का एक कान्त पर भाव ।।[3]

भरत ने अपनी सफाई देते हुए कहा—

मनुज की मधुप वृत्ति पर चोट,
लगाई, खूब व्यग की ओट।
किन्तु क्या प्रिये नहीं यह ज्ञान,
तुम्ही इन प्राणों की तान ।।[4]

माण्डवी ने गर्विता का-सा व्यग्य करके पति को चिढाते हुए कहा—

तान मैं हूँ जीवित बीन,
अहा उपमाएँ मधुर नवीन।
न शब्दों में हो यों अनुराग,
सत दिखलाया करते त्याग ।।[5]

बेचारी माण्डवी को क्या पता था कि संत का त्याग उसे वस्तुतः देखना पड़ेगा। आमोद-प्रमोद पूर्ण उस सुखद वार्तालाप के बीच माण्डवी के यह शब्द सुनकर 'सत दिख-

१. डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—साकेत संत, प्रथम सर्ग, पद १५
२. वही, पद ४३
३. वही, पद ४४-४५
४. वही, पद ४६
५. वही, पद ४७

लाया करते त्याग' भरत जैसे चौंक गए। उन्होंने माण्डवी का मुँह-सा बन्द करते हुए कहा—'श'''''ऐसे शब्द मुँह से न निकालो, कभी-कभी अनजान में कही गई बात भी भाग्य की लकीर बन जाती है'—

इष्ट हो संतों को तप त्याग,
चाहिए मुझे एक अनुराग।
शब्द को माया बुरी बलाय,
सुखी जीवन सुख से निभ जाये॥[1]

बात वहीं समाप्त हो गई। वह नवदम्पत्ति मामा युधाजित के यहाँ हिमालय की श्री-शोभा देखने के लिए चला गया।

परन्तु अनजान मे कही गई उस बात को भाग्य की लकीर बनना था और वह बनी भी। निस्पृह भरत के लिए कैकेयी का राजा दशरथ से राज्य माँगना मूर्खता थी। महात्मा तुलसीदास के शब्दों में वही रघुकुल की लहलहाती आशालता के कुल्हाड़ी सिद्ध हुई। राजा दशरथ ने प्राण त्याग किया। राम तो वन को गए ही, सीता और लक्ष्मण को भी मानो उस राम विहीन अयोध्या से घृणा हो गई और स्वेच्छा से राजसी जीवन का त्याग करके उनके साथ चले गए।

अयोध्या में हो रहे इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ भरत, मामा युधाजित के द्वारा धीरे-धीरे अयोध्या का राज्य ग्रहण करने को उकसाये जा रहे थे। किन्तु पितृवत्सल, भ्रातृवत्सल भरत पर इस कूटनीति का कुछ भी प्रभाव न पड़ रहा था। एक बार युधाजित के मंथरा सम्बन्धी संकेत से भरत का माथा ठनक गया।(मथरा को युधाजित ने अयोध्या में इसलिए छोड रखा था कि वह कैकेयी को भरत के लिए राज्य माँगने को प्रेरित करे)। भरत षड्यन्त्र से साकेत के महलों को बचाने के लिए जल्दी ही वहाँ पहुँचने को विह्वल हो उठे। परन्तु वहाँ पहुँचने पर स्तब्ध रह गए। स्वय डा० मिश्र के शब्दों मे 'उन्होने देखा कि तीर तरकश से छूट चुका था।'

भरत ने निश्चय कर लिया कि वह राज्य ग्रहण नहीं करेंगे। पिता का अन्तिम संस्कार करने के पश्चात् उन्होंने राम से अपनी माता के अपराध की क्षमा याचना करने और अयोध्या लौट चलने की प्रार्थना करने की ठानी। उनका विश्वास था कि राम उनके आग्रह को टालेंगे नही। राम का यह अनन्य भक्त अपने प्रभु को मनाने के लिए वन में पहुँचा किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ थे, हताश भरत राम की पादुकाएँ लेकर अयोध्य लौटे। चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर रखकर उन्होंने राज्य-कार्य प्रारम्भ कर दिय और स्वयं जीवन से विरक्त होकर नन्दी ग्राम में रहने लगे।

माण्डवी के धैर्य की परीक्षा का अब समय आ गया था। उसके स्थान पर को दूसरी स्त्री होती तो अवश्य भरत के इस त्याग में सहयोग देने से हिचकती। जब पि

---

१. डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—साकेत संत, प्रथम सर्ग, पद ४८

ने स्वयं अपने हाथ से राज्य का उत्तराधिकारी भरत को बनाया तो क्यों वह उसे ग्रहण नहीं करते ? यह मानवी सुलभ प्रश्न माण्डवी के सन्मुख उपस्थित होना अस्वाभाविक न था। किन्तु माण्डवी भरत की योग्य पत्नी थी, उसमें मानवता चरम उत्कर्ष को पहुँच चुकी थी। उस मनस्विनी की गम्भीरता की थाह पाना अत्यन्त दुरूह कार्य है जिसने सहनशीलता से प्रत्येक परिस्थिति के साथ संघर्ष किया। चौदह वर्ष तक यौवन के प्रभात मे ही पति के साथ वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लिया। माण्डवी का चरित्र हमारे साहित्य की अद्वितीय निधि है। उसकी सौम्यमूर्ति के रोम-रोम में सहृदय व्यथा का अनुभव करता है परन्तु वह वेदना मौन है मुखर नहीं, गम्भीर है छिछली नहीं।

भरत त्यागी बनकर नन्दी ग्राम में तपस्या कर रहे थे, आत्मग्लानि उनके शरीर, मन और आत्मा को भस्म किये दे रही थी। राजकार्य में व्यस्त रहकर वह स्वयं को भूल जाना चाहते थे। इधर माण्डवी प्रत्यक्ष रूप में पति के स्नेह से वंचित न होने पर भी उसकी तत्कालीन उदासीनता से पीड़ित थी। दाम्पत्य-व्यवहार की अभिव्यक्ति का अवकाश ही न रहा था। हास-विलासमयी माण्डवी भाग्य से लड़कर हारी हुई भी उस पर कैसे विजय प्राप्त कर रही थी। देखिए—

भारत की यह नारी।
कल थी वधु आज माता-सी, दिव्य देवियाँ हारी॥
भोजन लेकर चली माण्डवी जहाँ भरत व्रतधारी।
जीवन-रक्षक कन्दमूल-फल, बस, सामग्री सारी॥
आई उतर तपस्या भू पर नारी बन सुकुमारी।
पर सुकुमारी अग्नि-शिखा थी, जन-जग-पावन-कारी॥[1]

वह सुकुमारी 'साकार' तपस्या बन गई थी। इसमें एक ओर माण्डवी के भरत के प्रति अगाध प्रेम का दूसरी ओर उसकी संयत सहनशीलता का दिग्दर्शन कवि कराता है। भरत के साथ माण्डवी ने भी राजसिक वेशभूषा को त्याग दिया था—

तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियाँ प्यारी।
एक छत्र शासक की यह थी आधी देह दुलारी॥[2]

माण्डवी की वेदना काव्यशास्त्र-निर्धारित विरह की किसी भी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आ सकती किन्तु फिर भी वह विरह का ही रूप है। विरह वस्तुतः वहाँ होता है जहाँ किसी कारण से चाहे वह कारण मानसिक हो चाहे परिस्थिति द्वारा आरोपित प्रेमी-युग्म का शरीर अथवा भावना से वियोग हो जाता है और ये दोनों उस परिस्थिति से संघर्ष करते हुए, मिलन की घड़ी की ओर निहारते हुए, प्रेमभाव का पोषण करते है। यहाँ भरत की उदासीनता और आत्मग्लानि, इन दोनों की भरत और माण्डवी की प्रेमाभिव्यक्ति

---

१. डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—साकेत संत, सर्ग १४·४—अ
२. वही

के लिए दृढ़ अवरोध बन गई थी—

दोनों एक, परन्तु बीच थी असिधारा वह भारी।
चौदह वर्षों तक न भावना जिसने अन्य निहारी ॥[1]

राम के वनगमन से अयोध्या के महलों और राजपरिवार की दशा बिलकुल उलट-पलट गई थी। एक ओर प्रोषितपतिका उर्मिला की यह दशा थी—

देह महल में रुद्ध हुई थी, पर न निरुद्ध बिरह निर्झर था।
भरी दृगों ने जल धाराएँ, शब्द-शब्द करुणा कातर था ॥[2]

किन्तु दूसरी ओर माण्डवी थी जिसे—

किन्तु माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जित तर था।

सम्मुख है राकेश, चकोरी पर न उधर निज नयन उठाये।
विकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनी मोद मनाये ॥
था वसन्त आँखों के आगे, पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह ! माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जित तर था ॥
जो है दूर उसी की आशा रख कर मन समझाया जाये।
समझ सराहूँ मैं उस मन की, पास रहे पर पास न आये ॥
सलिल विरह की बात न जिसमें, स्वतः प्यास उठना दुर्भर था।
अहह ! माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जित तर था ॥[3]

'साकेत सन्त के सर्ग १४ में ४—अ, आ, इ इन तीन पदों में ही कवि ने एक बड़ी गाथा समाविष्ट कर दी है। माण्डवी के अनुपम विरह का चित्र नेत्रों के सम्मुख साकार हो जाता है। कर्त्तव्यनिष्ठा माण्डवी माताओं का मन बहलाती थी, उर्मिला की देखभाल करती थी और स्वयं पति की सेवा करके सबका दुख-भार हलका करने में रत थी।

माताओं के दुलार, उर्मिला-वियोग-भार,
और स्वतः की सेवा, हरने को व्यथा सकल ॥[4]

उस कठिन संयमित जीवन में उल्लास का क्षण केवल तब आता था जब वह भारत के समीप नन्दीग्राम को जाती थी। आराध्य के मन्दिर की आराधिका माण्डवी के लिए—

अवध नन्दिगाँव मार्ग पग-पग था तीर्थ विमल।
हरने को व्यथा ॥

कवि गुरु रवीन्द्रनाथ जी की अनुभूति और महावीरप्रसादजी द्विवेदी के आदेश से गुप्तजी ने व्यथित उर्मिला की वियोग वेदना को पहचाना था किन्तु उससे भी करुण

१. डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र—साकेत संत, सर्ग, १४-४—अ
२. वही, सर्ग, १४-४—अ
३. वही, सर्ग १४-४—आ
४. वही, सर्ग १४-४—इ

कठिन विरह से पीड़ित माण्डवी उपेक्षित रह गई थी। साकेत सन्त के रचयिता ने उसकी व्यथा का परिचय कराकर सहृदय जगत् का बड़ा उपकार किया है।

द्वारकाप्रसाद मिश्र

कृष्णायन—कृष्णायन के नाम से स्पष्ट है कि कवि ने इसमें कृष्ण के जीवन की गाथा वर्णित की है। राधा के पक्ष में 'कृष्णायन' मे 'पूर्वराग' का अभाव है। कृष्ण के साथ उनकी हंसी, ठिठोली का चित्रण ही कवि ने किया है।

'कृष्णायन' के कृष्ण का प्रारम्भ से ही अतिमानवीय रूप में चित्रण किया गया है। सूर तथा अन्य भक्त कवियों के कृष्ण भी अतिमानवीय थे किन्तु राधा के साथ रास रचाते समय उनका यह रूप ओझल-सा रहता था। 'मिश्र' जी के कृष्ण रासलीला करते-करते राधा को एक कुंज मे ले जाते है और अपने अवतार का रहस्य समझाते हैं। वह जानते है कि उन्हें कसादि राक्षसों का वध करना है अतः राधा को आदेश देते है कि जब तक वह असुरों का हनन करें तब तक यह (राधा) ब्रज में रहकर उनके प्रेमभाव का पोषण करे—

जब लागि मैं कुश काँस उखारहुँ,
खोजि-खोजि असुरन सहारहुँ,
तुम ब्रज बसहु, करहु रखवारी,
सीचहु प्रेम-विटप दृगवारी।
उत मैं करहुँ शूल निर्मूला,
फूलहि प्रेम-वृक्ष इत फूला।
धर्मादिक फल लागहिं चारी,
लहहि प्रिया जग कृपा तुम्हारी॥[1]

कृष्ण के मथुरा जाने पर इसीलिए 'कृष्णायन' की राधा को विरह का सामना नहीं करना पड़ा। साथ ही कवि ने कृष्ण पर लगे हुए विश्वासघात के दोष का प्रक्षालन भी कर दिया। फिर भी सनातन नारी को पृथ्वी पर अवतार लेकर पृथ्वी का बनना पड़ा। राधा-कृष्ण के चिरन्तन रहस्य को जानते हुए भी उनके मथुरा गमन के अवसर पर स्वयं को न सँभाल सकी। और—

प्रेरे सुफलक सुत तुरग, मुख फेरेउ घनश्याम,
स्यंदन-तल तेहि क्षण गिरी, कोउ विरहिणी बाम॥[2]

राधा की व्यथा का यह चित्रण परम्परागत है। कृष्णकाव्य में राधा की व्यथा सदा मौन रही है यहाँ भी वैसी ही है। कृष्ण के जाने के समय सम्पूर्ण ब्रज बिलख रहा था किन्तु राधा रोती नहीं, पछाड़ खाकर उनके रथ के सम्मुख गिर पड़ती है। कृष्ण भी निरपेक्ष

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, अवतरण काण्ड, पद १६१, पृष्ठ १००
२. वही, पद १८८, पृष्ठ ११६

नहीं जा पाते, वह अनायास ही राधा को गोद में उठा लेते हैं, कर्त्तव्यवश जाना आवश्यक था अतः अपनी थाती को यशोदा की गोद में सौंपकर रथ आगे बढ़ा देते है। उनकी व्यथा का चित्रण कवि ने इन शब्दों में किया है—

त्यागत ब्रज ब्रजराज अधीरा,
होत विमुख, बरसे दृग नीरा ॥[1]

मथुरा में समय-समय पर कृष्ण को ब्रजवासियों की सुधि आती रहती है। जरासंध के आक्रमण के समय जब उन्हें मथुरा छोड़नी पड़ी तब वह उद्धव के हाथ अपना कुशल-समाचार गोकुल को भेजना न भूले—

गयेऊँ न कबहुँ, सुधिहु नहिं लीन्ही,
लहि मैं प्रीति व्यथा बहु दीन्हीं।
बसिहौ दूरि द्वारका जायी,
तजिहै तनु ब्रजजन बिलखायी।
उद्धव सुहृदहिं श्याम बोलवा,
जाहू अबहि ब्रज, वचन सुनावा।
जानि सुमति सब कहेउ ब्रजेशू,
चलेउ सचिव ले प्रेम-संदेशू ॥[2]

'कृष्णायन' की गोपिकाएँ कृष्ण को प्रियतम के रूप में स्मरण नही करतीं, जाति के संरक्षक के रूप में याद करती है।

जस पुरजन तस हम सब ब्रजजन,
श्याम भूप, हम दोउ प्रजाजन।
जन-रंजन वर राजन-धर्मा,
प्रजा-पपीड़न घोर अधर्मा ॥[3]

अतः उनके विषय में तो विरह-व्यथा का अवकाश ही नही रहता।

कवि का विश्वास है कि कृष्ण के गोकुल से जाने के पश्चात् भी यमुना के तट पर राधा और श्याम रूप का मिलन होता था। गोकुल में आने के दूसरे दिन प्रातःकाल जब उद्धव यमुना पर स्नान करने गए तो उन्हे वहाँ वंशी स्वर सुनाई दिया। सम्पूर्ण वातावरण उल्लासमय हो गया, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना विकसित हो गई, बन के प्रसून खिलने लगे और त्रिविध समीर बहने लगा। तभी उद्धव ने देखा कि मोर मुकुट-पीताम्बरधारी कृष्ण समक्ष ही वंशी बजा रहे हैं और एक नारी उनकी चरण वंदना कर रही है।

मोरमुकुट, पट पीत धृत, वनमाला अभिराम,
वादत वंशी धरि अधर, कोटि काम छबि श्याम।

---

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, मथुरा काण्ड, पद १, पृष्ठ ११९
२. वही, पद १६१, पृष्ठ २१३
३. वही, पद १७९, पृष्ठ २१४

पदतल लखि बहुरि कोउ वामा,
धरि सुमनांजलि करति प्रणामा।
लोचन चकित विलोकत शोभा,
भक्ति-प्रवाह हृदय मन लोभा।
भयउ अदृश्य दृश्य पल माहीं,
नहिं हरि कतहुँ, वाम कहुँ नाही॥[1]

नंद के घर जब उद्धव लौटकर आए तो उसी युवती को यशोदा के समीप देखकर चकित रह गए। यशोदा ने उनका परिचय युवती से यह कहकर कराया कि 'ये श्याम की सखि हैं।'

राधा का विरह वर्णन यहाँ भी कवि ने नही किया, केवल कृष्ण के प्रति उनके आकर्षण की अभिव्यक्ति लज्जा अनुभाव द्वारा कराई है—

श्याम सखी राधा यहै, कहेउ महरि मुसुकाय,
डरत मधुपुरहु जाहि हरि, मुरली लेति चौराय॥
गवनी राधा सुनत लजानी,
यशुमति प्रीति पुनीत बखानी॥[2]

मथुरा में पुनः आगमन पर उद्धव ने यमुना के वंशी तट की बात जब कृष्ण को बताई तब उन्होंने राधा से अपना एकत्व सिद्ध किया।

एकहि मै अरु राधिका, द्वैत भाव भव भ्रान्ति,
ब्रजजन समुझि रहस्य यह, लहिहै पुनि सुख शान्ति॥[3]

गीता काण्ड में सूर्यग्रहण के अवसर पर पुनः कृष्ण की ब्रजवासियों से भेंट होती है। राधा भी वहाँ उपस्थित है किन्तु वह सूर की विरहिणी राधा नहीं है, पूर्णकाम स्थितप्रज्ञा राधा है। उन्होने सचमुच ही कृष्ण से एकत्व की स्थिति प्राप्त कर ली है और इसीलिए वह प्रसन्न है। रुक्मिणी के शब्दों में राधा और कृष्ण का वियोग ही कभी नहीं हुआ—

इन कीन्हे निज वश यदुरायी,
चहहि जहाँ जब लेहि बोलायी।
प्रविशत श्रुतिपुट राधा नामा,
होत विमन सहसा घनश्यामा।
पावत जब तब हम हरि दर्शन,
बसत सतत इन संग मनमोहन।[4]

---

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, मथुरा काण्ड पद १८२, पृष्ठ २२५
२. वही, पद १८२ तथा १८३ की प्रथम पंक्ति, पृष्ठ २२६
३. वही, पद १८४, पृष्ठ २२७
४. वही, गीता कांड, पद ९४, पृष्ठ ५२५

यहाँ भी सूर की सी विरह-व्यथित राधा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। वह व्यथा को भूलकर पूर्ण रूप से कृष्णमय हो गई है। लोगों के कहने से वह कृष्ण की बाललीला को रंगमंच पर उपस्थित करती हैं।

राधा के कृष्ण में अनन्त विश्वास और राजा कृष्ण के अपनी बाल-संगिनी को सांसारिक रूप में अपनाने की हिचक को कवि ने बडी चतुराई से गीता काण्ड के एक पद में संकेत रूप से व्यक्त किया है। कृष्ण राधा के प्रति विश्वासघात के लिए स्वयं को भर्त्सना देते हैं—

लखत हरिहु सोचत मन माहीं,
मैं कृतकार्य प्रिया सम नाहीं।।[1]

कृष्णायन की राधाकृष्ण प्रणय गाथा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि ने उसमें अनेक मौलिक अनुभूतियों का समावेश कराया है। कृष्ण के अतिमानवीय रूप को मानकर एक ओर तो मथुरागमन से पहले ही रासलीला के समय भावी वियोग के लिए राधा को सान्त्वना दिलाई, दूसरी ओर यमुना तट पर उनके नित्य मिलन की कल्पना की। इसके फलस्वरूप एक तो कृष्ण के ऊपर से विश्वासघात के दोष के प्रक्षालन का प्रयत्न किया, दूसरी ओर राधा के ऐकान्तिक प्रेम की प्रतिष्ठा की रक्षा की।

कृष्ण में पूज्य बुद्धि होने के कारण यद्यपि कवि ने उनके दोष प्रक्षालन का भरसक प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी उसका बुद्धिवादी मस्तिष्क राधा पर किये गये अन्याय को न भूल सका और राधा की अपूर्व धैर्यमत्ता को देखकर कृष्ण को मन ही मन पश्चाताप करना पड़ा।[2]

राधा की वियोग व्यथा मौन होते हुए भी मार्मिक है। वह कृष्ण के वियोग में इसलिए नहीं तड़पती (कि कवि के शब्दों में यमुना तट पर उनका नित्य मिलन होता है)। यदि ऐसा था तो जाते समय मूर्च्छित होने की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः उसने अपनी व्यथा को ब्रजवासियों का मन बहलाने के लिए मन में ही छिपा लिया है क्योंकि वह जानती है कि उससी साधारण वर्ग की नारी को राजा कृष्ण स्वीकार न करेगा।

राधा के विरह के अतिरिक्त 'कृष्णायन' में उज्जयनी की राजकुमारी मित्रविन्दा के 'पूर्वराग' का सुन्दर वर्णन है। कृष्ण, वसुदेव की बहिन व मित्रविन्दा की माँ के साथ उज्जयनी आए थे वहीं राजकुमारी ने उन्हे प्रथम बार देखा—

लखेउ मित्रविन्दहु हरिहिं, रमे नयन असहाय,
गवनी उर धरि मूर्ति मधु, पितु ढिग कछुक लजाय।[3]

केवल लज्जा अनुभाव से राजकुमारी के मन के आकर्षक की सूचना बड़े सुष्ठु

---

१. श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, गीता काण्ड, पद ९६, पृष्ठ ५२६
२. वही
३. वही, मथुरा कांड, पद १०३, पृष्ठ १७८

रूप से दी गई है, यहाँ कवि उस आकर्षण के फल रूप उत्पन्न विरह का विवरण नहीं देता। उसके पश्चात् ही राजकुमारी मित्रविन्दा थोड़े दिन के लिए अपनी सखी रुक्मिणी के यहाँ चली जाती है।

मित्रबिन्दा की स्थिति अन्य पूर्वराग से व्यथित नायिकाओं से कुछ भिन्न है। माता-पिता, परिवार से उसे ताड़ना नहीं मिलती, स्वयं उसकी माँ यह चाहती है कि उसका विवाह कृष्ण से हो जाय। रानी पति से कहती है—

मधुपुर जस मैं हरिहिं निहारा, उपजेउ सहसा हृदय विचारा।
श्याम मित्रविन्दा छबि-खानी, विरचे विधि सयोग मन ठानी॥
दोहा—शिव गिरिजा, विभुसिन्धुजा, मन्मथ-रति अनुरूप,
कांचनमणिहु संयोग सम, यह सम्बन्ध अनूप॥[1]

मित्रविन्दा के पिता आधुनिक युग के सजग पिता की भाँति ही सजग हैं। पुत्री के मन की बात जाने बिना वह अपने-आप कुछ नहीं करना चाहते। वह रानी से स्पष्ट कह देते है कि मित्रविन्दा से पूछे बिना कृष्ण से विवाह का प्रस्ताव नहीं करेंगे—

पै जाने बिनु तनया-भावा,
उचित न करब हरिहिं प्रस्तावा।[2]

वृद्ध पिता को पुत्री के लिए वर खोजते समय पुत्रों की सम्मति भी अवश्य लेनी पड़ती है—

औरहु भय इक मम मन माहीं,
करहिं विरोध सुवन कहुँ नाहीं।[3]

कन्या के विवाह से सम्बन्धित इन कठिनाइयों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन 'कृष्णायन' के कवि ने किया है। आधुनिक युग से पहले युवक-युवती का परस्पर आकर्षण घर और परिवार से असम्पृक्त होकर चलता था, उसकी बात अधिक से अधिक सखियों तक सीमित रहती थी किन्तु कृष्णायन में स्वयं मित्रविन्दा की माता उससे उसके मन का हाल पूछने जाती है।

मित्रविन्दा का कृष्ण के प्रति आकर्षण रुक्मिणी के यहाँ जाने से और भी तीव्रतर हो गया। रुक्मिणी स्वयं कृष्ण पर आसक्त थीं। जब उन्हें पता चला कि कृष्ण सन्दीपनी गुरु के साथ उज्जयिनी आये हुए हैं तो मित्रविन्दा के विदा के दिन उन्होंने अपना प्रेम-संदेश उसके हाथ कहलवाया—

मम प्रयाण दिन नयनन वारी।
भाषी गिरा विदर्भ कुमारी—

---

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, मथुरा कांड, पद १०५, पृष्ठ १७९
२. वही, पद १०६

फिरहिं त्यागि गुरुकुल जब नाथा,
कहेउ सुनय मोरि सब गाथा ।।[1]

नारद से कृष्ण का गुणश्रवण सुनकर मित्रविन्दा उन पर पूर्ण आसक्त हो गई। रुक्मिणी का भी जब अपने जैसा हाल देखा तो वह धर्मसंकट में पड़ गई। उज्जयिनी लौट कर आई तो उसका यह हाल था—

लखी स्वजन सखिजन सुकुमारी,
अन्यमनस्क, मलीन, दुखारी।
मनहुँ अदृष्टपूर्व कोउ बामा,
दग्ध हृदय, उद्वेग प्रकामा।
क्षीण शरीर यष्टि शुच-भारा,
ग्रीष्म शुष्क जनु सुरसरि-धारा।
वदन-सरोज विवर्ण विशेषा,
श्रीहत प्रात मनहुँ राकेशा।
अन्तर्गूढ़ विषाद - घन, छादित हृदयाकाश,
भयी नष्ट सहसा मनहुँ, प्रणाधिक अभिलाष ।।[2]

कृशता, विवर्ण और उद्वेग दशाओं का अत्यन्त स्वाभाविक व सक्षिप्त वर्णन हुआ है। अतिशयोक्ति कहीं नहीं है। आगे 'अश्रु' और 'मूर्च्छा' का भी सुन्दर वर्णन है। रानी जब मित्रविन्दा के समीप उसका हाल पूछने गई तब—

पूछेउ वृत्त लेत मन थाहा,
बहेउ कुँवरि दृग सलिल-प्रवाहा।
वृन्त-छिन्न किसलय अनुहारी,
मूर्च्छित मातु अक सुकुमारी ।।[3]

नारी सुलभ लज्जा और सकोच मित्रविन्दा के स्वभाव की विभूति है। अपनी व्यथा को वह स्वयं में समेटे रहती है। माँ जब धीरे-धीरे उसके मन को स्नेह से कुरेदती है,तब अपने मन की बात वह उनसे कहती है—

मृदु बैननि जननी समुझावा,
क्रम क्रम लज्जावरण हटावा,
कही मित्रविन्दा सब गाथा।
जेहि विधि भवन लखे यदुनाथा।
जित-मनसिज हरि-छवि अभिरामा,
बसी अमिट जेहिविधि हृद्धामा।

---

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, पद १३७, पृष्ठ १९८
२. वही, पद १३४, पृष्ठ १९६-१९७
३. वही, पद १३५, पृष्ठ १९७

मिलिहैं कबहुँ मोहिं बनवारी,
गइउँ विदर्भ साध उर धारी।[1]

रुक्मिणी भी कृष्ण पर आसक्त है और दिन-रात उनका गुणकथन करती है उन्हें पक्षियों के द्वारा सन्देश भिजवाती है, इसका सकेत मित्रविन्दा करती है—

दोहा—निरखी सखि उत प्राण-प्रिय, रुक्मिणी छबि-गुण-धाम,
नारद मुख सुनि हरि सुयश, जपति दिवसनिशि नाम।
अर्पित हरि-पद तन-मन-प्राण,
पूजति हरिहि, धरति हरि ध्याना।
सुनि जन्मे कारा असुरारी,
तीर्थराज तेहि कहति कुमारी।
परसेउ हरि ब्रज निज पद रेणू,
गुनति गोप धनि, सेवति धेनू।[2]

तथा

दोहा—लखि गवनत खग वारि धर, पवनहु उत्तर ओर,
प्रेषति प्रेम संदेश सखि, हरि अनुरक्ति विभोर।[3]

प्रकृति के विभिन्न उपकरणों, पक्षी, बादल और पवन के हाथ अपनी व्यथा का सन्देश प्रिय के पास भिजवाने की पद्धति बहुत पुरानी है। कालिदास, जायसी और हरिऔध सबने ही ऐसे सन्देश विरहियों द्वारा कहलवाये हैं। मिश्रजी ने किसी एक के द्वारा सन्देश का विस्तृत विवरण न देकर सबका संकेत मात्र कर दिया है।

मित्रविन्दा अपने और सखि के दोनों के दुख से दुखी है। वह दोनों के एक ही व्यक्ति पर इस तरह आसक्त होने को भाग्य की विषमता समझती है, माँ से कहती है—

दोहा—प्रिय सखि-दुख मैं दुःखिता, सकी न कहि मुख 'नाहि'।
भयेउ भाग्य निर्णय विषम, अटल एक पल माहिं॥[4]

परम्परागत रूप से कृष्ण को सोलह सहस्र रानियों का स्वामी समझा जाता है, साथ ही कवि की उनके प्रति पूज्य बुद्धि भी है। अतः रुक्मिणी की व्यथा से मित्रविन्दा व्यथित है, उसे ईर्ष्या नहीं होती। उसके मन की यह प्रतिक्रिया प्रेम की स्वाभाविक गति के प्रतिकूल है। सम्भवतः वह सामन्ती नारी की पुरुष के प्रति स्वाभाविक दासता की सूचना देती है, जहाँ पुरुष के अनेक पत्नीत्व को नारी प्राकृतिक मानती है; माता ने भी पुत्री को यही समझाया—

---

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, पद १३५, पृष्ठ १९७
२. वही, पद १३५, पृष्ठ १९७
३. वही, पद १३६, पृष्ठ १९८
४. वही पद १३७, पृष्ठ १९९

दोहा—तुमहु सखी मम भजि गुणन, सकत पाय यदुनाथ
शशि एकहि निशि नलिनि दोउ, करत समान सनाथ।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता, है कि 'कृष्णायन' में मित्रविन्दा के पूर्वराग का रूप परम्परागत होने पर भी उसमें अनुभूति की कमी नहीं है। रुक्मिणी और मित्रविन्दा को सखी रूप में प्रस्तुत करके और मालव राजकुमारी को रुक्मिणी के यहाँ रहने के लिए भेजकर कवि ने उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की मौलिक अनुभूति का समावेश किया है। उसके परम्परागत विरह में रोना-झीखना नहीं है, सन्तुलित हृदय की वेदनापूर्ण अभिव्यक्ति है।

उज्जयिनी के राजा और रानी जब विवाह का प्रस्ताव कृष्ण के सन्मुख रखते हैं तो वह यह कहकर उस समय के लिए बात टाल देते है कि बड़े भाई से पहले वह विवाह नहीं करेंगे।[2] बाद में द्वारका काण्ड में कृष्ण उज्जयिनी नरेश की मृत्यु के पश्चात् मित्रविन्दा को 'स्वयंवर' में से हरण कर लाते हैं।

रुक्मिणी के पूर्वराग का वर्णन कवि ने मित्रविन्दा के शब्दों में कराया है :

परसेउ हरि बज्र निज पद रेणू
गुनति गोपधनि, सेवति धेनू।
नीरद कान्ति जानि वनमाली,
ऋतुपति पावस मानती आली।
विलसत सुनि हरि-तनु पीताम्बर
पहिरति पीत त्यागि नीलाम्बर।
जानि हरिहिं गुजा अनुरागी,
मुक्ताहार दिए सखि त्यागी।
हरि शिर चंद्रक सुनि सुकुमारी,
पाले शिखि उड़ाय शुक सारी।
जानि धरी मधुराधर श्यामा,
वादति वेणु बीन तजि बामा।
लखि गवनत खग, वारिधर पवनहु उत्तर ओर,
प्रेषति प्रेम संदेश सखि, हरि अनुरक्ति विभोर।[3]

गुणकथन, भ्रम और उन्माद की विरह दशाओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ मिलता है।

जरासंध के अत्याचार से पीड़ित कृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका चले जाते हैं और वहीं यदुवंश की नई राजधानी की स्थापना करते हैं। एक दिन कृष्ण उद्धव के साथ

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, पद १३८, पृष्ठ १९९
२. वही, पद १४२, पृष्ठ २००
३. वही, मथुरा काण्ड, पद १३६

उपवन में भ्रमण कर रहे थे। वहाँ उन्होंने एक ब्राह्मण को आते देखा। यह ब्राह्मण रुक्मिणी का सन्देश लाया था—

नाथ ! विदर्भ देश मम वासू,
नृप भीष्मक यश-शौर्य निवासू
रुक्मि भूप-सुत दारुण जनु फणि,
सुता भुवन-भामिनी-मणि रुक्मिणी।[1]

दोहा—कुमुद देह, पूर्णेन्दु मुख, कर पद उषा-विलास,
वेणि श्रेणि अलि, मधु अधर, शरद् चन्द्रिका हास।

सोरठा—नाथ विमल यश गान, सुनि नारद मुख पितु भवन,
धरति दिवस निशि ध्यान, अर्पित तन-मन प्रभु चरण।

ब्राह्मण ने यह भी बताया कि रुक्मि जरासंध का मित्र है। अतः कृष्ण से रुक्मिणी के विवाह के पक्ष में नहीं है परन्तु—

रुक्मिणिहू भीषण प्रण ठाना
वरहुँ हरिहिं, नतु त्यागहुँ प्राणा।[2]

बलराम और कृष्ण ने आपस में परामर्श किया कि रुक्मिणी के उद्धार के बहाने वह मथुरा छोड़कर भाग आने के अपयश का भी प्रक्षालन कर सकेंगे। अतः केवल रुक्मिणी के प्रेम के लिए ही नहीं, प्रत्युत् राजनीति से प्रेरित होकर भी कृष्ण ने विदर्भ की ओर प्रयाण किया। कृष्ण जब वहाँ पहुँचे तो शिशुपाल से रुक्मिणी के विवाह के सब साज उपस्थिति थे। वहीं पार्वती के मन्दिर के पास कृष्ण का उससे मिलन होता है। कृष्ण की उपस्थिति में आगतपतिका रुक्मिणी के उल्लास की अभिव्यक्ति कवि इन शब्दों में करता है—

लखत नृपति शत नयनन जानी,
हरि अनुरक्त कुमारि लजानी।
उत्तरीय निज विकल संभारी,
भाल अलक कर वाम निवारी।[3]

कृष्ण के आने से पूर्व रुक्मिणी की उद्विग्नता का वर्णन कवि कर सकता था, परन्तु उसने नहीं किया।

'कृष्णायन' के विरह-भाव सम्बन्धीइन प्रसंगों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसके परम्परागत रूप को ही कवि ने लिया है। कृष्ण के प्रति उसकी अत्यंत पूज्य बुद्धि है। वह उनके जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं छोड़ना चाहता। अतः एक ओर तो राजकार्य में उलझे हुए कृष्ण के पास विरह-व्यथा के लिए अवकाश ही नहीं है,

१. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, द्वारका काण्ड, पद ७, पृष्ठ २३७
२. वही, पद ८, पृष्ठ २३७
३. वही, पद २२, पृष्ठ २४५

दूसरी ओर उनसे सम्बन्धित मित्रविन्दा, राधा और रुक्मिणी के हृदय की गहराई के विवरण तक भी कवि ने पहुँचना नहीं चाहा है फलतः अनुभूति के यत्र-तत्र संकेत मिलने पर भी अधिकांश विरह-वर्णन इतिवृत्तात्मक है। अनुभूति का संकेत जहाँ है वहाँ मार्मिक है।

हरदयालुसिंह

रावण महाकाव्य—'रावण महाकाव्य' दैत्यकुल के सुप्रसिद्ध महान् राजा रावण के जीवन चरित्र को लेकर लिखा गया है। आर्यों की दृष्टि अपने आदर्श चरितों के प्रति संकुचित थी अतः उन्होंने विपक्षियों के जीवन में सौन्दर्य को नहीं देखा। किन्तु आज के कवि ने निष्पक्ष होकर उनके जीवन में भी प्रवेश किया है और पता लगाया है कि वह केवल मनुष्य-मांसाहारी बर्बर जीव ही नहीं थे, उनके जीवन में भी मानव-जैसे सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम व पीड़ा का स्रोत बहा करता था।

'रावण महाकाव्य' में मेघनाद का सुलोचना के प्रति विरह वर्णित है। पातालपुरी में सुलोचना की भेंट मेघनाद से हुई थी। वहाँ सरोवर में नक्र ने सुलोचना के पैर को पकड़ लिया और मेघनाद ने उसे बचाया था। वहीं इन दोनों का गंधर्व विवाह हुआ। सुलोचना को पातालपुरी में छोड़कर मेघनाद जब लंका को लौटा तो विरह संतप्त रहने लगा। रावण ने राजवैद्य को बुलाकर मेघनाद की नाड़ी दिखाई, चतुर सुखेण ने समझ लिया कि राजकुमार को मदन का रोग लगा है। समुद्र के तट पर अत्यन्त ऐश्वर्यशाली एक महल बनवा दिया गया और राजकुमार वहीं रहने लगा।

रावण-काव्य मे मेघनाद का विरह परम्परागत संस्कृत नाटकों की पद्धति का है। चित्रलेखन, उन्माद, प्रलाप आदि स्थितियाँ उन्हीं के अनुकूल है। विरह में प्रिया का चित्र-लेखन करते हुए मेघनाद की उन्माद व अश्रु दशाओं का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है—

रंग औ तूलिका ले कर मैं,
पटिया पै रहै कबौ चित्र बनावत।
अंकित कै तिय को मनुहारि,
बड़े खन लौं रहे अंक लगावत।
बोलै नहीं तबै भामिनी जानिकै,
वाकौ रहै परि पायँ मनावत।
आँखिन में अँसुवा उमड़े,
तेहि राजकुमार निहारि न पावत।[1]

---

१. श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवाँ सर्ग, पद २, पृष्ठ १०५

कवि उनकी कृशता का वर्णन करते हुए कहता है—

नील-सरोज सौ कोमल गात,
गयौ घननाद कौ यों कुम्हिलाई।
जाड़ेन को रतियानि से जैसे,
तुषार सौं पंकज जात सुखाई॥[1]

मेघनाद के मन का उद्वेग देखिए—

डारि दियो पट भूषण कौ हूँ,
कहूँ सरचाप को दीन्हौ विहाई।
बाल सखा लखि ताकि, दसा,
लियौ आँगुरी दाँतन माँहि दबाई॥[1]

एक रात्रि चन्द्रमा के उदित होने पर मेघनाद के मन में विचार आया कि यह अवश्य ही पातालपुरी जाएगा। अतः चन्द्रमा के हाथ उसने संदेश कहलाने का निश्चय किया। चन्द्रमा से राजकुमार ने विनती की—

वाम विलोचन हौ ही विराट के,
औ सिव सीस पै वास तुम्हारौ।
है गति मंद दिवाकर की जहाँ,
रावरौ होत तहाँ उजियारौ॥
लोकनि कौ उपकारी बड़ौ गुनि
आपुही कौ यहि जोग विचारौ॥
मो पै दया करि प्रान प्रिये,
पहुँचाय हौ दीजै संदेस हमारौ॥[2]

विरह में प्राकृतिक उपकरणों को दूत बनाकर भेजने की पद्धति बहुत पुरानी है। कालिदास के मेघदूत के पश्चात् सूर और नन्ददास ने भ्रमर को दूत बनाया। सत्यनारायण कविरत्न का भंवरगीत भी उसी श्रेणी का हुआ। हरिऔधजी की राधा ने 'पवन' को कृष्ण के पास दूत बनाकर भेजा। आधुनिक काल में 'अनुप शर्मा' के सिद्धार्थ में मराल दूत बना और हरदयालुसिंह के दैत्यवश में हंस। चन्द्रदूत भी उसी पद्धति का है।

विरही मेघनाद को चन्द्रमा को दूत बनाकर भेजते समय बराबर यह ध्यान रहता है कि उसकी किरणें राह में विरहियों को दुख देंगी—

पै विष वींधी मरीची लखै,
गति हाय वियोगिनी की कहा ह्वै हैं।

---

१. श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवां सर्ग, पद ३, पृष्ठ १०५
२. वही; पद २५

ओढ़नी स्याम निसा-तिय की,
घबराय के भागन में फटि जैहै ।।[1]

कालिदास के यक्ष की भाँति मेघनाद भी चन्द्रमा से भारत की सुषमा देखकर आगे बढ़ने का आग्रह करता है—

नाहर कौ रव घोर सुने,
जुपै रावरे स्यन्दन के मृग भागे ।
रोकेहुते केहु भाँति रुके नहिं,
हीतल में यों महाभय पागे ।।
पीट पै दे थपकी कर सौं
पुचकारियो हौलै सँभारि के बागे ।
दंडक कानन मंजुल दृश्य
निहारबै कौ जेहितै अनुरागे ।।[2]

उसमें अपने रूप का गर्व है । 'यक्षों की कन्याएँ कैलाश पर मेरी भक्ति के भाव से गिरिजा के गले में हार पहनाती होंगी और अनुकूल वरदान पाकर स्वयं को धन्य समझती होंगी ।'

जच्छ तिया तहाँ हेम सरोज के,
मालनि को गुहै ल्यावती ह्वै है ।
औ मेरी भक्ति के भावन सौ,
गिरिजा के गरे पहनावती ह्वै है ।।
सैल-सुता पद पंकज-पुजि,
अखड सुहाग को पावती ह्वै है ।
या विधि सों सिगरी युवती,
निज जीवन धन्य बनावती ह्वै हैं ।।[3]

वह सुलोचना के लिए संदेश कहता है—

राखत अपने प्राननि कौं,
हिय लाखन सौं अभिलाषनि धारी ।
थोरेहि मासनि को अब और,
बिताय दै माँग भरी सुकुमारी ।।
लंक मैं लैहैं तुम्हैं बुलवाय,
सुनै सबै हाल जबै महतारी ।

---

१. श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवाँ सर्ग, पद ३१
२. वही, पद ३५
३. वही, पद ३९

खोय के दुःख के द्यौसनि कौ,
फिरि हैं फिरि सौं वह भाग्य हमारी ॥[1]

मेघनाद सुलोचना से केवल एक बार मिला और उसके रूप पर आसक्त हो गया। गंधर्व-विवाह तथा मिलन के प्रथम चिह्न चुम्बन परिरम्भण आदि भी हुए किन्तु मेघनाद अधिक दिन उसके समीप नहीं रहा, लका को लौट आया। लंका में वह अपने मन की बात किसी से नहीं कहता। अतः 'प्रवास' होते हुए भी रावण महाकाव्य में मेघनाद का विरह रूप दर्शन से उत्पन्न पूर्वराग के अधिक निकट हो गया है और वह पूर्वराग है अथवा प्रवास इस विषय में सन्देह-सा होने लगता है।

रावण महाकाव्य में दूसरा विरह प्रसंग रावण की स्त्री धन्यमालिनी का है। रावण की मृत्यु के पश्चात् धन्यमालिनी का विरह शृगार का आशापूर्ण 'विप्रलम्भ' न होकर निराशा संसिक्त शोक स्थायी भाव का 'करुण' है। किन्तु रावण की स्मृति वह भूलती नहीं, वात्सल्य का पोषण करके प्रतिशोध की जड़े दृढ़तर बनाती है। विभीषण से बदला लेने के लिए वह अरिमर्दन को ललकारती है।

रावण के वियोग में दिन बिताती हुई धन्यमालिनी को देखिए—

कहत रही इक रुचिर कहानी।
सुत नयननि निंदिया नियरानी॥
मयनन्दिनी की आँखि न लागी।
सोचत ही सिगरी निसि जागी॥
पति-सुत-गुन सुमिरन बहु भाँती।
रोवति बाल रही सब राती॥
या विधि सौं अँसुवा दृग् ढारौ।
भीजि गयौ पट अंचल सारौ॥[2]

धन्यमालिनी अत्यन्त आत्माभिमानिनी है। उसकी विरह व्यथा अत्यन्त मार्मिक है। मृतक पति को लौटाया नहीं जा सकता किन्तु मातृभूमि जो षड्यन्त्रकारियों ने छीन ली; पति का वह गौरव तो लौटाया जा सकता है। धन्यमालिनी उसी आशा के सहारे जी रही थी। अरिमर्दन ने जब रोने का कारण उससे पूछा तब उसने बताया—

तुव पितु हुतौ लंक गढ स्वामी।
रह्यौ सुरेश जासु अनुगामी॥
.....
ताकौ एक विभीषण भाई।
उपज्यो वंस-अनल-दुखदाई॥

---

१. श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवां सर्ग, पद ४५
२. वही, सोलहवां सर्ग, पद १४

रघुवंसिन संग प्रीति दृढ़ाई।
निज भाइन डारचो मरवाई॥[1]

माता की प्रेरणा से ही अरिमर्दन लंका को अत्याचारी विभीषण के शासन से मुक्त करता है, कुश से उसकी संधि हो जाती है।

धन्यमालिनी का वियोग वात्सल्य के सहारे आशा प्रेरित बनता है।

रामानन्द तिवारी शास्त्री

पार्वती—'कुमार कार्तिकेय' के जन्म तथा मदन के दग्ध होने की कथा को लेकर पार्वती काव्य लिखा गया है। देव-दानव युद्ध में तारकासुर जब देवों को अत्यन्त त्रास पहुँचाने लगा, तब ब्रह्मा ने उन्हें समझाया कि शिव और पार्वती के संयोग से उत्पन्न पुत्र ही असुरों का संहार कर सकता है।

पार्वती हिमालय की पुत्री थी। उन दिनों योगीश्वर शिव कैलाश पर घोर तपस्या में मग्न थे। उनकी तपस्या का यशगान सुनकर अनेक व्यक्ति उनके दर्शनार्थ आते थे। एक दिन हिमालय भी अपनी कन्या के साथ आए और उन्होंने शिव से प्रार्थना की—

पुण्य दर्शन से शिवंकर आपके अभिराम,
हुए आज कृतार्थ हम चिर पूर्ण-काम प्रकाम,
आपके दुर्लभ दरश का एक ही फल नाथ!
याच्य, दर्शन और सेवा नित सुता के साथ।[2]

योगीश्वर शिव भी अन्य योगियों की भाँति प्रकृति से दूर रहकर प्रकृति के बन्धनों को नष्ट करने का प्रयास कर रहे थे। प्रकृति के प्रतिरूप नारी को उन्होंने अपने तपस्या के लिए बाधा रूप स्वीकार किया—

भूप से बोले सदाशिव, नृप प्रकृति से दूर,
ध्यान तप से कर प्रकृति के बन्धनों को चूर,
आत्म-स्थिति की सिद्धि का कुछ कर रहा अभ्यास
है न समुचित प्रकृति को देना यहाँ अवकाश।[3]

परम सुकुमारी उचित इसको न यह आयास,
उचित योगी को न रखना प्रकृति को निज पास
योग्य इसके आपके कमनीय कंचन-धाम,
उचित आत्म-नियोग में मुझको प्रकृति उपराम।

---

१. श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सोलहवाँ सर्ग, पद १५
२. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, तीसरा सर्ग, पृष्ठ ८०
३. वही, पृष्ठ ८०

प्रार्थना इससे हमारी यही पर्वतराज !
हो गए कृत-कृत्य इसके दरस से हम आज,
छोड़ इस तन्वंगिनी को आप अपने गेह,
नित्य दर्शन को पधारें नृपति निस्संदेह।[1]

पार्वती अत्यन्त विदुषी और शास्त्रज्ञाता थीं, तपस्या में प्रकृति का और फलतः नारी का यह तिरस्कार उन्हें अच्छा नहीं लगा। प्रार्थना के रूपमें शिव के तर्क को चुनौती-सी देते हुए उन्होंने कहा—

पर कुतूहल मात्र मेरा क्षमा करना आर्य !
है न क्या योगीश्वरों को भी प्रकृति अनिवार्य ?
देव कण कण में प्रवाहित है प्रकृति के स्रोत,
विश्व में सर्वत्र स्वामिन् ! प्रकृति ओत-प्रोत।
आपका यह श्रवण-दर्शन, वचन का व्यवहार,
नाथ ! सुकुमारी प्रकृति का ही रुचिकर व्यापार
आपके ये तप, नियम, व्रत धारणा औ' ध्यान
है प्रकृति के मार्ग से ही आत्म अनुसन्धान।[2]

अतः तिवारीजी की 'पार्वती' नारद के वचन सुनकर परम्परागत पार्वती की भाँति ध्यानावस्थित शिव के सन्मुख तपस्या करना प्रारम्भ नहीं करती प्रत्युत् उनके समीप रहने की स्वीकृति स्वयं अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त करती है। शिव पार्वती के तर्क से निरुत्तर हो जाते हैं और अपनी परिचर्या के लिए उनका समीप रहना स्वीकार कर लेते हैं। तब पिता की आज्ञा लेकर वह सेवा-रूप घोर तप का प्रारम्भ कर देती है। इस प्रकार सेवा व्रत में दीक्षित पार्वती का चित्र कवि ने ऐसा खींचा है—

भाल का शशि हरण करता तीव्र तप का स्वेद,
ध्यान-दर्शन देवता का दूर करता खेद,
नियम-विधि-क्रम काल का हरता सुदुर्वह भार
धैर्य बनता हृदय का व्रत पूर्ण शीलाचार।[3]

शिव और पार्वती को अपनी-अपनी तपस्या में निरन्तर संलग्न देखकर देवता उद्विग्न हो उठे। इन्द्र ने अपने मित्र मदन को उनकी तपस्या भग्न करने के लिए भेजा। एक दिन शिव जब पार्वती की पूजा का हार ग्रहण कर रहे थे तब—

अवसर जान उसी क्षण करके लक्ष्य शम्भु के तनु को
धर सम्मोहन बाण काम ने खींचा कुसुमित धनु को।

---

१. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, तीसरा सर्ग, पृष्ठ ८०
२. वही, पृष्ठ ८१
३. वही, पृष्ठ ८४

चन्द्रोदय आरम्भ काल में आचंचल सागर-से,
होकर अल्प अधीर प्रभावित किंचित अविदित स्मर से
उत्सुक लोचन खोल तरी-से चंचल छवि सागर में
हुए प्रवाहित ईश एक पल अद्भुत रूप प्रसर में।[1]

काम से आन्दोलित शिव के हृदयगत भाव जब नेत्रों में छलक उठे तो वह पार्वती से भी छिपे न रह सके और उन्होंने एक अभूतपूर्व भाव का अनुभव किया—

पुलकित एक अपूर्व भाव से सहसा शैल कुमारी,
कर संकुचित चारू अंगों को लज्जा से सुकुमारी
मन्द वायु से साचीकृत-सी देहलता कम्पित सी,
ब्रीड़ा से विभ्रान्त नयन से खड़ी रही विस्मित सी।[2]

प्रेम-भाव से उत्पन्न लज्जा, वेपथु, ब्रीड़ा और विस्मय के अनुभावों का वर्णन कवि ने अत्यन्त स्वाभाविकता से किया है। पूर्वराग की तुल्यानुराग पीड़ा की अनुभूति इसी स्थल से शिव और पार्वती में प्रतिष्ठित होती है; यद्यपि शिव ने उसे अपने मन की दुर्बलता माना और मदन को भस्म करके भी वे इस पाप का शमन करने के हेतु घोर तपस्या को अन्यत्र चले गए।

शिव के चले जाने के पश्चात् निराश पार्वती घर को लौट आई। इस 'पूर्वराग' की पीड़ा में केवल काम वेदना नहीं थी प्रत्युत कुसुमसायक की विवश पत्नी के लिए समवेदना भी थी। शिव उनके रूप सौन्दर्य से प्रभावित होकर भी उसका तिरस्कार करके चले गए थे, उस विरक्ति की कचोट से पार्वती अत्यन्त दुःखी हो गई—

स्मरण कर शिव का क्षणिक वह रागमय दृक्पात,
किन्तु चक्षु तृतीय से वह मदन का तनु-घात,
औ' उपेक्षा-पूर्ण तप के हेतु दूर प्रयाण
कर रहा था सतत आकुल पार्वती के प्राण।
स्मरण कर रति का करुणतम स्नेहपूर्ण विलाप,
हो रहा था पार्वती के चित्त को सन्ताप
देवताओं का स्मरण कर वदन दीन मलीन,
पार्वती रहती निरन्तर मौन चिन्ता-लीन।
और अपने रूप-रति की विफलता कर ध्यान,
नित्य करती रूप का निन्दा सहित बहुमान;
नारियों के रूप का फल प्रेम-पूर्ण सुहाग।
मरण से बढ़कर दयित का त्याग-पूर्ण विराग,

---

१. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, पाँचवाँ सर्ग, पृष्ठ १२३
२. वही, पृष्ठ १२३

जागते सोते सदा ही वह करुण इतिहास,
पार्वती के चित्त को रखता अतीव उदास।[1]

पार्वती की विरह-वेदना अत्यन्त संयमित है, उसका उपचार करने के लिए सखियों को उशीर, उबटन की आवश्यकता नहीं पड़ी, चन्दन मृगमदलेपन की भी नहीं। उन्होंने न हृदय की ज्वलन का वर्णन किया, न गले की माला कुम्हलाई और न ही सखियों को गीले वस्त्र ले लेकर निकट जाना पडा—

किन्तु पर्वतराज की कन्या तरुण अभिजात
शान्ति और गम्भीरता से थी सदा अवदात
पूछती सखियाँ कभी थीं यदि हृदय की बात,
स्नेह से धीरज बँधाती थी कभी यदि मात,
धैर्य औ' आशा सहित कर मधुर वार्तालाप
भव्य तपःप्रसंग से थी छिपाती निज ताप।[2]

पूर्वराग की पीड़ा का यह दिग्दर्शन अभूतपूर्व है। आधुनिक युग से पहले पार्वती जैसी संयमिता नायिकाएँ तुलसी की सीता और सूर की राधा थीं। सीता को तो पुष्प-वाटिका में राम के दर्शन के पश्चात् विरहानुभूति का अधिक अवकाश न था क्योंकि दूसरे दिन ही स्वयंवर था। राधा ने नेत्रों के पराये हो जाने पर बहुतेरे हाथ-पाँव पटके, संगी-साथी, घर-परिवार सब छोड़ दिए और यहाँ तिवारीजी की पार्वती है जो सखियों के पूछने पर, माँ के सान्त्वना देने पर हृदय की बात बड़ी कुशलता से छिपा लेती हैं।

नारद ने जब हिमाचल से कहा कि शिव तप से ही साध्य है तब पार्वती ने तपस्या करने की मन में ठान ली—

माँ न तप को छोड़ मुझको मार्ग कोई और,
विश्व ने तप साधनों का है सदा सिरमौर,
निखरती तप से हृदय की निभृत मातः भक्ति,
प्राप्त होती सिद्धि की निर्बाध धारण शक्ति।[3]

कवि ने पार्वती की तपस्या का विस्तृत वर्णन किया है। उस सुकुमार वय में अनन्त रूप और गुणों से समन्वित पार्वती को तपस्या करते देख अप्सराएँ चकित रह जाती थीं—

अप्सराएँ पार्वती का देख तप और शील,
मन्त्रणा आश्चर्य से करतीं सुदूर सलील,
'अमर यौवन का अनर्गल औ' अखण्ड विलास,
भ्रान्ति है क्या? सत्य केवल तप नियम उपवास!'[4]

१-२. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, छठा सर्ग, पृष्ठ १२९
३. वही, पृष्ठ १३१
४. वही, पृष्ठ १३५

वर्षा ऋतु के आगमन पर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उटज का निर्माण करने को बाध्य होते थे किन्तु ध्यानावस्थित पार्वती को कोई सुधि न थी—

सिद्ध ऋषि, मुनि पूर्व से ही कर उटज निर्माण,
विवश रक्षित वास करते, त्याग चरण प्रयाण,
कर अनावृत शिला तल पर शैल बाला वास,
कर रहीं तप से व्यतीत अपूर्व चातुर्मास।[1]

एक स्थल पर ध्यानावस्थित पार्वती का कवि ने अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा है। 'शरद राका में एकान्त शिला पर तपस्या करती हुई पार्वती गेरुए वस्त्रों में ऐसी प्रतीत होती थीं जैसे राका की पलकों में उषा का स्वप्न जगा हो।'[2] चाँदनी रात्रि के धूमिल उजियाले में गेरुए वस्त्रों से आवृत पार्वती की यह उपमा अनुपम है।

जो पार्वती आँधी-पानी से भी विचलित न होती थीं, वह रात्रि के निर्जन में सरिता के दोनों कूलों पर स्थित चक्रवाक् युग्म के करुण क्रन्दन से व्यथित हो उठती थीं। विरहानुभूति के इस सूक्ष्म तथ्य की पकड़ कवि ने अत्यन्त सफलता से की है कि 'घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय'—

चक्रवाक् मिथुन वियोगी सरित कूल समान,
परस्पर दोनों पृथक् औ' उभय आकुल-प्राण,
करुण क्रन्दन से विनीरव निशा में ध्रुव शान्त,
भंग करते पार्वती का ध्यान औ' एकान्त।[3]

ध्यान के इस प्रकार भंग होने के पश्चात् मन की क्या दशा होती थी, इसका तनिक संकेत भी कवि कर देता तो अनुभूति अत्यन्त मार्मिक हो जाती किन्तु तपस्या के महत्त्व ने ऐसा नहीं होने दिया। इसके आगे ही पार्वती मन्त्र जाप करती दिखाई पड़ने लगती हैं।

पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न शिव उनकी परीक्षा लेने आते हैं और जब वह उसमें उत्तीर्ण ठहरती हैं तो स्वयं को उनका चिर-दास घोषित कर देते हैं। पार्वती की सखी से यह जानने के पश्चात् कि वह शिव के लिए तपस्या कर रही हैं, वटु रूप शिव कहते हैं।

रूप-कुल-शीला कहाँ नववयवती तुम गिरि कुमारी,
स्थाणु वृद्ध अमंगलाश्रय कहाँ हर अहिशूलधारी,
असद् ईप्सित से निर्वर्तित हो, करो कल्याण अपना,
योग्य वर से सफल होता मधुर यौवन पूर्ण सपना।[4]

---

१. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, छठा सर्ग, पृष्ठ १३७
२. वही, पृष्ठ १३७
३. वही, पृष्ठ १३७
४. वही, सातवाँ सर्ग, पृष्ठ १६४

तो पार्वती अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है—

सुन वटु के कटु वचन कोप से हुए अधर आकम्पित,
औ' उमा की भ्रू लतिकाएँ सहसा हुई विकुंचित
कर तिरछे अपांग में किंचित लोहित युगल नयन को,
हुई तापसी पर्वत कन्या वटु से विवश वचन को।[1]

× × ×

यद्यपि हो श्रुति शास्त्र परायण द्विज। तुम पूर्ण विपश्चित,
परमेश्वर का रूप तत्वतः नहीं जानते निश्चित
इसीलिए हर की निन्दा युत तत्पर हुए वचन में,
मन्द सदा ईर्ष्या करते हैं महाचरित से मन में।

× × ×

अथवा व्यर्थ विवाद सुने हैं तुमने उनमें जैसे
दोष अनन्त सभी वे उनमें चाहे हों भी वैसे,
एक भाव से हुआ उन्हीं में संस्थित मानस मेरा,
शिव में ही बन गया सनातन मेरा प्राण बसेरा।[2]

बटु फिर अधिक तर्क के लिए जब मुख खोलने लगता है तो अत्यन्त क्रुद्ध पार्वती वहाँ से चलने को स्वयं तत्पर हो जाती हैं—

'अथवा मैं ही चलूँ यहाँ से' कह चल दी गिरि बाला।

उसी समय उन्होंने बटु में शिव के वास्तविक रूप के दर्शन किये और महेश ने प्रसन्न हो उन्हें पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया।

'पार्वती' काव्य में पार्वती के इस पूर्वराग के विषय मे कहा जा सकता है कि कवि ने परम्परित कथा में भी विरहानुभूति की नवीन पद्धति खोजने की चेष्टा की है। विरहाकुल पार्वती अत्यन्त संयत और गम्भीर हैं। वह अत्यन्त विदुषी है और संवेदनशीला भी। एक ओर वह अपने मन की व्यथा को माता और सखियों के सन्मुख व्यक्त नहीं करतीं दूसरी ओर रति की पीड़ा और चक्रवाक् युग्म के क्रन्दन से अस्थिर हो जाती हैं। पार्वती के हृदय के भावुक स्थल स्थान-स्थान पर कवि ने देखे हैं किन्तु उनमें वह रमा नहीं, तपस्या के महत्त्व की आँधी ने उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया। यदि इन दोनों के उचित अनुपात का ध्यान रखा जाता तो 'पार्वती' का विरहवर्णन अधिक मार्मिक हो सकता था। अब कहीं एक पद में वह विरहानुभूति मिलती है तो पृष्ठों तक लुप्त हुई रहती है। फलतः वह अनुभूति उतनी प्रभावास्पद नहीं बन पाती।

---

१. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, सातवाँ सर्ग, पृष्ठ १६५
२. वही, पृष्ठ १६५

गुरुभक्तसिंह

नूरजहाँ—गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' में विरह का सबसे मार्मिक दिग्दर्शन अनारकली की वियोग वेदना में मिलता है। अनारकली सलीम की प्रेयसी थी किन्तु स्वयं अकबर उसे अपने अन्तःपुर की रानी बनाना चाहता था। इसी से एक बार उसे सलीम के साथ प्रणय क्रीड़ाएँ करते देखकर अकबर क्रोधित हो गया और उसको प्राणदण्ड की आज्ञा दी। जिस दिन अनारकली को प्राणदण्ड मिलने वाला था उसके पहले दिन उसकी मानसिक स्थिति क्या थी, इसका सुन्दर वर्णन कवि ने किया है।

अनारकली को जीवन की आशा न थी, 'मरण' मिलन के मार्ग में विकराल रूप से खड़ा था फिर भी वह प्रिय के दर्शन को आतुर थी—

उस मेरे मृत्यु समय में जब लोहे से हूँ जकड़ी।
जल्लादों ने नंगी कर तलवारें जब हों पकड़ीं ॥
शोणित पीने को प्यासी करवालों की छाया में।
यह अमर जीव हँसता हो इस मिट्टी की काया में॥
जब जनता मूक खड़ी हो चिंतित सी दाएं बाएं।
तब क्षणभर को करुणामय वह जीवन-धन आ जाएँ ॥[1]

वह उस दर्शन को अन्तिम चिरमिलन का प्रतिरूप मानती है। जब उसका स्वतंत्र पार्थिव अस्तित्व विलय हो जाएगा और सलीम में ही वह एकाकार हो जाएगी—

जब नहीं कामना कोई मुख-शान्ति भंग करती हो।
जब सागर से मिलने को सरि अन्तिम पग धरती हो॥[2]

मृत्यु के उन क्षणों को वह सरिता के समुद्र से मिलने के अन्तिम पग के समान मानती है। उस क्षण की यह उपमा परिस्थिति की अभिव्यंजना में जैसी समर्थ हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

अनारकली की विरह-वेदना में आत्म-चिन्तन की मार्मिकता इन्हीं पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है।

'प्रवत्स्यपतिका' के 'प्रवास' के 'अभाव की अशंका' के समान ही यह 'मरण' की आशंका की वियोग वेदना है और करुण विरह का ही रूप है। 'नूरजहाँ' के प्रबन्ध प्रवाह की एकसूत्रता में विषयान्तर होते हुए भी अनारकली का विरह प्रसंग स्वयं में बहुत सुन्दर है। अकबर अनारकली को प्राणदण्ड नहीं देता, निर्वासित करता है। आखेटक के हेतु बन में गए सलीम से भटकती हुई अनारकली की भेंट होती है और उनके अंक में विष खाकर वह प्राण त्याग करती है। इसी को चिर मिलन का प्रतीक मानती हुई कहती है—

'नहीं वासना है विलास की प्रणय मिला दर्शन पाया'[3]

---

१. श्री गुरुभक्तसिंह—नूरजहाँ, चौथा सर्ग, पृष्ठ २९
२. वही, पृष्ठ २९
३. वही, पाँचवाँ सर्ग, पृष्ठ ४२

'नूरजहाँ' में मेहर और सलीम के विरह में कोई विशिष्ट विशेषता नहीं अतः उसका विवरण और विवेचन यहाँ नहीं किया गया।

विरह अथवा विरहाभास

काव्यशास्त्रियों ने रति भाव के 'नायक-नायिका अन्यतर मात्र विषयत्व' और 'गुरुजन गतत्व' में शृंगाराभास माना है।[1] शृंगार नहीं। साथ ही उन्होंने कहा कि अनौचित्य की कसौटी वही है जहाँ सहृदय वैसा अनुभव करे। 'नायकनायिका अन्यतरमात्र विषयत्व' का विवेचन निबन्ध के प्रथम अध्याय में करते हुए हमने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वहाँ भी रति का उज्ज्वल रूप है आभास नहीं क्योंकि प्रतिदान के अभाव में एकनिष्ठता की उत्कटता और तीव्रतर हो जाती है।

'पंचवटी' की शूर्पणखा की लक्ष्मण के प्रति प्रणय-याचना भी शृंगाराभास न रह जाती यदि तत्काल ही लक्ष्मण को छोड़कर वह राम के सम्मुख स्वयं को पत्नी रूप में स्वीकृत करने का प्रस्ताव न रखती। उसके इस कृत्य से उसका व्यभिचारी रूप उभर उठता है और प्रेम के उज्ज्वल भाव की तन्मयता को आघात पहुँचता है।

पंचवटी के प्रणय याचना काण्ड में गुप्तजी ने प्रारम्भ में शूर्पणखा की विवश स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। लक्ष्मण से प्रेम का प्रतिदान न पाकर शूर्पणखा कहती है—

तुम कह सकते हो कि चन्द्र का
कौन दोष जो ठगा चकोर
किन्तु कलाधर ने डाला था
किरण जाल क्यों उसकी ओर?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो
जलता कैसे कूद पतंग,
वाद्य मुग्ध करके ही फिर क्या
व्याध पकड़ता नहीं कुरंग?
लेकर इतना रूप अहो तुम दीख पड़े क्योंकि मुझे छली?[2]

युवा बलिष्ठ पुरुष को देखकर लुभा जाना असुर कन्याओं का स्वभाव कहा गया है। गुप्तजी की 'हिडिम्बा' भी ऐसे ही भीम पर लुभा गई थी, किन्तु वहाँ अनौचित्य न था क्योंकि वह प्रेम अन्त तक स्थिर रहा। प्रेम के प्रतिदान के अभाव में भी यदि शूर्पणखा का भाव लक्ष्मण तक स्थिर रहता तब चाहे प्रतिहिंसा की भावना से सीताहरण और राम-रावण युद्ध होता भी तो भी वह विरह के उज्ज्वल व प्रतिष्ठित पद की एक निम्नतर कोटि को प्राप्त होता। क्योंकि प्रतिदान के अभाव की प्रतिक्रिया मनोविज्ञान में कभी-

---

१. शृंगार का शास्त्रीय विवेचन (प्रथम अध्याय)
२. पंचवटी, पृष्ठ ३४

कभी परपीड़न (sadism) को मनोवृत्ति में देखी गई है।[1] शूर्पणखा कुछ क्षणों बाद ही जब राम से प्रणय की भीख माँगने लगती है तो उसकी लक्ष्मण के प्रति याचना के शब्द हास्यास्पद लगने लगते है। वे विरह की मधुरवेदना के परिचायक न बनकर मायाविनी की वाक्चातुरी बन जाते हैं, उन्हें हम 'विरहाभास' कहेंगे।

'गुरुजनगतत्व' की विपरीत स्थिति सोहनलाल द्विवेदी के 'कुणाल' में मिलती है। वृद्ध अशोक की तरुणा पत्नी तिष्यरक्षिता जब अपने वात्सल्य के पात्र पुत्र 'कुणाल' पर आकृष्ट होती है तो परिस्थिति अत्यन्त विषम हो जाती है। समाजशास्त्र की दृष्टि से तिष्यरक्षिता का कुणाल के प्रति प्रेम-भाव घोर पाप है उसमें प्रेम और विरह जैसी कोमल वस्तु के लिए स्थान ही कहाँ है? किन्तु विमाता और सपत्नी के पुत्र के कृत्रिम उपादानों का यदि लोप कर दिया जाय तो अनौचित्य कहाँ रह जाता है। तिष्यरक्षिता युवा थी, सुन्दर थी, उसके मन में यौवन का उल्लास भी था। सम्राट् के सुख-वैभव के लिए इसका विवाह उनसे कर दिया गया था किन्तु उसकी उमंगें अप्तृत थीं, भूखी थीं। वह किसी को अपना सब-कुछ अर्पण करना चाहती थी। अशोक के ऐश्वर्यमय राज्य की वह एकान्त अधिष्ठात्री थी किन्तु वह हृदय का शासन चाहती थी, जहाँ कोई उसके हृदय पर शासन करे और वह भी उसकी एकमात्र अधिकारिणी बन जाय।

कुणाल को जब उसने रंगमंच पर कामदेव का अभिनय करते देखा तो सुप्त भावनाएँ अनायास विकल हो उठीं—

वातायन औ' सुन्दर गवाक्ष,
थे देख रहे मादक कटाक्ष,
हो रहे राग रंजित युगाक्ष,
थे विकल किसी के बने प्राण!
हो गए रूप पर नयन लुब्ध,
उत्कंठा से उर सिंधु क्षुब्ध,
उत्सुकता से यौवन विक्षुब्ध,
था पड़ा लक्ष्य पर काम-बाण॥[2]

कुणाल का रंगमंच पर अभिनय तो समाप्त हो गया किन्तु तिष्यरक्षिता के मन में नवीन अभिनय का आरम्भ हुआ—

अभिनय उधर समाप्त, इधर
आरम्भ और ही अभिनय।
तिष्यरक्षिता के मानस में
हुआ प्रेम अरुणोदय।

---

१. देखिए, विरह-भावना का मनोवैज्ञानिक विवेचन (प्रथम अध्याय)
२. श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल पृष्ठ १९

लगे कामना के पक्षीदल
करने मधुमय कलरव।
लगी वासना की कलिकाएँ
बिखराने मधु वैभव॥[1]

तिष्यरक्षिता के मन में यह अनुभव पहला था। अब तक वह सम्राट् की वासना की दास थी, यंत्र की भाँति उसको अपना कर्त्तव्य पूरा करना पड़ता था। किन्तु आज वह, अपने हृदय की वासना-कामना का पात्र खोजने को विकल हो उठी थी।

और कोई युग होता तो कवि उसे कुलटा, कलंकिनी और न जाने कितने विशेषणों से विभूषित करता किन्तु आज के कवि ने नैतिकता के बन्धनों को तोड़कर मन के रहस्य को जानने की चेष्टा की है। इसीलिए सोहनलाल द्विवेदी तिष्यरक्षिता के हृदय को इतने निकट से देख पाये हैं—

मन का हंस उड़ा मानस से
चुगने मुक्ता उज्ज्वल
उच्च नभोमण्डल में उड़कर
पाने जीवन संबल॥[2]

जीवन का संबल खोजने की कामना कितनी निरीह और पवित्र है किन्तु बेचारी तिष्यरक्षिता पर कुणाल की विमाता होने का अभिशाप था। इसीलिए जीवन में एक नवीन स्वप्न के उद्गम होने पर भी वह भयभीत थी—

तिष्यरक्षिता लगी झूलने
स्वप्नों के हिंदोल
कब आयेगा मिलन प्रात
उमड़ेंगी सुख हिल्लोल
उन्नत कुच कुंभों को लेकर
फिर भी युग युग की प्यासी-सी
आमरण चरण लुठित होने
वाली प्रेयसि-सी दासी-सी
नीरव थी नुपूर की रुनझुन
नीरव ही था किंकिण का रव
भय था, कोई सुन ले न कहीं
इन चंचल चरणों का वैभव॥[3]

अभिशप्त व्यक्ति के लिए सुख की कामना करना मूर्खता है, इस रहस्य को

१. श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल, पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ ३२
३. वही, पृष्ठ ३६

अभागिनी तिष्यरक्षिता न समझ सकी। इसीलिए कुणाल के समीप प्रणय की भिक्षा माँगने चली गई—

आई कुणाल के पार्श्व
तिष्यरक्षिता सजे सोलह शृंगार।
रति चली मुग्ध करने जैसे,
रूठे अनंग को, ले उभार॥[1]

वह उससे कहने लगी—

कुछ समझा कुछ देखा तुमने
है जग जीवन में सार कौन?
अलि क्या कहता है सरसिज से,
सरसिज खिल उठता त्याग मौन?
बोलो कोकिल क्या कहती है?
मधुऋतु में आम्र पल्लवित से
क्या कहती बहतीं सरिताएँ
मिलती हैं सिन्धु उच्छ्वसित से
समझे कुणाल क्यों मलयज में
कलिका का केसर उड़ता है?
अनजान पथिक पावस ऋतु में
सहसा निज गृह को मुड़ता है।

तिष्यरक्षिता ने समाज की नीतिभग्न का घोर अपराध किया था, भला समाज का मुनि उसे कैसे सहन करता, अपराध की याद दिलाते हुए उसने उसे शाप दिया और पश्चाताप के लिए ईश्वर के पूजा आराधन का पुण्यमार्ग भी दिखा दिया। कुणाल के शब्दों में समाज के बन्धन बोल उठे—

क्या कहती हो यह माता तुम
यह मेरे लिए पहेली है,
क्या हुआ तुम्हें है आज कौन-
सी सूझी यह रंगरेली है?[2]

विवश तिष्यरक्षिता ने जब स्पष्ट कहा—

मैं तो अपने अन्तरतम का
सौरभ पराग धर चरणों में,
उत्कंठित देख रही मुख को,
उत्तर आता किन वरणों में।

---

१. श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल, पृष्ठ ३८
२. वही, पृष्ठ ३९-४०

तब—

मर्माहत से थे अब कुणाल
श्रद्धानत प्रणत बने अस्थिर।
'आर्ये तुम हो जननी मेरी,
सोचो तो, क्या कहती हो फिर।
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें,
माता अब राजभवन जाओ।
कुछ पूजा भजन करो जिससे
हलचल में परम शान्ति पाओ॥

पौराणिक गाथाओं में अभिशाप से यक्ष और गंधर्व राक्षस हो जाते थे और अपने मूलगत स्वभाव को भूलकर अपनी दुर्दशा के कारण शापकर्त्ता के लहू के प्यासे हो जाते थे। यही दशा अभिशप्त तिष्यरक्षिता की हुई। एक क्षण के लिए वह स्तब्ध रह गई—

पीकर आँसू के घूँट, रक्त के घूँट
गरल के घूँट, शान्त,
निर्जीव शिला की मूर्ति-सदृश
वह खड़ी रही नीरव अशान्त
आँखों में था घन-अधकार
पदतल बिखरे थे अग्निखंड।
वह चलती थी अंगारों पर,
लेकर के जलते प्राण पिंड॥[1]

उस क्षण में जैसे पुराना व्यक्तित्व जलकर क्षार हो गया और नया राक्षसी वृत्ति का व्यक्तित्व उभरने लगा। कुणाल के लिए अनन्त ममता को हृदय में सँजोकर भी वह प्रतिहिंसा से भभक उठी—

ममता कहती है, 'मान मान
निर्मम हो इतना हठ न ठान',
पर घाव कह रहा, 'पुनः भूल
अपने पथ पर फिर रख न शूल।'
कह रही लाज, मर जलधिकूल
प्रक्षालन कर या पंकमूल,
मैं सोच न पाती थका ज्ञान,
इस दुख से कैसे मिले त्राण?

---

१. श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल, पृष्ठ ४१, ४०

मैं निर्झरिणी पत्थर हूँगी
अपने हाथों से विष दूँगी
... ...
मैं इस छल का बदला लूँगी
प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी।[1]

प्रतिहिंसा की अग्नि में अपनी अतृप्त अभिलाषाओं को जलाकर उसने जो कालिख बनाई, उसी को छल से कुणाल की आँखों में झोंक दिया जिससे फिर वह उसे आकृष्ट न कर सके। मानवी दानवी बन गई।

समाज के अनौचित्य के कारण तिष्यरक्षिता की विरह-वेदना को विरहाभास कहने को मन नहीं मानता। वस्तुतः आभास वहाँ होता है जहाँ वास्तविक वस्तु नहीं होती किन्तु यहाँ पग-पग पर तिष्यरक्षिता की वेदना हृदय को बरबस मींडती चलती है। प्रतिहिंसा से उसने कुणाल जैसे महान् व्यक्ति को अन्धा कर दिया, यह दूसरी बात है किन्तु वह प्रतिहिंसा भी तो उसकी विरह की पीड़ा का ही प्रतिरूप थी। कुत्सित ध्वन्सात्मक प्रतिरूप; जहाँ प्रेम के कुण्ठित होने पर विरही प्रेमपात्र को पीड़ा देने में सुख का अनुभव करता है। यह परिवर्तन उसके मन की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया थी जिसे मनोवेत्ता 'परपीड़न' की स्थिति (Sadism) कहते हैं। यह समाज का अभिशाप था जिस पर न तिष्यरक्षिता का वश था, न ही कुणाल का वश। समाज के कृत्रिम बन्धन को तिष्यरक्षिता के मन की यह दुर्बल चुनौती थी।

स्थूल दृष्टि से देखने से सोहनलाल द्विवेदी की 'उर्वशी' की स्थिति भी 'तिष्यरक्षिता' के सदृश प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में वे दो विभिन्न परिस्थितियाँ हैं।

उर्वशी इन्द्र की प्रियतमा थी। अर्जुन के रूप लावण्य पर मुग्ध होकर उसने उनसे प्रणय याचना की और अस्वीकृति पाने पर उन्हें नपुंसक होने का शाप दिया। अर्जुन ने भी इन्द्र की प्रियतमा के नाते से उसे 'माँ' कहकर पुकारा था।

विमाता की पुत्र के प्रति प्रणय-याचना को भी कुणाल और तिष्यरक्षिता से संबंध से हमने विरहाभास न मानकर विरह-भाव ही माना है; क्योंकि तरुण तिष्यरक्षिता को वस्तुतः जीवन में कभी प्रेम का मधुर अनुभव न हुआ था। वह उससे वंचित कर दी गई थी। समाज ने उसकी भावनाओं पर अनुशासन का घोर अंकुश लगा दिया था जिससे वह मचल न सकें। उसकी पीड़ा वास्तविक विरह की पीड़ा थी।

इधर उर्वशी अप्सरा हैं, चिर तरुण। वह सामान्या नायिका है और प्रत्येक सुन्दर युवक पर लुभा जाना उसका स्वभाव है। सामान्या नायिका के प्रेम को काव्यशास्त्रियों ने शृंगाराभास माना है क्योंकि वहाँ रूप और धन का लोभ प्रधान भाव रहता है, हृदय का समर्पण नहीं। उर्वशी को धन का अभाव नहीं था, न ही उसकी आवश्यकता के लिए

---

१. श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल, पृष्ठ ४८-४९

वह अर्जुन के समीप गई थी। वह रूप की लोभी थी।

जहाँ तिष्यरक्षिता कुणाल से 'जीवन का संबल' पाने गई थी, वहाँ उर्वशी पार्थ के प्रण को डिगाने के लिए अपना उर्वशी नाम सार्थक करने को।

चली उर्वशी,
नाम सार्थक बनाने को
धीर गम्भीर पार्थ-प्रण के डिगाने को,
रंगने को सौन्दर्य के रंग में
विलास के ढंग में
सोने को, सोती जैसे
सुख से सरोजिनी,
नीरव निशीथ में
नयन बन्द
मौन स्पंद
अर्जुन के संग में।[1]

प्रकृति और उद्देश के अनुरूप परिस्थिति में दोनों का आचरण भी भिन्न है। तिष्यरक्षिता के 'मन का हंस मानस से उज्ज्वल मोती चुनने के लिए गया था', 'आमरण चरण लुंठित होनेवाली दासी' जैसी तिष्यरक्षिता की दशा थी। वह 'अनजान पथिक के पावस ऋतु में अनायास घर की ओर मुड़ने के भाव' का अनुभव करना चाहती थी समाज से अभिशप्त 'नीरव थी नूपुर की रुनझुन'।

यहाँ रूपगर्विता उर्वशी, अर्जुन से कुछ लेने नहीं आई थी, वह अपने अपूर्व रूप और यौवन का दान करके उन्हें कृतकृत्य करना चाहती थी। वह रूप और यौवन जिसकी अभिलाषा देवता करते हैं और उन्हें नहीं मिलता। जहाँ तिष्यरक्षिता में आत्मा की भूख थी, वहाँ उर्वशी में रूप की तृप्ति और शरीर की भूख है। तिष्यरक्षिता की व्यथा नारी के अभाव की शाश्वत-व्यथा की कथा है और उर्वशी की वासना, विलास की एक करवट मात्र—

किन्तु,
आज देने मैं आई हूँ—
देती जो किसी को नहीं
अनुपम अमूल्य निधि
उत्सुक, उत्कण्ठित, उद्ग्रीव, उन्मन विधि,
देव, असुर, नाग, किन्नर, गन्धर्व, सर्प,
चाहते जिसे हैं
और चंचल-अंचल पसार

१. श्री सोहनलाल द्विवेदी—उर्वशी (वासवदत्ता), पृष्ठ १२

भिक्षा-सी माँगते है, भिक्षुक हो बार-बार
निराधार
पुण्यशील ! तपोनिधे !
तप के प्रसाद-सा, नियम अपवाद-सा
अपने इस अनिंद्य अनवद्य
रूप का, हृदय का यौवन का दान,
प्राण इसे स्वीकृत करो
श्रेष्ठतम दान यह।
आज सीमन्त में भरो नवसिंदूर।[1]

उर्वशी की प्रज्ज्वलित वासना अतृप्ति का क्षणिक उद्‌गार था। अतः वह विरहाभास है, विरह नहीं।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय के अनेक प्रबन्धकाव्यों की विरह-भावना के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि विरह इनके रचयिताओं के लिए आहत अहं का विवश रुदन मात्र न था वरन् लोकादर्शों की रक्षा करते हुए उन्हें प्रेरणा प्रदान करनेवाला मार्ग प्रदर्शक-स्तम्भ था। देशभक्ति और समाज के प्रति कर्त्तव्य; इन दो उत्तरदायित्वों को लगभग सब काव्यों के विरही प्राणपण से निभाने की चेष्टा करते रहे है। 'स्वप्न' और 'पथिक' की नायिकाओं सुमना और पथिक की पत्नी से लेकर 'प्रिय प्रवास' की राधा, 'वैदेही बनवास' की सीता तथा मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला, यशोधरा, राधा, उत्तरा, शकुन्तला और विष्णुप्रिया एवं जयभारत के वृद्ध शान्तनु सब इसी कर्त्तव्य-कर्म में दीक्षित दिखाई पड़ते हैं। सब अपनी व्यक्तिगत पीड़ा को समष्टि के सुख के लिए बलिदान कर सकते हैं अथवा करने को व्याकुल एवं तत्पर प्रतीत होते हैं। प्रसाद की श्रद्धा और मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा दोनों अपनी बिरहावधि के एकमात्र अवलम्ब पुत्रों को लोककल्याण के लिए प्रस्तुत कर देती हैं। 'साकेत संत' की माण्डवी प्रिय के समीप रहकर भी विरह-व्यथा झेलती है और 'रावण महाकाव्य' की धन्यमालिनी अनन्त व्यथा सहती हुई पुत्र को शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए उत्तेजित करती है। प्रिया का विरह निराला के तुलसीदास के सन्मुख भारत की विराट् संस्कृति के रहस्य को उद्‌घटित करता हुआ उन्हें 'रामचरित मानस' जैसे महान् ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित करता है। लोकादर्शों की प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता में है अवश्य

१. श्री सोहनलाल द्विवेदी—उर्वशी, पृष्ठ १७

किन्तु उससे विरह की मार्मिक अभिव्यंजना को अधिकांशतः क्षति नहीं पहुँची है। यह एक सुयोग है कि कर्त्तव्य और भावना इनके विरही के हृदय को उद्वेलित और मथित करती हुई भी एक-दूसरे पर हावी नहीं हुई है और उनका स्वस्थ उन्नयन ही कवि कर सका है।

कर्त्तव्य और भावना के उद्वेलन और द्वन्द्व में अन्य व्यक्तिगत विशेषताएँ भी प्राप्त होती हैं। कहीं अनुपात से भावना विरही को अधिक प्रभावित करती हुई प्रतीत होती है और कहीं कर्त्तव्य। 'स्वप्न' की नायिका सुमन आत्मगौरव और प्रतिष्ठा से प्रेरित होकर देश की ओर से युद्ध करने जा सकती है और हरिऔध की सीता और राधा कर्त्तव्य पर भावना को समझदारी से उत्सर्ग भी कर सकती है। दूसरी ओर साकेत की उर्मिला है जो कर्तव्य से विवश-सी होकर भावना के उन्माद में विरह के दीर्घ चौदह वर्षों की अवधि काटती है। माण्डवी भाव और कर्त्तव्य में सामंजस्य स्थापित करती हुई निस्वार्थ सेवा को लक्ष्य बना लेती है।

सिद्धि के मुमुक्षु प्रिय के द्वारा त्यागी गई नायिकाओं में यशोधरा और विष्णु-प्रिया हैं। इन दोनों की भी अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ है। एक पति को उचित गौरव प्रदान करती हुई भी यथासम्भव आत्माभिमान की रक्षा करती है और दूसरी दीना-सी पति के सन्मुख घिघियाती है।

कथा प्रसंगों के प्रवाह में सांस्कृतिक प्रबन्ध काव्यों में कुछ और नवीन चरित्रों और उनकी विरहानुभूतियों का मनोवैज्ञानिक और मार्मिक चित्रण भी हुआ है जैसे कृष्णायन में राजकुमारी मित्रविन्दा, द्वापर में कुब्जा और गुरु भक्तसिंह की नूरजहाँ में अनारकली हैं। इन पात्रों की विरहानुभूति में मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व के समावेश ने उन्हें अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है। हिमालय की पुत्री पार्वती की पीड़ा और चारित्रिक दृढ़ता से यद्यपि संस्कृत का पाठक अनभिज्ञ न था किन्तु रामानन्द तिवारी ने उसे हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ बना दिया।

सांस्कृतिक प्रबन्ध काव्यों की विरहाभिव्यक्ति में परम्परागत परिपाटियों का उचित समावेश भी यत्र-तत्र उपलब्ध है। इनमें संदेश पद्धति, कामदशाएँ और ऋतुवर्णन—बारहमासा प्रमुख हैं। प्राचीन संदेश-पद्धति के अनुरूप नदीदूति, पवनदूति और चन्द्रदूत के वर्णन क्रमशः यशोधरा, प्रियप्रवास और रावण महाकाव्य में प्राप्त होते हैं। 'सन्देश पद्धति' में पात्र की मानसिक स्थिति के अनुकूल चित्रण का प्रयत्न है; उनका दिग्दर्शन कालिदास के मेघदूत की भाँति ही मानवीय भावनाओं के अत्यधिक निकट है। 'प्रिय-प्रवास' की पवनदूति के वर्णन में यत्न और युक्ति से विरही की मानसिक स्थिति के प्रेषण का आग्रह भी है। ऋतुवर्णन और बारहमासा के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि उनमें कवियों ने पात्रों के मनःस्थिति का पूर्ण सामंजस्य प्रतिष्ठित रखने का प्रयत्न किया है। काम-दशाओं का चित्रण परम्परागत होते हुए भी अधिक मनोविज्ञान संगत है। आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिकों ने जिन मनोरहस्यों का उद्घाटन किया है, चेतन और अर्धचेतन के रहस्यों को स्पष्ट किया है, उसका प्रभाव हिन्दी के कवि पर भी स्पष्ट

है। 'साकेत' की उर्मिला की काम-दशाओं में चेतन और अर्धचेतन के द्वन्द्व से यह स्पष्ट है कि अर्धचेतन मन का चेतन के विरुद्ध कैसा घोर संघर्ष चला करता है। कैसे वह विरही के मानस को झकझोरता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक-प्रबन्ध कविता में विरह की परम्परागत परिपाटी की रक्षा के साथ युगानुकूल चेतना और लोकादर्शों से समृद्ध विरह-भावना का सफल चित्रण हुआ है।

तृतीय अध्याय

छायावादी काव्य में विरह-भावना

२०वीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षों के समाप्त होते-होते भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा और संस्कृति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। विश्वविद्यालयों में विदेशी ढंग की सहशिक्षा के प्रचार से वैयक्तिक स्वातंत्र्य के नवीन विचार इस युग के युवक-हृदय में घर कर रहे थे। प्रेम और सौन्दर्य के विषय में भी इस युग का भावुक युवक रोमानी-स्वप्न बना रहा था। किन्तु सामाजिक परिस्थितियाँ इस प्रकार के विचारों और अनुभूतियों के अनुकूल न थीं। मध्ययुग की जर्जर सामन्ती रूढ़ियाँ दृढ़ता से अपने अधिकार की रक्षा में संलग्न थीं। द्विवेदी युग की कठोर नैतिकता के वातावरण में साहित्य में वैयक्तिक प्रेम और विरह की स्पष्ट अनुभूतियों के अभिव्यक्त होने का विचार भी अचिन्त्य था।

निदान भावुक नवयुवक कवियों का अन्तर्मुखी हो जाना स्वाभाविक ही था। प्रकृति का अधिकाधिक ससर्ग, प्राप्त करके उन्होंने उसके जीवन को निकट से देखा और मानव-जीवन के कार्य-व्यापारों तथा प्रकृति के जीवन में अद्‌भुत साम्य के रहस्य की उपलब्धि थी। इस रहस्य की प्राप्ति से मन के भावों की अभिव्यक्ति को नवीन मार्ग दिशा प्राप्त हो गई। प्रकृति के प्रतीकों के द्वारा मन की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति का स्पष्ट अवकाश मिलने लगा। अर्थात् प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को आलम्बन रूप में चेतना सन्निविष्ट प्राणी की भाँति अनुभूत करके उनके प्रेम और विरह के मिस इन्होंने अपने हृदयगत भावों को व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त प्रकृति की अनन्त सुन्दरी नारी के रूप में कल्पना करके भी ये स्वयं उसके भोक्ता बने, उसके प्रति अनेक कोमल भावों और वेदनाओं को अभिव्यक्त किया।

विरहानुभूति का तीसरा रूप रहस्यवादी विरहानुभूति के रूप में प्रकट हुआ। प्रकृति के साहचर्य से उस अनन्त सौन्दर्य की निर्माणकत्र अलौकिक सत्ता की ओर भी भावुक का ध्यान गया। उसके प्रति निरन्तर आकर्षण का अनुभव करते-करते वह उसकी प्राप्ति के लिए विकल हो उठा और उसकी विरह-वेदना में तड़पा भी। सृष्टि में व्याप्त सत्ता के प्रति यह वैयक्तिक भाव कुछ आधुनिक युग की मौलिक विशेषता नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रकृति और उसके निर्माता के प्रति जिज्ञासाएँ और अनुभूतियाँ मानव मन को अभिभूत करती रही हैं। आधुनिक युग की रहस्यानुभूतियों की विशिष्टता यह है

कि इनकी अनुभूति करने वाला भावुक समाज और जीवन के दैनिक कार्यों से असम्पृक्त उस अलौकिक सत्ता का एकान्त आराधक नहीं है, जीवन की विविधताओं में उलझा हुआ सांसारिक प्राणी है। अतः रहस्यवाद (अपार्थिव सत्ता और जीव के वैयक्तिक प्रणय) के अर्थ को समझकर उसकी पूर्व-पृष्ठभूमि के आधार में इस युग के भावुक की रहस्यवादी विरहानुभूतियों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम रहस्यवाद के अर्थ और उसके विविध संस्थानों का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है, तत्पश्चात् प्रमुख छायावाद कवियों के काव्य में प्राप्त विविध विरहानुभूतियों के अध्ययन का प्रयत्न है।

प्रसाद के काव्य में रहस्यवादी विरहानुभूति और लौकिक विरहानुभूति की दो समानान्तर पृथक् धाराएँ उपलब्ध है अतः उनका विवेचन पृथक्-पृथक् किया गया है। अन्य छायावादी कवियों, महादेवी, पन्त और निराला में इनका स्पष्ट विभाजन सम्भव नहीं है अतः उसके परस्पर प्रभाव को विरहानुभूति के अध्ययन के सम्बन्ध से यहाँ लक्षित किया गया है।

रहस्य भावना का उद्गम और उसकी भारतीय परम्परा तथा आधुनिक रहस्यवाद

सृष्टि के प्रत्येक कार्यकलाप को अनुशासित तथा सुष्ठु रूप में गतिशील देखकर उसके नियन्ता को जानने की अभिलाषा, मनुष्य में आदिकाल से रही है।[1] वैदिक ऋषियों ने उसके रूपनिर्माण का भरसक प्रयत्न किया किन्तु हताश, 'नेति-नेति' करके रह गए। उसका रूप स्थिर करने में स्वयं को असमर्थ मानकर उन्होने उसे अरूप ही रहने दिया किन्तु जानने की प्रक्रिया में कई नवीन रहस्यों का उद्घाटन हुआ। प्राचीन आर्य दो दलों में बँट गए। उनमें से एक दल तर्क और युक्ति से ब्रह्म के रूप निर्धारण का प्रयत्न करता रहा और दूसरे ने उसके रूप-निर्माण में तर्क व बुद्धि की पराजय को घोषित किया।[2] इसी दूसरे दल के मनीषियों ने यह अनुभव किया कि मन केवल 'उसको' जानने की जिज्ञासा से सन्तुष्ट नहीं है, अधिकाधिक उस ओर आकर्षित होता जा रहा है। कभी-कभी ऐसे स्थल भी अनुभूति में आते हैं जब व्यक्ति उसके आलिंगन में निबद्ध, सम्पूर्ण विश्व को कुछ समय के लिए ऐसे भूल जाता है जैसे कोई पुरुष अपनी प्रिया के आलिंगन में स्वयं को और

---

१. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैत युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥
—केनोपनिषद्, प्रथम भाग, प्रथम श्लोक

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
—मुण्डकोपनिषद्

नैषा तर्केण मतिरपनेया।
—कठोपनिषद

विश्व को भूल जाता है।[1] रहस्यभावना के उद्गम के विषय में यह उक्ति ठीक ही है।

परमात्मा का अनभिव्यक्त रूप सब कुछ होते हुए भी हमारे उपयोग का नहीं है। जो 'रूप रेख गुन जाति जुगुत बिन' है वह हमारे आश्रय का विषय नहीं हो सकता। वहाँ तो 'निरालम्ब मन चकृत धावे' ही होता है। 'संग्रह' मनुष्य की प्रकृति है और सुन्दर के प्रति आकर्षण उसकी सहज प्रवृत्ति। इस विषय में आबाल वृद्ध सभी की मानसिक स्थिति समान है। मानव की सहज मानसिक प्रवृत्ति श्रेष्ठ को अपना बनाने में सुख और सन्तोष का अनुभव करती है। 'संग्रह' की यह स्वयंभू मनोवृत्ति जिसे एकत्र करना चाहती हैं उसमें आकर्षक गुणों की प्रतिष्ठा करती है।...इसीलिए अरूप में रूप, अनाम में नाम, अरेख में रेख, अगुण में गुण और अजाति में जाति की कल्पना उत्पन्न हो जाती है और इसीलिए 'रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन' वह 'रूप रेख गुन जाति जुगुति सह' बनकर हमारे सग्रह का विषय बन जाता है।

परमात्मा की यह भावना सनातन भावना है। वेदों में इसीलिए उसे 'हिरण्य गर्भ, अग्नि अथवा पुरोहित' कहकर रूप दिया गया है और यदि यह सत्य है कि वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है तो यह भी न्याय्य है कि वेद ने ही सबसे पहले उस अरूप में रूप कल्पना की। उपनिषद् अनेक रूपों मे यही काम करते आए हैं। अग्नि-विद्या, मधु-विद्या, सामोपासना, प्राणोपासना इत्यादि सबमे उस अतीन्द्रिय को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की चेष्टा प्रतीत होती है। इस प्रकार उसकी निराकारता को खण्डित किये बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य भावना का मूल है।

---

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् (बृहदारण्यक)। उपमन्त्रयते स हिंकारो ह्यापयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते।

—प्रसाद के (रहस्यवाद) निबन्ध से, (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)।

\+ \+ \+

From the ordinary process of dreaming sleep a transition is made to deep sleep, when the soul advances more closely to the world to come, and from the mere consciousness of individual things, such as the concept of being a King or a God, becomes conscious of itself as the universe, in which case however, there is no longer any possibility of contrast between subject and object, a. d ordinary consciousness is superseded by the union for the time being with Prajna Atman, the intelligent self the absolute. In this condition as a man in the embrace of his Darling wife does not have any consciousness of out or inner. The spirit in this condition is without desire, it is unaffected by good, unaffected by evil the father ceases to be father, the mother the mother, the world the world, the Gods the Gods.

—*'Religion and Philosophy of Vedas—Keith'.*

आर्यों के इन दोनों सम्प्रदायों को दुःखवादी और आनन्दवादी कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। दुःखवादी आर्यों को जीवन के कष्ट और क्षणभंगुरता का अनुभव होते हुए भी कहीं सहारा न था, सब कुछ शून्य था अतः दुःख था और आनन्दवादियों के सम्पूर्ण कष्ट और क्लेश भी रहस्यमय प्रिय के व्याज से सुखमय हो जाते थे। दुःखवादी विवेक की धारा का नैसर्गिक विकास विरक्ति मूलक बौद्धधर्म में हुआ, और आनन्दवादी, यज्ञ कर्मों को माध्यम बनाकर अधिकाधिक सुख की प्राप्ति के आराधक रहे। स्वयं भगवान् तथागत भी अपने धर्म के प्रचार के हेतु सिद्धि की प्राप्ति करानेवाले मन्त्रों की अवहेलना न कर सके यद्यपि उन्होंने उसे त्याज्य माना। भगवान् बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् आनन्द के प्रति यही आकर्षण उनके अनुयायियों में 'महायान' के अस्तित्व का कारण बना।

महायान का क्रमिक विकास मन्त्रयान से वज्रयान में हुआ जहाँ बौद्धधर्म के त्रिरत्न बुद्ध, धर्म और संघ के स्थान पर कामिनी, काम और सुरा बन गए। प्राचीन वैदिक रहस्यमय अनुभूति—'जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद न आन्तरम्' का कुत्सित रूप (योगिनी आराधना) के रूप में व्यभिचार बना। किन्तु फिर सुधार का युग आया, सिद्धों की योगिनी भौतिक-बौद्ध-संघों में रहने वाली भिक्षुणी न होकर शैवागमों की त्रिपुर-सुन्दरी का प्रतिरूप थी।[1] किन्तु सोऽहम् की स्थिति में वह माता न रहकर प्रिया बन गई, वैदिक ऋषि की 'भार्या' के समान 'घरिणी'। आत्म रूपी पुरुष का प्रकृति के रहस्य रूपी 'भार्या' के प्रति यह प्रणय अद्भुत था।

---

१. ऊँचा पावत तहि बसइ सवरी बाली।
मोरंगि पिच्छ परहिण सबरी, गिवत गुंजरी॥
मालो॥
उमत सबरो पागल शबरो माकर गुली गुहाउर।
तोहोरि पिय घारिणी णामे सहज सुन्दरी॥
शबरपा।
—हरिवंश कोछड़—अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ २८१, २८२

... ...

At time of recitation, I remember the mother
Lustrous as the scarlet hibiscus,
Her body pasted with saffron and sandal
Her hair kissed by musk.
The Mother with smiling eyes,
With red garlands, ornaments and raiment,
Who holds the arrow, bow noose and goad
The charmer of countless men.
—*A Avelon's Translation of Tripur Sundar Stotra from Tantras, Their Philosophy & Occult Secrets*—D.N. Bose & Hiralal Haldar.

दुःखवादी आर्य भी केवल अरूप की जिज्ञासा से संतुष्ट न रह सके। उन्होंने उसमें ऐसे सर्वशक्तिमान पुरुष की कल्पना की जो विवेक के अन्तिम सत्य का प्रतिरूप हो। दूसरी ओर वह भी आनन्द की सूक्ष्म नैसर्गिक लालसा को न त्याग सके और अपने आदर्श पुरुष में उसके ललित रूप का समावेश भी उन्होने किया। ऐसा पूर्णावतार कृष्ण का था। माधुर्य भक्ति का उद्‌गम यही से हुआ। किन्तु कृष्ण का रूप मन-कर्म-वचन से गोचर होते हुए भी उससे परे था, अतः गोपियों को कृष्ण के विरह में जलना पड़ा। दूसरी ओर राधा-भक्ति में माधुर्य का सुख प्राचीन आनन्दवादी भावना का प्रतिरूप बनकर शाश्वत सुख बन गया।

सिद्धों की विशुद्ध रहस्यात्मक सुखद अनुभूति पर जब दुःखवादी नाथों की साधना का कठोर नियंत्रण और अवरोध उपस्थित हुआ तो वह भी कष्टसाध्य प्रियतम की साधना को दुर्गम मान बैठे। इन्द्रियों और मन पर कठोर सयमन और नियंत्रण रखकर 'उसको' प्राप्त करने के प्रयत्न होने लगे। कबीर तथा परवर्ती सन्तों की साधना में सिद्धों और वैदिक आनन्दवादी ऋषियों की सुखद मिलन कल्पना तथा वैष्णवों और नाथों के चिर-विरह के दुख का अद्‌भुत सम्मिश्रण हुआ। प्रियतम से 'रंगभरी खेलते हुए' भी कबीर उनके विरह में तड़पते हैं।

वैदिक आनन्दमयी रहस्यानुभूति में दुख का समावेश नैसर्गिक और स्वाभाविक इसलिए बन गया क्योंकि कष्टपूर्ण सासारिक जीवन में अपार्थिव के मिलन की अनुभूति कुछ क्षणों के लिए होती है शाश्वत नही बन पाती। अतः उसमें विरह का होना स्वाभाविक है, साधक मिलन के सुखद क्षणों के विलीन होते ही विरह मे तडपता है। यह अवश्य है कि साधना से वह उस सुखद क्षणों को अधिकाधिक बढा सकता है और तब अन्त में विरह की स्थिति ही न रहेगी। चिरमिलन ही रहस्यवादी के प्रेम की अन्तिम स्थिति है।

भारतीय रहस्य परम्परा को मध्ययुग में फारस के सूफियों की साधना से बल प्राप्त हुआ और वह द्विगुणित रूप से समर्थ हो गई। सूफियों की रहस्य साधना और भारतीय रहस्य साधना मे तात्विक भेद नहीं है, यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि सूफियों का अपार्थिव ब्रह्म प्रियतमा था और भारतीयों का प्रियतम पुरुष (जैसा कि उपर्युक्त भारतीय रहस्य साधना के विवेचन से स्पष्ट भी है)। मध्ययुग के सन्तों की रहस्य साधना सूफियों की भाँति प्रबन्ध शैली के माध्यम से भी अभिव्यक्त नही हुई उनकी वैयक्तिक साधना को भारतीय रहस्य परम्परा का ही क्रमिक विकास मानना चाहिए। कबीर का पोषण मुसलमानी परिवार में होने के कारण संयोग से उसमें, शरीयत, तरीकत मारीफत आदि सूफी साधना के पारिभाषिक शब्द आ गए है। किन्तु उनके रहस्य का दुःखवाद भी अपने शुद्ध रूप में भारतीय ही है। सम्भव है कबीर ने दोनों में कोई तात्विक भेद न पाने के कारण ही उनका समन्वय कर दिया हो। रहस्यवाद सभ्यता के प्रारम्भिक युग में अन्तर्मुखी साधना में पुरुष और प्रकृति, ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी जिज्ञासाओं के फलस्वरूप अस्तित्व में आया था।

आधुनिक रहस्यवाद

आधुनिक युग में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब बाह्य अभिव्यक्ति के मार्ग कुण्ठित हुए और भावना अन्तर्मुखी होकर प्रकृति के अधिक समीप आई तब पुनः पुरुष और जगत् सम्बन्धी जिज्ञासाओं ने भावुक के मन को आच्छादित कर लिया। मानव व जगत् के जीवन का एकात्म कवि ने बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर अनुभव किया और हृदय की भाव-भूमि पर उसने जीवन की अखण्डता की रहस्यमयी अनुभूति की। तब उसके नियन्ता के विषय में फिर से जिज्ञासाएँ उठने लगी और भावुक 'उसके' मिलन तथा विरह की लहरों में हिचकोले लेने लगा।

आधुनिक युग चेतना के विसर्जन का युग नही है न ही आज का रहस्यवादी दैनिक जीवन से असम्पृक्त एकान्त साधक है। अतः सामाजिकता की नैतिकता में आज के रहस्यवादी की अनुभूति बोझिल हो गई है। उसे प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ा है। जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति मे अवरोध होने से क्योंकि कवि अन्तर्मुखी हुआ है अतः अपने शुद्ध रूप में उसकी रहस्यानुभूति वैदिक ऋषियों और सिद्धों की रहस्यात्मक अनुभूति के समीप होते हुए भी वही नही है। उसको भौतिक अनुभूति का सूक्ष्म उन्नयन ही अधिक माना जा सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि आलोचकों ने, प्रायः छायावादी कवियों की सब मिलन-विरह अनुभूतियों को रहस्यवादी-अनुभूति मान लिया है, यह विचार ठीक नहीं है। छायावादी काव्य में रहस्यात्मक अनुभूति का अभाव न होने पर भी ऐसे विरह-काव्य की कमी नहीं है जो वैयक्तिक पीड़ा को प्रकृति के प्रतीकों के आश्रय से व्यक्त करता है। अतः उसकी अनुभूति सूक्ष्म अथवा वायवी-सी दिखाई पड़ने लगती है। ऐसी वायवी अनभूति को छायात्मक (सूक्ष्म व अतीन्द्रीय) विरहानुभूति कहना तो समुचित होगा किन्तु अध्यात्मिक अथवा रहस्यात्मक अनुभूति कहना ठीक नहीं।

पश्चिम की सौन्दर्यकल्पना और रूपविधान को स्वीकार करते हुए भी आधुनिक रहस्यवादियों ने अपनी भावना और चिन्तन के स्रोत भारतीय-भाव-भागीरथी से ग्रहण किए हैं। प्रसाद पर वेद-उपनिषद्, शैव दर्शन तथा बौद्ध दर्शन, निराला पर रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द तथा पन्त और महादेवी पर क्रमशः वेदान्त और वैष्णव तन्मया-वस्था का प्रभाव पड़ा है।

रहस्य भावना के विविध संस्थान

जिज्ञासा—'रहस्यभावना' का प्रथम संस्थान 'जिज्ञासा' है। सृष्टि के विराट् विस्तार को नियमित रूप से नियन्त्रित करने वाले अपार्थिव के प्रति जब भावुक का मन आस्थावान होता है तो मन की प्रथम प्रक्रिया होती है जिज्ञासा। जिज्ञासु कुतूहल से उसके कार्यव्यापारों को देखता रह जाता है, मन विस्मय से विमूढ़-सा रहता है। यही जिज्ञासा

वैदिक ऋषि के 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के रूप में प्रकट हुई थी और कबीरादि मध्य-युग के सन्तों की वाणी में होती हुई आज के रहस्यवादियों की भावना में अभिव्यक्त हुई।

कहौ भैया अंबर कासूं लागा,
कोई जांणेगा जांननहार सभागा॥
अंबरि दीसे केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरन हारा॥[1]

—कबीर

... ...

तड़ित की मुस्कान सा वह कौन है॥

—महादेवी

परिचय—उस 'अचिन्त्य' का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करते-करते रहस्यवादी जान लेता है कि उसकी स्थिति होने पर भी उसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता इसीसे जिज्ञासु पुकार उठता है 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन'—मुण्डकोपनिषद्।[2] कबीर कहते हैं वह गूँगे का गुड़ है, तुलसी भी तन्मय होकर कह उठते हैं—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' और प्रसाद—'कैसे हो क्या हो इसका तो भार विचार न सह सकता'—(कामायनी)। यह परिचय की स्थिति है जिसमें उस सौन्दर्य-सत्ता के महत्त्व से अभिभूत होकर भी रहस्यवादी विमूढ़-सा हो जाता है, फिर भी वह उसके हृदय में एक अभूतपूर्व कसक को भरने लगता है।

कौन तुम मेरे हृदय में?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित?[3]

—महादेवी

परिचय में विस्मय की स्थिति के पश्चात् ऐसी स्थिति आती है जब रहस्यवादी सृष्टि के प्रत्येक कण के सौन्दर्य को उस विराट् के रूप में एकात्म्य देखने लगता है और उसके अनन्त सौन्दर्य से उल्लसित हो उठता है। औपनिषदिक कहता है—ईशावास्य इदं सर्वम्—ईशोपनिषद्।

लाली मेरे लाल की जित देखौ तित लाल,
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥[4]

—कबीर

तेरी आभा का कण नभ में देता अगणित दीपदान।
दिन को कनक राशि पहनाता, विधु को चाँदी का परिधान॥[5]

—महादेवी

---

१. श्री श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली, पद १४१
२. काव्यकला और अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५३
३. सुश्री महादेवी—यामा, पृष्ठ १३५
४. श्री श्यामसुन्दर दास—कबीर ग्रन्थावली
५. सुश्री महादेवी—यामा, पृष्ठ ११४

वह अनन्त-रूप-राशि अनिर्वचनीय है इसे सभी रहस्यवादी एक कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

वास्तविक रूपदर्शन का प्रयत्न और मिलन

प्रिय की आभा के बिखरे हुए सौन्दर्य कणों को एक स्थान, एक व्यक्तित्व में समन्वित देखने की अभिलाषा लगभग सभी रहस्यवादियों में मिलती है। मिस्र की देवी आइसिस या आयशा (जो सत्यकी प्रतीक है) को देखने की चाहना पश्चिम के रहस्यवादी कवि अभिव्यक्त करते है। यहाँ औपनिषदिक ऋषि कहता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषणपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[1]

—ईशोषनिषद्

और प्रसाद—

सब कहते हैं खोलो-खोलो छवि देखूंगा जीवन धन की॥[2]

किन्तु जहाँ 'ईशावास्य' का जिज्ञासु उस रूप को देखकर निश्चय करता है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥[3]

—ईशोपनिषद्

वहाँ प्रसाद का रहस्यवादी अपने अस्तित्व को पृथक् रखकर भी उससे चिर-प्रेम की कामना करता है—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें है क्या धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित
मेरे क्षितिज उदार बनो॥

'सायुज्य मुक्ति' के मुमुक्षु और रहस्यवादी में वही अन्तर है जो ईशावास्य के ऋषि और प्रसाद मे, दोनों रहस्य की खोज में तल्लीन रहते है किन्तु एक का उसके व्यक्तित्व में विलय हो जाता है और दूसरा विलग रहकर उससे नित्य प्रेम करना चाहता है।

विरह

'मिलन' के क्षण रहस्यादी जीवन में अत्यन्त लघु होते हैं। अधिकांशतः वास्तव की भूमि में, वह, अपने 'अपार्थिव प्रिय' की स्मृति की कचोट से अश्रु बहाया करता है। लौकिक-प्रेम में विरही की जो दशाएँ होती है लगभग वही सब रहस्यवादी भी अपने जीवन में अनुभव करता है। मिलन के क्षणों के अनेक अनुभव स्मृति-रूप में रहस्य-वादी की कविता में मिलते हैं।

---

१. ईशोपनिषद्, श्लोक १५
२. श्री जयशकरप्रसाद—कामायनी
३. ईशोपनिषद्, श्लोक १६

रहस्यवादी का विरह काव्यशास्त्री विरह की श्रेणियों में नहीं बाँधा जा सकता किन्तु पूर्वराग, प्रवास, मान और करुण, सबकी स्थितियाँ न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र उसमें मिल जाती हैं। अपार्थिव प्रिय से कभी प्रत्यक्ष भौतिक मिलन जैसा मिलन सम्भव नहीं है। अतः करुण विप्रलम्भ की अथक प्रतीक्षा भी उसमें प्राप्त हो जाती है।

(रहस्यवादी विरहानुभूति प्रसाद)

'आधुनिक रहस्यवाद' का विवेचन करते समय पहले कहा जा चुका है कि छायावाद की सब विरहानुभूतियों को रहस्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। उनमें कुछ ऐसी वैयक्तिक अनुभूतियाँ है जो प्रकृति के प्रतीकों का आश्रय लेकर व्यक्त हुई और अतीन्द्रिय तथा छायात्मक बन गई। प्रसाद के 'आँसू' के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ उसको शुद्ध लौकिक विरह-काव्य मानते है और अन्य रहस्यवादी भावनाओं से समन्वित विरहाभिव्यक्ति।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में प्रसाद-सम्बन्धी आलोचना में लिखा है—

"आँसू तो वास्तव में है शृंगारी विप्रलम्भ के, जिनमें अतीत सुख की स्मृतियाँ रह-रहकर झलक मारती है। पर कभी-कभी वे उस अज्ञात प्रियतम के लिए बहते जान पड़ते हैं।"[१]

नन्ददुलारे वाजपेयी और विनयमोहन शर्मा प्रभृति विद्वान आँसू को लौकिक विरह-काव्य मानते है। वाजपेयी का कहना है—

"आँसू को अध्यात्म और छायावाद का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसको उसके प्रकृत रूप में देखना चाहिए। विरह का इतना बड़ा मार्मिक वर्णन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया में लेने की जरूरत नहीं—उसकी उच्चता स्वयंसिद्ध है·····पर कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है, जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मार्मिक और अधिक सत्य है।"[२]

विनयमोहन शर्मा जी का मन्तव्य है—

'यों, प्रायः मनुष्य के हृदय में—चाहे उसका जीवन किसी भी नैतिक धरातल पर स्थित हो—ऐसे क्षण कभी-कभी अवश्य आते है, जब वह अन्तर्मुखी हो किसी अदृष्ट सत्ता के प्रति आसक्ति-सी अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि होते हैं, तो अपनी इस अनुभूति को व्यक्त कर देते है, पर चूंकि उनकी अनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अधूरी और धुधली होती है। प्रसाद में ऐसी अनुभूति की कभी-कभी लहर उठती दीख पड़ती है—पर जब उस अनुभूति की केवल कामना भर उनके मन में होती है तब हमें उस कामना को रहस्य भावना नहीं समझ लेना चाहिए।'[३]

---

१. श्री रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८१९
२. श्री नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशकर प्रसाद, पृष्ठ ४२
३. श्री विनयमोहन शर्मा—कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ, पृष्ठ २०

कवि के काव्य में अधिकाधिक सारगर्भित अर्थ देखना ही सहृदय का लक्ष्य होता है। 'आँसू' की विरहाभिव्यक्तियों की रससिद्धता शुद्ध मार्मिक विरहानुभूतियों के रूप में तो विवादास्पद हो ही नहीं सकती किन्तु यदि उसमें अधिक गम्भीर अर्थ प्राप्त हो सके तो उनकी ओर दृष्टिपात करना भी अनुचित नहीं होता।

जैसा कि शुक्लजी ने कहा है, आँसू का अधिकांश भाग लौकिक-विप्रलम्भ है किन्तु 'यत्र-तत्र उसमें रहस्यात्मक अनुभूति भी मिल जाती है।' यत्र-तत्र भी क्या, आँसू के द्वितीय संस्करण की विरहानुभूति का अध्ययन यदि किया जाय तो ग्रन्थ के प्रथम बीस पृष्ठों में अभिव्यक्त हुई अनुभूति, शुद्ध रहस्यात्मक-विरहानुभूति और बाकी लौकिक विरह-भावना दिखाई पड़ती है जिसका उन्नयन, उपसंहार रूप में प्रसाद लोकमंगल में करना चाहते हैं। इस रूप में प्रसाद के 'आँसू' में निश्चित रूप से विरह की दो कोटियाँ मिलती हैं जिनमें प्रथम बीस पृष्ठों में अभिव्यक्त हुई अनुभूति रहस्यात्मक अध्यात्मिक अनुभूति है। 'आँसू' की अनुभूति का क्रम रहस्यात्मकता से लौकिकता की ओर क्यों गया? यह एक दूसरा प्रश्न है। वस्तुतः तो लोक-मंगल की कल्पना की परिपक्वता के बाद ही रहस्यात्मकता आनी चाहिए थी। भावना के विकास में व्यतिक्रम अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि उसमें आध्यात्मिक अनुभूति है ही नहीं। अस्तु!

'आँसू' के द्वितीय संस्करण के प्रथम बीस पृष्ठों में आये हुए पदों को निश्चित रूप से रहस्यवादी विरहकाव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

एकान्त भावुक की अन्तर्मुखी साधना में अपार्थिव नियन्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, 'आँसू' की प्रथम पंक्तियों में ही यह भाव व्यक्त हुआ है—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?[1]

करुणा कलित हृदय और वेदना, यह दोनों रहस्यवाद के लिए आवश्यक तत्त्व हैं। करुणाकलित हृदय में भावना और समवेदना की विशेषताएँ होती हैं, जो मानव को उसके स्व के संकुचित संसार से आगे बढाकर कुछ और देखने की दिव्य दृष्टि भी देती है। विश्व की हलचल 'हाहाकार' में उसके नियन्ता के प्रति 'वेदना' का जन्म होता है (वेदना का अर्थ जानने की अभिलाषा माना जा सकता है।)

अव्यक्त के प्रति 'जिज्ञासा' जागृत हो जाने के बाद रहस्यवादी को सम्पूर्ण विश्व अभावमय दिखाई पड़ने लगता है और प्रिय के भाव से वह उस रिक्त स्थान को भरना चाहता है—

आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ ७

टकराती बिलखाती सी
पगली सी देती फेरी।[1]

व्यक्त और अव्यक्त के मध्य चेतना रूपी तरंगिणी आन्दोलित हो उठती है। व्यक्त (संसार) के कारण उत्पन्न विस्मृति के अन्धकार में अव्यक्त (अपार्थिव प्रिय) की स्मृति नक्षत्रालोक की भाँति छिटकी हुई दिखाई देती है। कवि को ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे सब उसकी पीड़ा रूपी अग्नि की छिटकी हुई चिनगारियाँ हों।

क्यों व्यथित व्योम गंगा सी
छिटका कर दोनों छोरें
चेतना तरंगिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें।
बस गईं एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।
ये सब स्फुलिंग है मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न केवल
मेरे उस महा मिलन के॥[2]

आँसू की निम्नलिखित पंक्तियों को किसी भाँति भी लौकिक-विरह के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता—

वाडवज्वाला सोती थी
इस प्रणय-सिंधु के तल में
प्यासी मछली सी आँखें
थी विकल रूप के जल में
बुलबुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र-मालिका टूटी
नभ-मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी।[3]

रहस्यवादी की विरह-दशा का यह वर्णन अपने शुद्ध रूप में कबीरादि संतों की उलटवाँसियों व काव्य-रूपकों की कोटि का ही है। जल में मछली के प्यासे रह जाने का अन्यथा क्या तात्पर्य हो सकता है? अव्यक्त का व्यक्त रूप विश्व ही 'रूप का जल' है,

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आंसू, पृष्ठ ८
२. वही, पृष्ठ ६
३. वही, पृष्ठ १०

और साधक की आँखें मछली के सदृश। पहले यह मछली रूपी आँखें रूप के जल में रहकर भी व्याकुल थीं अब रूप का जल छिन्न-भिन्न हो गया है। विश्व का सौन्दर्य, रहस्यवादी विरही को आकृष्ट नही कर पा रहा, सब कुछ लुटा-सा शून्य-सा दिखाई देता है। प्रणय-सिंधु के तल में सोई हुई वास्तविक वेदना की वाडव-ज्वाला जाग उठती है।

'आँसू' के इस अंश की रहस्यवादिता को उसकी ये पंक्तियाँ और भी स्पष्ट कर देती हैं—

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिंचन
बेसुध चैतन्य हमारा ॥[1]

यहाँ अबोध, बेसुध और चैतन्य शब्द ध्यान देने योग्य हैं। रूप जल का मोह टूटने से पहले चैतन्य बेसुध पड़ा था, उसको वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं था। अब वाडवज्वाला-सी विरह वेदना का अनुभव करते हुए भी वह किसी चिर सुख की कामना करने लगा है।

इससे आगे की पंक्तियाँ भी कवि की विरह-व्यथा के अपार्थिव के प्रति होने का संकेत करती है—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगीं पलकों का लगना।[2]

अभिलाषाओं की 'करवट' शब्द में वृत्तियों के अन्तर्मुखी होकर उनके अपार्थिव के प्रति उन्नयन का भाव है।

'पीड़ा' की अवस्थिति के बाद 'मिलन' के क्षणों का अनुभव भी प्रायः सभी रहस्यवादी करते हैं। उसकी अभिव्यक्ति के लिए लौकिक मिलन के प्रतीकों का आश्रय भी लिया ही जाता है क्योकि और कोई माध्यम रहस्यवादी विरही को उपलब्ध नहीं है। प्रसाद ने भी लौकिक मिलन संकेतों से ही 'उस मिलन' को अभिव्यक्त किया है—

इस हृदय कमल का घिरना
अलि अलकों की उलझन में
आँसू मरद का गिरना
मिलना निश्वास पवन में ॥[3]

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आसू, पृष्ठ ११
२. वही पृष्ठ ११
३. वही, पृष्ठ १२

रहस्यवादी के जीवन में मिलन के वे क्षण अत्यन्त लघु होते हैं, ठोस धरती पर पाँव रखते ही वह पुनः पीड़ा से तड़पने लगता है। श्यामा और चातक की करुण पुकार में उसे अपनी व्यथा का ही आर्द्र स्वर सुनाई पड़ता है। किन्तु अन्य व्यक्तियों को जिन्हें उस अपूर्व पीड़ा का अनुभव नही हुआ उसकी बात सुनने का अवकाश नहीं होता—

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।[1]

... ...

चातक की चकित पुकारें
श्यामा-ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।
बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ
अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएँ।[2]

आँसू के पृष्ठ संख्या १३ से पृष्ठ संख्या २० तक में प्रसाद ने मिलन की अनुभूतियों का और अपनी विवशता का विविध वर्णन किया है। साधक का अपार्थिव प्रिय से मिलन वैसे ही होता है जैसे लहरों का हिमकर से—

गौरव था नीचे आए
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।[3]

× × ×

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।[4]

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ १२-१३
२. वही, पृष्ठ १२-१३
३. वही, पृष्ठ १७
४. वही, पृष्ठ १८

मीरा के 'हे री मैं तो दरद दीवानी मेरो दरद न जाने कोय' की भाँति प्रसाद भी कहते हैं—

रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।[1]

'आँसू' के इस प्रथम अंश में रहस्यवादी की विरह-व्यथा के सब संस्थान हैं—जिज्ञासा, शून्य, पीड़ा, मिलन और फिर चिर पीड़ा। उसको लौकिक विरह-काव्य नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ संख्या २० से आगे के सब पदों में लौकिक विरह-भावना की अभिव्यक्ति है जो पीड़ा की अतिशयता मे अतीन्द्रिय हो गई है और उसका उन्नयन कवि ने लोक-मंगल में करना चाहा है। इसका विस्तृत अध्ययन हम यहाँ न करके आगे दूसरे अंश, 'प्रसाद के काव्य में लौकिक विरह-भावना' में करेंगे।

'आँसू' के इस प्रथम अंश के अतिरिक्त रहस्यात्मक विरहानुभूति, प्रसाद के काव्य में अत्यन्त विरल है। 'झरना' की एक कविता 'खोलो द्वार', 'लहर' की दो-एक कविताओं और 'कामायनी' के 'आशा' सर्ग में यत्र-तत्र उसके दर्शन होते हैं।

कामायनी के आशा सर्ग मे सृष्टि के आदिपुरुष 'मनु' के मिस प्रसाद का भावुक जिज्ञासु पुकार उठता है—

विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम मरुत, चचल पवमान
वरुण आदि सब घूम रहे है
किसके शासन में अम्लान?
किसका था भ्रू भंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे,
अरे प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे।[2]

× × ×

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से संधान।

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ १५
२. वही, कामायनी, आशा सर्ग, पृष्ठ २५-२६

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस में सिंचे हुए
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?[१]

सृष्टि के नियन्ता का रूप-निर्माण करने में स्वयं को असमर्थ पाकर, कवि उस विषय में अपनी पराजय स्वीकार करता है किन्तु फिर भी वह जानता है कि 'वह विराट्' अनन्त रमणीय है।

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो इसका तो
भार विचार न सह सकता ॥[२]

वेदान्तियों की भाँति प्रसाद भी मानते है कि ब्रह्म स्वयं अपनी माया के अंधकार से आवेष्ठित होकर छिपा हुआ है। सूफी-साधकों ने भी अलौकिक प्रिय की अलक के अंधकार के पीछे उसके सुन्दर रूप का अस्तित्व माना है। जीवन अथवा विश्व उनके लिए आत्मा की अंधकारमयी रजनी है। प्रसाद का रहस्यवादी 'स्वय अपनी अलकों में छिपे उस रूप को' देखने के लिए उत्सुक हो उठा है—

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतुहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।

भावुक जिज्ञासु जितना उस रूप के निकट जाना चाहता है उतना ही वह दूर हटता जाना है, केवल उसके सौन्दर्य के कण यत्र-तत्र प्रकृति में बिखरे पड़े हुए रह जाते हैं—

आह, चूम लूं जिन चरणों को चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण चिह्न सी बनकर यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रजकुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी ॥[३]

वह पहले केवल उस सौन्दर्य के दर्शन करना चाहता है यद्यपि उस अनन्त सौन्दर्य की चकाचौंध में पहले इसकी आँखें बन्द हो जाएँगी किन्तु फिर भी वह उसे पहचान लेगा।

---

१. श्री जयशकरप्रसाद—कामायनी, आशा सर्ग, पृष्ठ २६
२. वही, पृष्ठ २६
३. वही, लहर, पृष्ठ १०

और तब उसमें अपनी चिरपिपासा की तृप्ति को पाकर 'उसे' अपने आलिंगन में जकड़ लेने को व्याकुल हो उठेगा।

देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ ॥
फिर कह दोगे, पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
किन्तु उन्हीं अधरों से पहले उनकी हँसी दबाओ तो ॥
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहु लता से आ जकड़ो ॥[1]

'लहर' की उपर्युक्त कविता में प्रसाद का शाश्वत प्रिय, सूफियों की मुग्धा नायिका—जायसी की 'पद्मावती' का प्रतिरूप-सा बन जाता है।

'झरना' प्रसाद की प्राथमिक रचनाओं में से है किन्तु उसकी अटपटी कविताओं के मध्य में भी उनका रहस्यवादी हृदय कभी-कभी लौकिक कष्ट की आँच से तपकर शाश्वत प्रिय के द्वार पर विश्राम पाने के लिए आतुर हो उठा है। 'खोलो द्वार' नामक कविता में हम 'प्रसाद' का वही आत्मविश्वास पाते है जो कबीर का है। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने अपनी व्यक्तित्व रूपी 'चदरिया' को प्रारम्भ से यत्न से ओढ़ा और 'प्रसाद' ने आँसुओं से धोकर उसको निर्मल बना दिया है—

धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार।
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार ॥[2]

इन वैयक्तिक रहस्यात्मक अनुभूतियों के अतिरिक्त समष्टिगत रहस्यानुभूति के संकेत भी प्रसाद के काव्य में मिलते है। समष्टिगत रहस्यानुभूति के मूल में भी लोक-कल्याण की भावना ही है। प्रसाद का रहस्यवादी अपने साथ विश्व को भी उस अपूर्व अनुभूति में तन्मय देखना चाहता है। कबीर जैसे 'जहँ चढ़ि हँसा केलि करै' की कल्पना करते थे वैसे ही प्रसाद—

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो,
जीवन धन ! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो ॥[3]

वह विश्व के प्रत्येक प्राणी को द्वैत की भावना से रहित, स्नेह के आलिंगन में आबद्ध देखना चाहते हैं।

प्रसाद और कबीर में वही अन्तर है जो साधक और सिद्ध में है। एक विश्वास के युग में ताल ठोंककर यह कह सकता था कि मैंने ऐसा अनुभव किया है और दूसरा

१. श्री जयशंकर प्रसाद—लहर पृष्ठ १०
२. वही, झरना, 'खोलो द्वार', पृष्ठ २१
३. वही, लहर, पृष्ठ २९

बुद्धि के युग में, अपनी क्षणिक रहस्यात्मक अनुभूतियों को स्थायी बनाने को निरन्तर तत्पर है।

प्रसाद : लौकिक विरहानुभूति

प्रसाद के काव्य में वैयक्तिक प्रेम और विरह की एक स्पष्ट धारा 'झरना' से प्रारम्भ होकर 'लहर' तक आई है। प्रारम्भ में अपनी अनुभूति में वह शुद्ध मांसल थी किन्तु धीरे-धीरे उसका मानसीकरण होता गया; सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते-होते वह छायात्मक बन गई; कवि की वैयक्तिक व्यथा न कहकर प्रकृति के कण-कण की व्यथा का आभास देने लगी।

कवि का 'जीवन सोता' 'झरना' में शान्त गति से 'गिरि संकट' के बीच में से बह रहा था तभी किसी ने जाह्नवी के समान उसका आदर करके, प्रेम का दीप उसे भेंट किया—

गिरि संकट में जीवन सोता मन मारे
चुप बहता था,
कलकल नाद नहीं था उसमें मन की बात
न कहता था।
इसे जाह्नवी-सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है।
अंचल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है॥[1]

कवि के युवक मन में यौवन सुलभ अभिलाषाएँ, लालासाएँ हैं। अपने प्रथम मिलन की अनुभूति को उसने निर्व्याज व्यक्त किया है—

निभृत था—पर हम दोनों थे
वृत्तियाँ रह न सकीं फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
'मिलेगा कब ऐसा एकान्त?'
हाथ में हाथ लिया मैंने
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त
मलय ताड़ित किसलय कोमल
हिल उठी उँगली, देखा, भ्रान्त।[2]

जब प्रिय से उसे विश्वासघात मिला तो सहसा विश्वास न हुआ। हताश-सा वह उससे अनुनय करने लगा—

क्रोध से, विषाद से, दया पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए।[3]

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—झरना, (अर्चना), पृष्ठ २७
२. वही, पृष्ठ ७१-७२
३. वही, पृष्ठ ४३

यहाँ प्रसाद, ग़ालिब के अत्यन्त निकट आ गए हैं। यह अनुभूति बहुत कुछ 'और कुछ नहीं तो अदावत ही सही' जैसी ही है। ऐसे ही एक और स्थान पर भी उनके भाव जैसे गालिब के भावों की प्रतिध्वनि से लगते हैं—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाए कहीं॥[1]

—प्रसाद

क़ता कीजिए न ताल्लुक़ हमसे
ग़ैर को तुझसे मुहब्बत ही सही।

—ग़ालिब

परन्तु यह स्थिति बहुत अधिक समय तक नहीं रही। प्रसाद का प्रेमी भावुक किसी के सामने प्रेम के लिए अधिक घिघियाना नहीं चाहता—वह उपेक्षा में ही सुख की खोज करने लगता है—

किसी पर मरना यही तो दुख है।
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है
यही प्रार्थना हमारी।
जलन छाती की बड़ी सहता हूँ
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ,
बड़ी हो दया तुम्हारी।[2]

'झरना' में प्रेम की यह अनुभूति और उसमें निराशा की व्यथा सीधे तथा सरल रूप में अभिव्यक्त हुई है। कवि ने प्रकृति के प्रतीकों का आश्रय लेकर उसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय रूप देने की चेष्टा नहीं की है। 'आँसू' में प्रतीकों का आश्रय लेकर वह अतीन्द्रिय बनती हुई-सी प्रतीत होती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।
थक जाती थी सुख रजनी
मुखचन्द्र हृदय में होता
श्रम-सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता॥
सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुंज में मेरे

१. श्री जयशंकरप्रसाद—झरना, पृष्ठ ४४
२. वही, पृष्ठ ८६

चाँदनी शिथिल अलसाई
सुख के सपनों से मेरे।
लहरों में प्यास भरी है
हैं भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पीकर
लुढ़का दी तुमने प्याली॥[1]

प्रिय से मिलन और वियोग की व्यंजना एक पद में बड़ी सुन्दरता से हुई है—

मादकता से आये तुम
सज्ञा से चले गए थे
हम व्याकुल पड़े बिलखते
थे, उतरे हुए नशे से।[2]

प्रिय के आगमन की मदिरा के मादक प्रभाव और चले जाने की, होश में आने' से तुलना बड़ी सजीव है।

प्रिय द्वारा दिये गए 'आश्वासन' पर कटु व्यंग्य शुद्ध वैयक्तिकरूप में अत्यन्त मार्मिक हो उठा है—

इतना सुख जो न समाता
अतरिक्ष में, जल थल में
उनकी मुट्ठी में बन्दी
था आश्वासन के छल में।[3]

सम्पूर्ण सृष्टि उसे अपने सुख-दुख का प्रतिरूप-सी लगती है। प्रकृति का प्रत्येक कण उसकी व्यथा से आर्द्र हो उठा है—

क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा की मृदु पलकों में
हाँ! उलझ रहा सुख मेरा
संध्या की घन अलकों में।[4]

अनन्त दुख और वेदना सहकर भी कवि निराशा के गर्त में नहीं गिरा है। उसने सुख-दुख के मध्य जीवन की स्वस्थता के दर्शन किए हैं।—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह-मिलन का

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ २७
२. वही, पृष्ठ ३३
३. वही, पृष्ठ ४९
४. वही, पृष्ठ ४७

दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।[1]

ऐकान्तिक प्रेमी प्रतिदान के अभाव में किस प्रकार स्वयं को पीड़ा देकर प्रेम को परिपोषित करता है इसकी व्यंजना आँसू में बड़ी सुन्दर हुई है—

इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आओगे आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रो रोकर अपनाओगे।[2]

'स्वप्न' में प्रिय से मिलन की कामना करता हुआ वह रात्रि से स्वप्नदान के लिए प्रार्थना करता है—

निशि, सो जावें अब उर में
ये हृदय व्यथा हमारी
उनका उन्माद सुनहला
सहला देना सुखकारी
× × ×
सपनों की सोन जुही सब
बिखरें ये बनकर तारा
सित सरसिज से भर जावे
वह स्वर्गङ्गा की धारा।[3]

विरही की विवश स्थिति पर जब 'सुख' व्यंग्य करने लगता है तब वह अपने मन को समझाता है—

सुख अपमानित करता सा
जब व्यंग्य हँसी हँसता है
चुपके से तब मत रो तू
यह कैसी परवशता है।[4]

कठिन विरह-व्यथा से बचने का सरल उपाय प्रसाद ने जग की मंगल कामना में खोजा है। आँसू और स्मित के सामंजस्य से उत्पन्न स्वस्थ जीवन में वह उन्हें प्राप्त हुआ है—

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ ४६
२. वही, पृष्ठ ५२
३. वही, पृष्ठ ५४
४. वही, पृष्ठ ५७

इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला।[1]
× ×
मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सोने वाले
अधरों में हँसते - हँसते
आँखों में रोने वाले।[2]

इस स्वस्थ जीवन-दर्शन से उन्हें रोने की आवश्यकता नहीं रही। सम्पूर्ण सृष्टि स्वयं उसकी व्यथा से माधुर्य का कण पाने को लालायित हो उठे, ऐसी टीस कवि उत्पन्न करना चाहता है :

फिर विश्व माँगता होवे
ले नभ की खाली प्याली
तुम से कुछ मधु की बूंदें
लौटा लेने को लाली।

अपने व्यक्तित्व में वह ऐसे निखार की अपेक्षा करता है जिससे उसके हृदय के सौन्दर्य से विश्व का कण-कण उद्भासित हो सके—

प्राची के अरुण मुकुर में
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा
उस अलस उषा में देखूं
अपनी आँखों का तारा।[3]

'लहर' की एक कविता में प्रसाद ने भ्रमर के मिस विरही की करुण कथा का सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। विरही का मिलन सुख, स्वप्न के समान चिर अस्थायी होता है। उसकी क्षणिक अनुभूति के पश्चात् विरही, स्मृति को ही जीवनपथ का आधेय बना लेता है—

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।[4]

स्मृति रूप में कवि ने प्रकृति के माध्यम से मिलन और विरह की मार्मिक

१. श्री जयशंकर प्रसाद—आंसू, पृष्ठ ६३
२. वही, पृष्ठ ६५
३. वही, पृष्ठ ६७
४. वही, लहर, पृष्ठ ११

अनुभूति का सफल चित्रण किया है—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?
जब सावन-घन-सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे!
× × ×
सुरधनु रंजित नव जलधर से—
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे।[1]

सुरधनु के रंग से रंजित बादलों से युक्त अम्बर में प्रेमी-मन के विविध भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है। सरिता के हरे-भरे दो किनारों से नायिका के उल्लसित अधरों की उपमा भी अनुपम है।

विरह की 'स्मृति' दशा की उपमा प्रसाद ने 'चपला' से दी है। चपला में अनुभूति की चकाचौंध करने वाली दीप्ति का व तड़पन का भाव है:

चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ पट पर वह विरला
मेरी जीवन स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।[2]

प्रेम के क्षेत्र में मिली निराशा ने प्रसाद के प्रेमी को अकर्मण्य नहीं बनाया है। 'आँसू' में 'लोक-मंगल' की जो कामना कवि ने की थी, वह 'लहर' में फलीभूत हुई-सी प्रतीत होती है—

निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मृदु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को।
जीवन रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर में आँसू बन,
वही दे रहा था सावन घन—
वसुधा की इस हरियाली को।[3]

'मानस की गहराई' से वह निरन्तर यह याचना करता रहा है—

तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल

१-२. श्री जयशंकरप्रसाद—लहर, पृष्ठ २७
३. वही, पृष्ठ ४२

सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुघराई।[१]

इतना सब होने पर भी व्यथा को वह भुला नहीं सका है। प्रकृति का मादक रूप उसके मन में अभाव की वेदना भर देता है। यहाँ अभिव्यक्ति में प्रकृति का रूप शुद्ध उद्दीपन है—

प्यारे भरे श्यामल अम्बर में जब कोयल की कूक अधीर,
नृत्य-शिथिल बिछली पड़ती है वहन कर रहा उसे समीर,
तब तू क्यों अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता?[२]

प्रसाद के काव्य में लौकिक विरह का मूल स्वर विश्वासघात से उत्पन्न पीड़ा है। अतः उसे विश्वासघात से उत्पन्न अनिश्चित अवधि का सम्बन्ध-विच्छेद अथवा करुण विरह कहना चाहिए—

वंचित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम,
किसी नयन की नील निशा में क्या कर चुका क्षणिक विश्राम?[३]

लौकिक विरह की यह धारा उनकी रहस्यवादी रचनाओं से बिलकुल असम्पृक्त अपना अलग अस्तित्व रखती है।

महादेवी की विरहानुभूति

जिस तरह मीरा के जोगिया विषयक पदों को पढ़कर, उनका उपालम्भ और निवेदन गिरिधर नागर के लिए है; यह मानने में सन्देह होने लगता है: उसी भाँति 'मानस कुंज उजाड़कर परदेश बसाने वाले' महादेवी के प्रियतम की अलौकिकता भी उनके उन पदों में संदिग्ध हो जाती है—

बिखरते स्वप्नों की तस्वीर
अधूरा प्राणों का सन्देश
हृदय की लेकर प्यासी साध
बसाया अब है कौन विदेश?
रो रहा है चरणों के पास
चाह जिनकी थी उनका प्यार![४]

---

१. श्री जयशंकरप्रसाद—लहर, पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ ४४
३. वही, पृष्ठ ४४
४. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ३६

तथा—

हुई सोने की प्रतिमा क्षार
साधनाएँ बैठी हैं मौन
हमारा मानस-कुंज उजाड़
दे गया नीरव रोदन कौन ?

'नीहार' की एक अन्य कविता में अतीत का मधुर और वर्तमान का करुण अश्रुमय चित्र कवयित्री ने प्रस्तुत किया है। उसमें वह प्रिय द्वारा की गई अवहेलना की बात कहती हैं। यदि महादेवी की कविता में उनकी विरहानुभूति को केवल निराकार अपार्थिव 'ब्रह्म' के लिए मान लिया जाय तो 'ब्रह्म' रूपी प्रिय की अवहेलना का क्या अर्थ निकलेगा ?

जला जिसमें आशा के दीप
तुम्हारी करती थी मनुहार
हुआ वह उच्छ्वासों का नीड़
रुदन का सूना स्वप्नागार
हृदय पर अंकित कर सुकुमार
तुम्हारी अवहेला की चोट
बिछाती हूँ पथ में करुणेश
छलकती आँखें हँसते ओंठ ![1]

इस सम्पूर्ण सृष्टि में केवल वही अकेली विरह से पीड़ित नहीं है, कण-कण में वह व्यथा व्याप्त है—

न रहता भौंरों का आह्वान
नहीं रहता फूलों का राज्य
कोकिला होती अन्तर्धान
चला जाता प्यारा ऋतुराज
असम्भव है चिर सम्मेलन
न भूलो क्षणभंगुर जीवन।[2]

सबकी पीड़ा जैसे उनकी प्रेमिका को प्रिय का वियोग सहने की शक्ति दे रही है। विरह-वेदना उनके स्वरूप को उज्ज्वलतर बना देगी, ऐसा उनका विश्वास है—

सखे यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु
सजीला सा फूलों का रंग;

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ४०
२. वही, पृष्ठ ४२

तुम्हें करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन।[1]

ऐसा लगता है कि पार्थिव निराशा को महादेवी ने अपार्थिव अमूर्त प्रियतम के चरणों में न्योछावर किया है। लौकिक कुंठा से उत्पन्न हुआ अपार्थिव के प्रति उन्मुखी भाव ही उनकी रहस्यवादी कविता का मूल स्रोत प्रतीत होता है। स्वयं उनके अपने शब्दों में—

मैं भी भर भीने जीवन में
इच्छाओं के रुदन अपार,
जला वेदनाओं के दीपक
आई उस मन्दिर के द्वार!
क्या देता मेरा सूनापन
उन चरणों को उपहार?
बेसुध-सी मैं धर आई
उन पर अपने जीवन की हार![2]

परन्तु 'जीवन की हार' भी अपार्थिव के प्रति उन्नयनित और समर्पित होकर दैदीप्यमान हो उठी है—

मधुमाते हो विहँस रहे थे
जो नन्दन कानन के फूल,
हीरक बनकर चमक गई
उनके अंचल में मेरी भूल![3]

'नीहार' में ही शुद्ध रहस्यवादी कविताएँ प्राप्त हैं। सांसारिक भव्य इच्छाओं का चूर्ण करके साधिका ने व्यक्तित्व का प्याला बनाया है और उसे पीड़ा से संसिक्त करके उसमें जीवन का स्पन्दन फूंका है। 'शून्य' के तट पर उसे अपार्थिव गायक का अलौकिक गायन सुनाई दिया; तभी से उसका मन उद्वेलित हो उठा है और स्व से समन्वित उसका व्यक्तित्व विनष्ट हो गया है—

इन हीरक के तारों को
कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिला कर
प्राणों का आसव ढाला;
मलयानिल के झोंकों में
अपना उपहार लपेटे

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ ५९
३. वही, पृष्ठ ५९

मैं सूने तट पर आई
बिखरे उद्गार समेटे।[1]

तभी—

गायक वह गान तुम्हारा
आ मँडराया पलकों में।

महादेवी की प्रेमी साधिका के 'प्राण' उस झंकार से 'बेसुध' हो गए थे किन्तु वह सुख स्थायी न था। उनको (प्राणों को) विरह की पीड़ा प्रदान करके वे रातें जाने कहाँ अन्तर्हित हो गई हैं—

हो गई कहाँ अन्तर्हित
सपने लेकर वे रातें
जिनका पथ आलोकित कर
बुझने जाती हैं आँखें।[2]

जिस तरह 'नीहार' के धुँधलेपन के गलते-गलते दिवस की 'रश्मि' स्पष्ट हो जाती है, उसी तरह 'रश्मि' तक आते-आते महादेवी के सामने उनका विरहपथ स्पष्ट हो गया है। यहाँ तक आकर मन की अव्यवस्थित स्थिति का धुँधलापन नष्ट हो गया है और अलौकिक प्रिय के प्रणय से उत्पन्न अनेक मिलन-विरह के क्षणों का अनुभव होने से मन की चिरप्यास जाग उठी है—

घुल-घुल जाता यह हिम-दुराव
गा-गा उठते चिर मूक भाव
अलि सिहर-सिहर उठता शरीर।[3]

जीवन के शून्य और निराशा के कारण जो विरक्ति उनके मन में घर करने लगी थी, वह प्रकृति का अधिकाधिक सम्पर्क प्राप्त करके उसके निर्माता के प्रति जिज्ञासामयी हो उठी है—

कनक से दिन मोती-सी रात
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात
मिटाता रगता बारम्बार
कौन जग का यह चित्राधार?
रजत प्याले में निद्रा ढाल,
बाँट देती जो रजनी बाल,

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ २२-२३
२. वही, पृष्ठ २३
३. वही, पृष्ठ ७०

उसे कलियों में आँसू घोल
चुकाना पड़ता किसको मोल ?[1]

× ×

किन उपकरणों का दीपक
किसका जलता है तेल
किसकी वर्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?[2]

प्रकृति के कोमल मृदु तथा विकराल, दोनों रूपों में उन्हें प्रिय के अस्तित्व का पता मिलता है :

प्रकृति के कोमल रूप में :

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में;
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है ?[3]

विकराल रूप में :

शून्य नभ पर उमड़ जब दुख भार सी
नैश तम में, सघन छा जाती घटा
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार सी;
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?[4]

प्रकृति, कवयित्री में केवल अलौकिक के प्रति जिज्ञासा-भाव को ही जागृत नहीं करती, वह उसे सृजन और विनाश के गम्भीर रहस्यों पर चिन्तन करने को भी बाध्य करती है। 'प्रातः के सुखद मनोरम वातावरण में सपनों का विनाश क्यों हो जाता है ? संध्याकाल में रवि का पथ लीप-पोतकर सुथरा बनानेवाली तथा उसके मार्ग-प्रदर्शन के लिए पहला दीप जलानेवाली संध्या के सौभाग्य को तम का झकोरा छिन्न-भिन्न क्यों कर देता है ?' महादेवी के मन में प्रश्न उठता है—क्या यही जीवन की गति है ? किन्तु मन

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ७१
२. वही, पृष्ठ ७८
३. वही, पृष्ठ ७९
४. वही, पृष्ठ ७९

फिर समाधान करता है कि सुख और दुख के समन्वय का नाम ही जीवन है—

कलि पर अलि का पहला गान
थिरकता जब बन मृदु मुस्कान,
विफल सपनों के हार पिघल
ढुलकते क्यों रहते प्रतिपल ?
गुलालों से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग
दृगों से झरता स्वर्ण पराग;
उसे तम की बढ़ एक झकोर
उड़ा कर ले जाती किस ओर ?
अथक सुषमा का सृजन-विनाश
यही क्या जग का श्वासोच्छ्वास ?

× × ×

आदि में छिप जाता अवसान
अन्त में बनता नव्य विधान
सूत्र ही है क्या यह संसार
गुँथे जिसमें सुख दुख जयहार ?[1]

जीवन वीणा पर राग-विराग, आँसू और स्मिति की लय भर जाने वाले व्यक्तित्व को अपना बना लेने की साध 'रश्मि' में बड़ी प्रबल है—

मेरे शैशव के मधु में धुल,
मेरे यौवन के मद में ढुल
मेरे आँसू स्मित में हिलमिल
मेरे क्यों न कहाते ?[2]

रहस्यवादी विरही की मनोस्थिति का विश्लेषण महादेवी ने बड़े मार्मिक ढंग से इस तरह किया है—

धूलि के कण में नभ सी चाह
बिन्दु में दुख का जलधि अथाह,
एक स्पन्दन में स्वप्न अपार
एक पल असफलता का भार।[3]

प्रिय की निरन्तर प्रतीक्षा के असीम सुख में ही महादेवी की प्रेमिका विलय हो

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ७२
२. वही, पृष्ठ ७३
३. वही, पृष्ठ ८०

जाना चाहती है। रामनरेश त्रिपाठी के 'विरह प्रेम की जागृत गति है' शब्द महादेवी के व्यक्तित्व में साकार होने लगते हैं। स्वयं को वह विरह-पथिक का धीमा पग बताती हैं जो मंज़िल पर पहुँचने से पहले ही थककर गिर पड़ता है—

तुम अगर प्रतीक्षा हो मैं
पग विरह पथिक का धीमा
आते आते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा।[1]

विरह से संसिक्त, व्यथा का भार उठाये हुए अपने अश्रु-आर्द्र जीवन का विश्लेषण उनके प्रेमिका रूप ने इस तरह किया है—

प्रिय इस नयनों का अश्रु-नीर
दुख से आविल सुख से पंकिल
बुद्बुद् से स्वप्नों से फेनिल
बहता है युग युग से अधीर।[2]

विरह के कष्ट में उनका व्यक्तित्व उज्ज्वल कमल-सा प्रस्फुटित हुआ है :

इसमें उपजा यह नीरज सित
कोमल कोमल लज्जित मीलित
सौरभ से लेकर मधुर पीर![3]

यह विश्व के आकर्षणों से प्रफुल्ल नही होता, केवल प्रिय की करुणा से जीवित है—

इसको न जगाती मधुप भीर!
× × ×
तेरे करुणा कण से विलसित,
हो तेरी चितवन से विकसित
छू तेरी श्वासों का समीर!

कहीं प्रिय से अनुग्रह की याचना करते-करते उनके विरही का स्वाभिमान जाग उठता है और तब अपनी अनन्त 'प्रदान शक्ति' पर गर्व करते हुए अपने 'पपीहे मन' को समझाती हैं—

जिसको अनुराग सा दान दिया,
उससे कण माँग लजाता नहीं
अपनापन भूल समाधि लगा,
यह पी का विहाग भुलाता नहीं;

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ७६
२. वही, पृष्ठ १२६
३. वही, पृष्ठ १२८

नभ देख पयोधर श्याम घिरा
मिट क्यों उसमें मिल जाता नहीं
वह कौन सा पी है पपीहा तेरा
जिसे बाँध हृदय में सुलाता नहीं।[1]

पतंग, मीन और चकोर का आदर्श उनके सम्मुख है—

कभी देख पतंग को जो दुख से
निज, दीपशिखा को रुलाता नहीं,
मिल ले उस मीन से जो जल की,
निठुराई विलाप में गाता नहीं
कुछ सीख चकोर से जो चुगता ,
अगार, किसी को सुनाता नहीं।[2]

अनन्त विरह वेदना झेलते हुए रहस्यवादी विरही के जीवन में कभी-कभी मिलन के क्षण भी आते हैं उस समय उसका अपने हृदय पर वश नहीं रहता, प्रिय उस पर एकाधिकार कर लेता है और तब उसकी सारी निधियाँ वह प्रिय, भिक्षुक-विश्व के लिए लुटा देता है—

वह उर में बन आता पाहुन,
कहता मन से अब न कृपण बन
मानस की निधियाँ लेता गिन
दृग द्वारों को खोल विश्व भिक्षुक पर हँस
बरसा आता।[3]

प्रिय के आगमन का साम्य उन्होंने ग्रीष्म से तप्त 'मानस' के लिए 'बादल' के शदृश्य किया है। यह उपमा उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त सशक्त है :

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता;
इस निदाघ से मानस में करुणा का स्रोत बहा जाता![4]

मिलन की अनुभूति कुछ क्षणों के लिए विरही को हर्ष विह्वल तो बनाती है किन्तु जब वह समय बीत जाता है तो उसकी स्मृति उसे कचोटती हुई, वेदना को तीव्रतम कर देती है—

अलि अब सपने की बात—
हो गया वह मधु का प्रात।
मिलन-इन्दु बुनता जीवन पर,
विस्मृति के तारों से चादर

१-२. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ११५
३. वही, पृष्ठ ७४
४. वही, पृष्ठ ७४

विपुल कल्पनाओं का मन्थर-
बहता सुरभित वात !
अब नीरव मानस-अलि गुजन,
कुसुमित मृदु भावों का स्पंदन
विरह-वेदना आई है बन—
तम-तुषार की रात ![1]

महादेवी और मीरा की प्रणयानुभूतियों में प्रायः साम्य स्थापित किया जाता है, किन्तु इन दोनों की अनुभूतियों में तात्विक अन्तर है। मीरा का अपार्थिव प्रियतम सगुण साकार है और महादेवी को अपने प्रियतम के चरणों की ज्योति का आभास तो मिलता है; किन्तु प्रत्यक्षता में आने का साहस उनमें (उनके प्रियतम मे) नही है। उसकी प्रत्यक्षता के विषय में कोई उससे पूछ भी नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं कहती हैं—

मेघों में विद्युत सी छवि,
उनकी बनकर मिट जाती,
आँखों की चित्रपटी में,
जिसमें मैं आँक न पाऊँ।[2]

सम्भवतः दोनों की परिस्थितियाँ ही इसका कारण हों। मीरा का युग विश्वास का युग था, कृष्ण आदर्श पुरुष थे; मीरा उन्हें सब कुछ अर्पित कर सकी। आज परिस्थिति बदल गई है। छात्रालय के व्यस्त जीवन में अन्य संसारियों की भाँति रहती हुई महादेवी की विरहानुभूति की रहस्यवादिता को ही सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है; वह ब्रह्म की आराधिका होकर, उसके किसी विशिष्ट रूप पर अपना सब कुछ अर्पित कर चुकी हैं; इस बात पर कौन विश्वास करता ?

अपार्थिव के प्रति उन्मुखी भाव में, महादेवी केवल रहस्यवादी नहीं हैं। वेदान्ती तत्ववेत्ता की भाँति उन्होंने जैसे 'अहम् 'ब्रह्मोऽस्मि' की स्थिति भी प्राप्त कर ली है—

जाती नवजीवन बरसा
जो करुण घटा कण-कण में,
निस्पंद पड़ी सोती वह
अब मन के लघु बन्धन में
मेरा अपार वैभव ही
मुझसे है आज अपरिचित
हो गया उदधि जीवन का
सिकता कण में निर्वासित ![3]

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ९२
२. वही, पृष्ठ १०९
३. वही, पृष्ठ ८६

बिम्बप्रतिबिम्ब भाव और अंश-अंशी भाव दोनों उनकी कविता में प्राप्त हैं :

मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित विलास
मुझे बाँधने आते हो लघु
सीमा में चुपचाप
कर पाओगे भिन्न कभी क्या
ज्वाला से उत्ताप ![1]

तथा—

उर्मियों में झूलता राकेश का आभास,
दूर होकर क्या नहीं है इन्दु के ही पास ?[2]

'नीरजा' में वह प्रिय से एकात्म-सा स्थापित करती हुई प्रतीत होती हैं। प्रेयसी और प्रियतम का अभिनय उन्हें अच्छा नहीं लगता क्योंकि वह उससे भिन्न नहीं है—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय।
प्रेयसी प्रियतम का अभिनय क्या ![3]

यहीं एक नवीन उलझन खड़ी हो गई है। अमूर्त अपार्थिव में महादेवी स्वयं को विलीन कर देना चाहती थीं किन्तु अपने अहं के प्रति सजग व्यक्तित्व के कारण वह ऐसा न कर सकीं। पुरुष के सजग व्यक्तित्व जैसे ही उन्होंने भी 'अहं ब्रह्मोस्मि' की स्थिति का तो अनुभव किया किन्तु उनकी नारी की शाश्वत प्यास इससे बुझी नहीं। अहं से प्रेरित अभिमान तथा समर्पण के बीच वह डाँवाडोल होती रही हैं। स्वयं उनके अपने शब्दों में उनकी अव्यवस्थित मनःस्थिति का परिचय मिलता है—

चाहा था तुझमें मिटना भर,
दे डाला बनना मिट-मिट कर,
यह अभिशाप दिया है या वर,
पहली विरह-कथा हूँ या मैं
चिर-विरह कहानी।
बताता जा रे अभिमानी ![4]

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा—पृष्ठ १०४
२. वही, पृष्ठ ९१
३. वही, पृष्ठ १४३
४. वही, पृष्ठ १४४

एकोऽहम् के इस अहं को भुलाकर वह समर्पण के पथ को अपनाना चाहती हैं :

तू जल जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुलमिल।
मदिर मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।[1]

भविष्य में प्रिय से जो चिर मिलन होगा, उसका मधुर स्वप्न भी उनकी पलकों में है। जब वह प्रिय आएगा, तब दिशाएँ उत्सुक हो उठेंगी; प्रतीक्षा के पलों में भी कवयित्री उसकी पदचाप का अनुभव कर सकती है :

'आता कौन' नीड़ तज पूछेगा विहगों का रोर;
दिग्बधुओं के घन घूँघट के चंचल होंगे छोर;[2]
पुलक से होंगे सजल कपोल !
हठीले हौले हौले बोल !
प्रिय मेरा निशीथ-नीरवता में आता चुपचाप,
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप;
सुभग ! यह पल घड़ियाँ अनमोल !
हठीले हौले हौले बोल !
मुखर पिक हौले हौले बोल ![3]

उपहार रूप में प्रिय को वह अपना निश्वासों से विधा-गुँथा हृदयहार ही अर्पण कर सकती है, क्योंकि तारे और कलियाँ तो उसी प्रिय के सौन्दर्य का प्रतिभासित रूप है—

जो न हृदय अपना बिंधवाऊँ
निश्वासों के तार बनाऊँ,
तो कह किसका हार बनाऊँ,
तारों ने वह दृष्टि, कली ने
उनकी हँसी चुरा ली।[4]

प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में महादेवी, सूफी कवि जायसी के भावों से कितना साम्य रखती हैं ! पद्मावती के सौन्दर्य की परछाई मानसरोवर पर पड़ी तब जायसी कहते हैं—

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ १४६
२. वही, पृष्ठ १४७
३. वही, पृष्ठ १४७
४. वही, पृष्ठ १६

नयन जो देखा कँवल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥[1]

यहाँ तारों ने, अलौकिक प्रिय की दृष्टि और कलियों ने, उसकी हँसी को चुरा लिया है।

हृदय पर मस्तिष्क प्रमुख होकर जब कभी सोऽहम् की चेतना जगाना चाहता है, तब कवयित्री भुलावे के दर्पण में 'द्वैत' की चेतना के मोह को छोड़ना नहीं चाहती—

तेरी सुधि बिन क्षण क्षण सूना।
कंम्पित कम्पित,
पुलकित पुलकित
परछाई मेरी से चित्रित,
रहने दो रज का मंजु मुकुर
इस बिन शृंगार-सदन सूना
तेरी सुधि बिन क्षण क्षण सूना![2]

चिन्तन के क्षणों में कभी वह रज का दर्पण टूट जाता है तो उनका हृदय आर्त-क्रन्दन करने लगता है—

किस पर रीझूँ किससे रूठूं,
भर लूँ किस छबि से अन्तरतम!
टूट गया वह दर्पण निर्मम।[3]

अद्वैत के अकेलेपन से उनका मन ऊबने लगता है। वह शृंगार करके प्रिय से अभिसार की इच्छुक हैं, मधुर भ्रम को तोड़ना नहीं चाहती :

ओ विभावरी!
चाँदनी का अंगराग,
माँग में सजा पराग,
रश्मि तार बाँध मृदुल
चिकुर भार री!
ओ विभावरी!
अनिल घूम देश देश
लाया प्रिय का संदेश,
मोतियों के सुमन-कोष
वार वार री!
ओ विभावरी![4]

---

१. जायसी—पद्मावत, मानसरोदक खण्ड
२. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ १६६
३. वही, पृष्ठ १६८
४. वही, पृष्ठ १९६

अरूप प्रिय पर मन को टिका रखने तथा उसका रूप निर्माण करने में स्वयं को असमर्थ पाकर, वह जगत् के प्रत्येक कण में उसे देखने लगती हैं और अपनी करुण व्यथा उस पर न्योछावर करने को तत्पर हो जाती हैं। ब्रह्म का रूप निर्माण करने में असमर्थ, श्रान्त, वैदिक ऋषि ने भी 'नेति नेति' करके अन्त में कहा था —'सर्व खलु इदं ब्रह्म' और वही उसका अन्तिम समाधान भी था। महादेवी भी कहती हैं—

मेरे सब-सब में प्रिय तुम,
किससे व्यापार करूँगी मैं ?
आँसू का मोल न लूँगी मैं ?
निर्जल हो जाने दो बादल,
मधु से रीते सुमनों के दल;
करुणा बिन जगती का अंचल,
मधुर व्यथा बिन जीवन के पल;
मेरे दृग में अक्षय जल
रहने दो विश्व भरूँगी मै !
आँसू का मोल न लूँगी मैं ![1]

तात्पर्य यह है कि विश्व को प्रिय का व्यक्त रूप मानकर, उसी के प्रति अपनी भावनाओं और हृदय की करुणा अर्पित करने को वह विकल हो उठी हैं। जीवन की अव्यवस्था और परिस्थितियों की अराजकता में, विश्व के प्रति यह आत्म-समर्पण और लोक-कल्याण की भावना आज के कवि की आत्म-प्रतिष्ठा के मूल आधार रहे हैं। 'नीहार' और 'रश्मि' से ही इसका लघु आभास महादेवी की प्रेमिका को रहा है—

तेरी आभा का कण नभ को,
देता अगणित दीपकदान ;
दिन को कनक राशि पहनाता
विधु को चाँदी का परिधान;
करुणा का लघु बिन्दु युगों से,
भरता छलकाता नव घन
समा न पाता जग के छोटे,
प्याले में उसका जीवन ![2]

× × ×

लघु प्राणों के कोने में
खोई असीम पीड़ा देखो,

---

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ १७२
२. वही, पृष्ठ १७२

आओ हे निस्सीम ! आज
इस रजकण की महिमा देखो ![1]

—रश्मि

'नीरजा' में जैसा कि पहले कहा है, यह भाव अत्यन्त स्पष्ट हो गया है—

मेरे दृग में अक्षय जल
रहने दो विश्व भरूँगी मैं।[2]

—नीरजा

'सान्ध्यगीत' व 'दीपशिखा' की अनन्त साधना उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चिर आकुल रही है। एक ओर 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' में उनकी प्रियतमा आत्मा, चिरंतन प्रिय के लिए अत्यन्त विकल है—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु-बयार !
रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक के अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धाका पराग,
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी संवार ![3]

—सान्ध्यगीत

× × ×

जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत-सी तरल बन,
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?[4]

दूसरी ओर वह स्वयं शून्य में प्रिय की प्रतिमा बनकर विश्व के दृगजल का अर्घ्य स्वीकार करना चाहती है—

शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !
अर्चना हो शूल भोले
क्षार दृगजल अर्घ्य होले,
आज करुणास्नात उजला
दुख हो मेरा पुजारी ![5]

---

१ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ११४
२. वही, पृष्ठ १७२
३. वही, पृष्ठ २११
४. वही, दीपशिखा, पृष्ठ ९४
५. वही, यामा, २१२

विश्व के मधुर बन्धन में वह मुक्ति का अनुभव करना चाहती हैं। विश्व का प्रत्येक अणु उसमें व्यक्त होती हुई प्रिय की रूप-कल्पना से मधुर हो गया है—

आज वर दो मुक्ति आवे
बन्धनों की कामना ले !
विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा,
दुख-सुख में कौन तीखा,
मैं न जानी औ' न सीखा
मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।[1]

'दीपशिखा' में साधना के दीप का भी यही चिर लक्ष्य रहा है। स्वयं वह आलोक-स्फुलिंग है। प्रतीक्षा की रात्रि में अपनी लघु आलोक-प्रभा से विश्व के प्राणों को सप्राण रखता हुआ वह प्रिय के चिर आलोक में मिल जाना चाहता है—

पथ न भूले, एक पग भी,
घर न खोए लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका में
आँक सबकी छाँह उज्ज्वल।[2]

उनके मोती से भरे हुए नयन दीपशिखा में—

क्षार हुए, दुख में मधु भरने
तपे, प्यास का आतप हरने,
इनसे धुलकर धूल भरे सपने उजले निखरे ![3]

सृष्टि से एकात्म का अनुभव करती हुई वह, ब्रह्म से एकाकार होने की इच्छुक हैं :

छायापथ में अंक बिखर जावें इनके जब
फूलों में खिल रूप निरख आवें इनके जब
वर दो तब यह बाँध सकें सीमा में तुमको
मिलन-विरह के निमिष-गुँथी साँसों का स्रज लें
यह सपने सुकुमार तुम्हारी स्मित से उजले।[4]

'विरह-वेदना' ने जो दो मुख्य रूप उनकी कविता में प्राप्त किये हैं, उनके विषय में 'यामा' की भूमिका में उन्होंने स्वयं कहा है :

"मुझे दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को संसार के एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ २२१
२. वही, दीपशिखा, पृष्ठ ६८
३. वही, पृष्ठ ८५
४. वही, पृष्ठ ४८

बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।

× × ×

"व्यक्तिगत सुख विश्ववेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व···"[१]

प्रत्येक हृदय में व्यक्तिगत आशा-निराशा रहती है। 'रहस्यवाद' के मधुर लोक की ओर व्यक्ति को प्रेरित करने का प्रश्रय भी जीवन के अभाव को ही है। विश्व में, अभाव की पीड़ा ही व्यक्ति को इतना संवेदनशील बनाती है कि वह 'विराट्' को पहचान सके अथवा उसकी पगध्वनि सुन सके। महादेवी के काव्य में लौकिक-विरह की अभिव्यक्ति का मूल्य भी हम उतना ही मानते हैं। यद्यपि स्वयं महादेवी ने व्यक्तिगत पीड़ा और अभाव का अपने शब्दों में विरोध किया है किन्तु उनकी कविता उसके प्रभाव से अछूती नहीं है।

इतना अवश्य है कि उनकी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक निराशा ने कुण्ठा का छोर पकड़कर रहना नहीं सीखा, स्वस्थ साधना के मार्ग की ओर प्रगमन किया है। शून्य, निराकार-साकार के प्रति प्रणय की घाटियाँ तय करके 'उसके' विराट् रूप 'विश्व' को उन्होंने पहचाना है। उनका विरह कोने में बैठकर रोने वाली अकर्मण्यता का अग्रदूत न बनकर साकार उज्ज्वल कर्मशीलता का संदेशवाहक बन गया है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अराजकता के युग में साधना का दीपक संजोकर बैठी हुई महादेवी 'प्रभाती' की प्रतीक्षा कर रही हैं। न जाने कर्मशीलता के आलोक का संदेश लाने वाला 'प्रभाती' का वह युग कब आएगा ?

झंझा है दिग्भ्रांत रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो ![२]

सुमित्रानन्दन पंत के काव्य में विरहानुभूति

सुमित्रानन्दन पंत की विरहानुभूति का परिचय प्राप्त करने के लिए उनकी विभिन्न रचनाओं को क्रम से देखना होगा। पंतजी की प्रथम कृति 'वीणा' है। यहीं सबसे पहले इस महान् कवि ने वीणावादिनी के चरणों के समीप बैठकर अस्फुट भोले स्वरों में हृदय के उद्गार प्रकट किए हैं।

'वीणा' में कवि ने प्रकृति का अत्यन्त निकट साहचर्य प्राप्त किया है। वह एक

१. सुश्री महादेवी वर्मा—यामा की भूमिका, पृष्ठ १२
२. वही, दीपशिखा, पृष्ठ ९०

छोटी बालिका है, प्रकृति का प्रत्येक कार्य-व्यापार उसके मन को एक अस्फुट जिज्ञासा से भर देता है—

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत।
जहाँ मलिनता विचर रही है
जहाँ शून्यता का है स्रोत।[1]

पंत के मातृ-विधुर हृदय ने प्रकृति अथवा उसकी नियन्ता-शक्ति से माता का सम्बन्ध जोड़ा है; उसी से अपने सब प्रश्नों के समाधान का आग्रह भी वह करता है। 'रहस्यवाद' में अपार्थिव में मातृ-बुद्धि की यह कल्पना तान्त्रिकों की विभूति है। त्रिपुर सुन्दरी रूपी माँ से सृष्टि की उत्पत्ति और उसकी सुखद छाया तथा प्रकृति द्वारा उत्पन्न व्यवधान का वर्णन भी पंत ने किया है। उस व्यवधान को तोड़ने का आग्रह भी है।[2] (मातापुत्र सम्बन्धसे युक्त रहस्यवाद का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है अतः उसका विवेचन नहीं किया गया।)

इससे स्वतन्त्र, प्रकृति के कण-कण में व्याप्त अपार्थिव प्रिय के आलिंगन की साध भी पंत के किशोर हृदय में है—

जिसकी सुन्दर छबि ऊषा है,
नव वसन्त जिसका शृंगार,
तारे हार किरीट सूर्य-शशि,
मेघकेश, स्नेहाश्रु तुषार;
मलियानिल मुखवास, जलधि मन
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाँहों में लिपटा ले
रमा अँग में प्रेम पराग।[3]

यह प्रिय उनको क्षण-क्षण आकर्षित करता रहता है और वंचित भी। इसीसे प्राधार प्राप्त किये हुए 'आहत अहं' से पीड़ित उनकी प्रेमिका उसको उलाहना देती है—

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृगजल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार,

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—वीणा-ग्रन्थि, कविता ३३
२. वही, कविता १३-१४
३. वही, कविता १२

नहीं फिर भी तो आती लाज
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?[१]

प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी और प्रिय के बीच समान भाव की भावना के कारण ही पंत यह उपालम्भ दे सके है। इस कवि में आत्मरति अत्यन्त प्रबल है, इसी कारण उपालम्भ के व्यंग्य में कटुता भी है; 'अभिमान' शब्द इसका द्योतक है।

कबीर के 'पानी हू ते पातला, धुआँ हू ते छीन' के सदृश्य ही पंत भी अपने अमूर्त प्रियतम की कल्पना करते हैं—

रजत तार से हे शुचि रुचिमय !
हे सूचि से कृशतर अंग !
इस अधीर की लघु कुटीर का
तिमिर चीर कर, कर दो भंग !
हे करुणाकर के करुणाकर
तुम अदृश्य बन आते हो,
रजकण को छू बना रजत कण
प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो।[२]

विश्व के माया रूपी अन्धकार में ही प्रिय के स्वप्न का साक्षात्कार, साधक-आत्मा को होता है। जैसे प्रदीप के चरणों पर अन्धकार पड़ा रहता है वैसे ही ब्रह्म के चरणों पर माया का अन्धकार। अतः वह भी कवि को अप्रिय नहीं है। मान और मत्सर की कलुषता उसी अन्धकार को सौंपकर कवि उस प्रिय से एक रूप हो जाना चाहता है :

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अन्धकार स्वप्नों के यान।
किसके पद की छाया हो तुम,
किसका करते हो अभिमान ?
... ...
जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गई जलाने निज अज्ञान,
तब तुम उसके चरणों में थे
पाये हुए सुखद सम्मान,
अपने काले पट में मेरा
प्रिय ! लपेटकर मत्सर मान

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—वीणा, कविता १९
२. वही, कविता २०

रंग रहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण ![१]

'वीणा' की ही एक और कविता में भी ब्रह्म से एकात्म का वही भाव मिलता है :

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर
एक हूँ मैं तुम से सब भाँति ?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति
तृष्णा तुम, यदि मैं चातक पाँति ।[२]

पंत की रहस्य भावना में यहाँ विरह-पीड़ा के स्थान पर चिन्तन और कल्पना अधिक है। इसीलिए वह आत्म-निवेदन के स्थान पर 'मरू के पार के उस उपवन' की बात करते हैं जहाँ 'एक डाल की दो भव्य कलियाँ, सृष्टि में अपना प्रकाश फैला रही हैं। भावुक भ्रमर मरु में ही भटक जाता है इसलिए 'उद्यान' तक पहुँचने में असमर्थ रहता है :

श्रूयते हि पुरा लोके—
विस्तृत मरु थल के उस पार
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार,
छवि के वन में एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली है,
कलित कल्पना की डाली में
जो अतीत से भूली हैं,
जो मधु धुलि, सुगन्धि रहित हैं
दिव्य रूप करती विस्तार,
जहाँ स्वर्ण की आशा अलिनी
गाती है कर स्वप्न विहार।

× ×

उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग मैं दुख पाता है !
बालू का प्रति कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरित की धार।[३]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—वीणा, कविता २५
२. वही, कविता २६
३. वही, कविता ४०

'वीणा' में 'विराट्' के प्रति निवेदन, स्व की सीमा में बँधे 'आत्म' का परमात्मा के प्रति 'आत्म-मुक्ति' का निवेदन है जिसकी प्रेरणा कवि ने अध्ययन और मनन से प्राप्त की है। उन्हें वैयक्तिक सीमा से सम्बद्ध, प्रेमी का प्रिय के प्रति विरह-निवेदन नहीं कहा जा सकता। वैसा कुछ सम्बन्ध हो भी कैसे सकता है ? किसी से, मन की भाव-ग्रन्थि का अनुभव करने का दावा भी तो उसने नहीं भरा है। सरिता के विषय में कही गई पंत की यह उक्ति स्वयं उनके विषय में भी अक्षरशः चरितार्थ-सी प्रतीत होती है :

एक ग्रन्थि भी नहीं पड़ी है
उसके तरल मृदुल उर में।[1]

'वीणा' के उपरान्त ही 'ग्रन्थि' की रचना हुई है। सम्भवतः कवि के उर में 'ग्रन्थि' पड़ने का यह अनुपम योग उपस्थिति हुआ था। 'ग्रन्थि' 'स्मृतिकाव्य' है। इसे पंतजी के व्यक्तिगत अनुभव पर आधृत कहा जाता है। 'ग्रन्थि' के रचना के विषय में यह मन्तव्य कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता किन्तु कवि ने इसमें लौकिक-विरह की पीड़ा का भाव ही व्यक्त किया है।

डा० नगेन्द्र ने 'ग्रन्थि' की रचना के विषय में लिखा है—

"'ग्रन्थि' कवि की प्रारम्भिक कृतियों में से है जब तारुण्य का बाल रवि उसके प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय उस मधुवेला में भाग्य ने उसके हृदय में एक ग्रन्थि डाल दी जिसे वह कदाचित् अब तक नहीं खोल सका है। बहुतों से सुना कि 'ग्रन्थि' पंतजी के अपने अनुभव पर आधृत है, उसमें उन्होंने अपनी प्रणय कहानी लिखी है। वास्तव में इस लेख का लेखक कवि के आन्तरिक जीवन के इतने निकट नहीं है कि इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कह सके—और न किसी के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा श्लाघ्य ही है। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी उच्छ्वास, आँसू और ग्रन्थि ये तीन कविताएँ किसी विशेष प्रेरणा भार से दबकर लिखी हुई हैं और इनमें आत्म-जीवन सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य हैं।"[2]

कुछ भी हो, 'ग्रन्थि' लौकिक प्रणय का काव्य है जो 'स्मृति' रूप में लिखा गया है। इस 'स्मृति काव्य' में प्रथम बार कवि का हृदय निर्व्याज भाव से अपने मन के भार को किसी के हृदय में उँडेलने को मचल उठा है। आधुनिक युग में आकर प्रथम बार हिन्दी का कवि बिना किसी राजा-रानी अथवा कृष्ण-राधा की आड़ लिए अपने मन की बात कह सका है। न तो उसने नीति का बन्धन स्वीकार किया है (यद्यपि उसके विरोध में आक्रोश अत्यन्त दबी हुई आवाज़ में है) और न स्वयं को अमूर्त की प्रेमिका कहकर आँसू बहाए हैं। रक्त मांस से युक्त व्यक्ति के लिए व्यक्ति की निर्व्याज विरहानुभूति 'ग्रन्थि' में प्रथम बार मिलती है; इस दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है।

'ग्रन्थि' के प्रारम्भ में कवि 'कल्पना' को 'सुधि' में मग्न होने का आह्वान देता है।

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—वीणा, कविता २८
२. डॉ० नगेन्द्र—सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ ९८

अतः उसको स्मृति-काव्य कहना ही रुचिकर होगा। कथा, आत्मकथा के रूप में चलती है। विरही नायक 'स्मृति' के क्षणों में उस समय की याद करता है जब उसकी अपनी प्रियतमा से भेंट हुई थी।

एक बार नायक की 'तरणी' किसी सरोवर में डूब गई थी। जब उसकी आँख खुली तब उसने देखा—

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से।[1]

प्रथम दृष्टिपात में उत्पन्न हुए प्रियतमा के भावों का विश्लेषण भी कवि ने अत्यन्त कुशलता और सरलता से किया है--

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।[2]

उस प्रथम-दृष्टि में ही प्रेम का सम्बन्ध दृढ़ हो गया था—

एक पल-मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो -- सम्बन्ध था।

यद्यपि कवि की इस नायिका का ग्रन्थि-बन्धन इस मिलन के पश्चात् किसी और व्यक्ति से हो गया किन्तु फिर भी स्मृति में उसने उसके लिए स्वकीया भाव का बोधक सम्बोधन 'प्रिया' रखा है; 'प्रेयसी' नहीं। सम्भवतः इसलिए कि मानसिक ग्रन्थि-बन्धन जितना शाश्वत और सत्य है, उतना सामाजिक ग्रन्थि-बन्धन नहीं।

प्रेमानुभूति से 'मन के पराए हो जाने' के भाव को भी पंत ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से अभिव्यक्त किया है। "प्रेम के काँटे से बिंध कर मन रूपी सुमन स्व के तरु से विच्छिन्न हो जाता है।" पंत का नायक अपनी प्रियतमा से अनुनय करता है—

प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे ?[3]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—ग्रन्थि, पृष्ठ ९८
२. वही, पृष्ठ ९९
३. वही, पृष्ठ १०१

उत्तर में 'नाथ' शब्द के ताबीज में प्रियतमा के सम्पूर्ण भाव उसे सूत्र रूप में बँधे मिल गए थे :

'नाथ' ? कह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई;
उस अनूठे सूत्र ही में हृदय के
भाव सारे भर दिए ताबीज से।[१]

इसके पश्चात् स्वाभाविक रूप से सखियों का हास-परिहास कवि ने कराया है :

मन्द चलकर रुक, अचानक अधखुले
चपल-पलकों से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी
तरुणता का गर्व क्या उसने किया ?
हास सरिता में सरोजों से खिले
गाल के गहरे गढों को, मधुप से
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा,
उस खिली चंपाकली ने क्या किया ?[२]

सखियों के इस परिहास के विषय में नगेन्द्रजी ने कहा है, "इसमें हँसी नहीं एक मधुर गुदगुदी है जो हृदय में रति की भावनाएँ जागृत करती है। इस प्रेम-परिहास में एक मादकता है, एक नशा है जो प्रेम रसिकों को पागल बना देता है।"[३]

डा० नगेन्द्र के इस अध्ययन के साथ यदि यह कहा जाय कि उस परिहास में सखियों के आत्म-कथन के रूप में, विरह-भाव की मार्मिक हृदयस्पर्शी व्यंजना भी हुई है तो उसका उचित मूल्यांकन हो सकेगा :

पूर्णता स्मृति हीन है सत्प्रेम की
मूक वाणी एक अनुभव है सही,
बिम्ब भी मिलता नहीं सौन्दर्य का
घाव भी पर हाय मिटता है नहीं।
यह नहीं, जल वीचियों में शशिकला
अलि इन्होंने किलकती देखी न हो,
शशि करों से कौमुदी को छीन कर
कुमुदिनी को मार भी यह है चुके।
किन्तु जिस मोती मनोहर मूर्ति को
एक दिन देखा इन्होंने, ये उसे

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—ग्रन्थि, पृष्ठ १०३
२. वही, पृष्ठ ११७–११८
३. डा० नगेन्द्र—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ १०२

खोजते हैं नित्य तब से अश्रु से,
हास से, उच्छ्वास से, अपनाव से।
× × ×
विरहिणी की कल्पना कर एक दिन
एक पीले पात में अपनी दशा
विविध यत्नों से सुलाकर, मै उसे
बार बार लगा चुकी हूँ हृदय से।[1]

तत्पश्चात् नायक की अपनी कथा है कि किस प्रकार मातृ-पितृ-प्रेम से विधुर उसके हृदय में किसी का प्यार पाने की चाह थी। यह प्यार उसे मिला भी, बालिका के स्नेह के रूप में किन्तु वह भी उसका अपना न हो सका; प्रियतमा का किसी अन्य के साथ ग्रन्थि-बन्धन हो गया—

'अभी पल्लवित हुआ था स्नेह'

किन्तु—

प्रातः-सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहले सुनहले स्पर्श से,
साँझ के मूर्च्छित प्रभा के पत्र पर
करुणा-उपसंहार, हा उसका मिला!
× × ×
हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि बन्धन हो गया, वह नव कुसुम
मधुप सा मेरा हृदय लेकर किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया।[2]

प्रियतमा को अपना बनाने की चाह मे पहले अद्भुत उतावली थी—

अह, सुरा का बुलबुला यौवन, धवल
चन्द्रिका के अधर पर अटका हुआ
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक
जलद सा है सहज ले जाता उड़ा।[3]

उतनी ही वंचित-विधुर मन की निराशा भी थी। अपनी एकान्त विरह-पीड़ा में तड़पता हुआ वह सुखी व्यक्तियों के भाग्य की सराहना करने लगा; उसकी अपनी स्थिति अत्यन्त विवश थी—

शैवलिनी! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को,

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—ग्रन्थि, पृष्ठ १११–११२, ११५
२. वही, पृष्ठ १२२, १२४
३. वही, पृष्ठ १२२

चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन वीणा बजा।
पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी ![1]

आधुनिक युग की विषम परिस्थितियों ने व्यक्ति के मानसिक जीवन को भी अस्त-व्यस्त कर दिया है। युवक-युवती के सम्पर्क की परिस्थितियों को कुछ सीमा तक उन्मुक्त करके भी उसने उन्हें स्वछन्द रूप से जीवन-साथी के चयन का अवकाश नहीं दिया है। युवक में पाश्चात्य विचारों के परिचय से स्वछन्द प्रेम के भाव तो जाग रहे हैं किन्तु उनकी स्वस्थ परिणति का मार्ग अवरुद्ध है। युवती के अभिभावक अब भी पर्याप्त सतर्क हैं। इसी विषमता से चोट खाया हुआ पंत का युवक हृदय समाज की रीति-नीति के प्रति 'ग्रन्थि' में काफी कटु हो गया है :

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह, मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो !
शिथिल दर्शन! ज्ञान जृम्भा के अलस!
वृद्ध अनुभव की सिकोड़ ! वृथा मुझे
सांत्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो, न बहलाओ हृदय ![2]

भोले-भाले प्रेम की, वेदना के हाथों में पड़कर और स्थिति ही क्या हो सकती थी ?

और भोले प्रेम क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह, है उन्माद है, उत्ताप है।[3]

'ग्रन्थि' का विरह, सम्बन्ध-विच्छेद की निराशा से उत्पन्न करुण विरह है। जहाँ इस जीवन में प्रिय के मिलने की कोई आशा न होने पर भी उसके वियोग में उत्ताप है, उसकी चाह है। यही मन का उत्ताप 'पल्लव' की कुछ कविताओं में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' बनकर फूट पड़ा है।

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—ग्रन्थि, पृष्ठ १२५
२. वही, पृष्ठ १२७
३. वही, पृष्ठ १२८

'पल्लव' में कवि के युवक-हृदय के उद्‌गार संचित हैं। स्वयं उसके अपने शब्दों में—

हृदय के प्रणय कुंज में लीन
मूक कोकिल का मादक-गान,
बहा जब तन-मन-बन्धन हीन
मधुरता से अपनी अनजान,
खिल उठी रोओं सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल।[1]

कवि हृदय में 'उत्ताप' जैसे अब जड़ीभूत होने लगा था। यदि वह 'उच्छ्वास' अथवा 'आँसू' बनकर निकल जाता तो संताप की मात्रा सम्भवतः कुछ कम हो जाती। भवभूति के राम ने कहा है—

तथापि उच्छ्वासों में भवति ननु लाभोहि रुदितं।

पंत का कवि, हृदय के उच्छ्वास से जीवन पर आच्छादित होकर बरसने का आग्रह करते हैं जिससे उसका संताप दूर हो जाय—

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल बादल सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पंखों में
(नीरव-घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूंथ, फैल गम्भीर-मेघ-सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश।
.....
गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर-स्वरों में,
भर अपना संदेश उरों में, औ' अधरों में
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि सर, सागर में
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षणभर में।[2]

'उच्छ्वास' के बादल के घोष के विषय में (नीरव घोष) कहना अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति है। घोष करता हुआ बादल जैसे तड़प उठता है वैसे ही यहाँ हृदय को तड़पा देने वाली 'उच्छ्वास' की टीस अत्यन्त मूक और नीरव है।

'उच्छ्वास' की बालिका के विषय में कवि कहता है—

सरलपन ही था उसका मन[3]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव, पृष्ठ १
२. वही, पृष्ठ ३.
३. वही, पृष्ठ ४

इसी सरलपने पर वह मुग्ध हो गया था—

उसके उस सरलपने से
मैने था हृदय सजाया
नित मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।[1]

किन्तु अब वह बात किसी पुराने अतीत की स्मृति मात्र बनकर रह गई है। यहाँ कवि विरही की उस विवश स्थिति का चित्रण करता है जब वह वेदना को ही जीवन का शाश्वत सत्य मान लेता है और समझौता करके उसमें भी प्रसन्न रहने की चेष्टा करता है। उसकी हँसी वेदनासिक्त रहती है और जीवन का प्रत्येक श्वास उच्छ्वास बन जाता है—

अश्रुओं में रहता है हास,
हास में अश्रु कणों का भास
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास
और उच्छवासों ही में श्वास।[2]

अश्रु और उच्छ्वास दशाओं का इतना मार्मिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। पहले का विरही आहें भर सकता था, रो सकता था किन्तु आज के विरही को अश्रु बहाने का अवकाश नहीं है; उसे परिस्थिति से समझौता करना है, इसीलिए—

'अश्रुओं में रहता है हास'

मिलन के समय के सब सुखदायक उपकरण विरही के लिए दुखदायी हो जाते है। एक ओर प्रिय का ध्यान उसके हृदय को कचोटता रहता है, दूसरी ओर प्रकृति का सौन्दर्य उसकी अभाव की पीड़ा को अधिकाधिक तीव्रतर बनाता जाता है। प्रकृति का रूप यहाँ उद्दीपन ही है—

घूमता है सन्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र!
ढाल-सा रखवाला शशि आज
हो गया है हा! असि सा वक्र॥[3]

'उच्छ्वास' के यह बादल जब आँसू की सरि बनकर फूट पड़ते हैं तब कवि का विरही मानस कराह उठता है—

हाय किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार।

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव, पृष्ठ ८
२. वही, पृष्ठ ८
३. वही, १०-११

किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों के हार ॥[1]

जिसके हृदय में प्रेमी, 'अपने हृदय का भार उतार सके', उसके अभाव में कसमसाहट होने लगती है, हृदय के घाव खुल पडते हैं। हृदय के घावों की उपमा कवि ने नवीन कोमल, अरुण कोंपलों से दी है, यह सादृश्य अत्यन्त मार्मिक और सशक्त है—

अरुण कलियों से कोमल-घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय ![2]

अश्रु-सिक्त जीवन की उपमा कवि ने 'पावस ऋतु' से की है। अतीत की अनेक रंगीन स्मृतियाँ नेत्रों के सन्मुख मेघों के सदृश छा जाती है और हृदय के सुप्त मृदु भाव विहगों की भाँति गूंजने लगते हैं। 'पावस' के सांग रूपक में 'अश्रु दशा' का सुन्दर चित्रण हुआ है—

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार-मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन!
कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों से हाय।[3]

प्रकृति में व्याप्त मादकता का उल्लास, कवि की आकुलता को अधिक बढ़ा देता है, उसकी एकान्त विवशता मन मारकर रह जाती है—

देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर-भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर;
अकेली-आकुलता-सी प्राण
कही तब करतीं मृदु-आघात,
सिहर उठता कृश-गात
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।[4]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव (आंसू), पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ १३
३. वही, पृष्ठ १३
४. वही, पृष्ठ १५

उसकी आत्म रति का अहं, मन को समझाने की चेष्टा करने लगता है :

बड़ों में दुर्बलता है शाप
नहीं चल सकते गिरिवर राह,
न रुक सकता है सौरभवाह !
तरल हो उठता उदधि अथाह,
सूर का दुख देता है दाह ![1]

किन्तु अब पंत में समाज के प्रति 'ग्रन्थि' का कटु विद्रोह नहीं रहा है :

वृद्ध अनुभव की सिकोड़ ! वृथा मुझे
सांत्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो.....

उसने समझ लिया है कि समाज के कठोर बन्धन को तोड़ना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। व्यक्ति के भावों पर कठोर अनुशासन रखने वाले समाज के ठेकेदारों के समक्ष सिर झुकाता हुआ-सा वह कहता है—

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय ! क्या गंगाजल की धार।
हृदय ! रो अपने दुख का भार !
हृदय ! रो उनको है अधिकार।[2]

हृदय के नैराश्य ने पंत के जीवन में कुण्ठा को व्याप्त नहीं होने दिया, यदि कुण्ठा घर कर लेती तो सम्भवत: यह कवि भी बच्चन और परवर्ती सुख-दुख के गायकों की भाँति 'क्षत-शीश' होकर सिर धुनता ही रह जाता। किसी स्वस्थ मार्ग की ओर प्रगमन करने की प्रेरणा प्राप्त न कर सकता। किन्तु उसने शीघ्र ही 'बाले के बाल जाल' से मुक्त होने का प्रयत्न किया—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को।
उषा-सस्मित किसलय-दल
सुधा रश्मि से उतरा जल
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन
भूल अभी से इस जग को।[3]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव (आँसू), पृष्ठ १५
२. वही, पृष्ठ १८
३. वही, पल्लव (मोह), पृष्ठ ३७

प्रकृति से पुनः नाता जोड़ने के पश्चात्, प्रथम बार उसकी कटु मधुर परिस्थितियों में कवि को एक ऐसी सत्ता का इंगित और 'मौन निमन्त्रण' मिलता है, जो उसके सुख-दुख की सहचरी है। 'मौन निमन्त्रण' को हम 'रहस्यवाद' में अपार्थिव प्रिय के प्रति जिज्ञासा की शुद्ध वैयक्तिक अनुभूति मानते है—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते है जब स्वप्न-अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !
.....

तुमुल-तम मे जब एकाकार
ऊँघता एक साथ ससार
भीरु-झीगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार
न जाने खद्योतों से कौन।
मुझे पथ दिखलाता तब मौन।
.....

अहे सुख दुख के सहचर मौन।
नहीं कह सकती तुम हो कौन।[1]

उससे वह याचना करता है—

बना मधुर मेरा जीवन !
नव-नव सुमनों से चुनचुनकर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे कर दे विकसित मन।[2]

'परिवर्तन' ने उसके भाव ससार में क्रान्ति मचा दी। हृदय समुद्र के आलोड़न-मन्थन से समदृष्टि का अनुपम रत्न उसके हाथ लगा—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया क्षमा और प्यार

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव (मौन निमन्त्रण), पृष्ठ ३९-४०
२. वही, (याचना) पृष्ठ ९३

आज का दुख कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद,
समस्या स्वप्न गूढ ससार
पूर्ति जिसकी उस पार।[1]

उसने तपस्या को जीवन का ध्येय बना लिया 'गुजन' में प्रारम्भ में ही 'मन की उन्मन गुंजन में', वह मन से विश्व-वेदना में तपने का आग्रह करने लगा—

तप रे मधुर-मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला में गल
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन।[2]

लोक-वेदना की प्रचण्ड अग्नि में तपकर अकलुष बना हुआ व्यक्ति ही जीवन वे आदर्श-रूप का निर्माण कर सकता है। मन की विशाल आर्द्रता ही जीवन में एकत्व क स्थापना करने में सफल होती है—

अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन
ढल रे ढल आतुर मन !

'परिवर्तन' कवि के मानसिक जग के परिवर्तन का द्योतक है। 'पल्लव' के सुन्दर का कवि 'गुजन' में शिवम् की ओर बढने का प्रयास करने लगा है। किन्तु ऐसा प्रती होता है कि 'गुजन' की प्रारम्भिक कविताओं में उपलब्ध शिवम् के प्रति आग्रह कवि मानसिक जगत् की क्षणिक विरक्ति के कारण हुआ है; वैसे अब भी वह सुन्दरम् उपासक ही है। 'गुंजन' में प्राप्त प्रेम-गीत इसके प्रमाण हैं।

'गुजन' के प्रेम-गीतों में 'अतीत की भूल' की विरह-व्यथा नहीं है, भविष्य आशा अभिलाषा है। ऐसे लगता है जैसे कवि 'पुरातन' को छोड़कर 'नवीन' से जीव प्रेरणा प्राप्त करने को लालायित है। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में 'पूर्वराग' का नवं रूप मिलता है। पंत के कवि की यह 'अभिलाषा' किसी भी व्यक्ति विशेष के लिए न है—अतः वह परम्परित काव्य-शास्त्रीय पूर्वराग के अनुरूप नहीं; किन्तु फिर भी किसी भी युवक की अपनी भावी किशोरी पत्नी के लिए अभिलाषा है अतः पूर्वराग की स्थिति है—

भूलती उर में आज, किशोरि
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव, पृष्ठ १०८
२. वही, गुंजन, पृष्ठ ११

लाज में लिपटी उषा समान
प्रिये, प्राणों की प्राण !
× × ×
अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात
सशकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जडित पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण।[1]

'भावी संगिनी' की अभिलाषा में कवि के एकाकी जीवन का प्रत्येक उपकरण किस उत्सुकता से उसकी बाट जोहता है, यह भाव एक कविता में अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से
... ...
तुम आओगी, आशा में
अपलक हैं निशि के उडगण
आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर नव, जीवन-क्षण।[2]

'गुंजन' में ही रूपतारा नामक नायिका को 'हृदय की नभतारा' बनाने की इच्छा कवि ने व्यक्त की है। यह कविता भी पूर्वराग की अभिलाषा के अन्तर्गत ही आएगी—

रूप तारा तुम पूर्ण प्रकाम;
मृगेक्षिणी ! सार्थक - नाम !
... ...
हृदय नभ तारा बन छवि धाम
प्रिये अब सार्थक करो स्वनाम।
प्रथम यौवन मेरा मधुमास
मुग्ध उर मधुकर, तुम मधु प्राण।
शयन लोचन, सुधि स्वप्न-विलास
मधुर तन्द्रा प्रिय ध्यान;

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—गुंजन, पृष्ठ ४१,४३
२. वही, पृष्ठ ४५

शून्य जीवन निसंग आकाश
इन्दुमुख इन्दु समान···[1]

किन्तु पंत के काव्य का प्रेमी कभी भी तृप्त नहीं हो सका है। उसके अपने शब्दों में—

ना पीले तारों-सी ही
मेरी कितनी ही बातें
कुम्हला चुपचाप गई हैं
मैं कैसे इन्हें भुलाऊँ?[2]

'ग्रन्थि' की किशोर अवस्था की निराशा 'गुंजन' की निराशा से एकरूप-सी हो गई है। बार-बार आघात करती हुई इस निराशा का कारण सम्भवतः यह है कि कवि जीवन के सरोवर में गहरे डूबने से डरता है। किनारे बैठकर ही जीवन की सुन्दरतम निधि, वह जीवन के सरोवर से प्राप्त करना चाहता है। इसी आशा में वह बैठा है—क्या जाने कब तक बैठा रहेगा?

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की जल-माली
आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छबि जी भर![3]

संध्या के एकाकी तारे के समान ही एकाकी यह कवि उसमें अपनी भावनाओं को एकरूप देखता है। जीवन को भोगने की प्रबल इच्छा आकांक्षा उसके मन में भी है। परन्तु क्या वह उसको मिला है? एकाकीपन की निराशा के अंधकार और उसके भार से वह दबा जा रहा है—

अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि शशि, उडगन,
रे उडु क्या जलते प्राण विकल! क्या नीरव नीर नयन सजल!
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल!
एकाकीपन का अंधकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार![4]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—गुंजन,
२. वही, पृष्ठ ६८
३. वही, पृष्ठ ७१
४. वही, पृष्ठ ८६

किन्तु बुद्धि से उसने अपने एकाकीपन को खंडित करने का प्रयास किया है। जैसे एक तारे का रूप अनेक तारों में प्रतिभासित हो रहा है वैसे ही क्या उसका आत्म भी अन्य प्राणियों में प्रतिबिम्बित नहीं है ? तब वह अकेला कहाँ है ?

जगमग जगमग नभ का आँगन
लद गया कुंद कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग दर्शन ![1]

जगत् में जीवन की इसी एकसूत्रता को स्थापित करता हुआ यह कवि मानववादी हो गया है। 'युगान्त' में समाज की जीर्णावशेष रूढ़ियों का उसने विरोध किया है क्योंकि उनके कारण जीवन की गति रुद्ध है, हृदयों में कुंठा है। जीवन के फल को वह उसके माँसल रूप में भोगने का आग्रह करता है। ('युगान्त' कविता १०) उसका विश्वास है—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर
मेरे विचार जग के विचार
मेरे मानस का स्वर्ग लोक
उतरेगा भू पर नई बार।[2]

'आत्मरति' से पूर्ण यह कवि सृष्टि के व्याप्त सौन्दर्य रहस्य में अपनी छाया देखता है। छाया अस्पृश्य है, पकड़ के बाहर है अतः उसकी सत्ता को सत्य न मानकर अपनी सत्ता को सत्य बताता है—युगान्त की 'छाया' शीर्षक कविता है—

खोलो मुख से घूँघट खोलो
हे चिर अवगुंठनमयि, बोलो
क्या तुम केवल चिर अवगुठन,
अथवा भीतर जीवन कम्पन ?
... ...
मैं हार गया तह छील छील
आँखों से प्रिय छबि लील लील,
मैं हूँ या तुम ? यह कैसा छल !
या हम दोनों, दोनों के बल ?
... ...
तुम कुहुकिनी, जग की मोह-निशा,
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा ![3]

अपने मानव के प्रति अत्यन्त सचेत होकर वह शुद्ध मानववादी हो गया है।

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पंत—गुंजन, पृष्ठ ८६
२. वही, युगान्त, कविता १६
३. वही, कविता १६

प्राचीन रूढ़ियाँ जो मानव के विकास में बाधक हैं, उनका उसने बराबर खंडन किया है। वह जीवित मानव का पुजारी है। उसी मानव के जीवन को ककाल शेष देखकर कवि का हृदय व्यथा से रो उठा है। आदर्श कहे जाने वाले प्रेम और उसके स्मारकों से कवि का कोई मोह नहीं है, जबकि प्रेम की जीवित मूर्ति मानव मृतप्राय हो रही हो। 'युगान्त' की 'ताज' शीर्षक कविता मे जीवन का यह व्यंग्य अत्यन्त कटु हो गया है—

मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत और छाया से रति ॥
प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?[१]

प्रेम के क्षेत्र में भारतीय परम्परा ने शरीर की भूख को कभी विशिष्ट पद प्रदान नहीं किया है, यद्यपि भाव के चरम विकास के लिए मन और शरीर दोनों के मिलन को आवश्यक माना है। यह एक विरोधाभास है। 'काम' मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है, उसको उसके प्रकृत रूप में स्वीकार न करने के कारण हमारे जीवन में कुंठा व्याप्त है। पंतजी ने ग्राम्या और युगान्त में उसकी खुली स्वीकृति का आह्वान किया है—

क्या तृषा क्षुधा औ' स्वप्न जागरण सा सुन्दर
है नही काम भी नैसर्गिक जीवन द्योतक ?
बन जाता अमृत न देह गरल छू प्रेम अधर
उज्ज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?[२]

पंत के प्रेमी हृदय की बराबर यह समस्या रही है—

धिक रे मनुष्य तुम स्वच्छ स्वस्थ, निश्छल चुंबन।
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?[३]

पुरुष और नारी के परस्पर आकर्षण में यही शाश्वत प्यास है जिसकी तृप्ति रूढ़ियों ने रुद्ध कर रखी है, यहीं पत विरह की पीड़ा का अस्तित्व मानते हैं।

नारी मातृत्व का भार वहन करती है। हमारे समाज में वह पुरुष से निराधार मातृत्व का वहन नहीं कर सकती, इसी कारण वह अपने प्रेमी के प्रति अनन्त स्नेह रखती हुई भी विवाह-ग्रन्थि के बिना उसे आत्म समर्पण नहीं कर सकती। नारी की यह समस्या उन्होंने स्वर्ण-किरण में उठाई है—

बँधकर हृदय मुक्त होते हैं
बँधकर देह यातना सहती

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—युगान्त, पृष्ठ ४५
२. वही, ग्राम्या, पृष्ठ ८६
३. वही, पृष्ठ ८६

नारी के प्राणों में ममता
बहती रहती बहती रहती !
नारी का तन माँ का तन है
जाति वृद्धि के लिए विनिर्मित
पुरुष प्रणय अधिकार प्रणय है
सुख विलास के हित उत्कंठित ?
... ...
हृदय तुम्हें देती हूँ प्रियतम
देह नहीं दे सकती,[१]

'स्वर्ण-धूलि' में समाज में पतिता कही जाने वाली स्त्री को हृदय से लगाता हुआ उसका पुरुष, प्रिया को सान्त्वना देता है—

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित
प्रेम पतित पावन है तुमको
रहने दूँगा मैं न कलकित।[२]

सामाजिक अंधविश्वासों को वह मनुष्यता के स्वर से तोडना चाहता है—

आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख
मनुष्यत्व में मज्जित करने जीवन के सुख दुख।
पिघला देगी लौह मुष्टि को आत्मा की कोमलता
जन बल से रे कहीं बडी है मनुष्यत्व की क्षमता।[३]

उनकी 'मनुष्यता का स्वर' समाज में प्रतिष्ठित सदाचार और नीति का विरोधी है। 'उत्तरा' में उन्होंने स्पष्ट कहा है—

तुम खोलो जीवन बंधन
जन मन बंधन !
जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का
सदाचार शोषक मन के निर्धन का
स्वार्थी पशु पहने
मुख नव मानवपन का
तुम छेड़ो अब अंतर रण
मन हो प्रांगण।[४]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—स्वर्णकिरण, कविता अवगुंठिता, पृष्ठ ३८
२. वही, स्वर्ण-धूलि, पृष्ठ २
३. वही, पृष्ठ १३
४. वही, उत्तरा, पृष्ठ ३७

१९५७ में प्रकाशित 'वाणी' में भी पंत ने 'मानसिक संघर्ष' से पीड़ित मानव से, स्वयं अपना हृदय पहचानने का आग्रह किया है। उसी के द्वारा भू पर स्वर्ग का साक्षात्कार, वह कर सकेगा—

मानव के बाहर भीतर चल रहा आज रण,
मन की सीमाओं से पीड़ित गत मूल्यांकन।
आओ, हे, यह नव्यलोक यह पूर्ण जागरण
लो स्वर्णिम मानुष्य, स्वयं जो अपना दर्पण
× × ×
धरा स्वर्ग पर प्राप्त करो हे नवजीवन वर![1]

मनुष्य का ऐसा सुन्दर स्वर्ग पृथ्वी पर अवतरित देखने को पंत का कवि निरंतर इच्छुक है। क्या जाने उसका वह स्वप्न कब सत्य बनेगा?

पंत के विरह काव्य और उसकी उन्नयित दिशा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनमें विरह की पीड़ा का उन्नयन, शुद्ध बुद्ध निश्छल मानवता के स्वप्न के लिए हुआ है; जहाँ कपट और कुण्ठा; सामाजिक नीति और सदाचार प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति में बाधक नही होगी।

'वाणी' में 'आत्मिका' नामक स्वयं अपने जीवन के संस्मरणों और जीवन-दर्शन विषयक कविता में उन्होंने इस उन्नयन की ओर इगित भी किया है—

लांछन कल्मष के काँटों में
खिला प्रेम का फूल धरा पर
उसको छूना मोह द्रोह के
भू कर्दम में गिरना दुस्तर
... ...
हो न सका चरितार्थ प्रेम का
धरा स्वर्ग नारी उर में स्थित,
हृदय नहीं विकसित शोभा,
देह भाव से मन अवगुंठित
गुजित उर की करुण प्रतिध्वनि
मधुर 'ग्रन्थि' में, ध्वनिलय गुम्फित,
प्रणय सरोवर में नव यौवन
प्रथम हुआ जब पावक मज्जित!
हृदय पुष्प रस का प्रेमी मन,
हृदय उसे न मिला जन भू पर,

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—वाणी, पृष्ठ १०९

बिना हृदय के देह प्राण मन
दारुण वन पशु कानन दुस्कर !
रुको अभी तब कहा मर्म ने,
मोड़ लिया मैंने निर्मम मन
मानव भावी के स्वप्नोंहित
किया मुग्ध कवि हृदय समर्पण ![1]

निराला के काव्य में विरहानुभूति

छायावादी काव्य के उद्भव की परिस्थितियों पर दृष्टिपात करते समय हमने देखा था कि उस समय पाश्चात्य सस्कृति की रगड़ से भारतीय जीवन में विच्छृंखलता आने लगी थी। न तो भारतीय-भावुक रूढ़ियों के घिसे-घिसाये मार्ग पर चलने को प्रस्तुत था न वह उतना साहस बटोर पाया था कि उनका विरोध कर सके।

एक ओर युवक-युवती के मन में स्वच्छन्द प्रेम के स्वप्न थे दूसरी ओर उन पर कठोर नैतिकता का अंकुश था। ऐसी स्थिति में कुण्ठा का जीवन में व्याप्त होना स्वाभाविक ही था। ऐहिक-प्रेम को भावुक ने अपार्थिव के प्रति उन्नयनित करने का प्रयत्न किया किन्तु समय के सजग बुद्धिवादी मानव ने अमूर्त की कल्पना पर उसे अधिक देर टिकने नहीं दिया। इसीलिए 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' की मनोरम अनुभूति में, इस काल के कवि के प्रेम की चरम परिणति हुई। हमने देखा है कि प्रसाद, महादेवी और पत के रहस्यवाद और लोककल्याण की भावना का यही रहस्य है।

निराला में, जग जीवन में व्याप्त कुण्ठा ने रहस्यवाद का रूप बहुत ही कम लिया है। उनकी रहस्य भावना 'अनामिका' में यत्र-तत्र मिलती है और 'गीतिका' तक काफी अस्फुटित भी हुई है किन्तु अधिकांशतः तांत्रिकों से प्रभावित होने के कारण वह या तो मातृभाव से पूर्ण है या अद्वैतवादी विचारों की वाहिका। प्रेम के क्षेत्र में तृप्ति के अभाव की पीड़ा अथवा विरहानुभूति या तो प्रकृति के प्रतीक रूपों से व्यक्त हुई है या सीधे लौकिक प्रियतम अथवा प्रेयसी के प्रति। अतः निराला के काव्य में विरहानुभूति के तीन स्पष्ट विषय अलग-अलग मिल सकते हैं। पार्थिव स्थूल विषयों के प्रति व्यक्त होने वाली निर्व्याज विरहभावना, प्रकृति के प्रतीक रूपों में व्यक्त हुई मानव की विरहानुभूति और रहस्यवादी विरहभावना।

पार्थिव विरहभावना

निराला का प्रथम काव्य संग्रह 'अनामिका' है। 'अनामिका' की प्रथम कविता 'प्रेयसी' है। 'प्रेयसी' में एक शिक्षित नवयुवती का पढ़े-लिखे युवक से प्रथम मिलन, मिलन के पश्चात् कुल, मान, शील और ज्ञान का ध्यान करके प्रियतम को छोड़कर चले जाना

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—वाणी, पृष्ठ १४८-१४९

और फिर उसके व्यंग से प्रताड़ित होकर उसे सदा के लिए अपना लेने की कथा है।

प्रेयसी और प्रियतम का मिलन प्रथम रूप-दर्शन से उत्पन्न पूर्वराग है—

मिले तुम एकाएक
देख मै रुक गई—
चल पद हुए अचल,
आप ही अपल दृष्टि,
फैला समष्टि मे खिंच स्तब्ध मन हुआ।
दिए नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गए।[1]

यह अनायास दृष्टिमिलन छायावादी युग की स्वच्छद जीवन-यापन करने की विकट इच्छा के फलस्वरूप कहा जा सकता है। किन्तु दृष्टिपात की पवित्रता असीम है। प्रसंग के पुरुष पात्र का आत्म, प्रेयसी में अपना ही नारी रूप देख रहा था स्थूल प्रेम को कवि ने अत्यन्त कुशलता से अध्यात्म के सूक्ष्म स्तर तक पहुँचा दिया है—

देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य में स्वर्ग सुख पाने के अर्थ, प्रिय
पीने को अमृत अगों से झरता हुआ।
कैसी निरलस दृष्टि।।[2]

स्थूल को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति छायावादी कवियों की विशेषता है।

कुल और मान की ग्रन्थि सदा से नारी जीवन पर अनुशासन करती रही है। निराला के समय में अर्थात् आधुनिक समय में भी वह समस्या उतनी ही ज्वलत है। निदान उनकी 'प्रेयसी' को, प्रियतम को हृदय समर्पित करके भी विरह की ज्वाला में जलना पड़ा—

देकर न दिया ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल-मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गई,
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के—
उनकी ही मैं हुई।
.....
बीता कुछ काल,

---

१. निराला—अनामिका, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ५

देह ज्वाल बढ़ने लगी,
नन्दन-निकुंज की रति को ज्यों मिला मरु
उतरकर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई, सलिल देह कलुषित हुआ।[1]

किन्तु अपनी कविता के प्रारम्भिक युग से ही निराला रूढ़ियों के विद्रोही हैं। इसीलिए उनकी प्रेयसी ने जब एक बार मन में समझ लिया कि—

दोनों हम भिन्न-वर्ण
भिन्न जाति, भिन्न रूप,
भिन्न धर्म भाव, पर
केवल अपनाव से प्राणों से एक थे।
किन्तु दिन-रात का
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दर्य से बन्धन स्वर्गीय है॥[2]

तो वह जाति कुल के सब बन्धन तोड़कर प्रिय से साथ अमिट बन्धन में बँध गई—

पहचाना मैंने, हाथ बढ़कर तुमने गहा।
चल दी मैं मुक्त साथ।[3]

रूढ़ियों के इस विरोध का उनकी नायिका को गर्व है—

गर्वित, गरीयसी अपने में आज मैं।

रूढ़ियों का विरोध करते हुए निर्बाध-स्वच्छद-मिलन उस युग के कवि की कल्पना का आदर्श था। पूर्वराग की मिलन मे चिरपरिणति का यह आदर्श, इसके पहले साहित्य में ऐसा प्राप्त नही होता।

'प्रलाप' कविता में निराश प्रेमी युवक की 'प्रलाप' विरह दशा का वर्णन है। कवि ने अपने भाव को वीणावादिनी वाणी के प्रति निभाने का प्रयत्न किया है किन्तु भाव अस्पष्ट-सा रह गया है। वीणावादिनी सरस्वती की मातृ-कल्पना के स्थान पर प्रेयसी कल्पना के साथ सहृदय पाठक का तादात्म्य नही बैठ पाता। सचमुच वह कवि का 'प्रलाप' ही लगती है; वह स्थिति जहाँ भावुक को उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता।

'अनामिका' की 'रेखा' नामक कविता में, 'स्मृति' रूप में कवि ने अपनी प्रिया के प्रथम मिलन का वर्णन किया है। यह मिलन कितना उच्च और अतीन्द्रिय था, देखते ही बनता है—

केन्द्र दो आ मिले
एक ही तत्व के,

---

१. निराला—अनामिका, पृष्ठ ६
२. वही, पृष्ठ ८
३. वही, पृष्ठ ९

सृष्टि के कारण वे,
कविता के काम बीज ।।[1]

संसार को जड़ और फलतः स्त्री-पुरुष के लौकिक-सम्बन्ध को जड़ कहने वालों को कवि ने अच्छी चुनौती दी है—

अस्तु वह प्यार ?—
सब चेतन जो देखता,
स्पर्श में अनुभव-रोमांच,
हर्ष रूप में परिचय,
विनोद, सुख गन्ध में,
रस में मज्जानन्द,
शब्दों में अलंकार,
खींचा उसी ने था हृदय यह
जड़ों में चेतन गति कर्षण मिलता कहाँ ?[2]

परिमल की 'जागृति में सुप्ति थी' नामक कविता में प्रणय की मान-मनुहार के बाद का मिलन चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। प्रणय-रात्रि के अन्त में वियोग की पीड़ा का दृश्य उन्होंने इन पंक्तियों में अत्यन्त मुखर कर दिया है—

लाज से सुहाग का—
मान से प्रगल्भ प्रिय प्रणय निवेदन का
मन्द-हास-मृदु वह
सजा जागरण-जग,
थककर वह चेतना भी लाजमयी
अरुण किरणों में समा गई।
जागृत प्रभात में क्या शान्ति थी !
जागृति में सुप्ति थी
जागरण - क्लान्ति थी ।[3]

प्रणय-मान की मान मनुहार में प्रणय रात्रि व्यतीत करने वाले प्रेमी युग्म की पीड़ा को हम प्रणय-मान की व्यथा के अन्तर्गत ही मानते हैं क्योंकि अतृप्ति का कारण वही था।

'जागो फिर एक बार' नामक कविता में, विरह-विदग्धा-वधू का स्वतंत्र चित्र अपनी मूक व्यथा में अत्यन्त मार्मिक है।

पिव रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू

---

१. निराला—अनामिका, पृष्ठ ७३
२. वही, पृष्ठ ७५
३. वही, परिमल, पृष्ठ १९४-१९५

याद कर बीती बातें, रातें मन मिलन की
मूंद रही पलकें चारूँ,
नयन-जल ढल गए
लघुतर कर व्यथा-भार—[१]

'प्रवास' विरह की पीड़ा अपने सब अंगों उपांगों सहित यहाँ रस दशा के प्रकर्ष को प्राप्त कर रही है। पिव रव उद्दीपन है और स्मृति सचारी भाव। 'मूंद रही पलकें चारूँ' में विरह की निद्राविहीन रातों को, नायिका, थपकी देकर सुलाने का प्रयत्न कर रही है, उसे आश्रय की गति या प्रवृत्ति मानना चाहिए। 'नयन जल ढल गए' में आश्रय का सात्विक अनुभाव व्यथा को मर्मस्पर्शी बना रहा है।

'राम की शक्ति-पूजा' में सीता से प्रथम-मिलन तथा धनुर्भग के प्रसंग को 'स्मृति रूप में रखकर कवि ने, राम को, रावण-जय की नई प्रेरणा-शक्ति दिलवाई है। इस प्रसंग में निराला की यह उद्भावना एकदम नवीन है—

कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार।
ऐसे क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छबि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्राल मिलन
नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण,—[२]

यहाँ भी स्मृति संचारी से संयुक्त हो 'प्रवास', विप्रलम्भ की रस दशा तक पहुँच रहा है। उसके सात्विक और कायिक अनुभावों का वर्णन निराला ने इस तरह किया है—

सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त
हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आई भर॥[३]

'आशंका' के संचारी भाव से राम की विरह-व्यथा के तीव्रतर होने की संयोजना भी अत्यन्त सफल है—

खिंच गए दृगों में सीता के राममय नयन
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खलखल।[४]

---

१. निराला—परिमल, पृष्ठ १६६
२. वही, पृष्ठ १५१
३. वही, पृष्ठ १५१
४. वही, पृष्ठ १५२

'अनामिका' की 'प्राप्ति' कविता में कवि ने करुण-विप्रलम्भ की 'उन्माद' दशा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। प्रेमी, जड़ 'हवा' को उन्माद मे प्रियतमा का रूप मान-कर उससे उसकी प्राप्ति के सुख का अनुभव करता है—

तुम्हें खोजता था मैं
पा न सका।
हवा बन वही तुम, जब
मैं थका, रुका।
मुझे भर लिया तुमने गोद मे,
कितने चुम्बन दिए,
मेरे मानव-मनोविनोद मे
नैसर्गिकता लिए;[1]

'परिमल' की 'प्रिया के प्रति' कविता आधुनिक हिन्दी कविता के करुण-विप्रलम्भ-काव्य में अपना सानी नही रखती। कवि अपनी मृत प्रियतमा से एक बार फिर पुनर्मिलन की आकांक्षा करता है। काश ! अतल के गर्भ से उसकी प्रियतमा एक बार उसके सन्मुख उपस्थित हो सकती। तब वह अपने हृदय के अगणित व्याकुल भाव उसे अर्पित कर देता।

एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जाती तुम,
एक बार भी प्राणों की तम
छाया में आ कह जातीं तुम
सत्य हृदय का अपना हाल
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल
मैं न कभी कुछ कहता,
बस तुम्हें देखता रहता!
चकित थकी, चितवन मेरी रह जाती
दग्ध हृदय के अगणित व्याकुल भाव
मौन दृष्टि की ही भाषा कह जाती।
(२)
तप वियोग की चिर ज्वाला से
कितना उज्ज्वल हुआ हृदय यह
पिष्ट कठिन साधना शिला से
कितना पावन हुआ प्रणय यह,

---

१. निराला—अनामिका, पृष्ठ १४७

मौन दृष्टि सब कहती हाल,
कैसा था अतीत मेरा, अब
बीत रहा यह कैसा काल ॥[1]

"तुम्हारा काल अज्ञात के गर्भ में कैसा बीत रहा है और मेरा, संसृति की शृंखलाओं में कैसा ?" दोनों के साम्य से व्यथा अधिक मर्मस्पर्शी हो गई है। मृत प्रियतमा से जीवित प्रिय का यह साक्षात्कार अनुपम है; उनकी व्यथा की सजीवता में कौन सन्देह कर सकता है ?

'विरह-भावना' की अभिव्यक्ति निराला के काव्य में एक अन्य माध्यम, प्रकृति के प्रतीक रूपों से भी व्यक्त हुई है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व से संयुक्त होते हुए भी निराला अपने समय की भावनाओं से प्रभावित थे। उनकी एकान्त चिन्तनशील प्रवृति ने प्रकृति के चित्रित जीवन के सान्निध्य में रहने का उन्हें काफी अवसर भी दिया था। तब वह उसके प्रभाव से अछूते कैसे रह सकते थे ?

प्रकृति के प्रतीक रूप में व्यक्त हुई विरह-भावना

प्रकृति के प्रतीक रूपों के द्वारा मन के भावों की अभिव्यक्ति इस युगकी मुख्य विशेषता है। तट पर नहाती हुई तरुणी के सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने का कवि को अधिकार नहीं है। इसी से वह वसन्त बनकर उसके सौन्दर्य को देखता है और अपने हृदय के भाव पुष्प-वृन्त से गिरे हुए पुष्पों के मिस उसे अर्पित करता है—

नव वसन्त काँपा पत्रों में,
देख दृगों की कोर।
अंग-अंग में नव-यौवन उच्छृंखल,
किन्तु बँधा लावण्य पाश से
नम्र सहास अचंचल।
... ...
वायु सेविका-सी आकर
पोंछे युगल उरोज, बाहु मधुराधर।
तरुणी ने सब ओर
देख, मन्द हँस, छिपा लिए उन्नत पीन उरोज,
उठाकर शुष्क वसन का छोर।
मूर्छित वसन्त पत्रों पर,
तरु से वृन्तच्युत कुछ फूल
गिरे उस तरुणी के चरणों पर।[2]

१. निराला—परिमल, पृष्ठ ६४-६५
२. वही, अनामिका पृष्ठ ५०-५१

वसन्त के भाव किसी भी युवक के भाव हो सकते हैं। रूप दर्शन से उत्पन्न हुई पूर्वराग की 'अभिलाषा' के अन्तर्गत ही उन्हें रखा जाएगा।

'जुही की कली' में प्रवासी नायक के विरह की 'स्मृति' दशा तथा उस स्मृति से उसके, प्रियतमा के पास वापस लौट आने की प्रेरणा का वर्णन है। भाव को ध्वनित करने के लिए वह जुही की कली जिसका जीवन चंद घंटों में गिना जा सकता है; वर्ष भर प्रिय की प्रतीक्षा करती रही और तब भी तरुणी रही।

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन सर सरित गहन गिरि कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ।[1]

लौटकर आये हुए समीर और जुही की कली की मिलन गाथा में निराला ने रूपगर्विता मुग्धा और उसके प्रिय का जीवन चित्रित किया है।

'गीतिका' की एक कविता में भी निराला ने शशिप्रभा की प्रोषितपतिका के रूप में कल्पना की है; जो सिन्धु रूपी प्रिय के हेतु अश्रु बहा रही है—

प्राण धन को स्मरण करते
नयन झरते नयन झरते !
स्नेह स्रोत - प्रोत;
सिन्धु दूर, शशिप्रभा दृग
अश्रु ज्योत्स्ना स्रोत।
मेघमाला सजल नयना
सुहृद उपवन को उतरते।[2]

करुण विप्रलम्भ में किसी चिरपरिचित मिलन स्थान के सम्बन्ध से जागृत हुई 'स्मृति दशा' का वर्णन 'ठूँठ' कविता में मिलता है—

ठूँठ यह है आज !
गई इसकी कला,
गया है सकल साज !
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष सा,
... ...

१ निराला—परिमल, पृष्ठ १९१-१९२
२. वही, गीतिका, पृष्ठ ५२

झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन नीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद !'

विहग की वृद्ध रूप में और उसका 'कुछ याद करके' ठूँठ पर बैठना अद्‌भुत कल्पना है। दो पंक्तियों में निराला असीम व्यथा का सागर भरने में समर्थ हुए हैं।

'गीतिका' में षट्‌ऋतु वर्णन की परम्परा का निर्वाह करता हुआ सा शिशिर-ऋतु वर्णन है। यहाँ शिशिर का उद्दीपन रूप वर्णित है। वह विरही को कष्ट देता है, इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए निराला ने तीन विभिन्न चित्र प्रस्तुत किए हैं। दो में, प्रकृति के प्रतीक रूप आलम्बन हैं और अन्तिम चित्र में स्वयं कामिनी। तीनो चित्र जितने संक्षिप्त हैं, उतने ही मार्मिक भी। प्रथम चित्र नीलकमल की कलियों का है—

बह चली अब अलि, शिशिर-समीर !
काँपी भीरु मृणाल वृन्त पर
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर !
प्रात अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर।[२]

सूर्य और कमलिनी का प्रेम काव्य का शाश्वत सत्य है किन्तु शिशिर ऋतु के सम्बन्ध से, सूर्य के वियोग में कमल-कलियों के काँपने की कल्पना निराला की अपनी है। कल्पना अत्यन्त सुन्दर है। सूर्य रूपी प्रिय को प्राप्त करने पर उनके करुणार्द्र नेत्रों के अश्रु और भी मधुर हैं। दूसरा चित्र हरसिंगार के पुष्पों का है। कवि कल्पना करता है कि वनदेवी के हार के हीरों पर किरणें आसक्त हो गई है। प्रेम का अनुराग ही हरसिंगार के हृदय पर लक्षित हो रहा है—

वन देवी के हृदय हार से
हीरक झरते हरसिंगार के,
बेध गया उर किरण तार के
विरही राग का तीर॥

तीसरा चित्र कामिनी का है। नायिका प्रोषितपतिका है। शिशिर की रात्रि प्रेमीयुग्म के जीवन मे विशेष महत्त्व रखती है। इनके लम्बी होने से सयोग का अवकाश भी दीर्घ हो जाता है। अतः प्रिय के अभाव मे वेदना भी उतनी ही करुण होती है—

[redacted]

प्रात अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर।[३]

की स्मृति के जागृत हो आने का वर्णन है।

सरि, धीरे बह रही?
व्याकुल उर दूर मधुर,
तू निष्ठुर रह री।
... ...
भर मत री राग प्रबल
गत हासोज्ज्वल निर्मल-
मुख-कलकल छबि की छल
चपला चल लहरी![1]

निराला के काव्य में रहस्यवादी विरह-भावना

प्रकृति के कण-कण में व्याप्त, अलौकिक-सौन्दर्य-सम्पन्न अमूर्त सत्ता के प्रति, आत्मा का उन्मुखी भाव और आत्मनिवेदन ही रहस्यवाद है। यह मूलतः दो प्रकार का माना गया है—दर्शनमूलक रहस्यवाद और प्रणयमूलक रहस्यवाद। स्वामी विवेकानन्द और अद्वैतवादी दर्शन का प्रभाव होने के कारण निराला के काव्य में दार्शनिक रहस्यवादी उक्तियाँ मिलती हैं। 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में वह ब्रह्म को विराट् अटल सत्ता और आत्मा को उसका गतिमान, व्यक्त रूप कहते हैं—

तुम तुंग-हिमालय-शृंग
और मैं चंचल गति सुर-सरिता।

तथा—

तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा।[2]

किन्तु आत्मा के परमात्मा के प्रति सहज आत्मनिवेदन का भी अभाव नहीं है। युग-युग से निराला की विरहाकुल आत्मा, परमात्मा रूपी प्रिय के लिए तड़प रही है। प्रोषितपतिका-सी वह प्रियतम की राह देख रही है—

तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट जोहती आशा।[3]

वर्षों से बिछुड़ा हुआ प्रिय जैसे इस विरहिणी को भूल गया है। रूपाकृति में अनेक परिवर्तन हो गए हैं, इसी से अतीत के मिलन की याद दिलाती हुई वह उससे कहती है—

तुम वर्षों के बीते वियोग
मैं हूँ पिछली पहचान॥[4]

---

१. निराला—गीतिका, पृष्ठ २१
२. वही, परिमल, पृष्ठ ८४-८५
३. वही, पृष्ठ ८५
४. वही, पृष्ठ ८५

कवि की जीवन-सरिता, ब्रह्म रूपी समुद्र-निधि की ओर बढ़ने में निरन्तर प्रयत्नशील है। उसका आकुल क्रन्दन उसी अपार्थिव विराट् के लिए है—

मेरा आकुल क्रन्दन,
व्याकुल वह स्वर-सरित हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर ॥[1]

विरह-वेदना से संतप्त उसकी विरहिणी आत्मा कभी दैन्य भरी-सी प्रिय से अनुनय भरा प्रश्न करने लगती है—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा?[2]

वियोग दुःख का भार उसके लिए असह्य होता जा रहा है, प्रतीक्षा के अनन्त मार्ग पर चलते-चलते चरण थकने लगे हैं। प्रिय का दर्शन-स्पर्श करके अब इस महान् वेदना से उऋण होने को वह व्याकुल हो रही है—

मेरे दुःख का भार झुक रहा,
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा?[3]

'अनामिका' की 'क्षमा प्रार्थना' कविता में, आत्मा रूपी, प्रियतमा, परमात्मा रूपी प्रिय से अपनी ओर अनुकूल भाव रखने की विनय करती है, जैसे प्रणय में स्खलित प्रियतमा की, रूठे हुए प्रिय से 'मान' की 'मनुहार' हो—

माला में ही सूख गए जो फूल
क्या न पड़ेगी उन पर प्रियतम,
एक दृष्टि अनुकूल।
ताक रहे हो दृष्टि,
जाँच रहे हो या मन?
क्षमा कर रहे हो अथवा तुम देव
अपने जन के स्खलन और सब पतन?[4]

रहस्यवाद के क्षेत्र में और दूसरी ओर विरह में 'मान' के क्षेत्र में, यह कविता एकदम नवीन प्रयोग है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने अपने भाव रवीन्द्रनाथ

१. निराला—अनामिका, पृष्ठ ४५
२. वही, गीतिका, पृष्ठ ४५
३. वही, पृष्ठ ४५
४. वही, पृष्ठ ५२

ठाकुर के भाव से ग्रहण किए हैं। कुछ भी हो, हिन्दी के लिए वे नितान्त नवीन हैं।

बुद्धिवादी युग के सांसारिक कवि को परम्परित सन्तों और बैरागियों की कोटि का आराधक मानना भूल है। जीवन की कुण्ठा और पराजय की भावना को इन्होंने ब्रह्म की मनोरम कल्पना में विस्मृत कर देना चाहा था। जीवन के क्षणिक अवसाद से विषण्ण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वैसे क्षण आते हैं। अतः निराला की अनामिका और परिमल की ऐसी रचनाओं को भी क्षणिक विरति के फलस्वरूप समझना चाहिए।

फिर भी अनामिका की 'हताश' कविता के बाद निराला की विचारधारा में एक निश्चित परिवर्तन मिलने लगता है। 'हताश' निराला के हृदय के घोर नैराश्य का द्योतक है—

जीवन चिरकालिक क्रन्दन।
मेरा अन्तर वज्र कठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अन्ध
तम-निशि न कभी हो भोर
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—
इतना वन्दन—अभिनन्दन ?[1]

निराशा उन्हें दार्शनिक और वीतराग बनाती जा रही है। विवेकानन्द के प्रभाव में लिखी गई कविताएँ दार्शनिक हैं। 'नाचे उस पार श्यामा' और 'गाता हूँ मैं गीत तुम्हें ही सुनाने को' ऐसी ही कविताएँ है। 'परिमल' में कवि जगत् और ब्रह्म के बीच में भटकता रहा है। 'जुही की कली' और 'तुम और मैं' कविताएँ इसके प्रमाण हैं। किन्तु 'गीतिका' में निश्चित रूप से उसकी विचारधारा का मोड़ जगत् और उसके आकर्षणों से दूरातिदूर होता गया है। जगत् से विरक्त, उसके अनुरागी हृदय का प्रेमी 'अपार्थिव' के पथ का पथिक बन गया है—

मेरे दुख का भार झुक रहा,
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?[2]

दर्शन शास्त्रों के अध्ययन-मनन से निश्चित रूप से उसने समझ लिया है कि जीवन अंधकारमयी रजनी है। निरन्तर जागरूक निराला यहाँ स्व और पर की सीमा से ऊपर उठ गया है—संसार की अंधकारमयी रात्रि में वह सबको गले लगा लेना चाहता है। 'गीतिका' के एक गीत में प्रातःकाल प्रिय से वियुक्त होती हुई नायिका

---

१. निराला—अनामिका, पृष्ठ ९२

२. देखिए पहले इसी विवेचन में

प्रियतम से कहती है—

हुआ प्रात, प्रियतम, तुम जावगे चले ?
कैसी थी रात, बन्धु, थे गले गले ।।
... ...
बाँधो यह ज्ञान ।
पार करो, बन्धु, विश्व का यह व्यवधान ।
तिमिर में मुदे जग, आओ भले-भले ।।[1]

इस गीत में वियोग व्यथा नहीं है। वियोग की स्थिति दर्शन की अभिव्यंजक बनकर आई है।

अतः 'रहस्यवाद' निराला के लिए अपवाद के क्षणों का क्षणिक विश्राममात्र नहीं रह सका है, वह उनके जीवन का अन्तिम सत्य-सा हो गया है। व्यावहारिक बुद्धिप्रधान मानस पर भावुकता और अध्यात्म विजय प्राप्त कर रहे है। इसीलिए उनकी रहस्यवादी उक्तियों में और कवियों की अपेक्षा कल्पना न्यूनतर और निर्व्याज अभिव्यक्ति का आग्रह अधिक है।

गीतिका के एक गीत में वह सिद्धों की भाँति प्रकृति की अधिष्ठात्री दैवी शक्ति का साक्षात्कार करते हैं। उनकी यह कल्पना सिद्धों की योगिनी रूप कल्पना के अत्यधिक निकट है।—

रहा तेरा ध्यान,
जग का गया सब अज्ञान।
गगन घन-विटपी, सुमन नक्षत्र-ग्रह, नव ज्ञान
बीच में तू हँस रही ज्योत्स्ना-वसन परिधान ।।[2]

'आराधना' के आराधक ने तो विश्व-मोह बिलकुल छोड़ दिया है—

तुमसे लाग लगी जो मन की
जग की हुई वासना बासी
गंगा की निर्मल धारा की
मिली मुक्ति, मानस की काशी ।[3]

'जग की वासना बासी' हो गई है—कितना सुन्दर प्रयोग है।

निराला के 'रहस्यवाद' की परिणति 'भक्ति' में हुई है। प्रणयभाव के स्थान पर क्रमशः दैन्य भाव अधिष्ठित होता गया है, सम्भवतः विराट् के सन्मुख अपनी लघुता का अधिकाधिक अनुभव करने के कारण। निकृष्टतम भक्तों की कोटि में अपनी गणना करके

---

१. निराला—गीतिका, पृष्ठ ९६
२. वही, गीतिका, पृष्ठ ६४
३. वही, आराधना, कविता ५०

वह प्रार्थना करते हैं—

कामरूप हरो काम,
जपूँ नाम, राम राम
शबरी, गज गणिकादिक,
हुए कृष्ट प्रासारिक,
पारिक, मैं सांसारिक,
अविधा हो व्यंग्यदाम।[१]

आराधना की ही एक और कविता में तुलसी के 'श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहूंगो' के, निराला अत्यन्त निकट आ जाते हैं—

मेरी सेवा ग्रहण करो हे!
शुद्ध सत्व से क्षण-क्षण यह
काष्ठा से रहित शरीर भरो हे![२]

तुलसी की विनयपत्रिका का सा ऐसा दुख दैन्य निवेदन हिन्दी कविता में और कहीं अन्यत्र दुर्लभ है। निराला कहते हैं—

मन का समाहार
करो विश्वाधार।
गहन कण्टक जटिल
मग चले पग निखिल,
गया है हृदय हिल,
लो थके को वार।[३]

तथा—

चलता नहीं हाथ,
कोई नहीं साथ,
उन्नत विनत माथ
दो शरण, दोषरण।[४]

प्रिय की विरहाराधना में निराश दिशा वधू की क्या गति हो रही है? उसका वर्णन निराला ने जैसा मार्मिक किया है, उसी का संक्षिप्त परिचय देकर उनकी विरह-भावना सम्बन्धी विवेचना को हम यहाँ समाप्त करेंगे—

सूने है साज आज
बिना तुम्हारे विराज।
.....
.....

१. निराला—आराधना, कविता १४
२. वही, कविता २४
३. वही, कविता ४६
४. वही, कविता ६२

दिग्वधू निराश, दीन
अम्बर पीवर, सुपीन
नारी-नयन-ज्योति क्षीण
क्षिति पर जैसे जहाज़।[1]

विरहीसाधक की निराश स्थिति का इससे सजीव वर्णन और क्या हो सकता है? कहने की आवश्यकता नहीं कि विरह के क्षेत्र में निराला के काव्य का स्थान आधुनिक हिन्दी काव्य में अद्वितीय है। उनकी पार्थिव विरहानुभूति जितनी उज्ज्वल और सत्य है वैसी ही अपार्थिव के प्रति भी; दोनों में से किसी को भी उन्होंने आच्छादन से कुण्ठित नहीं किया है। हाँ कहीं-कहीं प्रकृति के जीवन में विरह के छायास्पर्श के सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके शोभन का आनन्द भले ही लिया है।

१. निराला—आराधना, कविता ३१

चतुर्थ अध्याय

छायावाद-परवर्ती हिन्दी-काव्य में विरह-भावना

सन् १९३५ के लगभग काव्य के क्षेत्र में छायावाद की रोमानी कल्पना और रूप-विधान के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट होने लगी। परिस्थितियाँ लगभग वही थीं जो छायावादी युग के प्रारम्भ में थीं—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और मानसिक—सभी क्षेत्रों में अशान्ति थी। अन्तर केवल इतना था कि भौतिकवादी दृष्टिकोण ने कवि की आध्यात्मिकता को झकझोरकर तहस-नहस कर डाला—ईश्वर की कल्पना से वंचित होकर वह, अपने अहं की रक्षा के लिए अधिक आत्मनिष्ठ होने का प्रयत्न करने लगा। आध्यात्मिकता को बुद्धिवाद की यह चुनौती स्वयं छायावादी कवियों की रचनाओं में ही मिलने लगी थी।

किन्तु फिर भी छायावादी कवि भारतीय आध्यात्मिकता और ईश्वर-कल्पना के मोह को पूर्ण रूप से त्याग नहीं सके थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को भावात्मक सर्ववाद का रूप दिया। उन कवियों की वैयक्तिक पीड़ा रहस्यवाद का आधार पाकर क्रमशः लोककल्याण में परिणत होती गई।

परवर्ती काव्य पर मार्क्स के भौतिकवाद का प्रभाव बहुत गहरा हो गया। किसी काल्पनिक ईश्वर के प्रति आत्म-निवेदन करना हास्यास्पद-सा प्रतीत होने लगा। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र के परिचय ने 'मन के जीवन' के सम्बन्ध में अनेक रहस्यात्मक तत्त्वों का उद्‌घाटन किया। मन और शरीर की भूख समन्वित रूप से कवि के मानस के चारों ओर मँडराने लगी। फ्रायड, एडलर और युंग नई-नई मनग्रन्थियों को उसके सन्मुख खोल-खोलकर रखने लगे।

इस युग के कवि के सन्मुख, उसकी आत्म-पीड़ा (वैयक्तिक पीड़ा) और जग की पीड़ा दो भिन्न समस्याएँ बनकर आईं। परिस्थितियों की अराजकता के संघर्षपूर्ण जीवन में, अपने आत्म की रक्षा के लिए अत्यन्त सजग इस कवि ने इन दोनों में से किसी भी एक को दूसरे के लिए विलय करना उचित नहीं समझा। फलतः न तो वैयक्तिक पीड़ा का उन्नयन लोककल्याण में हुआ और न उसकी अभिव्यक्ति के लिए जग से कोई और प्रतीक ढूँढ़ने की आवश्यकता इन कवियों को पड़ी। काव्य में प्रथम बार दार्शनिक और प्राकृतिक प्रतीकों से रहित आत्मपीड़ा की अभिव्यक्ति हुई।

इस युग से पूर्व आत्मपीड़ा अथवा वैयक्तिक रति की अभिव्यक्ति को काव्य में हेय समझा जाता था। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "काव्य-शास्त्रियों ने स्पष्ट कह दिया है कि व्यक्तिगत रति आदि को समाज के सन्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एवं रस में बाधक है। इस प्रकार आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतरकर भौतिक धरातल पर आत्मपरक कविता लिखना शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकार से वर्जित ही था।"[1] छायावाद के विषय में भी नगेन्द्रजी का यह वक्तव्य ठीक ही है, "छायावाद ने काव्य परम्पराओं को तो नहीं माना, परन्तु नैतिक आदर्शों का आतंक उस पर भी गहरा था, इसके अतिरिक्त सीधी अभिव्यक्ति भी उसे ग्राह्य नहीं थी। अतएव उसको भी अपने व्यक्तित्व को प्रच्छन्न रखते हुए, प्रतीकों के द्वारा ही अभिव्यक्त करना पड़ा।"

वैयक्तिक-पीड़ा की स्वछद स्पष्ट अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति यद्यपि छायावादी कवियों के काव्य में ही यत्र-तत्र प्राप्त होने लगती है, निराला और पत में, किन्तु 'बच्चन' के व्यक्तित्व में प्रथम बार वह स्पष्ट धारा बनकर अभिव्यक्त हुई।

'बच्चन' आधुनिक कवि के 'मानस' के वे भाव स्तम्भ हैं जहाँ उसने पुरातन के मोह को छोड दिया है किन्तु नवीन को भी वह पूर्णतः अपना नहीं बना पाया है। एक ओर सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक रूढ़ियाँ उसे प्रिय नहीं, दूसरी ओर जीवन को खुले भौतिक रूप में भोगने का साहस भी उसके पास नहीं है। वह ऐसी निराधार स्थिति में खडा है जहाँ रात्रि के गहन अधकार से भयभीत व्यक्ति स्वयं जोर-जोर से गाकर, जीवन की वास्तविक स्पन्दना का अनुभव करना चाहता है और स्वयं को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वह डरा हुआ नहीं है, निराधार नही है। मन की यह अव्यवस्थित विकलता बच्चन के सम्पूर्ण काव्य में लक्षित होती है। धर्म, समाज और रूढ़ि का विरोध करते हुए भी, वह 'प्रेम' को केवल भौतिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सका है इसी से न तो वह उसका जग की पीडा में उन्नयन कर सका न उसे 'क्षुधा' और 'काम' का पर्याय बना सका। अतः उनकी कविता मन की उन्मत्त व्यथा का अविरल अजस्र स्रोत बन गई जिसके बाँध का कोई उपाय वह अब तक नहीं खोज सका है। स्वयं उसके अपने शब्दों में यह भाव इस तरह व्यक्त हुआ—

अपनी ही आग बुझा लेता,
तो जी को धैर्य बँधा देता,
मधु का सागर लहराता था, लघु प्याला भी मैं भर न सका!
मैं जीवन में कुछ कर न सका![2]

यही विवशता इस युग के दो अन्य प्रसिद्ध कवियों में भी प्राप्त होती है; भगवती-चरण वर्मा और नरेन्द्र शर्मा विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त तो न जाने हिन्दी

---

१. डा. नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६३
२. बच्चन—एकान्त संगीत, गीत २१, पृष्ठ ३७

के कितने असंख्य नवयुवक कवि, मन की विवशता के गीत प्रतिक्षण गा रहे हैं; कुछ बच्चन के अनुकरण पर सुराही और प्याले की मृगतृष्णा के पीछे आकुल हैं।

'प्रवासी के गीत' की भूमिका में नरेन्द्र शर्मा ने आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य के उत्तरार्द्ध के कवियों के विषय में कुछ और विचारपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है। उनमें से प्रथम बात है, इस युग के कवि की निराशा। निराशा का कारण नरेन्द्र शर्मा यह बताते हैं कि समाज के किसी भी वर्ग से कवि को आज महत्त्व प्राप्त नहीं है। उसके भी कारण हैं—"ब्रिटिश सत्ता के कारण हमारे समाज में वर्गीकरण कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि हमारे कवियों और साहित्यिकों को किसी भी वर्ग में उच्च स्थान न मिल सका।" व्यापारी, राजा, ताल्लुकेदार, वकील और डाक्टर आदि 'उच्च' कहलाने वाले वर्ग के विषय मे नरेन्द्र शर्मा कहते हैं—"इनकी शिक्षा संस्कार और जीवनचर्या इन्हे इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें।" मध्यवर्ग के लिए उनका कहना है—"मध्यवर्ग जिसमें बेकार शिक्षितों और कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए, के अन्तर्गत अदालती अहलकारों की श्रेणी से लेकर उच्चवर्ग की ओर ऊर्ध्वमुख किन्तु अपने सौभाग्य के कारण अशतः स्वयं सन्तुष्ट सफल सांसारिक आते हैं। स्पष्ट है कि इन छिछले सांसारिक जीवों के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं।...हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति हैं। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं है तो इसका यह अर्थ नही कि उनके संस्कार उनकी जीवनचर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नही है। जनता के लिए वे दुरुह है। जनता उनके अस्तित्व से अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण-ग्राहक कहाँ मिलेंगे ? ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था।"

इस युग के कवि की मनस्-स्थिति का विश्लेषण नरेन्द्र शर्मा ने इस प्रकार किया है—"यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के व्यक्तिकरण के साधन बाहर समाज में नही मिलते तब वह, जैसे बाहर ठोकर खाकर, अपने लिए अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है। लेकिन कल्पना उसका कब तक साथ देगी ? शाम के रंगीन बादलों-सी यह कल्पना बालू की भीति-सी भी तो नहीं है। उसकी आत्म-चेतना उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं से टकरा कर गतिरुद्ध हो जाती है और उसके अन्तर में धुएं की तरह घुमड़ने लगती है। जैसे-जैसे वह 'आज मुझसे दूर दुनिया' का अनुभव करता है उसका अहंभाव और भी तीव्र गति से जागृत होता जाता है।"

कवि की मानसिक और सामाजिक अशान्ति का समाधान नरेन्द्र शर्मा ने भी घूम-फिरकर लोक के साथ तादात्म्य में ही माना है—"यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होने वाले अन्तर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को तोड़ न डालेगा तब तक अपने क्षय रोग का उपचार न कर सकेगा। उसे अपनी रक्षा के लिए

सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।"

"स्वयं अपने लिए उन्होंने स्वीकार किया है—'प्रवासी के गीत' का कवि आज भी 'मरघट का पीपल तरु' है···वह मुक्ति का मार्ग जानता है लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है। यह उसकी परवशता की चरम सीमा है।"[1]

फ्रायड के 'यौन' सम्बन्धी विश्लेषण का आधुनिक कवि की भावधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। वैसे तो भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार शृंगार का मूल भाव रति है ही; युग्म के शरीर व मन दोनों के मिलन में वह चरम उत्कर्ष प्राप्त करती है। किन्तु भारतीय विचार-परम्परा ने सदा 'रति' के भौतिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष को ही उच्चतर स्थान और महत्त्व दिया है। मानसिक मिलन, शारीरिक मिलन का प्रेरक भी है और साध्य भी। किन्तु फ्रायड ने एक व्यक्ति के दूसरे के प्रति उन्मुखी भाव पर से आध्यात्मिकता (आत्मा की आत्म के प्रति भूख) का आवरण अपेक्षाकृत हटा दिया है। उन्होंने इस प्रकार के भाव की प्रेरणा यौन भूख (Sex urge) में ढूंढने का प्रयत्न किया है।

इसके प्रभाव से जो प्रेम-काव्य हिन्दी में लिखा गया और लिखा जा रहा है, वह परम्परित संयोग और वियोग की व्यथाओं से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता। 'विरह' की भावना ही बदल गई है। कवि किसी अभीष्ट के मन को अपना बनाने की चाह में आँसू नहीं बहाता, वह उसके भौतिक अस्तित्व के लिए भी उतना ही प्रत्युत अधिक व्याकुल है। भौतिक अस्तित्व के लिए पहला विरही भी व्याकुल होता था परन्तु गौण रूप से। अब वह भी प्रमुख ध्येय है। इस काव्य में यह 'चाह' कवि की सजग प्रेरणा बनकर आई है। अंचल, सुमन, अज्ञेय, गिरिजाकुमार, धर्मवीर भारती तथा अन्य अनेक कवियों के काव्य में सजग भाव से उसका ध्यान रखा गया है।

यह प्रवृत्ति भी सामाजिक परिस्थिति और युवक की मानसिक परिस्थिति में असन्तुलन के कारण उत्पन्न हुई है। एक ओर प्रेमी प्रियतमा से दूर रहने को बाध्य है, दूसरी ओर नवीन विचार उसके अन्तर्मन को उभार रहे हैं, खोद रहे है। युवक युवती के मिलन में क्षण-भर की 'चाह' और उसकी तृप्ति को भी विरह की चाह कहा गया। विरह की परम्परित व्यथा इस व्यथा से मलीन होने लगती है। वह विरह जिसकी तृप्ति जीवन पर्यन्त नहीं होती केवल शारीरिक भूख नहीं हो सकता। किन्तु इस काव्य की क्षणिक तृप्ति में भी जीवन पर्यन्त की व्यथा निहित है यही इसकी ममस्पर्शिता का कारण है। कहीं-कहीं स्वस्थ मानसिक क्षणों में इन्होंने मन की उज्ज्वल व्यथा को भी मुखर किया है।

परिस्थिति के इस अराजक युग में भी यदि कवि अपना मानसिक सन्तुलन न खो बैठेगा तब तो जीवन के परिष्कृत मूल्यों, प्रेम और विरह के अमर गीतों का इतिहास

के कितने असंख्य नवयुवक कवि, मन की विवशता के गीत प्रतिक्षण गा रहे हैं; कुछ बच्चन के अनुकरण पर सुराही और प्याले की मृगतृष्णा के पीछे आकुल हैं।

'प्रवासी के गीत' की भूमिका में नरेन्द्र शर्मा ने आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य के उत्तरार्द्ध के कवियों के विषय में कुछ और विचारपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है। उनमें से प्रथम बात है, इस युग के कवि की निराशा। निराशा का कारण नरेन्द्र शर्मा यह बताते हैं कि समाज के किसी भी वर्ग से कवि को आज महत्त्व प्राप्त नहीं है। उसके भी कारण हैं—"ब्रिटिश सत्ता के कारण हमारे समाज में वर्गीकरण कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि हमारे कवियों और साहित्यिकों को किसी भी वर्ग में उच्च स्थान न मिल सका।" व्यापारी, राजा, ताल्लुकेदार, वकील और डाक्टर आदि 'उच्च' कहलाने वाले वर्ग के विषय में नरेन्द्र शर्मा कहते हैं—"इनकी शिक्षा संस्कार और जीवनचर्या इन्हे इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें।" मध्यवर्ग के लिए उनका कहना है—"मध्यवर्ग जिसमें बेकार शिक्षितों और कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए, के अन्तर्गत अदालती अहलकारों की श्रेणी से लेकर उच्चवर्ग की ओर ऊर्ध्वमुख किन्तु अपने सौभाग्य के कारण अशतः स्वयं सन्तुष्ट सफल सांसारिक आते हैं। स्पष्ट है कि इन छिछले सांसारिक जीवों के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं।...हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति हैं। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं है तो इसका यह अर्थ नही कि उनके संस्कार उनकी जीवनचर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं है। जनता के लिए वे दुरुह है। जनता उनके अस्तित्व से अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण-ग्राहक कहाँ मिलेंगे ? ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था।"

इस युग के कवि की मनस्-स्थिति का विश्लेषण नरेन्द्र शर्मा ने इस प्रकार किया है—"यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के व्यक्तिकरण के साधन बाहर समाज में नहीं मिलते तब वह, जैसे बाहर ठोकर खाकर, अपने लिए अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है। लेकिन कल्पना उसका कब तक साथ देगी ? शाम के रगीन बादलों-सी यह कल्पना बालू की भीति-सी भी तो नहीं है। उसकी आत्म-चेतना उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं से टकरा कर गतिरुद्ध हो जाती है और उसके अन्तर में धुएं की तरह घुमड़ने लगती है। जैसे-जैसे वह 'आज मुझसे दूर दुनिया' का अनुभव करता है उसका अहंभाव और भी तीव्र गति से जागृत होता जाता है।"

कवि की मानसिक और सामाजिक अशान्ति का समाधान नरेन्द्र शर्मा ने भी घूम-फिरकर लोक के साथ तादात्म्य में ही माना है—"यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होने वाले अन्तर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को तोड़ न डालेगा तब तक अपने क्षय रोग का उपचार न कर सकेगा। उसे अपनी रक्षा के लिए

सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।"

"स्वयं अपने लिए उन्होंने स्वीकार किया है—'प्रवासी के गीत' का कवि आज भी 'मरघट का पीपल तरु' है'''वह मुक्ति का मार्ग जानता है लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है। यह उसकी परवशता की चरम सीमा है।"[1]

फ्रायड के 'यौन' सम्बन्धी विश्लेषण का आधुनिक कवि की भावधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। वैसे तो भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार शृंगार का मूल भाव रति है ही; युग्म के शरीर व मन दोनों के मिलन में वह चरम उत्कर्ष प्राप्त करती है। किन्तु भारतीय विचार-परम्परा ने सदा 'रति' के भौतिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष को ही उच्चतर स्थान और महत्त्व दिया है। मानसिक मिलन, शारीरिक मिलन का प्रेरक भी है और साध्य भी। किन्तु फ्रायड ने एक व्यक्ति के दूसरे के प्रति उन्मुखी भाव पर से आध्यात्मिकता (आत्मा की आत्म के प्रति भूख) का आवरण अपेक्षाकृत हटा दिया है। उन्होंने इस प्रकार के भाव की प्रेरणा यौन भूख (Sex urge) में ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है।

इसके प्रभाव से जो प्रेम-काव्य हिन्दी में लिखा गया और लिखा जा रहा है, वह परम्परित संयोग और वियोग की व्यथाओं से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता। 'विरह' की भावना ही बदल गई है। कवि किसी अभीष्ट के मन को अपना बनाने की चाह में आँसू नहीं बहाता, वह उसके भौतिक अस्तित्व के लिए भी उतना ही प्रत्युत अधिक व्याकुल है। भौतिक अस्तित्व के लिए पहला विरही भी व्याकुल होता था परन्तु गौण रूप से। अब वह भी प्रमुख ध्येय है। इस काव्य में यह 'चाह' कवि की सजग प्रेरणा बनकर आई है। अंचल, सुमन, अज्ञेय, गिरिजाकुमार, धर्मवीर भारती तथा अन्य अनेक कवियों के काव्य में सजग भाव से उसका ध्यान रखा गया है।

यह प्रवृत्ति भी सामाजिक परिस्थिति और युवक की मानसिक परिस्थिति में असन्तुलन के कारण उत्पन्न हुई है। एक ओर प्रेमी प्रियतमा से दूर रहने को बाध्य है, दूसरी ओर नवीन विचार उसके अन्तर्मन को उभार रहे हैं, खोद रहे हैं। युवक युवती के मिलन में क्षण-भर की 'चाह' और उसकी तृप्ति को भी विरह की चाह कहा गया। विरह की परम्परित व्यथा इस व्यथा से मलीन होने लगती है। वह विरह जिसकी तृप्ति जीवन पर्यन्त नहीं होती केवल शारीरिक भूख नहीं हो सकता। किन्तु इस काव्य की क्षणिक तृप्ति में भी जीवन पर्यन्त की व्यथा निहित है यही इसकी ममस्पर्शिता का कारण है। कहीं-कहीं स्वस्थ मानसिक क्षणों में इन्होंने मन की उज्ज्वल व्यथा को भी मुखर किया है।

परिस्थिति के इस अराजक युग में भी यदि कवि अपना मानसिक सन्तुलन न खो बैठेगा तब तो जीवन के परिष्कृत मूल्यों, प्रेम और विरह के अमर गीतों का इतिहास

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत (भूमिका), पृष्ठ ३-६

जीवित रहेगा। अन्यथा कौन कह सकता है कि 'सजग विरह-व्यथा' क्या नवीन मार्ग अपनाएगी ?

छायावादोत्तर काल की विरह-भावना का परिचय प्राप्त करने के लिए इस अध्याय के आगामी पृष्ठों में बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन', अंचल, अज्ञेय, गिरजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती के काव्य में विरह-भावना का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

बच्चन

यद्यपि बच्चन छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया के प्रथम कवि हैं किन्तु उनकी प्राथमिक रचनाओं पर उस काव्य का कम प्रभाव नहीं है। छायावादी चित्रों के अनुरूप प्रकृति का आलम्बन-रूप में वर्णन तथा छायावादी रहस्यात्मकता, दोनों उनके काव्य में उपलब्ध हो जाती है। प्रकृति को आलम्बन-रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

बदल अब प्रकृति पुराना ठाट
करेगी नया - नया शृंगार,
सजाकर निज तन विविध प्रकार,
देखेगी ऋतुपति-प्रियतम के शुभागमन की बाट।[1]

ऐसे ही आत्मा के परमात्मा के प्रति प्रणय-निवेदन के भाव को भी उन्होंने इस प्रकार मुखर किया है—

घर से यह सोच उठी थी
उपहार उन्हे मैं दूँगी
करके प्रसन्न मन उनका
उनके शुभ आशिष लूँगी।
पर जब उनकी वह प्रतिमा
नयनों से देखी जाकर,
तब छिपा लिया अंचल में
उपहार-हार सकुचाकर।
मैले कपड़ों के भीतर
तंडुल जिसने पहचाने,
वह हार छिपाया मेरा
रहता कब तक अनजाने।[2]

उपर्युक्त कविता कबीर की 'बुलहनिया' की याद दिलाने लगती है। ईश्वर के प्रति आस्तिक भाव यहाँ स्पष्ट है। बच्चन की यह भोली आराधिका मुग्धा के संकोच से

१. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग, पृष्ठ २६
२. वही, पृष्ठ १६

दबी-सी जा रही है, साथ ही प्रभु के महत्त्व और अपने लघुत्व की सजग अनुभूति भी उसमें है।

किन्तु शीघ्र ही काल्पनिक ईश्वरता पर से कवि का विश्वास डिगने लगता है। नैराश्य उसके व्यक्तित्व को अभिभूत करने लगता है; आशा उसे जगा-जगाकर हार जाती है—

तुझे न उठता देख मुझे है
बार-बार भ्रम होता—
क्या मैं कोई मृत शरीर को
समझ रही हूँ सोता।[1]

'कीर के जीवन' में, समाज की रूढ़ियों में बँधे कवि के जीवन की प्रति ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है—

तीलियों पर पर मार
हार बैठा लाचार,
पिंजड़े के तारों से निकली मानो वह झंकार
कहाँ बन-बन स्वच्छन्द विहार।[2]

वैयक्तिक विवशता के अतिरिक्त सामाजिक वैषम्य, भूख और प्यास की समस्या के प्रति भी बच्चन अत्यन्त जागरूक हैं। इस समस्या की प्रताड़ना का अनुभव करते हुए वह ऐसे मधुर-लोक की कल्पना करते हैं जहाँ—

और, नींद में स्वप्न अनेक
देखेंगे ऐसे-है लोक
एक नहीं है जिसमें शोक
.....
भूख जहाँ पर नहीं सताती,
प्यास नहीं है लगने पाती,
जहाँ न मृत्यु जन्म का नाम,
जहाँ नहीं जीवन संग्राम॥[3]

कोयल की कूक कवि को अधिक समय कल्पना के लोक में भ्रमित नहीं करा सकती। उसकी आवाज़ में वह अपने नग्न बुभुक्षित देश के लिए कोई मनोहर संदेश पाने की आशा करने लगता है—

कोकिले, पर यह तेरा राग
हमारे नग्न-बुभुक्षित देश

१-२. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, (प्रथम भाग), पृष्ठ २२
३. वही, पृष्ठ ३१

के लिए लाया क्या संदेश ?
साथ प्रकृति के बदलेगा इस दीन देश का भाग।[1]

पूँजीवादी समाज में जन की व्यथा से तड़पता हुआ बच्चन का कवि क्रन्दन कर उठता है—

देखा जाता जगत अतीव
एक रहे ऊपर-सौ गड़ते
बसता एक, हज़ार उजड़ते,
लघु झोंपड़ियाँ दबतीं लाखों एक
महल की नीव।[2]

यदि बच्चन की विचारधारा का क्रम उसी दिशा में बहता रहता तो सम्भवत: वह अपने युग के अग्रगण्य जन कवि होते। किन्तु ऐसा न हुआ। प्रारम्भिक रचनाओं में ही अनायास हम उन्हें देशभक्ति और जन के प्रति सजग उदारता से विमुख होता हुआ अनुभव करते हैं। कुण्ठा उन्हें अधिकाधिक अन्तर्मुखी बनाती जा रही है। वह समाज-निरपेक्ष होकर स्व के सुख-दुख में उलझने लगे हैं।

'प्रात:काल कमल की कली खिलकर मधु लोभी भ्रमर को आकर्षित करती है। कुछ समय राग-रंग में व्यतीत होता है किन्तु अन्त में कमल में बन्द होकर भ्रमर को तड़प-तड़पकर मर जाना पड़ता है।' इस दृश्य को देखकर कवि के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि विश्व के आकर्षण, क्या उसको फँसाने के लिए तो नहीं हैं ?—

इसीलिए सौन्दर्य देखकर
शंका यह उठती तत्काल—
कहीं फँसाने को तो मेरे
नहीं बिछाया जाता जाल ?[3]

किन्तु उसका समाधान भी तुरन्त ही वह ढूँढ़ लेता है—

ऐसी शंकाओं में फँसता
है क्यों? बतला मानव मंद।
हर सुन्दरता में तुझको
अनुभव करना था परमानन्द।
सुख-दुख क्या है ? हृदय भावना
जिसने है जैसा माना,
मधुकर ने अपने मरने को
था अनन्त सुखमय जाना।[4]

---

१. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ (प्रथम भाग), पृष्ठ २९
२. वही, पृष्ठ ७१
३-४. वही, पृष्ठ ३८

प्रत्येक सौन्दर्य में आनन्द अनुभव करने तथा सुख और दुख को हृदय की भावना कहकर, सुख को भोगने की प्रवृत्ति भी कवि में यहीं से प्रारम्भ हुई है। 'दुख में'[1] शीर्षक कविता में कवि का यही दर्शन प्रबलतर हो गया है।

पड़ी दुखों की तुझ पर मार?
दुःखों में सुख भरा जान तू,
रो-रोकर मुख न कर म्लान तू,
हँस, हँस, हलका हो जाएगा तेरे दुखका भार।[2]

वैयक्तिक भूमि पर कवि विरह को (प्रिय के लिए तड़पते रहने को) जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता है—

प्यार किसी को करना, लेकिन—
कहकर उसे बताना क्या?
अपने को अर्पण करना पर—
औरों को अपनाना क्या?

तथा—

देकर हृदय हृदय पाने की
आशा व्यर्थ लगाना क्या?[3]

कवि के हृदय की यह कसक 'अपने को अर्पण करना पर, औरों को अपनाना क्या?', तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का सहज प्रतिफलन थी। आधुनिक युग की, नवीन और प्राचीन संस्कृतियों की विषमता में, कवि का नवयुवक हृदय और सोच ही क्या सकता था? युवक और युवती सहशिक्षा के मनोहर वातावरण में मधुर स्वप्न जगा सकते थे किन्तु उनके यथार्थ रूप में परिणत होने की भावभूमि पर जातीयता और अन्ध-विश्वास के राक्षस दाँत लगाये हुए थे। फलतः एकान्तिक, एकपक्षीय प्रेम के काल्पनिक आदर्श के इस सहज भुलावे के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही क्या था?

भक्तिकाल और रीतिकाल की परकीया अविवाहिताएँ, लुक-छुप कर प्रिय से अभिसार करने की क्षमता रख सकती थीं। कुछ तो आध्यात्मिकता के आवरण के साथ गँवार थीं और कुछ चतुर नागरियों को दूती की सहायता प्राप्त थी। परन्तु आधुनिक युग की अभिजात्य नवयुवती-अविवाहिता की दशा विचित्र थी। एक ओर वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग थी दूसरी ओर अपने प्रियतम से मिलने को स्वतंत्र भी। परिस्थिति की विषमता में, हृदय अर्पित करके भी, प्रणय की सचेष्ट अभिव्यक्ति से वह दूर ही रहना चाहती थी। नवयुवक के विकल मन में प्रियतमा के इस 'रुख' से एक अभूत-पूर्व टीस का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। विरह की यह अनुपम व्यथा बच्चन के इन शब्दों में मुखर हुई है—

१-२. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग, पृष्ठ ३९
३. वही, पृष्ठ ४२

प्रेम का यह अनुपम व्यवहार—
पास न मेरे हैं वे आते,
मुझे न अपने पास बुलाते,
दूर दूर से कहते है, करता हूँ तुझको प्यार।
आपदा के ऐसे आगार—
जहाँ किसी को हम छू देते,
घेर उसे दुख संकट लेते,
मिलकर तुझसे क्यों तुझ पर भी डालूँ दुख का भार।[1]

किन्तु बच्चन का प्रेमी युवक, प्रियतमा के भौतिक अस्तित्व का विरह दुख झेलता हुआ भी मन से उससे संयुक्त है—

'तू है सुखी'—यही तो मेरे जीवन का आधार।
प्रेम का ही तोड़ूंगा तार—

इस युग के युवक में प्राप्ति की तीव्र इच्छा तो थी किन्तु समाज से विद्रोह करने का साहस नहीं था। अतः वह जीवनभर भी विरही रहने में सन्तोष करना चाहता था। यही स्थिति किसी न किसी रूप में अब तक बनी हुई है। इस विरह वेदना को 'पूर्वराग' कहे या करुण विप्रलम्भ कुछ समझ में नहीं आता। पूर्वराग की अभिलाषा और करुण-विप्रलम्भ की वियोग-सिक्त व्यथा दोनों ही इस भाव के अन्तर्हित विद्यमान रहती हैं फिर भी वह करुण-विप्रलम्भ की अनन्त वेदना के ही अधिक समीप है।

विरह की इस इस व्यथा की दो स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ कवि के मानस में हुई। एक ओर तो वह 'केवल एक दिवस के लिए अपनी प्रियतमा निशारानी से बिछुड़े हुए चन्द्र मा का मलिन मुख देखकर' उदास हो जाता है।

निशारानी का विरह विषाद ?
शोक प्रकट क्यों इतना करते,
छिपते जाते आहें भरते;
मिलन प्रणयिनी से तो निश्चित एक दिवस के बाद।[2]

दूसरी ओर अपने अनन्त विरह में वह क्षणिक सुख को ही जीवन का सत्य समझ लेता है। 'यौवन सम्पन्न कली कुछ क्षण के लिए ही सही हृदय का हार तो बनी।' क्या क्षणिक जीवन में इतना अटल सत्य कम महत्त्वपूर्ण है ?[3]

अनुभव की रगड़ से कवि का इष्ट अब 'स्वीकृति' का 'तण्डुल स्वीकार करने-वाला' भगवान् न रहकर प्रेम हो गया है—

'सब कहते भगवान प्रेम —प्रेम हमें भगवान।'[4]

---

१. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग, पृष्ठ ४४-४५
२. वही, पृष्ठ ४७
३. वही, पृष्ठ ४६-४७
४. वही, पृष्ठ ५१

उसमें भी प्रेम का आलम्बन, प्रियतमा, अन्तिम इष्ट—

नयन करो मत नीचे, प्राण।
शक्ति तुम्हीं हो मुझको देती,
तुम्ही तरी जीवन की खेती,
तुम्हीं जीव हो, प्राण, हमारी—और तुम्हीं भगवान।[1]

प्रियपात्र का सब सुख-दुख अपना बना लेने की साध कवि की 'मधुर इच्छा मात्र' (wishful thinking) रह गई है; क्योंकि समाज की रूढ़ियों का विरोध करने का साहस उसके पास नही है—

इच्छा थी तेरा दुख-भार
मैं अपने ही ऊपर ले लूँ
सुख अपने सब तुझको दे दूँ,
पर तेरा दुख अल्प हटाने मे भी हूँ लाचार![2]

प्रेमियों की प्राचीन कहानियाँ जब वे एक-दूसरे के लिए मरते थे, उसके लिए सचमुच कहानियाँ हो गई। उनकी सत्यता पर उसे सन्देह होने लगता है—

सुने प्रेमियों के आख्यान—
घाव एक तन मे लग जाता
रक्त धार दूसरा बहाता—
सच थे वे, थे या कवियों के बस काल्पनिक उड़ान?[3]

प्रेमी का यह वक्तव्य सुनकर उसका प्रियपात्र फूट-फूटकर रो पड़ता है। उसके रोने में भी कुण्ठाजनित व्यथा की ध्वनि ही मिलती है जो स्वच्छन्द स्वाभाविक जीवन-यापन में सामाजिक बाधा के कारण उत्पन्न हुई है—

हृदय हमारी सुन फटकार
फूट-फूटकर हो तुम रोते,
कहने को तो हो कुछ होते
पर क्यों रुक जाते? मै सुनने को तो हूँ तैयार![4]

बच्चन ने पीड़ा को इतने निकट से अनुभव करने का प्रयत्न किया है कि वह रोते-रोते उन्मादी-सी हँसी हँसने लगा है।

आज के युग के तरुण-प्रणयी की केवल एक मधुर इच्छा है जो पूर्वराग की अभिलाषा से बहुत भिन्न नहीं है। परम्परित रूप में वह विवाह में परिणित न होकर जीवन की अनन्त विरह-व्यथा बन जाती है—

---

१. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग, पृष्ठ ५१
२. वही, पृष्ठ ५७
३. वही, पृष्ठ ५८
४. वही, पृष्ठ ५९

मेरी शीतल छाया में
क्षण भर को ही तुम आतीं
मेरी डालों सी बाँहों
पर पल भर तुम झुक जातीं।
बस एक सुमन ही मेरा
निज चरणों में रख लेतीं
बस एक बार ही मेरे
सिर हाथ फेर तुम देतीं।
हो बाग़ बाग मैं जाता,
सुख लाख-लाख मैं पाता,
तुम बूंद मुझे दे देतीं
मुझको सागर हो जाता।[1]

प्रणय-लालसा जब क्षण के मिलन के पश्चात् अनन्त-वियोग बन जाती है तब केवल सुधियाँ मात्र शेष रह जाती है। वियोगी उन्हे याद करके उच्छ्वास भरा करता है किन्तु आशा नहीं छोड़ता। 'स्मृति', 'अभिलाषा' तथा 'अश्रु' के भावों के आविर्भाव का 'बच्चन' ने सुन्दर वर्णन किया है—

प्रणय वृक्ष की मिलन डाल में
अनुपम और निराला
सुधियों के सुकुमार तार का
मैने झूला डाला।
चिर वियोग का डाल पालना
उस पर इसे सुलाया,
उच्छ्वासों की पेंगें भर-भर
उसको नित्य झुलाया।
स्वप्निल आशाओं की लोरी
इसको नित्य सुनाई
हिचकी की दे देकर थपकी
इसकी नींद बुलाई।[2]

'प्रसाद' की भाँति 'बच्चन' का प्रणय-भिखारी भी जग से 'कुछ' पाने की आशा में निकला है किन्तु जीवन से प्राप्त निराशा का प्रभाव दोनों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का हुआ है। 'प्रसाद' के कवि ने भिखारी को समझाया था 'पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।' किन्तु बच्चन' का कवि व्यक्ति के प्रति इस कुत्सित संसार

१. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ८६
२ वही, पृष्ठ १०९

की अवहेलना के भाव का ध्यान उसे दिलाता है। जग से कुछ माँगने से तो अच्छा है कि वह स्वयं को ही मिटा दे—

भिखारी, कैसे तेरे गान ?
कौन क्षुधा ने तुझे सताया,
कौन पिपासा ने तड़पाया,
जो इस जग-बस्ती में आया लेने भिक्षा दान ?
... ...
जगती क्या ले इन्हें करेगी,
कहाँ पात्र जो इन्हें धरेगी
रचे गए हैं नहीं इन्हें सुन सकने वाले कान।
... ...
यहाँ क्या पाएगा नादान,
शांत क्षुधा पर तेरी होगी,
मान कहा यदि मेरा योगी,
दे अपने को मिटा लुटाकर अपना जीवन गान।[1]

छायावादियों के तथा निशा-निमन्त्रण के कवि के जीवन-दर्शन में यही अन्तर है। एक अध्यात्म की सूक्ष्म कल्पना से जीवन-सम्बल प्राप्त करके जीने की प्रेरणा पाता है, दूसरा भौतिकता के भँवरों में ऊबता-डूबता रहता है। निराशा के आधिक्य में विधाता के प्रति (यदि वह है तो) बच्चन का आक्रोश अत्यन्त कटु हो गया है—

हे जीवन उपवन के माली !
लगा इसे फिर कभी न सींचा,
पितृ-स्नेह ने कभी न खींचा
मेरी आँखों में तू नीचा;
व्यर्थ पिता की पदवी पा ली।[2]

इन प्रारम्भिक रचनाओं के पश्चात् कवि ने उमरखैयाम की रुबाइयों का अनुवाद किया। इसी के प्रभाव से उसके मन के नैराश्य को एक नवीन दिशा का मोड़ प्राप्त हुआ। एक ओर वह, जैसा जग है उसे वैसे ही स्वीकार करके, 'अनन्त तृषा' और 'क्षणिक तृप्ति में' आत्मसुख पाने की चेष्टा करने लगा—मधुशाला की भूमिका में बच्चन कहते है—"भक्त को चाहिए सिंधु की तृष्णा और बिन्दु से संतोष।"[3] दूसरी ओर सूफियों की भाँति अपने व्यक्तित्व के प्याले को प्रियतम की हाला से शराबोर करने का प्रयत्न करने लगा। ईश्वरीय प्रियतम स्वयं अपनी हाला जीव के माध्यम से पीकर मस्त हो रहा है—

१. बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ११९-१२०
२. वही
३. वही, मधुशाला, पृष्ठ १३

प्रियतम, तू मेरी हाला है,
मैं तेरा प्यासा प्याला,
अपने को मुझमें भरकर तू
बनता है पीने वाला,
मैं तुझको छक छलका करता
मस्त मुझे पी तू होता,
एक-दूसरे को हम दोनों
आज परस्पर मधुशाला।[1]

अनन्त-अतृप्ति की प्यास को होठों में छिपाए, धार्मिक आडम्बर और अंधविश्वासों से विरक्त व्यक्ति ही उस चरम-सुख तक पहुँच सकता है जिसका सदेश 'बच्चन' की मधुशाला दे रही है—

अधरों की आतुरता में ही
जब आभासित हो प्याला,
बने ध्यान ही करते-करते
जब साकी साकार, सखे
रहे न हाला, प्याला साकी
तुझे मिलेगी मधुशाला[2]

... ...

धर्म ग्रन्थ सब जला चुकी है
जिसके अंतर की ज्वाला,
मंदिर, मस्जिद गिरजे सबको
तोड़ चुका जो मतवाला,
पंडित, मोमिन, पादरियों के
फंदे को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसी का
स्वागत मेरी मधुशाला।[3]

सूफियों की मधुशाला से बच्चन की मधुशाला तात्विक रूप में भिन्न है। सूफियों के दर्शन में भक्त स्वयं अपने अपार्थिव प्रिय की मधुशाला बन जाता है। यहाँ (बच्चन में) प्रारम्भ उसी रूप से होकर बाद में अन्तर हो गया है। व्यक्ति स्वय, ईश्वर रूप पीने वाला होकर (यदि कोई ईश्वर है तो) जीवन की मधुशाला के उपयोग करने का आह्वान करता है—

---

१. बच्चन—मधुशाला, रुबाई ३
२. वही, रुबाई, ९-१७
३. वही, रुबाई १७

लालायित अधरों से जिसने
हाय, नहीं चूमी हाला,
हर्ष विकम्पित कर से जिसने
हा, न छुआ मधु का प्याला,
हाथ पकड़ लज्जित साकी का
पास नहीं जिसने खींचा
व्यर्थ सुखा डाली जीवन की
उसने मधुमय मधुशाला।[1]

वैयक्तिक सुख और तृप्ति इस युग के कवि के लिए दूर से प्रलोभित करती हुई पहेली रही है। वही बच्चन की मधुशाला बनकर उन्हें ललचा रही है, प्राप्त नहीं होती। कवि मरु-तृष्णा से विकल मृग-सा भटक रहा है—

जिस साकी के पीछे मैं था
दीवाना, न मिला साकी,
जिसके पीछे था मैं पागल
हा, न मिली वह मधुशाला!

× ×

प्राप्य नहीं है, यदि तो क्यों यह
लुप्त न हो जाती हाला,
प्राप्य नहीं है यदि, तो क्यों यह
लुप्त न हो जाता प्याला,
दूर न इतनी हिम्मत हारूँ
पास न इतनी पा जाऊँ
व्यर्थ मुझे दौड़ाती मरु में
मृगजल बनकर मधुशाला।[2]

जीवन की गति को देखकर वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भाग्य अत्यन्त प्रबल है। उसके सम्मुख व्यक्ति का कोई वश नहीं चलता—

मानव-बल के आगे निर्बल
भाग्य, सुना विद्यालय में,
भाग्य प्रबल, मानव निर्बल का
पाठ पढ़ाती मधुशाला।[3]

मानव की दुर्बलता और भाग्य की प्रबलता के संघात से उत्पन्न हुई निराशा से,

१. बच्चन—मधुशाला, रुबाई १८
२. वही, रुबाई ९०-९५
३. वही, रुबाई ९७

बच्चन का 'मधुशाला' के बाद का सम्पूर्ण काव्य ओत-प्रोत है। यद्यपि यह कहकर कवि स्वयं को भुलावे में डाले रखना चाहता है, कि—

उस प्याले से प्यार मुझे जो
दूर हथेली से प्याला।[1]

किन्तु सत्य यह है—

हाय, हमारी पीड़ा से है
क्रीड़ा करती मधुशाला ?[2]

'मधुशाला' के अन्त में कवि ने कहा भी है कि मधुशाला की साध उसने छोड़ दी है। इसीलिए वह अब उसके पीछे-पीछे घूमती है किन्तु क्या वस्तुतः उसे वह 'तृप्ति' प्राप्त हुई है ? यदि यही सत्य था तो 'निशा-निमन्त्रण' के घोर विषाद की क्या आवश्यकता थी ?

निशा के आगमन से पूर्व, सन्ध्या जब समस्त वातावरण में सिंदूर लुटा रही थी, तब कवि के कपोल पर ढुलके 'अश्रु' शोणित के सदृश लगने लगे—

उपहार हमें भी मिलता है,
शृंगार हमें भी मिलता है
आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की सी बन जाती है
संध्या सिंदूर लुटाती है।[3]

कवि का आतुर-हृदय-पंखी शून्याकाश में व्यर्थ भटकता रहता है, नीड़ का पथ वह भूल गया है। वह नीड़ जिसमें प्राणी अनन्त सुख और शान्ति का अनुभव करता है—

अंतरिक्ष में आकुल-आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला
बीत चली संध्या की वेला![4]

जीवन 'शव' की सी जडता का अनुभव करने लगा है। प्रिय की प्रतीक्षा की वह पुरानी स्मृति अनन्त वेदना बन गई है—

आज पड़ा हूँ मैं बनकर शव,
जीवन में जडता का अनुभव,
किसी प्रतीक्षा की स्मृति से ये पागल आँखें हैं पथराई
दीप अभी जलने दे भाई।[5]

---

१. बच्चन—मधुशाला, रुबाई ६६
२. वही, रुबाई १०१,
३. वही, निशा निमन्त्रण, कविता ४
४. वही, कविता ५
५. वही, कविता २१

मन के सुख-दुख को जीवन के सत्य के रूप में वह स्वभावतः ग्रहण करने लगा है, उसके निराकरण की भी कोई आवश्यकता नहीं समझता। 'दुर्बल मानव' कहलाने में वह पूर्ण सन्तुष्ट है—

सोचा करता बैठ अकेले
गत जीवन के सुख-दुख झेले
दंशनकारी स्मृतियों से मैं उर के छाले सहलाता हूँ
ऐसे मैं मन बहलाता हूँ।
× ×
आह निकल मुख से जाती है
मानव की ही तो छाती है,
लाज नहीं मुझको देवों में यदि मैं दुर्बल कहलाता हूँ
ऐसे मैं मन बहलाता हूँ।[1]

कुण्ठित व्यथित व्यक्ति के जीवन की 'मरण दशा' का वर्णन भी बच्चन ने इस तरह किया है—

शून्य प्रतीक्षा में है मेरी
गिनती के क्षण की है देरी,
अन्धकार में समा जाएगा संसृति का सब खेल तमाशा
फिर भी जीवन की अभिलाषा।[2]

'फिर भी जीवन की अभिलाषा' ही ऐसा तत्त्व है जो बच्चन की निराशा में प्राण फूँकता हुआ भी उसे अधिक वेदनामय बना देता है। 'निशा निमन्त्रण' के बाद की रचनाओं 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर' और 'सतरंगिनी' के गीतों में आशा-निराशा की यही 'आँख मिचौनी' चलती रही है। विधाता के प्रति दृढ मोर्चे का भाव अब भी पहले जैसा ही ज्यों का त्यों बना हुआ है—

फिर भी बल संचित करता हूँ,
मन में दम-साहस भरता हूँ,
जिसमें न आह निकले मुख से जब हो तेरा अन्तिम प्रहार।
अब क्या होगा मेरा सुधार।[3]

संक्षेप में, बच्चन की विरहानुभूति के स्वाभाविक विकास की रूपरेखा इस प्रकार बनाई जा सकती है। कवि प्राचीन और नवीन की सीमा रेखा पर खड़ा था। पुरातन के रूढ़ि धर्म और अन्धविश्वास उसे प्रिय न थे किन्तु दूसरी ओर भौतिकता से आकर्षित होता हुआ भी वह उसे जीवन के सहज सत्य के रूप में स्वीकार न कर पाता था। अतः

१. बच्चन—निशा-निमन्त्रण, कविता ६८
२. वही, कविता ८९
३. वही, एकान्त संगीत, गीत ८३

पुरातन और नवीन किसी का भी आधार उसे प्राप्त न होने से उसके जीवन में कुण्ठा स्वाभाविक थी। वैयक्तिक स्तर पर प्रियतमा से स्वच्छन्द मिलन और उसको अपना बनाने की करुण-लालसा उसमें भी थी किन्तु परिस्थिति की प्रतिकूलता से वह भी उसे अप्राप्य थी। 'खाओ पियो और मग्न रहो' की पुकार में उसने इस समस्या का निदान ढूंढने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा क्योंकि भौतिक सत्य से ऊपर के सूक्ष्म जीवन-मूल्यों को उसने पूरी तरह त्यागा नहीं था अतः 'मग्न रहो' की पुकार भी 'दग्ध उर' की पुकार ही रही और अब तक उसी स्थिति में है।

नरेन्द्र शर्मा

आधुनिक युग की सामाजिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए हमने देखा है कि इस युग मे प्रेमी की व्यथा का मूल कारण है समाज की रूढ़ियाँ। शिक्षित समाज के स्वच्छन्द वातावरण में युवक-युवतियों के मध्य सुनहले स्वप्न जगाने के उपकरण तो हैं किन्तु उस स्वप्न को यथार्थ मे परिणत करने के स्वस्थ परिवेशन का अभाव है। इस परिस्थिति से प्रेमी युग्म, युवक और युवती दोनो के जीवन में नई विषमता व्याप्त हो गई है। एक ओर युवती के अभिभावकों ने उसको सजग कर करके बताया है कि 'रूप-रस के लोभी मित्र युवक, भ्रमर है, सच्चे संगी-साथी नहीं, अतः वह सच्ची भक्ति को भी ठुकरा देती है। भक्ति को अर्पित करने वाला युवक मन मारकर रह जाता है।' नरेन्द्र के शब्दों में—

दी मैने उसको भक्ति और वह काँप गई !
जब दिया अमित विश्वास, थकी-सी हाँफ गई ?
क्या भार वहन के श्रम से ?—ना।
मन में यह भय सच्चा भय था—
मैं क्षुद्रपात्र, खिलवाड़ बनूँगी अब कैसे औरों की ?
खिलवाड़ बनूँगी उच्छृंखल, रस लोभी भौरों की ?
मैं गया पास विनयानत, वह हट दूर गई।
सर्वस्व दिया, तो कहा—'नहीं यह रीति नई।'[२]

बातचीत की इस शैली से नरेन्द्र शर्मा ने उस परिस्थिति को अत्यन्त सजीव बना दिया है। प्रणय की याचना के इस प्रकार अस्वीकृत हो जाने से युवक प्रेमी के मन में अपूर्व टीस का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

इसीके समकक्ष एक दूसरी परिस्थिति है जब कोई युवती अल्हडपन में याचक प्रेमी युवक को आत्म समर्पण कर देती है। यदि दुर्भाग्य से वह किसी ग़लत युवक को चुन बैठी है जो उपभोग तो करना चाहता था किन्तु उत्तरदायित्व सँभालना नहीं तो परिस्थिति अत्यन्त कठिन हो जाती है। आज के 'जागृत', 'बुद्धिवादी' युग में जब नैतिकता और धर्म

२. श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल, गीत भक्तिभीत, पृष्ठ ४६

का न कोई भय है, न मूल्य पुरुष। बड़ी सरलता से स्त्री से कह सकता है 'मैंने तो तुम्हें निकटतम मित्र ही समझा था।' तब उस स्त्री के जीवन में 'अश्रुहार' के अतिरिक्त और क्या अवशेष रह जाता है? नरेन्द्र शर्मा ने इस भाव को अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण शब्दों में इस तरह व्यक्त किया है—

हो एक, एक क्षण को केवल
थे मिले, प्रणय के चपल श्वास,
भोली हो समझ लिया तुमने
सब दिन को अब गुँथ गए पाश,
स्वच्छंद सदा मैं मारुत सा, वश मे तुम कैसे कर लोगी?

... ...

जीवन भर कभी न भूलूँगा
उपहार तुम्हारे वे मधुमय
वह प्रथम मिलन का प्रिय चुम्बन
यह अश्रुहार अब विदा समय।
तुम भी बोलो क्या दूँ रानी! सुधि लोगी या सपने लोगी?[१]

यदि प्रेम उभय-पक्षी है तब भी मार्ग मे रूढ़ियाँ बाधक है। दोनों विरहियों के साथ भाव-तादात्म्य और समवेदना व्यक्त करने वाले उपकरण भी कवि ने अभूतपूर्व प्रस्तुत किए हैं—

आज की भीषण दुपहरी में सहम कर
सो रहा होगा सकल ससार, केवल
जागती होगी तुम्ही, या बाहु फैला
विकल होगा सामने का वृक्ष पीपल।
देख चलदल के चमकते पत्र कम्पित,
व्यर्थ भर लाना न लोचन।

... ...

फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी,
अस्थि फूलों से खिले जब शून्य नभ में कुन्द-तारक,
देख पाओगी कदाचित् तब, किसी आतुर हृदय-सा,
अश्रु कम्पित सा नयन में, व्योम मे उद्विग्न लुब्धक
ध्यान कर तब किसी मिलनातुर पथिक का व्यर्थ
भर लाना न लोचन।[२]

स्त्री और पुरुष दोनों के प्रेमी हृदय ही विरह की आतुरता से ओत-प्रोत हैं।

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत २, पृष्ठ १४
२. वही, गीत ५, पृष्ठ १९

जीवन-पर्यन्त जिन प्रेमियों को कभी न मिलने का अभिशाप समाज के दुर्वासा से प्राप्त हुआ हो, उनकी वियोग-व्यथा को विरह की किस श्रेणी में रखा जाएगा ? क्या करुण-विप्रलम्भ में नहीं, जहाँ जन्मान्तर में भी विरही, प्रिय से सशरीर मिलने को आतुर रहता है ? नरेन्द्र के युवक कवि-पुरुष ने उसी विरह-वेदना के अगणित गीत गाए है, उसकी विविध परिस्थितियों में मन की विवशता का अंकन किया है। मन की आशा-निराशा, में ऊबते-डूबते रहकर भी उसको उन्होंने ढाढ़स बँधाने का प्रयत्न किया है, प्रियतमा-मिलन की साध बराबर हृदय में विद्यमान है और उसकी आतुरता मन को निरन्तर कचोट रही है। निरवधि-विरह की चिर वेदना को भी विरही इसीलिए सहर्ष झेलता रहता है क्योंकि उसके साथ प्रियपात्र की सुधि विद्यमान रहती है। विरह की जलन प्रिय की सुधि से मधुर हो जाती है।—

क्यों न जाने प्रश्न प्रतिक्षण
पूछता है हृदय रह रह,
'जल रहे है प्राण तेरे
या प्रिया की मधुर सुधि यह ?'
किन्तु अपनी आग को मैं सुधि समझ कर जल रहा हूँ।[1]

सन्ध्या काल मे शशि के म्लान मुख को देखकर प्रियतमा के उदास चेहरे की याद आ जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु उसके साथ प्रेमी मन पर जो उदासी छा जाती है उसका निरूपण इन शब्दों में 'अस्त रवि-सी हो गई क्या श्रान्त म्लान विलुप्त आशा' करके नरेन्द्र शर्मा ने उस भाव की मार्मिकता को बहुत गाढ़ा कर दिया।

अस्त रवि-सी हो गई क्या श्रान्त म्लान विलुप्त आशा ?
क्या अभी से सोच कल की ली बसा मन में निराशा ?
क्यों उदित शशि-म्लान मुख को देख अब छाई उदासी ?
विरह-विधुरा शशिप्रिया की याद आई क्या प्रवासी ?[2]

ऐसे ही एक और संध्या में, जब लजीली माधवी, घूँघट खोलकर श्रान्त जग को सुलाती है तब व्याकुल विरही को अपनी शालीन प्रियतमा की याद सताने लगती है। नभ के अगणित दीपों को लेकर वह निशा के एकाकीपन में अपनी प्रियतमा को ढूंढने लगता है—

खोल घूँघट साँझ होते ही लजीली माधवी जब
श्रान्त जग को सुला देती है पिला निज श्वास सौरभ,
उमड़ती है सुधि तुम्हारी, प्राण, तब मेरे हृदय में,
सिसकियों में, मधु में, निश्वास में, फिर गीत लय में

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत (चतुर्थ संस्करण), गीत ११, पृष्ठ ३०
२. वही, गीत १, पृष्ठ १३

खोजता हूँ तुम्हें नभ के दीप ले निशि-जागरण में।
आह ! कैसे कर सकूँगा, प्रिय तुम्हारा विस्मरण मैं ?[१]

'स्मृति' संचारी से सिसकी, अश्रु, उच्छ्वास और गीतलय के अनुभावों का क्रमशः उदय होना अत्यन्त सुन्दर है।

चाँदनी रात्रि विरह की 'सुधि' में उद्दीपनकारी समझी जाती है। उद्दीपन का यह भाव परम्परागत ही है किन्तु इसी भाव को नरेन्द्र शर्मा ने नवीन रूप में प्रस्तुत किया है, उनके भावरूपी 'खग' चाँदनी को दिन समझकर जाग जाते हैं—

आज उज्ज्वल चाँदनी को दिन समझ कर
सो नहीं पाते विकल खग।
प्राण जैसे स्वप्न को ही सच समझकर
नींद से हूँ मैं गया जग।[२]

व्याकुल भावों की विकल खगों के रूप में कल्पना अभूतपूर्व है। प्रातः काल के उदय पर खगों के समन्वित रूप से अस्पष्ट चहचहाने का भाव, हृदय के गहनतम गह्वर से अनायास उठकर कुलबुलाने वाले भावों से कितना मिलता-जुलता है। रूपक अत्यन्त सजीव है।

उस विवश अवस्था में विरही स्वयं को अत्यंत असहाय अनुभव करने लगता है। मन प्रियपात्र को अपने समीप पाने को आकुल हो उठता है—

आज ऐसी चाँदनी में प्राण यदि तुम साथ होतीं,
जड़धरा पर शशि-कलाएँ खिल सहज साकार होतीं।
आह ! होतीं साथ यदि तुम चाँद यों सिर पर न चढ़ता,
शून्य की सोलह कलाएँ दासियाँ बन पास होतीं।[३]

यहाँ 'सिर पर चढ़ना' मुहावरा बहुत सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुआ है। चाँद के विषय में नरेन्द्र के विरही की यह एकदम नवीन कल्पना है।

आधुनिक परिस्थितियों ने प्रेमी युग्म को आजीवन एक-दूसरे के लिए तड़पने को बाध्य किया है। चिर-प्रतीक्षा ही विरही का एकमात्र सहारा रह जाती है—

प्रिय जाने कब आओगी तुम ?
निशि-दिन नित बाट जोह व्याकुल, हो जाएँ न जीवन से निराश,
सुन पाएँ न यदि लघु-चरण-चाप, मुरझा न जायँ होकर हताश—
ये मेरे कोमल भाव कुसुम
प्रिय जाने कब आओगी तुम ?[४]

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत ७, पृष्ठ २४
२. वही, गीत ८, पृष्ठ २६
३. वही, गीत १८, पृष्ठ ४२
४. वही, गीत २२, पृष्ठ ४

'जाने कब आओगी' में प्रतीक्षा की अनन्त व्यथा का भाव निहित है। विरह-ज्वलन से जलते हुए मस्तक और जर्जर-रुग्ण-व्यथा को प्रियपात्र केवल एक बार अपने हाथों से सहला जाय, यही मधुर कामना विरही को रहती है—

वह कितना सुन्दर सपना हो!
जो आकर मेरे सिरहाने
तुम जलता मस्तक सहला दो
घण्टों बैठो यों पास, प्राण
फिर ज्वर से जब सहसा कराह,
तुमको पुकार आँखें भर लूँ
व्रीड़ा से आनत मुख, आँचल
से अश्रु पोंछ पीड़ा हर लो
वह कितना सुन्दर सपना हो।[1]

'व्रीड़ा से झुके हुए मुख पर बहते हुए अश्रुओं से' दूसरे पक्ष की व्यथा की सूचना भी मिलती है। इन दोनों के मध्य वियोग की पीड़ा का कारण है रूढ़ियाँ। सामाजिक रूढ़ियों को नरेन्द्र शर्मा ने 'पत्थर की दीवारें' कहा है। सामाजिक नीतिपाश में बँधा हुआ यह विरही मर भी नहीं सकता क्योंकि बुद्धि ने उसे बताया है कि आत्महत्या पाप है, 'श्वासें हथकड़ियाँ बन जाती है और रात्रि कारागार के सदृश्य भयावह'—

रानी याद तुम्हारी आई,
आई याद प्यार की बातें,
साँसें बनी विषम हथकड़ियाँ
कारागार बन गईं रातें।
... ...
दो फूलों के बीच खिंची है
पत्थर की दीवारे रानी।
सहनी पडती है प्राणी को
बधिर बधिक विधि की मनमानी।[2]

विधाता के प्रति विद्रोह का भाव अत्यन्त कटु रूप में 'बधिर बधिक' शब्दों में मुखर हुआ है। विधाता सशक्त है अतः उसका सामना तो नहीं किया जा सकता किन्तु उसकी योजना से बलपूर्वक सघर्ष करके उसको नीचा तो दिखाया ही जा सकता है—

किन्तु नहीं स्वीकार पराजय
कवि समर्थ है सब सह लेगा,

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत २६, पृष्ठ ५०
२. वही, गीत १२, पृष्ठ ३२

वह अपना स्वामी, मधु अक्षय,
सुधि को तो विधि छीन न लेगा।[1]

कभी-कभी उसे लगता है कि नीतिपाश मे बँधे हुए भावुक के हृदय के सब बाँध टूट पड़ेगे और तब समाज की सब रीति-नीतियाँ उस प्रलय में ढह जाएँगी—

रोको अपनी अश्रुधार अब
अब टूटे सब बाँध हृदय के
रुद्र रूप धर उमड़ पड़ेगे
फिर न रुकेगे सिन्धु प्रलय के
क्यों समस्त ससार डुबाने, भर भर लाती हो युग लोचन ?[2]

किन्तु आज का भावुक युवक उन रूढियों का वास्तव मे विरोध करने में समर्थ नहीं है, यह केवल उसकी इच्छा मात्र है। तभी तो नरेन्द्र का विवश विरही फूट पड़ता है—

आज मैं गति रुद्ध हूँ।
मिला सीमाहीन अन्तर, खिची सौ मरजाद बाहर।
कठघरे में बन्द, कोडों से पिटा है हृदय नाहर॥
पर्वतों से मथे फेनिल सिन्धु-सा विक्षुब्ध हूँ,
धँस रहा हूँ रसातल में, फँसा बाड़व की भँवर मे।
और आहत अह, अहि सा पैठता गहरे विवर में॥[3]

जाग्रत 'अहं' से सन्निविष्ट और रूढियों के बीच बन्दी युवक की वेदना का, पर्वतों से मथित क्षुब्ध सागर से साम्य बहुत सुन्दर बन पड़ा हैं।

इस युग से पूर्व कवि ने पार्थिव का अपार्थिव के रूप में उन्नयन करके अपनी पीड़ा पर अलौकिकत का आवरण डाला था। किन्तु इस युग में, प्रियपात्र की पार्थिवता को पूर्णरूप से सुरक्षित करते हुए उसमें ही अतीन्द्रिय अलौकिक गुणों का समावेश कराया गया है और इस तरह पार्थिव को ही उज्ज्वलता प्रदान की गई है—

इन्द्रियों के ज्ञान से, अन्तःकरण के ध्यान से भी
हो परे तुम कल्पना के व्योम रत अनुमान से भी,
देवि, यद्यपि दृश्य हो तुम, देह भी धारण किए हो,
नाम, गुण औ' रूप से सम्बन्ध बन्धन से परे हो॥[4]

विरही 'उद्विग्न' अवस्था में, जीवन के सभी सुखो से पराङ्मुख होकर केवल प्रिय का दर्शन करना चाहता है केवल उन्हीं की बात सुनना चाहता है। 'गुण श्रवण'

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १२, पृष्ठ ३२
२. वही, गीत ६, पृष्ठ २२
३. वही, मिट्टी और फूल, गतिरुद्ध, पृष्ठ ५२
४. वही, प्रवासी के गीत, गीत २४, पृष्ठ २४

की अभिलाषा से संयुक्त 'उद्वेग' दशा का वर्णन नरेन्द्र ने इस तरह किया है—

चाहता हूँ चित्र प्रिय का सदा सम्मुख ही रहे।
बैठ कोई पास मेरे प्रेम की गाथा कहे।
चाहता हूँ हर घड़ी, हर साँस में प्रिय नाम लूँ
ध्यान में अपनी प्रिया के मैं सदा डूबा रहूँ।[१]

युग-युग से विरही की यही चाह रही है किन्तु आज के बुद्धिसंयुक्त वियोगी का हृदय, अपने आश्रय के पागलपन का मजाक उड़ाता है, उपहास करता है—

पर हृदय उपहास कर कहता, 'यही क्या साधना ?'

इस विरही के प्राणों के व्याकुल चातक दृग्जल पीकर जीवित रहते हैं। प्राण और दृग्जल का यह सम्बन्ध कवि की नई सूझ है। विरही की 'अश्रु' दशा को वह अधिक मार्मिकता प्रदान कर रही है—

उर में कैसी व्यथा धधकती,
जिसे बुझाने नयन बरसते
वे क्या प्राणों के आकुल चातक
दृगजल बिन दिन रैन तरसते
कैसी प्यास ! बुझाने जिसको भर-भर लाती हो लोचन।[२]

उन्मादी होकर विरही वायु से शान्ति का पता पूछने लगता है—

क्या जगत में भ्रान्ति ही है ?
एक दिन पूछा विचरती वायु से मैंने, 'कहो क्या
शान्ति भी है ?'[३]

उन्मादी वियोगी का प्रश्न जितना मर्मस्पर्शी है वायु का उत्तर भी उससे कम हृदयहारी नहीं। वायु स्वयं शान्ति की खोज में भटकती घूम रही है, संसार के सब प्राणी घूम रहे हैं, वह बेचारी क्या बताती ?

गीत मेरा सुन, स्वयम् संगीतमय हो वायु कहती,
'है न जाने कौन-सा कोना जहाँ, कवि, शान्ति रहती ?
किन्तु जाऊँ देख आऊँ
क्या कहीं कुछ शान्ति भी है ?
क्या जगत में भ्रान्ति ही है ?'

'किन्तु जाऊँ देख आऊँ' जैसी मुँहबोली सान्त्वना ही व्यथित को मिलती है। कोई भी संसार में उसकी व्यथा को दूर करने में समर्थ नहीं है, सब स्वयं जो व्यथित हैं।

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत ३०, पृष्ठ ५४
२. वही, गीत ६, पृष्ठ २०
३. वही, गीत २३, पृष्ठ ४७

विरह व्यथा में 'जड़ता' के भाव का वर्णन नरेन्द्र शर्मा ने इस तरह किया है—

जग वही है किन्तु मैं ही
क्या न जाने हो गया हूँ ?
हाँ कदाचित खो किसी को
मैं स्वयं भी खो गया हूँ।
क्या इसी से वेदना भी उमड़ उर में अब न पहला ज्वार लाती ?[1]

यह जड़ता, देह की जड़ता नहीं हृदय की जड़ता है। हृदय की इस विवशता में उन्मादी होकर हँसने का भाव वियोगी की व्यथा को तीव्रता प्रदान करता है। 'दुर्बल हृदय' से सयुक्त आज के 'मानवीय' कवि की उन्मुक्त हँसी के रहस्य को नरेन्द्र का विरही ऐसे व्यक्त करता है—

जानता हूँ, जी रहा हूँ
दे न जग इसका उलाहना,
हँस रहा हूँ भूलकर अब
मौन हो चुपचाप सहना
यदि न हँसता, किस तरह उसको भुलाता और
विस्मृति भी न आती ?[2]

इस कविता में मिलन की आशा के मिटने के साथ, 'आज तो सबकी तरह हँस बोलकर·····' कहकर जो भाव नरेन्द्रजी ने व्यक्त किया है वह अनुपम है—

हो मिलन की आश जिसको
वह विरह का वेश धारे,
किन्तु मेरी आश के संग
मिट गए हैं क्लेश सारे !
आज तो सबकी तरह हँस-बोलकर दिन काटता हूँ,
सुधि न आती ॥[3]

यदि मिलन की 'आश' मिट गई थी तो 'आज तो' की मार्मिक व्यथा के व्यक्तिकरण की क्या आवश्यकता थी ? 'तो' की प्रत्यय-ध्वनि में हृदय की सम्पूर्ण वेदना कवि ने निहित कर दी है।

विरह की इस निस्सीम अवधि में जब प्रिय की प्राप्ति का कोई आभास होने लगता है तो वह अपने मन को समझाता है—

पागल ! क्यों फिर से जोड़ रहे
हो आशा छलना से नाता ?

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १३, पृष्ठ ३३
२. वही, गीत १३, पृष्ठ ३३
३. वही, पृष्ठ ३४

यदि यह सपना भी सच न हुआ
फिर भी तो जीना होगा ही।[1]

सब प्रकार से हताश होकर भी आज का विरही जीने को बाध्य है। वह बुद्धि-सम्पन्न है अतः मन को सब तरह से हारा हुआ जानकर भी 'आत्म-हत्या' नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है कि मन का जीवन ही सम्पूर्ण जीवन नहीं है। मन और बुद्धि के इस संघर्षण ने अत्यन्त कटु नैराश्य से उसके व्यक्तित्व को अभिभूत कर लिया है। मन से वह कहता है—

तुम पर, अपने पर ही न हुआ
तो होगा मेरा किस पर वश?
क्या होगा यदि हूँ भी हताश?
क्या हूँ साँसों से भी न विवश?
यदि मौत न आई अब के भी,
फिर भी तो जीना होगा ही।[2]

× × ×

आज शान्ति से मरने का भी
क्यों मेरा अधिकार छिन गया?
मेरी अनुमति लिए बिना विधि
किस विधि मेरे श्वास गिन गया?
मैं न बुलाता जिन्हें, बुलाये बिना श्वास
आते जाते क्यों?[3]

कवि 'उस जन्म में' प्रियतमा से मिलन होगा; इस साध को हृदय में संजोये हुए है। देशकाल की सीमा को लाँघकर जब प्रेमी युग्म मिलेंगे तब वह इस जीवन की लोक-लज्जा के आवरण को उठाकर फेंक देगे। विरही की आशा कितनी पवित्र और लगन कितनी दृढ़ है—

मिल गए उस जन्म में संयोगवश यदि
क्या मुझे पहचान लोगी?

× × ×

कहो क्या इस जन्म की सब लोक लज्जा
प्राण, मेरे हित वहाँ तुम त्याग दोगी?
जब विरह के युग बिता युग प्रेमियों के उर मिलेंगे
कौन जाने कल्प कितने बाहु-बन्धन में बँधेंगे?

× × ×

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १६
२. वही, गीत १६
३ वही, गीत ४२

प्रलय होगी, सिन्धु उमड़ेंगे हृदय में
चेत होगा फिर नई जब सृष्टि होगी !'[1]

इस जीवन में भी नरेन्द्र शर्मा का विरही निराशा और दुख को अन्तिम सोपान बनाना नहीं चाहता। प्रियपात्र से वह कहता है—

यदि करना ही विषपान मुझे
कल्याण रूप हूँ शिव समान—
दो प्राण यही वरदान मुझे !'[2]

किन्तु जैसा कि उसने स्वयं इस पुस्तिका की भूमिका में कहा है, ' "प्रवासी के गीत' का कवि आज भी 'मरघट का पीपल तरु' है। उसके जीवन की गति आज भी 'हृदय की कायरता' और 'मन की छलना' के सहारे चलती है। वह मुक्ति का मार्ग जानता है लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है।"[3] वह आशा-निराशा की छलना में बहता रहा है। 'मरण' के समय प्रियपात्र उसके समीप आ जाय यही अभिलाषा उसके मन में है—

यदि उधर आना हुआ तो देख लोगी।
स्नेह इसका बुझ चुकेगा और दीपक बुझ चुकेगा।
× × ×
तुम्हीं सोचो, क्या तुम्हारे लौटने तक
धुएँ के दो चार धब्बों के सिवा कुछ भी बचेगा ?'[4]

नरेन्द्र शर्मा का यह भाव महाकवि गालिब के भावों की प्रतिध्वनि-सा लगता है, 'खाक हो जाएँगे हम उनको खबर होने तक।'

'पलाशवन' के प्रारम्भ में नरेन्द्र शर्मा, 'प्रवासी के गीत' की भाँति एकान्त निराशावादी प्रेमी नहीं हैं। कवि धीरे-धीरे लोक-जीवन के अधिक समीप आने की चेष्टा कर रहा है। वसन्त के प्रफुल्लित पलाशवन के मादक वातावरण में एक प्रवासी-प्रियतम अपनी प्रियतमा की कल्पना करता है—

कौन देश से आवेंगे पिय ?
हँस-हँस कहती होंगी सखियाँ
घेर तुम्हें आँगन में बैठी
आमी चीर उछाल बिजलियाँ,
तुम्हें खीझ, फिर कभी हँसी बरबस आ जाती होगी।'[5]

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १०
२. वही, गीत ३२
३. वही, प्रवासी के गीत की भूमिका, पृष्ठ ६
४. वही, प्रवासी के गीत, गीत ५०
५. वही, पलाशवन (मेरी याद), पृष्ठ ३

यह गीत लोक-जीवन के अत्यन्त निकट है।

पलाशवन की 'आत्मपरिचय' शीर्षक कविता में 'ममता' के परिचय के मिस, कवि ने विरही के 'पूर्वराग' की 'अभिलाषा' को अंकित किया है। प्रियतमा के हित वह 'निशिगंधा के पुष्प' और 'शूल' से लेकर 'पथ की रज तक' बन जाने को आकुल है—

थे भ्रमरावलि सी वेणी में बँध जाने को लालायित जो
सुरभित मेरा ही स्नेह, सुमुखि, निशि गन्धा के उन फूलों में,
साड़ी का पल्ला थाम तुम्हें जो बरबस खींच लिया करते,
मेरी ही तो उर-आकांक्षा हो उठी ढीट उन शूलों में।

× × ×

मै निशिगंधा का फूल नहीं, हँसमुख गुलाब का शूल नहीं,
पद-पंकज का परिमल बनती जो पथ की रज,
मै वह ममता![1]

'चाँदनी में भ्रम' कविता में कवि चाँदनी का प्रिया से साम्य, प्रणय के उन्माद व्यापार और उसकी मान-मनुहार का मनोरम चित्र प्रस्तुत करता है—

बात वह करती न, सोने भी न देती
मुसकराते मौन वाली चाँदनी

× × ×

पास से जाती, न मन से दूर जाती,
है न क्या मेरी प्रिया सी चाँदनी?
विकल जल सा रात भर मुझको जगाकर
पास आ पागल बनाती चाँदनी।[2]

चाँदनी रात विरही के लिए परम्परा से उद्दीपनकारी समझी जाती है। उपर्युक्त कविता उसी उद्दीपन के निरूपण का मौलिक ढंग है।

'आत्म समर्पण' कविता में प्रेमी के आत्म-समर्पण को व्यक्त करने के लिए कवि ने नवीन उपमानों की संयोजना की है—

सौ टूक हो गया चाँद
टूट लहरों पर,
हो गया हृदय जैसे
तुम पर न्योछावर।
जल जुगनू बनता चन्द्रहास
ज्यों जल पर,

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (आत्म परिचय), पृष्ठ ६
२. वही, पलाशवन (चाँदनी में भ्रम), पृष्ठ ८

उड़ गया प्राण सौ भावों
में मम अन्तर ।[1]

प्रियतमा की भाव-लहरियों पर हृदय के चाँद का सुध-बुध खोकर, उनसे एक रूप हो जाना सचमुच बहुत सुन्दर कल्पना है। 'चन्द्रहास' के 'जल-जुगनू' बनाने के भाव में भी उज्ज्वलता और निर्मलता के साथ आर्द्रता का भाव निहित है।

यदि नरेन्द्र की भाव धारा उसी क्षेत्र में बहती रहती जिसमें पलाशवन के प्रारम्भ में बह रही थी तो सम्भवतः विरही के भावों को व्यक्त करने के कई सुन्दर नवीन उपमान काव्य के क्षेत्र में आते। किन्तु पलाशवन की 'साथी' शीर्षक कविता से नरेन्द्र के विरही का झुकाव फिर से अत्यन्त व्यक्तिनिष्ठ और हृदयगत होने लगा। हृदय की उस गम्भीर वेदना के अतल में कल्पना के नवीन उपमान धीरे-धीरे लुप्त होने लगे। 'साथी' में चन्द्रमा के उद्दीपनकारी प्रभाव को व्यक्त करते हुए कवि कहता है—

पीले गुलाब सा लगता था
हल्के रंग का हल्दिया चाँद।
साथी था, फिर भी मन न हुआ
हलका, हो गया भार दूना।
वह भी बेचारा एकाकी
उसका भी जीवन पथ सूना।
क्या कहते, दोनों ही चुप थे,
अपनी अपनी चुप सहते थे।।[2]

वह देखता है कि पतझड़ में उजड़े हुए नीम पर पुनः वसन्त आ गया और कोकिला ने अपने राग से उसमें जीवन की स्पन्दना भी फूंक दी, किन्तु उसके एकाकी जीवन का वसन्त एक बार जाकर फिर कभी न लौटा—

देखता हूँ दूर बैठा
नीम की मजरित डाली,
वायु जिससे खेलती, पिक ने
जिसे अपनी बना ली,
तू अकेला है अकेला, कहा मुझसे हर सुबह, हर शाम ने।[3]

अपने 'व्यक्ति' पर निराशा के इस अधकार को घिरता देखकर कवि उसे आशा दिलाने का प्रयत्न करता है—

ऐसा क्या हो गया तुम्हें जो
सोया भाग न फिर से जागे ?

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (आत्म समर्पण), पृष्ठ १०
२. वही, पालाशवन (साथी), पृष्ठ १४
३. वही, पलाशवन (सामने का नीम), पृष्ठ १७

ऐसा क्या खो गया तुम्हारा
सब जग सूना जिसके आगे ?[१]

मन को समझाते हुए वह कहता है विराट् जीवन के अनन्त सुख-दुख में, व्यक्ति का दुख ऐसा ही है जैसे चींटी की आँखों से जलकण में महाप्रलय को देखना। वैयक्तिक दुख की क्षुद्रता की यह व्यंजना अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। 'अहं' की सीमित परिधि में घिरे हुए मनुष्य का अपने सुख-दुख को बढ़ाकर देखना क्या इससे कुछ भिन्न है ?—

जब इतना तक सहता चलता
मृत्युग्रास बनने तक जीवन,
तो इतने से दुख के कारण
काँप उठे तुम क्यों मेरे मन ?
चींटी की आँखों से देखी
तुमने महाप्रलय जलकण में,
की अनन्त की विशद कल्पना
तुमने अचिर क्षुद्रतम क्षण में।[२]

सम्भवतः 'प्रवासी के गीत' के पश्चात् नरेन्द्र के विरही के जीवन में कोई नवीन स्वप्न आया था, जो पहले स्वप्न की तरह ही छिन्न-भिन्न हो गया। उसका संकेत 'पलाशवन' की इन पंक्तियों में मिलता है—

दुर्दिन न अकेले आते हैं,—
आया फिर मन में स्वप्न नया,
वह भी टूटा, तृणवत छूटा,
मुझसे मेरा विश्वास गया।[३]

वह मीत जो उसे मिला था, वह दो दिन में ऐसा हो गया जैसे जान-पहचान ही न हो—

दो दिन में बन गए निपट अजान, मीत तुम।[४]

एक भयंकर विषाद उसके व्यक्तित्व को पुनः अभिभूत करने लगा है—

मृग को भी मिलती कस्तूरी
हुआ न तेरा ही कोई[५]

... ...

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (मन समझाने की बात), पृष्ठ ३६
२. वही, पृष्ठ ४०
३. वही, पलाशवन (आश्वासन), पृष्ठ ४३
४. वही, पलाशवन (मीत तुम), पृष्ठ ४८
५. वही, पलाशवन (हुआ न तेरा ही कोई), पृष्ठ ५०

अच्छा ही हुआ दूर हो तुम,
टुकड़े-टुकड़े हो जाता दिल—
अब देख मुझे इतना उदास।[1]

सम्बन्ध-विच्छेद के इस करुण-विप्रलम्भ में भी हृदय-समर्पण की स्वच्छता बराबर विद्यमान है—

कौन कहे, सुन पाओगे भी मेरे सकरुण गान मीत तुम,
तुम पर मेरा स्नेह वही था, स्वाभाविक है जो अपनों पर,
जिसमें पाना इष्ट नहीं है, देना ही जिसमें श्रेयस्कर!
सीपी के मोती को ममता सौंपा करता ज्यों रत्नाकर,
घन विद्युत को, शशि को सूरज या ज्यों ताराओं को अम्बर,
मैंने दी ममता, मेरे थे कुछ-कुछ इसी समान मीत तुम।[2]

'मेरा मन' कविता में कवि कोरा भाग्यवादी-सा हो गया है, विधि की विडम्बना के सन्मुख वह शीश झुकाने लगा है परन्तु उसका बुद्धिवादी मन बार-बार इस पराजय की स्वीकृति के लिए उसे ललकारता है—

मैं हूँ विशेष, मैं हूँ विशिष्ट,
कहता विधि से यों वह अशिष्ट;
भ्रम वश चलता खुश-खुश हँसकर
चल जरा दूर ठोकर खाता!
मैंने बहुतेरा समझाया,
मन अब तक समझ नहीं 'पाया—
वह भी मिट्टी से ही निकला
फिर भी मिट्टी ही में मिल जाता।[3]

वीतरागियों की भाँति, वह अपने आत्म को उपदेश देने लगता है—

जब तक तन है आधि व्याधि है,
जब तक मन, सुख-दुख हैं घेरे,
तू निर्बल तो क्रीत भृत्य है
तू चाहे, ये तेरे चेरे!
... ...
सुख-दुख धूप-छाँह का परदा
जिसके परे सत्य का घर है।[4]

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (अच्छा ही हुआ), पृष्ठ ४५
२. वही, पलाशवन (मीत तुम), ४८
३. वही, पलाशवन (मेरा मन), पृष्ठ ५१
४. वही, पलाशवन (सुख-दुख, एक तर्क), पृष्ठ ५४-५५

जगत् से ममता की आशा छोड़कर वह अधिकाधिक आत्मनिष्ठ बनने का प्रयत्न करने लगा है। आत्मनिष्ठा के फलस्वरूप वह एकपक्षीय प्रेम को मन में सँजोता है। ध्यान में प्रेयसी की आदर्श मूर्ति की कल्पना करके, वह उसकी पलकों पर स्वयं के सपना बनकर छाने के दिवास्वप्न देखता है। किन्तु यथार्थ की वास्तविकता उसके स्वप्न को यदि कभी चूर कर देती है तो विरही की दशा अपने कारुण्य में असीम और विचित्र हो जाती है—

उन पलकों की पंखुड़ियों पर मैं चुम्बन बन खो जाता हूँ,
घनश्याम पुतलियों की रजनी में सपना बन सो जाता हूँ,
बस साँसें आती-जाती है

... ...

तोड़ो मत मेरा दिवास्वप्न, फेको मत मेरा हृदय रत्न
मत समझो उसका मोल नहीं, मिल जाय स्नेह जो बिना यत्न
सीपी मोती भर लाती हैं।

... ...

झुक रही रात, पंछी घायल, है कोई अपना नीड़ नहीं,
मन भी भर आता नहीं, मिले जो बूंद, बूंद दो नीर कहीं,
सूखे दृग नद बरसाती है॥[1]

विरही के मन में केवल एक चाह अवशिष्ट रह जाती है, वह यह कि प्रियपात्र के जीवन में उसका चाहे और कोई महत्त्व शेष न रहे किन्तु वह उसकी स्मृति न भूल जाए—

'फिर भी न मुझे देना बिसार'[2]

स्वयं भी वह यही आकांक्षा करता है कि उसके साथ प्रिय पात्र की स्मृति सदा रहे। इसके बल पर जीवन के सब विघ्न वह सरलता से झेल लेगा—

सुनो तुम्हारे श्रीपदतल नत कोई भी मस्तक गौरवमय,
तुम मेरे न हो सके, फिर भी आज तुम्हारे बल पर निर्भय
मैं जीवन-पथ पर बढ़ता, शत बाधाएँ स्वीकार करूँ।[3]

दिवस की कर्मशीलता विरही को कार्यव्यस्त रखती है। रात्रि में कोई काम नहीं होता अतः समय काटना दूभर हो जाता है। 'सुवह कब होगी' इस प्रतीक्षा को नेत्रों में सँजोए विरही रात काट देता है ; यह भाव-परम्परा से विरह-काव्य में उपलब्ध होता रहा है। नरेन्द्र शर्मा के काव्य में इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल (स्वप्न भंग), पृष्ठ ५
२. वही, मिट्टी और फूल (विदा गीत), पृष्ठ ६
३. वही, मिट्टी और फल (किसविधि), पृष्ठ २६

स्वप्न-चीर तार-तार,
जीवन-क्षण हुए भार,
झाँक-झाँक खिड़की से
देख-देख तिमिर तोम,
झाँक-झाँक खिड़की से
देख घिरा-घिरा व्योम,
बन्द यहाँ
जलता मैं मन्द-मन्द आशा में
होगी ही (कब होगी) दिवस की निकासी।[1]

'होगी ही' की पुनरावृत्ति में (कब होगी) रखने से भाव की मार्मिकता और विह्वलता बढ़ गई है।

विरही और उसके विडम्बना-भरे जीवन की करुण कहानी नरेन्द्र शर्मा ने 'अन्योक्ति' में इस तरह प्रस्तुत की है —

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक
वायु डोली, लहर उभरी, फूल झूला मिले ओंठ
फूल भूला चेत, लहर गई कर मधुराभिषेक।
बहुत-सी आई-गई लहरें, न आई वही एक—
ले गई जो फूल की मुस्कान, अन्तर का विवेक।
उलाहना देता रहा बनफूल—'तुम आईं नहीं'
गीत गाता रहा, देती रही मन्थर वायु टेक॥

... ...

एक दिन बोली नदी—मैं तो समय की धार हूँ
मैं विरह का अश्रु हूँ, मधुमिलन लोचन चार हूँ,
लहर मेरा अंश, ओ बनफूल! मत यह भेद भूल—
छू गया सकेत जिसका, मैं वही मझधार हूँ।[2]

हिरना-हिरनी की एक और 'अन्योक्ति' में कवि ने प्रेमी युग्म, समाज और उसके द्वारा उनके विछोह तथा मृत्यु में उनकी ज्वलन की मधुर-शान्ति का मोहक वर्णन किया है—

एक था हिरना, एक थी हिरनी।
हिरना था वह प्रेमी पागल
फिरता था नित जंगल जंगल,

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल (सोझ के बाद रात), पृष्ठ ८
२. वही, मिट्टी और फूल (वनफल), पृष्ठ ५६-५७

बतलाऊँ हिरनी कैसी थी ?
बड़ी खिलाड़िन नटखट चंचल।

—प्रेमी-युग्म

× × ×

आया एक सामने दलदल
फँसी जहाँ जा हिरनी चचल
दुख से, प्यारी आँखें छलछल।
हिरना प्यारा, दुख का मारा,
दूर पड़ा था, गिर मुँह के बल !

—समाज

× × ×

देख शेर के मन में आया
मैंने इनको खूब मिलाया,
बहुत मृगी ने खेल खिलाया,
(जिए दूर मिल गए मौत में)
हिरने ने हिरनी को पाया ! —मृत्यु में चिरमिलन[1]

इतनी विकल वेदना होने पर भी नरेन्द्र का विरही, अपने मन को बराबर आश्वासन और प्रोत्साहन देता रहा है—

तू नहीं वह चीज जो जल खाक हो जाए
नित्य निखरेगा मनुज जितना जलेगा तू।

'हंसमाला' में नरेन्द्र का कवि वैयक्तिकता की सीमा से ऊपर उठने लगा है। वह दार्शनिक के समान जग और कवि के पारस्परिक सम्बन्ध को समझता-तौलता है। उसके पथ में यह मोड़ 'मिट्टी के फूल' की कविता 'एक नारी के प्रति' से ही प्रारम्भ हो गया था। वहाँ वह स्पष्ट कहता है।

'कामिनी की कामना ? वह कर चुका हूँ पार मंजिल'

और—

स्वप्न की सम्राज्ञि खोई, दिवा अब नवरूप जागी—
नया मनहर रूप निखरा आ रहा स्वर्णाभ सा खिल ![2]

किन्तु 'हंसमाला' में भी हृदय के सूनेपन ने कवि को छोड़ा नहीं है। बार-बार उसका 'अहं' उसे प्रताड़ित करता रहता है और तब उसे ऐसा लगता है जैसे उसके आदर्श के सब सपने धुल गए हैं—

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल (हिरना-हिरनी), पृष्ठ ६४–६५
२. वही, मिट्टी और फूल (एक नारी के प्रति), पृष्ठ ८३

आदर्श और अरमानों के जो चित्र बनाए सुन्दर
क्यों उन्हें धो गया आहत अभिमानों का श्याम समुन्दर ?
क्या निर्मित नहीं समाज आज मुझसे ही लाचारों से ?[१]

एक ओर वह दार्शनिक के समान कहता है—

नियति का यह प्रयोजन है कि कवि को हों विशद अनुभव।
मिले सिद्धान्त जग को, किन्तु कवि को सिद्धि ही सम्भव।
.....

मिला संसार का संसार, कवि को
निज अभावों से विनिर्मित सृष्टि।[२]

अपने देश में फैली हुई भूख की महामारी की समस्या से वह तडप उठता है—

भूख भूख, सब ओर भूख की लपटें, ईंधन तन दुर्बल
किसे आज कहने की क्षमता और किसे सुनने का बल।[3]

दूसरी ओर 'हृदय की भूख' को भी वह भुला नही सका है—

स्वप्न बनते और ढहते जा रहे सुन्दर सुहाने—
प्यार पाना चाहता मन, प्यार करने के बहाने
.....

हम मना करते रहे, पर मन न वह जो बात माने।[४]

कभी सामाजिक रूढ़ियों के कारण 'कभी अपनी न होने वाली' प्रियतमा को सम्बोधित करके कहता है—

इन आँखों ने दुलराई है तेरी लघु रेखा प्रतिरेखा,
कैसे कह दूँ प्यार नही था जो तेरी आँखों में देखा।[५]

और कभी फिर, क्षुद्र स्वार्थ से परे, महान् बनने की चेष्टा करने लगता है—

अहकार तज अभिलाषाएँ जीने का अधिकार चाहतीं।

अथवा—

फिर महान बन, मनुष्य
फिर महान बन।
मन मिला अपार प्रेम से भरा तुझे
इसीलिए कि प्यास जीवमात्र की बुझे,

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—हंसमाला, पृष्ठ ३६
२. वही, पृष्ठ २६
३. वही, पृष्ठ ३३
४. वही, पृष्ठ ५१
५. वही, पृष्ठ ५९

विश्व है तृषित मनुष्य, अब न कृपण।
फिर महान बन।[1]

'अग्निशस्य' में भी जन और आत्म के मध्य, कवि के हृदय के संघर्ष की यही स्थिति चलती रही है। प्रियतमा के प्रति नरेन्द्र के विरही का एक 'उलाहना' अत्यन्त मार्मिक है—

सुख सपनों की सौगात लिए आया जब चाँद गगन में,
तुम सुधि की मधुर मुरलिका बन आई तब मेरे मन में।
इन बातों को दिन बीत गए, शशि आए गए अनेकों
तुम सुधि बनकर भी पाँव नहीं धरतीं मेरे आँगन में।[2]

प्रियतमा का 'सुधि बनकर भी पाँव न धरना' विरह की अवधि के अनन्त होने का द्योतक है।

इस तरह नरेन्द्र शर्मा के काव्य में विरह-व्यथा की विविध अनुभूतियाँ प्राप्त हैं जिनमें अधिकांश समाज की रूढ़ियों के कारण उत्पन्न हुई है। नरेन्द्र के विरही ने वैयक्तिकता की संकुचित पीड़ा से उठकर समाज की पीड़ा में अपने दुख को विलय करने का प्रयत्न तो किया है परन्तु अन्तर्द्वन्द्व अन्त तक शान्त नहीं हुआ है।

भगवतीचरण वर्मा

जीवन को क्षणभंगुर और अस्थायी माननेवाले लब्धप्रतिष्ठ कवियों में भगवती चरण वर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। आज के कवि का 'अहम्' जहाँ एक ओर जग से अपनापन पाने की प्रबल आकांक्षा करता है, वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त व्यक्तितत्व से पूर्ण है। अतः स्वयं का वह जगभावना में विलय नही कर सकता। मानव के अहं की भावना अत्यन्त दयनीय अवस्था में है।

अहं से प्रताड़ित कवि के मानस को ऐसा लगता है जैसे जग से अपनापन पाने की आकांक्षा मधुर-भ्रम है। भगवतीचरण वर्मा कहते है—

सागर का प्रशान्त मधुकण।
अपनापन है जग का भ्रम—
कलुष भरा यह काला भ्रम
कितने दुख कितनी करुणा से
घिरा हुआ है हाय अहम्।[3]

जग से अपनापन मिलना मधुर भ्रम है, यह जानते हुए भी मन उसके पीछे दौड़ता है, तभी तो 'अहम्' आहत होता है। 'पागल जग' के 'अधकारपूर्ण जीवन' में यह

१. श्री नरेन्द्र शर्मा—हंसमाला, पृष्ठ ६७, ७२
२. वही, अग्निशस्य, पृष्ठ १२२
३. श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ १

कवि अपने जीवन के मधुकण अर्पित करने का आग्रह करता है—

अंधकारमय पागल जग है,
अंधकारमय वहीं मरण
उसके जीवन में तुम भर दो
अपने जीवन का मधुकण
सत्यं शिवं सुन्दरं मधुकण।[1]

यदि कवि अपनी वेदना के मधुकणों को विश्व वेदना में सचमुच विलीन कर सकता तो दुविधा ही क्या थी। एक ओर निर्लिप्त स्थितप्रज्ञ की भाँति वह यह दावा करता है कि सुख-दुख से उसे प्रीति नहीं है, अतीत और भविष्य का मोह छोड़कर वह वर्तमान से संघर्ष करता रहता है।

क्या भविष्य है नहीं जानता
मुझको ज्ञात अतीत नहीं,
सुख से मुझको प्रीति नहीं है
दुख से मैं भयभीत नहीं,
लड़ता ही रहता हूँ प्रतिपल
बाधाओं का पार नहीं,
कालचक्र के महासमर में
हार नहीं है जीत नहीं।[2]

दूसरी ओर, उसकी सुख से प्रीति की इच्छा इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—

यह न समझना देवि ! कि मुझको
निज ममत्त्व का ज्ञान नहीं
इस विस्मृति के विषम वक्ष में
रुदन नहीं मुस्कान नहीं।[3]

अथवा—

अरे अधर के इस प्रदेश में
पतन नहीं, उत्थान नहीं।[4]

'कुण्ठा' किस तरह भयंकर अग्नि को हृदय में उद्दीप्त कर रही है, इसका एक सांगरूपक वर्माजी ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बनाकर ला रक्खे हैं चुन चुन कर अपने अरमान।

---

१. श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ २
२. वही, पृष्ठ ४
३. वही, पृष्ठ ३
४. वही, पृष्ठ ३

अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान,
अभिमंत्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ महानाश-सी मेरी आग ।[1]

अनुराग के अश्रु उसमें घृत का काम कर रहे हैं—

आज आँसुओं का घृत लेकर आया मैं अनुराग
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ महानाश-सी मरी आग ।[2]

उनका कुण्ठित (फ्रस्ट्रेटिड) युवक अपनी विरहाग्नि को विराटता प्रदान करते हुए, यौवनोन्मत्त प्रेयसी को उलाहना देता है—कि जिस रूप के बल पर वह उसके प्रणय को चुनौती दे रही है, वह अत्यन्त अस्थायी तत्त्व है ; उसके सम्मुख अत्यन्त तुच्छ है—

रूप-राशि से भरा हुआ है यह समस्त संसार,
रूप-राशि पर मत इतराना, रूप-राशि है हार !
तुम्हारा मद से उन्मत भाल !
.....
इसके बल पर महाप्रलय से करने आयीं प्यार ।
जल जाओगी, रूप-राशि ही है यौवन की हार ।
क्या हूँ ? इस अनन्त में कण हूँ, मेरा कितना मोल
पर अनन्त पाओगी मुझ में, अपनी आँखें खोल
यहाँ देखोगी रूप विराट ![3]

रूढ़ियों से उत्पन्न हुई जीवन की विवशता को भगवतीचरण वर्मा ने इस तरह स्पष्ट किया है—

यहाँ प्रकृति है पाप, पुण्य आत्मा का पूर्ण दमन है
स्वेच्छा है भ्रम-पाश यहाँ पर, मुक्ति नियम-बन्धन है ।[4]

किन्तु इन नैसर्गिक मार्मिक भावों के साथ स्थान-स्थान पर उनका आप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को दोहराना टूटी कड़ी-सी लगता है, भाव की मार्मिकता के स्थान पर अव्यवस्था सी लगने लगती—

यहाँ मिलेगी आग, यहीं पर तुम्हें मिलेगा पानी,
अरे मिलेगी स्वर्ग नरक की तुमको यही निशानी,

---

१. श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ ९
२. वही, पृष्ठ १०
३. वही, पृष्ठ ११-१३
४. वही, पृष्ठ १६

इतना रखना याद यदपि है बीती बात पुरानी,
'रह जाते हैं मूर्ख यहाँ पर, बह जाते हैं ज्ञानी।'[1]

भगवतीचरण वर्मा में प्रणय-भाव के प्रति भौतिक दृष्टि का मोह तो है किन्तु वह उसको स्थूल रूप में प्रस्तुत करने से हिचकते रहे है। छायावादी कवियों की भाँति उसके सूक्ष्मीकरण का उन्हें आग्रह रहा है—

आज मेरे जीवन का प्यार—
देवि—मेरे जीवन का प्यार
युगों का छिपा हुआ अज्ञात
अरी छाया सा मधुर दुलार,
कसक सा कोमल दुख सा मौन
विस्मरण सा भूला उद्‌गार
बन गया उर का विचलित भार
देवि! मेरे जीवन का प्यार।[2]

दूसरी ओर उनकी प्यास, शुद्ध शारीरिक-रूप-मोह की प्यास (desire) है जो वर्तमान की तृप्ति चाहती है, भविष्य के स्थायित्व से उसका सम्बन्ध नहीं है—

है आज उमंगों का युग—
तेरी मादक मधुशाला।
पीने दे जी भर रूपसि
अपने पराग की हाला।
.....
मत याद दिलाना कल की,
कल है कल आने वाला।[3]

एक ओर, रूप मोह का प्रबल उफान और दूसरी ओर दुराव की प्रवृत्ति इस युग के युवक की दमित-इच्छाओं के फलस्वरूप कही जा सकती है। इस दृष्टि को स्वस्थ दृष्टि नहीं कहा जा सकता। कुण्ठा की यही घुमड़न आज के प्रणय की मुख्य समस्या है।

मधुर हास्य में अनन्त वेदना छिपाए और 'चाह' को नेत्रों में लिये हुए, कवि का यह उन्माद उसे किस दिशा में ले जाएगा यह वह स्वयं भी नहीं जानता। किस ओर? शीर्षक कविता में—

कहाँ? स्वयं ही नहीं जानता है यह पथ अनजान।
इस भविष्य के अधकार का कहो किसे है ज्ञान?[4]

---

१. श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ १६
२. वही, पृष्ठ २४
३. वही, पृष्ठ २५
४. वही, पृष्ठ २७

किन्तु उसके सन्मुख इतना स्पष्ट है कि प्यार की एक बूँद पर जीवन का सम्पूर्ण ममत्व वह न्योछावर कर सकता है—

'एक बूंद पर ही कर दूँगा मैं ममत्व का दान[1]

ममत्व का यह दान भी स्वार्थ रहित नहीं है—

एक बार फिर और करूँगा उस मदिरा का पान,
कहाँ ? जहाँ होता है प्रतिपल विस्मृति का आह्वान।

'क्षणवाद' का पुजारी वह, भविष्य का आराधक नहीं है। प्रियतमा के समीप वह प्रणय-सम्बन्ध में उत्पन्न क्षणिक प्यास की स्थूल तृप्ति का आकांक्षी है। उसका विरह-भाव शुद्ध स्थूल रूप मोह है उसमें अतीन्द्रिय, जन्म-जन्म के गठबन्धन की बात सोचने का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता—

आया हूँ फिर से भड़का कर अपनी प्यास पुरानी,
सूखे होठों पर आशा की लेकर एक कहानी।
चंचल गति से नाच रही है बिछुड़ी हुई जवानी,
लौट पड़ी मेरी मंजिल बन अभिलाषा अभिमानी॥[2]

उसकी प्रियतमा भी, उन दोनों के क्षणिक मिलन में 'लाज' बाधा बन गई इसी विरह की ज्वाला से तड़पती है। लाज को उपालम्भ देती हुई वह कहती है—

अलि सम पुलकित नवकलिका पर ले वैभव सुख साज
प्रियतम अपनी प्यास बुझाने घर आये जब आज
बैरिनि बनी निगोड़ी लाज![3]

'लाज' के इस उपालम्भ का रीतिकाल की रूप ज्वाला से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध प्रतीत होने लगता है।

अपने असफल जीवन की भाँति, भगवतीचरण वर्मा के प्रेमी भावुक को समस्त संसार का जीवन असफल दृष्टिगोचर होता है। भूधर आकाश की ओर निर्निमेष देखते हुए निश्वास भरा करते हैं—

अरे युगों का भार लिये हिम आवृत सिर पर,
असफलता पर अश्रु बहाते हुए निरन्तर
देख-देख अनिमेष दृगों से ऊँचा अम्बर
यहाँ मौन निःश्वास भरा करते हैं भूधर।[4]

जीवन का सब सुख-दुख उसे, सागर की छाती पर उत्पन्न, पानी के बुलबुले की भाँति क्षणभंगुर लगता है—

---

१. श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ २७
२. वही, पृष्ठ २८
३. वही, पृष्ठ २९
४. वही, पृष्ठ ३२

उदधि के वक्षस्थल में व्याप्त
बुलबुले का यह क्षणिक उभार।[1]

संक्षेप में भगवतीचरण वर्मा के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे घोर क्षणवादी हैं। समझदार मनीषी की भाँति यद्यपि 'मधुकण' में उन्होंने स्थान-स्थान पर जीवन को गम्भीर दार्शनिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। किन्तु वे केवल शब्द मात्र है। जीवन और उसके सुख का भयंकर मोह और उसकी प्राप्ति के अभाव में अनन्त वेदना ही उनके काव्य में मिलती है। क्षणवाद के प्रभाव से प्रणय के प्रति शाश्वत गहन-दृष्टि का भी उनमें अभाव है। उनका काव्य मन का रुग्ण रुदन मात्र रह गया है, प्रणय के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अथवा उन्नयन भी उसमें उपलब्ध नहीं होता। बच्चन और नरेन्द्र शर्मा की भाँति उनके विरह की तड़प 'मन की प्यास' नहीं है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

शिवमंगलसिंह 'सुमन' प्रगतिशील कवि हैं। समाजवादी भावना, जनता की जलन और शोषकों के अत्याचार ही उनकी वाणी के मुख्य स्वर हैं। किन्तु अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में 'सुमन' भी वैयक्तिक सुख-दुख के गायक हैं। 'पर आँखें नहीं भरीं' नामक कविता-संग्रह का पूर्वार्द्ध मिलन की अभिलाषाओं और उसकी अभाव-वेदनाओं से ही परिपूर्ण है। विरह-कविता के इस संग्रह में, विशिष्टता यह है कि नैराश्य और कुण्ठा की घुमड़न ने उसके कवि को कभी हताश और पंगु नहीं बनाया है। विरहानुभूतियों के कोमल माधुर्य के साथ विरही का सहज विश्वास और कभी विलुप्त न होने वाली आशा भी उसमें प्राप्त होती है।

'पर आँखें नहीं भरीं' की प्रथम कविता 'मैं तुम्हें पहचानता हूँ' है। इस कविता में, 'प्रथम दृष्टिपात' में ही कैसे दो प्राणी एक-दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं, इसका वर्णन है। मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार के अनायास आकर्षण का कारण, यह बताया है कि आकर्षित हुआ व्यक्ति अपने विषय में अपने 'अहं' के आदर्श को पाने के कारण आकृष्ट होता है (It is an I seeking another I)[2] प्रसिद्ध काव्यशास्त्री महाराज भोज ने भी स्वयं अपने अहं के साक्षात्कार को ही आकर्षण का कारण माना है।[3] कहने का तात्पर्य यह कि अचेतन में स्थित आदर्श, अनुकूल व्यक्ति के प्राप्त होते ही चेतन में आकर्षण की सर्जना करता है। इसी भाव को 'सुमन' इस तरह व्यक्त करते हैं—

पूर्व परिचय भी नहीं था
आज भी हम हैं अपरिचित

---

१. श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ ३८
२ देखिए, प्रथम अध्याय के अन्तर्गत विरह का मनोवैज्ञानिक विवेचन
३. देखिए, प्रथम अध्याय के अन्तर्गत सद्दाराज भोज का शृंगार सम्बन्धी विवेचन

ये अछूते अधर अपनी
मूकता में ही प्रकम्पित
किन्तु जब देखा तुम्हें
तो चेतना ने यह बताया
हाय खोई वस्तु मैं
कितने दिनों में खोज पाया,
तुम न मानो, जग न माने
किन्तु मन तो कह रहा है
'मैं तुम्हें पहचानता हूँ'।[1]

'सुमन',' वासना' के कवि नहीं है। प्रेम और विरह को वह 'मन की प्यास' मानते हैं और दो प्राणियों के सयोग को, 'मन का संयोग'। उसके अनुसार मिलन की अभिलाषा और प्रयत्न पर प्रेमी का अपना अधिकार नहीं होता, कोई अभूतपूर्व प्रेरणा उसे ऐसा करने को प्रेरित करती है—

गति मिली, मैं चल पड़ा
पथ पर कहीं रुकना मना था
... ...
तन न आया माँगने अभिसार,
मन ही जुड़ गया था।
मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार,
पथ ही मुड़ गया था।[2]

'अभिलाषा' के क्षणों की निराशा को 'सुमन' का कवि प्रेम मार्ग की सहज गति के रूप में स्वीकार करता है—

क्या एक तुम्हारा ही बनने में इतना भ्रम?
मृगतृष्णा की छलना क्या सचमुच सत्य परम?
या प्रेय-प्राप्ति-पथ पर सपनों का निश्चित क्रम?
पर व्यर्थ नहीं जाते संघर्ष-साधना-श्रम।[3]

प्रेम-पात्र से प्राप्त, प्रेम का क्षणिक आदान भी कवि को, विश्व वेदना को तृप्त करने का साहस दे सकता है। 'सुमन' कहते हैं—

एक ही मुस्कान से जब भर दिया तुमने हृदय का रिक्त कोना,
याद तो होगा तुम्हें वह दिन सलोना?
मैं उसी मुस्कान की आभा चुराकर

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखे नहीं भरीं, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ४-५
३. वही, पृष्ठ ६

दिग्दिगंतों में लुटाने जा रहा हूँ

... ...

ढाल जब अनजान में तुमने दिये इन शुष्क अधरों में अमृत कण
याद तो होगा तुम्हें वह मधुमिलन क्षण
मैं उन्हीं दो-चार बूँदों के सहारे
विश्व-व्यापक विष बुझाने जा रहा हूँ।[1]

सम्बन्ध-विच्छेद से उत्पन्न निराशा भी विरही 'सुमन' के व्यक्तित्व को कुण्ठित नहीं कर सकती, अधिक प्रयत्न से जीवन-संघर्ष की प्रेरणा देती है—

पा जिसे तू जी सका, खोकर उसे तू मर नहीं।[2]

कभी अतीत की स्मृतियाँ उसके विरही को तड़पाती हैं, सब कुछ सूना-सा लगता है; ऐसा लगता है कि हृदय के सहज विश्वास को किसी ने ठग लिया। अतः वेदना तो स्वाभाविक ही है—

जो भी आया था जीवन में
यदि चला गया तो रोना क्या ?
ढलती दुनिया के दानों में
सुधियों का तार पिरोना क्या ?
.....

कुछ खाली - खाली होगा ही
जिसमें विश्वास समाया था
उससे ही सारा झगड़ा है
जिसने विश्वास चुराया था।[3]

जीवन में एक शून्यता छा गई है। किन्तु उसी के बीच उलझकर गतिरोध हो जाने से तो समस्या हल नहीं हो सकती, इसी से सुमन का प्रेमी कहता है—

जो भी अभाव भरना होगा
चलते - चलते भर जाएगा
पथ में गुनने बैठूँगा तो
जीना दूभर हो जाएगा।[4]

एक गीत में, स्वयं को दीपक के प्रतीक रूप में रखकर 'सुमन', अपनी प्रणयिनी से 'स्नेह' की अकांक्षा करते हैं। प्रियतमा यदि स्नेह का प्रदान करती रहे तो रूढ़ियों के कारण उत्पन्न सम्बन्ध-विच्छेद में, विरह की जलन का भी वह सत्कार करने से नहीं

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ १८
२. वही, पृष्ठ २२
३. वही, ५२-५३
४. वही

घबराते। स्नेह से वंचित होने पर जीवन-दीप का रूप विकृत न हो जाय यही आशंका है। प्रेम-पात्र से वह प्रार्थना करते हैं—

स्नेह की बूंदे चुवाओ
जी करे जितना जलाओ
हाथ उर पर धर बताओ
क्या मिलेगा देख मेरा
धूम्र कालिख वेष।[1]

प्रेमी की नम्र प्रार्थनाओं और प्रेम के सहज विश्वासों पर पहले कुठाराघात करके बाद में यदि प्रेयसी इससे प्यार पाने की आकांक्षा करती है तो एक अभूतपूर्व वेदना से हृदय तड़प उठता है। परिस्थितियों ने इसे फूंक-फूंककर कदम रखने सिखा दिए हैं—

तुम लुटा रहे हो आज प्यार बे माँगे
मैं सिहर रहा हूँ, देख स्नेह के धागे।
.....
उस दिन तुम मुझको हँसकर टाल रहे थे
मैं प्यासा, तुम औरों को ढाल रहे थे
.....
उस दिन की जलन मुझे चौंका देती है
मट्ठे को भी जो फूंक-फूंक पीती है।।[2]

'मटठे को फूंक-फंक कर पीना' मुहावरे का प्रयोग बड़ा मार्मिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब वह किसी की भोली प्रार्थनाओं पर सहज विश्वास नहीं करता। उभय-पक्षी प्रेम में सम्बन्ध विच्छेद की पीड़ा को कवि ने चार पंक्तियों में ऐसे व्यक्त किया है—

ठीक है दो क्षण हमारे कट गए, लेकिन—
तार सुधियों के हमारे बट गए, लेकिन—
हर क्षणिक तूफान की छाया सँवारती है,
दो घड़ी की भेंट बरसों तक अखरती है।[3]

सम्बन्ध-विच्छेद की विरह-व्यथा का एक रूपक टूटी पतंग की डोर के रूप में बहुत मार्मिक है। टूटी डोर के लूटने वालों के रूप में समाज की मनोवृत्ति का विश्लेषण भी कवि ने बहुत सुन्दर किया है। डोर लूटने वालों को इससे मतलब नहीं होता कि पतंग किसकी कटी है? ऐसे ही सम्बन्ध-विच्छेद की परिस्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न करने वालों की कोई समवेदना प्रेमी-युग्म के साथ नहीं होती। अपनी उदास प्रियतमा को देखकर कवि कहता है—

---

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ५०
२. वही, पृष्ठ ५५
३. वही, पृष्ठ ६४

प्रखर वायु में (सामाजिक विरोध में)
डोर साधना कठिन, कठिनतर
दाँव फँसाना
पेंच काटना
धूल-धूसरित, गहन नीलिमामय
संभ्रम आ-का-श में
टूटी डोर लूटने वाले यहाँ बहुत हैं,
भीड़ खड़ी है,
लम्बे-लम्बे बाँस हाथ में
जल्दी टूटे
यही मनाते साँस-साँस में,
कौन उड़ाने वाले
इससे उनको क्या है लेना देना।
.....

कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो
आँखें सजल विनत सहमी-सी।[1]

'पर आँखें नहीं भरीं' में ही कवि की वैयक्तिक विरह-वेदना, विश्व की तड़पन के रूप में परिवर्तित होने लगती है। 'अपने जीवन की बाती' को 'जन-स्नेह' से ओत-प्रोत करके वह, रूढ़ियों के हिमगिरि को पिघलाना चाहता है—

लेकिन मुझसे इसलिए न रूठो साथी,
मैं लुटने दूँगा नहीं तुम्हारी थाती,
बट लेने दो यह रूखी, सूखी बाती
इसमें फिर से जन-मन का स्नेह ढलेगा
अवरोधों का हिमगिरि तप कर पिघलेगा
युग की गंगा का मुक्त प्रवाह बहेगा।[2]

जहाँ तक आधुनिक परिस्थितियों से उत्पन्न सम्बन्ध-विच्छेद के करुण-विरह का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि 'सुमन' निराशावादी नहीं है। उन्होंने युग की बाधाओं को वैसा ही स्वीकार करके अपनी वैयक्तिक भावनाओं की बलि दे दी है, वैयक्तिक व्यथा को सामाजिक व्यथा में विलय कर दिया है। इसलिए आज वह केवल अपने हृदय की विवशता के गायक न होकर असंख्य हृदयों की विवशता के बन गायक गये हैं।

वेदना असहाय हृदयों में उमड़ती जो निरंतर
कवि न यदि कह दे उसे तो व्यर्थ वाणी का मिला वर

---

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखें नहीं भरी—पृष्ठ ३५
२. वही, पृष्ठ ८४

इसलिए ही मूक हृदयों में घुमड़ती विवशता को—
मैं सुनाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।[1]

इसके अतिरिक्त, विरह के अन्य परम्परित और नवीन रूप भी 'सुमन' के काव्य में उपलब्ध हैं। यह दृश्य अधिकांशतः 'प्रवास' के हैं। 'प्रवास' के परम्परित वर्णन में, ऋतु-वर्णन की पद्धति के अनुरूप 'सुमन' ने 'पावस' शरद और ग्रीष्म ऋतुओं के वर्णन किए हैं।

'पावस' का उद्दीपनकारी रूप स्पष्ट करने के लिए, वर्षा के बादलों को 'सुमन' 'विरहिन के ताप' और 'काम के शाप' कहते हैं—

ये विरहिन के ताप, काम के शाप
गरज, इतराए।[2]

'गरज कर इतराना' प्रयोग विरही के दृष्टिकोण से अत्यन्त सफल है। विरही को ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये बादल उसकी दयनीय स्थिति का उपहास कर रहे हों और उसे डराने, त्रास देने का प्रयत्न कर रहे हों। वातावरण के मादक प्रभाव से, अभाव की पीड़ा का मुखर हो जाना स्वाभाविक ही है। पावस की बौछार, प्रिय की याद दिलाती हुई आती है और तब विरही के नेत्रों से अनायास आँसुओं की झड़ी लग जाती है। 'विप्रलम्भ' के समस्त उपकरणों से समृद्ध यह चित्र 'रस' के चरमोत्कर्ष तक पहुँच रहा है—

खिड़की से झीनी झीनी
बौछार बिखरती आई,
अनायास ही किसी निठुर की—
याद दृगों में आई
पानी बरसा कहीं, किसी की बहा आँख का काजल
आज रात-भर बरसे बादल।[3]

'पावस' के एक दूसरे चित्र में कवि ने, प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई एक नायिका का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। एक तो प्रिय आने वाले हैं अतः प्रतीक्षा के क्षण वैसे ही अस्थिर बना देते हैं और दूसरे साँझ से ही घटा भी घिर आई—

आज अटारी पै छाई घटा
सई साँझ लगी अनटूटी झरी
आज की रात को राम ही मालिक
लोनी लता पै गाज गिरी
छान की बान टपाटप चू रही

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ८
२. वही, पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ २५
३. वही, पृष्ठ २६

बीजु की कौंध डरावनी री,
आज की साँझ सलौनी बड़ी मनभावनी री।[1]

वर्षा के होने से एक ओर उद्दीपन और दूसरी ओर (प्रिय न आए, तो) 'आशंका' संचारी की व्यंजना है। इसीलिए नायिका को एक ओर 'साँझ सलौनी' लगती है दूसरी ओर उस पर गाज गिरती है। 'पावस' का यह चित्र, लोक-जीवन के अत्यन्त निकट है, उसकी अभिव्यंजना भी बहुत समर्थ हुई है।

चाँदनी के उद्दीपक प्रभाव को स्पष्ट करता हुआ यह चित्र भी बहुत सुन्दर है—

आज तक पथ का अकेलापन कभी अखरा न इतना
जागती आँखें सँजोती मधुर सपना,
लुट गई छिन में जनम-भर की कमाई
चाँदनी छाई किसी की याद आई।[2]

कोई प्रेमी बरबस अपनी भावनाओं के उद्दाम वेग को थामे हुए था, चाँदनी के प्रभाव से संयम का बाँध टूट गया। 'लुट गई छिन में जनम-भर की कमाई' मुहावरे का प्रयोग भी बहुत सुन्दर है।

'ग्रीष्म' रात्रि का प्रभंजन' नामक कविता में कवि ने एक विरहिणी का चित्र प्रस्तुत किया है जो ग्रीष्म की आँधी से चौंककर जाग उठती है। चित्र प्रोषितपतिका का है अथवा पूर्वराग का अनुभव करती हुई मुग्धा का, यह स्पष्ट नहीं होता—

बाला अभी बैठी है ज्यों की त्यों
कभी-कभी केवल जम्हाई सुन पड़ती है
टूट गई सम्भवतः
मीठी नींद
पहली नींद,
पूछता मन
देवि ! दुःस्वप्न देखती थी क्या ?
या युग-युग के स्तर में छिपी
किसी संध्या की
आकुल प्रतीक्षा मूक
सजग हो उठी है
अरुण नयनों की कोरों में,
अथवा किसी आगत का
आतुर आक्रान्त मोह

---

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ २८
२. वही, पृष्ठ ३३

समय की छलनी में छानने को उद्यत हैं
जीवन के मूल्य नव।[1]

'प्रवास' में 'स्मृति' का नवीन रूप सुमन ने इस कविता में प्रस्तुत किया है।

आज तुमसे दूर, कितनी दूर
मैं बैठा हूँ अनमना सा
कुतरता नाखून, तन मन चूर
स्वयं के ही प्रति खिचा कुछ-कुछ तना सा।[2]

'स्मृति' में यह अनमना भाव और उसके साथ 'कुतरता नाखून' एकदम नवीन अनुभाव हैं। यह स्मृति, किसी एकान्त में नहीं आती, स्टेशन का वेटिंग रूम है—

भूल मत करना, नहीं मैं सिंधु तट पर
अथिरमन-सा रेलवे का एक वेटिंग रूम
मुँहजली चिर-मनचली इस कल्पना को क्या कहूँ
एक क्षण में जुह आई घूम।[3]

अथिर-मन की उपमा कवि ने रेलवे के वेटिंग रूम से की है। आधुनिक समय की व्यस्तता के अनुकूल ही उपमान कवि ने ढूंढे हैं।

सुमन विरहभाव के सफल कवि है। मार्मिक अनुभूतियों के साथ स्वस्थ जीवन दृष्टि ने उनके काव्य को निरा नैराश्यवादी और कुण्ठा से युक्त नहीं रहने दिया है।

अंचल

जीवन और उससे सम्बद्ध अनेक मानसिक स्थितियों को शुद्ध 'भौतिक वास्तविकता' के रूप में स्वीकार करने वाले कवियों में 'अंचल' का नाम अग्रगण्य है। आधुनिक परिस्थितियों से उत्पन्न युवक-युवती के 'क्षणिक मिलन' और उसके पश्चात् जीवन पर्यन्त उन्हें मींड़ने वाले विरह की गाथा ही इनकी कविता का भी मुख्य स्वर है। विरह-वेदना भी कुण्ठा जनित नैराश्य से ही परिपूर्ण है।

मानो क्षण भर में ही सब कुछ शेष हुई थी एक कहानी,
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कल की बात पुरानी।
याद बहुत आती है उसकी तो पर उम्मीदों से खाली,
जब खामोश निशा के तारे भरते एक उमस मतवाली।
एक शिथिल अवसन्न उदासी यह जीवन व्यापी अँधियारा,
तीखी-तीखी प्यास न पूछो कैसी बेचैनी का मारा॥[4]

'एक शिथिल अवसन्न उदासी', 'जीवन व्यापी अँधियारा' और 'तीखी-तीखी

१. श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ २३
२. वही, पृष्ठ २३
३. वही, पृष्ठ ७४
४. अंचल—अपराजिता, पृष्ठ ११

प्यास' यही तीन बातें कुण्ठा जनित विरह की विशेषताएँ हैं। 'मिलन की अभिलाषा' पहले भी विरह का मुख्य अंग मानी जाती थी किन्तु अब उसके वासना जन्य पक्ष को स्पष्ट स्वीकृति मिलने लगी। रूढ़ियों के बन्धन में इस 'तीखी प्यास' की तृप्ति का अवकाश भी रुद्ध है अतः वह मन में घुमड़कर एक अभूतपूर्व वेदना की घुमड़न को जन्म देती है। इसी भाव की अभिव्यक्ति अंचल ने इस प्रकार की है—

जीवन की कितनी आकांक्षा साध ! न किन्तु कहीं उड़ जाती
चढ़ती भादों की गंगा-सी तृष्णा उर में ही रह जाती।[1]

कवि का विरही न केवल अपनी स्थिति पर दुखी है, वह प्रियतमा के विषय में भी सोचता है—

और कहाँ अब आ पहुँचा मैं उठ-उठकर
गिरता इस मग पर
जब चुपचाप चली जाती होगी वह ले जीवन
का ऊसर।[2]

मनोविश्लेषण-शास्त्र-विज्ञों ने मन के जिन चेतन और अचेतन जगों के रहस्यों का उद्घाटन किया है, उसका प्रभाव आधुनिक हिन्दी कविता पर भी लक्षित होता है। अंचल की कविता में भी वह प्राप्त है।

अचेतन में दबे हुए भाव अनुकूल वातावरण की उपलब्धि करते ही जाग उठते हैं। चेतन-जगत् में प्रवेश करके वे, रूढ़ियों से घिरे मानस को विद्रोह करने के लिए उकसाने लगते हैं। अंचल ने इस भाव को इस तरह व्यक्त किया है—

हो उठा किस गंध से व्याकुल अचेतन स्वप्न दृग में,
बावली सी घूम जाती गैल बन्धनबद्ध पग में
मुक्त श्रावण जल भिगोता था किसी का गात उन्मन
और बेतस बालिका-सी मैं सिहरती थी सजल तन
आज चिर बिछुडी तरी पर दूर का हिल्लोल छाया—
कौन सीमाहीन तृष्णा के सुरों में तुम लजाते।[3]

अपराजिता में, शरीर की भूख ही विरह-व्यथा का मूल बन गई है। कवि योगी शिव और अपर्णा पार्वती के प्रसंग का नायक-नायिका के प्रतीक रूप में नवीन रूपक प्रस्तुत करता है।

बरस पड़ी सब भूख सुसंचित मेरे चिर कुमार तन में,
आज अपर्णे ! जोगी आया बड़ी पिपासा ले मन में

---

१. अंचल—अपराजिता, पृष्ठ १२
२. वही, पृष्ठ १२
३. वही, पृष्ठ २६

स्वप्न सखी औ' शैल मल्लिके ! आज सजल श्यामल कर दो
गीली निविड़ इन्द्रधनुषी अंजुलियों में मूर्छित भर लो।[१]

शरीर की भूख का यही भाव एक अन्य स्थान पर इस तरह व्यक्त हुआ है—

गति की दोपहरी में साजन ! दूँ बात बता अपने मन की,
आ गान जगा जाती ही है वह बीती प्यास तपे तन की।[२]

विरह के इन गीतों की खुली शारीरिक अभिव्यक्ति, भारतीय-साहित्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी की भी लोक-साहित्य-परम्परा में उनके बीज मिलते हैं। प्राकृत, अपभ्रंश और प्रारम्भिक हिन्दी की गाथाओं में उनके पर्याप्त संकेत हैं। परन्तु फिर भी यह कहना पड़ेगा कि उन गाथा परम्पराओं में विरह-व्यथा का मानसिक पक्ष भी उतना ही प्रबल था जितना शारीरिक पक्ष। किन्तु आधुनिक भौतिक जीवन दृष्टि से प्रेरित कवि में कुण्ठा की घुमड़न कभी-कभी इतनी बढ़ गई है कि उसने मानसिक पक्ष की शाश्वतता को व्यर्थ समझ लिया है और वहाँ शारीरिक पक्ष ही मुख्य रूप से उभर आया है।

प्रियतम से वियुक्त होती हुई एक प्रियतमा का चित्र कवि इस तरह खींचता है—

पास बैठी थीं लिये चिर शून्य आँधी सी पिपासा
उड़ प्रखर परिमल रहा था कुन्तलों से लालसा सा
मुक्त केशों मे शमा सी जल रही थीं रूप खोले
आज जीवन ज्वार में कितने निविड़ तूफान बोले
आह ! बासन्ती सजल संध्या सदृश घुल घुल
तुम्हारा प्राण ! कहना
भूलना मुझको न प्रियतम।[३]

इस विशिष्ट स्थिति में कवि ने दो भावों को मुख्यता दी है—नायिका का यौवन और उसकी अदम्य तृष्णा। 'शमा' और 'वासन्ती सजल संध्या' से नायिका के रूपज्वाल और यौवन तथा 'आँधी सी पिपासा' और प्रखर परिमल सदृश-लालसा से, यौवन की भूख अथवा तृष्णा की व्यंजना कवि ने की है। प्रियतमा का यह कहना—'भूलना मुझको न प्रियतम', युवक-प्रेमी के जीवन की थाती बन गया है—

भूलना मुझको न प्रियतम है यही जीवन मरण में
आर्त कलरव गूँजता-सा प्रति तृषा के संवरण में
... ...

---

१. अंचल—अपराजिता, पृष्ठ ५३
२. वही, पृष्ठ ५३
३. वही, पृष्ठ २९

मैं वहन करता चलूं पथ-भ्रान्त होकर भी
तुम्हारी वह्नि थाती
भूलना मुझको न प्रियतम ।[1]

विरह के प्रति गहन भौतिक, स्थूल दृष्टि होने पर भी अंचल के काव्य में, उस व्यथा के स्वाभाविक क्षणों और उसकी मधुर अनुभूतियों का अभाव नहीं है। रात्रि के एकाकीपन में, कल्पना मे प्रिया का साक्षात्कार कैसे पहले सत्य-सा प्रतीत होता है किन्तु कुछ क्षण पश्चात् संशय में परिवर्तित हो जाता है—इसका दिग्दर्शन उन्होंने इस प्रकार किया है—

कुछ जान न पाता कैसे तुम नजदीक तृषित के आ जातीं
कुछ रात गये, कुछ रात रहे, जब सहसा नीद उचट जाती
कुछ सूखी, कुछ गीली पलकें, अवशेष यही तो हरियाली
ऐसे ही दूर प्रतीची मे कुछ दिन ढलते भीगी लाली
पर देय कहाँ एकाकी को यह एक अचीन्हा सुख विस्मय
नव-ऋतु सी आते-आते ही तुम सहसा बन जाती संशय ।[2]

कल्पना का यह साक्षात्कार किस तरह विरही की दशा को करुणापूर्ण बना देता है और वातावरण का यौवन-विलास कैसे उसकी मार्मिकता की वृद्धि करता है, इस भाव को अंचल इस तरह प्रस्तुत करते है—

सम्मुख शेफाली के नीचे फूलों से भर जाती धरती
शशि-किरणें चूम चली जाती कुछ हँसती कुछ आहें भरतीं
चिर तृप्ति कहाँ ? कहता जैसे सन सन रव से उन्मत्त पवन
चीत्कार कपोतों का वन मे भंकृत करता रजनी निर्जन ।[3]

मन की 'उद्वेग' दशा का वर्णन अचल ऐसे करते है—

सह्य नही चेतनता कंसी अकथ उमगे आई है
लाज भरी वह सूनी चितवन किस घर में अकुलाई है
तृपित दिगंतो से जलते किस कुभ कंठ की उठी पुकार
सूनेपन में आज बुलाया किसने मुझ वचित का प्यार ।[4]

वियोग व्यथा से पीड़ित होकर 'मरण' की सी वेदना अनुभव करने वाला अंचल का प्रेमी कुछ कविताओं में स्थूल वस्तुवादी-सा प्रतीत नहीं होता, भाव की सूक्ष्म मार्मिकता का स्पर्श करने लगता है—

---

१. अंचल—अपराजिता, पृष्ठ ३२
२. वही, पृष्ठ ११३
३. वही, पृष्ठ ११४
४. वही, पृष्ठ २२

किन सतृष्ण मधुकरियों ने यह आज विदाई दी विष की
आज मरण मीडों में भी है मुखर बकुल वन की वंशी।[१]

विरह-व्यथा के चिर-परिचित माधुर्य के विषय में अंचल कहते हैं—

तृप्ति नहीं, फिर भी मीठी है बड़ी व्यथा यह मतवाली।[२]

करुण-विरह-व्यथा को मुखरित करती हुई 'अपराजिता' की एक कविता अपनी अनुभूति में अत्यन्त मार्मिक है। कविता में नायक को एक माँझी उसी तट पर ले जाता है जहाँ खोई हुई प्रियतमा के साथ अनेक क्षण बीते हैं। अनुकूल वातावरण में प्रियतमा की चिर-परिचित स्मृति उभर आती है। नायक माँझी से कहता है—

दूर ले चल मैं न बाँधूगा तरी इस तट विजन में
आज जीवन की सभी भूलें स्मरण कर प्राण रोते
अन्ध चिर अनुराग में सूने विकल दिन रात होते
शून्य संगीहीन अन्तर फूलता निष्फल तृषा-सा
आज भी जलती चिता के धूप-सी अन्तर्दुराशा।[३]

'आज भी प्राण, अपनी उस प्रियतमा के लिए रोता है आशाएँ दम तोड़ती है, इसी से हृदय में चिता के धुएँ-सा धुँआ घुमड़ता रहता है। सदा के लिए बिछुडी हुई प्रियतमा की स्मृति को हृदय में सँजोकर तडपने वाले अचल के विरही की व्यथा को 'क्षण की भौतिक वासना' नहीं कहा जा सकता। एक और कविता में भी जन्म-मरण की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले प्यार की अभिव्यक्ति हुई है—

जीवन के अवरुद्ध पटों का दीन हताश अतिथि भरमाया
किस अतीत से फिर एकान्त क्षणों मे अंकित होने आया
उस रसवन्ती मायाविन को प्यार किए बिन रहा न जाता
मानो जन्म-मरण के भी उस पार चलेगा उसका नाता।[४]

प्यार की खोज में अपनी प्रियतमा को वह 'रसवन्ती मायाविन' कहता है।

अपनी युवक-वासना को अचल ने कभी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया है। उसका अस्तित्व होते हुए भी अचल के विरह की गम्भीरता इसमें है कि अपने आलम्बन के अभाव में कोई और आलम्बन उसे अपेक्षित नही है। जग उसे सूना लगता है।

जीवन की दुरन्त तीखी दोपहरी में पल भर कल्याणी
क्या पाकर चिर प्यास बुझाऊँ मै सपनों का चिर सन्धानी।[५]

सम्बन्ध-विच्छेद से उत्पन्न टीस, विरही को जन्म-जन्म के लिए किस तरह साल

---

१. अंचल—अपराजिता, पृष्ठ २३
२. वही, पृष्ठ ६४
३. वही, पृष्ठ १५
४. वही, पृष्ठ १८
५. वही, पृष्ठ १९

जाती है इसका मार्मिक वर्णन 'वर्षान्त के बादल' की 'बँटवारा' नामक कविता में हुआ है—

व्यक्त करूँ शब्दों मे तुमको, पास नहीं ऐसी भाषा,
प्यार करूँ कितना भी, तुमको पा न सकेगी अभिलाषा।
जितना जान गया हूँ उससे और अधिक क्या जानूंगा।
जब जब मानव जन्म मिलेगा, मै तुमको पहचानूंगा।
कजली के सगीत तुम्हारे, जुगनू की ममता मेरी।
मन के सारे स्वप्न तुम्हारे, मन की परवशता मेरी।[1]

प्रकृति के समस्त मादक उपकरण उसे अपनी व्यथा से सिक्त दिखाई पड़ते हैं—

पावस की श्यामल पलकों में, तुमको पवन पुकार रहा
दोनो व्याकुल बाँह बढ़ाकर हो जैसे साकार रहा।
भीगे बनफूलों के चंचल, प्राण तुम्हे ढूंढा करते
नभ पर खीच हृदय की आशा, विरही मन क्रन्दन करते।
झूले का शृगार तुम्हारा, सूनी विरह निशा मेरी
काले-काले मेघ तुम्हारे, जलन भरी तृष्णा मेरी।[2]

'भीख' नामक कविता मे, अचल के विरह का आलम्बन, सूफी साधकों के आलम्बन की-सी विराटता प्राप्त करने लगता है—

जिसकी सुन्दरता से दीपित हो उठते रवि-शशि-तारे
जिसकी मधुता से नत मधुदिन चलते विकल गन्ध धारे
जिस स्वरूप-रानी को छू कर हूक सुलगता मलय पवन
जिसकी एक सहज सुधि में तृष्णा से भर जाता जीवन
अरे खोल दो मेरी आँखें जी भर उन्हें निहार सकूं।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर कोई यह तो कह नही सकता कि अंचल जैसे इस संसार के जीव ने ब्रह्म का साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया होगा; यही समझा जा सकता है कि उसने अपने भौतिक आलम्बन को भी उतना महान् माना। इसी तरह अपनी भौतिक प्यास को भा उन्होंने महानता प्रदान की है—

प्यास न पूछो बिना पिये ही मतवाले मिटना जाने
इस अतृप्ति से भरे विश्व में एक यही सुख पहिचानें।[4]

ऋतु का वर्णन भी विरह-काव्य का एक आवश्यक अंग है। अचल में प्रकृति के उद्दीपन और आलम्बन दोनों रूप उपलब्ध हैं। पावस-समीर में कवि विरहोन्मत्त नायिका की कल्पना करता है—

---

१. अंचल—वर्षान्त के बादल, पृष्ठ १७
२. वही, पृष्ठ १७
३. वही, अपराजिता, पृष्ठ ३८-३९
४. वही, पृष्ठ ३९

यह शिथिल गंध गुंजित कोकिल सी
किस मधुपति से गई छली
किस दरस-परस से विकल-तरल
मधु-निर्झर सी मन्द-मन्द चली
पावस समीर बह चली अली।[1]

प्रकृति के उद्दीपक रूप का वर्णन वह ऐसे करता है—

वसन्त :

अनमने फागुन दिवस ये हो रहे हैं प्राण कैसे
आज संध्या से प्रथम ही भर चला उर लालसा से
आज आँधी सा प्रखर आलेष पिक की काकली में
एक अगूरी पिपासा मुक्त अंगों की गली में
आज तो मधुमास रे मन।[2]

फागुन के दिवसों का विशेषण 'अनमना' अत्यन्त उपयुक्त है, वह 'वसन्त' की उद्भ्रान्त-मादकता की युक्त व्यंजना करने में समर्थ है।

पावस :

क्या न नमी से भारी हो उठती होगी मुस्कान तुम्हारी
एक चमक सी आती जो गहरी कर मानस की अँधियारी।[3]

उपर्युक्त वर्णन में पावस के उल्लास, नमीपूर्ण वातावरण, बिजली की चमक और उसके अन्धकार के अधिक गाढा होने में नायिका की मानसिक स्थिति का साम्य अद्भुत है। विरह की अनुभूति में अभूतपूर्व माधुर्य और कसक का एकसाथ उदय तथा स्मृतियों की स्थिति से चमक-सी टीस का अस्तित्व, और उसके कारण उत्पन्न हुई मन की उदासी की यहाँ पूर्ण और समर्थ व्यंजना हुई है।

इसके अतिरिक्त भी वह कहता है—

भाल चूमते होंगे पुरवैया के झोंके आ जंगल से
सिंचित करते होंगे तृष्णा की बाँती सिहरन के जल से।

दूसरे पक्ष के विषय में विरही की यह कल्पनाएँ वास्तव में उसके स्वयं के भावों की प्रतिध्वनि होती है। "यह उसके मन का क्रन्दन है, क्या जाने दूसरा पक्ष उसके विषय में ऐसा सोचता होगा भी या नहीं ?" यह विचार विरही के चेतन में उभरकर उसकी पीड़ा को तीव्रतर कर देता है। अंचल कहते है—

'क्रन्दन करता मेरा तन मन अपने ही चीत्कारों से घिर'

---

१. अंचल—अपराजिता, पृष्ठ ७३
२. वही, पृष्ठ ७२
३. वही, वर्षान्त के बादल, पृष्ठ ७८

शरद :

शरद निशा में तेरी बड़ी याद आती है
कर सोलह सिंगार चाँदनी उतर पड़ी है नभ से भू पर
भर मोती से माँग शरद की राका लगती कितनी सुन्दर।
सौरभ भीनी पवन बही जाती है कह कर बात तुम्हारी
लहरों के कम्पित अंगों पर झलमल होती लाज तुम्हारी

× × ×

साँसों की झंकार तुम्हारी,
विरह गीत सी गूँज - गूँज कर,
कानों में खोई-खोई सी मँडराती है
शरद निशा में तेरी बड़ी याद आती है।[1]

ऋतु वर्णन, काव्य में परम्परा से चला आता है, विरह-काव्य में उसका विशिष्ट स्थान है। षट्ऋतुओं में से अंचल ने तीन विशिष्ट उद्दीपक ऋतुओं—वसन्त, पावस और शरद का वर्णन किया है। परम्परागत ऋतु-वर्णन और इस वर्णन में भेद यही है कि कवि ने यहाँ केवल ऋतुओं के मादक प्रभाव पर ही बल नही दिया है प्रत्युत विरही की मानसिक स्थितियों और ऋतु के उपकरणों में भी एक साम्यता को लक्षित किया है। यही अंचल की इस विषय में विशेष मौलिकता भी है।

अंचल के उपर्युक्त विरह-सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके काव्य को सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ने के उपरान्त उन्हें केवल 'तृषा' का कवि कहना भूल होगी। इस कवि का विरह स्थूल क्षणिक प्यास नहीं है उसमें इस भावना की मार्मिक मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों के शाश्वत स्थल भरे पड़े है। विरह की निराशा ने उसके व्यक्तित्व को नैराश्यपूर्ण तथा कुंठित न बनाकर उसे इस भावना का एकान्त साधक बना दिया है; यद्यपि उसके स्थूल भौतिक-पक्ष का भी उसने बहिष्कार नही किया।

अज्ञेय

विरह-भावना के तत्त्व और उसके आलम्बन की दृष्टि से अज्ञेय की कविता को दो स्पष्ट विभागों में विभाजित किया जा सकता है। एक के अन्तर्गत उनकी रहस्यवादी कृतियाँ हैं और दूसरे में लौकिक विरह-भावना की कविताएँ। अज्ञेय शुद्ध भौतिकवादी कवि माने जाते है अतः उनकी कविता में रहस्यानुभूति से युक्त विरह के क्षण पाकर कुछ आश्चर्य-सा होने लगता है। किन्तु वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, चाहे वह घोर भौतिकवादी ही क्यों न हो, कुछ क्षण ऐसे आते है जब वह स्वय को किसी अपार्थिव सत्ता के प्रति उन्मुख पाता है। अज्ञेय की काव्य रचनाओं में प्राप्त ये रहस्यवादी कविताएँ सम्भवतः इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं।

१. अंचल—वर्षान्त के बादल, पृष्ठ २०

'इत्यलम्' में 'असीम प्रणय की तृष्णा' ऐसा ही गीत है। जीवन और जगत् से निराशा के क्षणों में विरक्त, एकाकी कवि, जब प्रकृति के सौन्दर्य और सान्निध्य का लाभ करता है तब—

लघुता की संज्ञा का सागर उमड़-उमड़ आता है—
तुम, केवल तुम—दिव्य दीप्ति से
भर जाते हो शिरा - शिरा में
तुम ही तन में, तुम ही मन में
व्याप्त हुए ज्यों दामिनि घन में,
तुम, ज्यों धमनी में जीवन रस—तुम,
ज्यों किरणों में आलोक[1]

'मै तुम्हारे ध्यान में हूँ' भी रहस्यवादी गीत है। इस गीत में कवि ने अनुभूति और ज्ञान, दोनों के माध्यम को स्वीकार करते हुए चिरप्रिय से साक्षात्कार का वर्णन किया है।

अनुभूति :

प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
बह गया जग मुग्ध सरि-सा मै तुम्हारे ध्यान में हूँ
प्रिय मै तुम्हारे ध्यान में हूँ!
तुम विमुख हो, किन्तु मैने
कब कहा उन्मुख रहो तुम?
साधना है सहस - नयना—
बस कहीं सम्मुख रहो तुम
लीन हूँ मै तत्त्वमय हूँ
अचिर चिर - निर्माण मैं हूँ
मै तुम्हारे ध्यान में हूँ[2]

ज्ञान—देह से युक्त आत्म चिर पुरुष का रूप होते हुए भी मृत्यु की सीमा में बँधकर स्वयं को विवश-सा अनुभव करने लगता है। जब वह अपने अमृत रूप का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील होता है, तब उसे मृत्यु का भय नहीं रहता—

क्यों डरूँ मैं मृत्यु से या
क्षुद्रता के शाप से भी?

---

१. अज्ञेय—इत्यलम् (प्रथमावृत्ति), पृष्ठ २३
२. वही, पृष्ठ १११

क्यों डरूँ मैं क्षीण-पुण्या
अवनि के सन्ताप से भी ?
व्यर्थ जिसको मापने में
हैं विधाता की भुजाएँ—
वह पुरुष, मैं मर्त्य हूँ पर
अमरता के मान में हूँ !
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !'

चिर-प्रकाश का साक्षात्कार करता हुआ साधक माया के अधकार की ओर ध्यान नहीं देता—

रात आती है मुझे क्या
मैं नयन मूँदे हुए हूँ,
आज अपने हृदय में मैं
अंशुमाली को लिये हूँ !'

अनहद नाद के से स्वर्गीय संगीत की अनुभूति करता हुआ वह प्रिय से चिर मिलन प्राप्त करता है—

मूक संसृति आज है पर
गूँजते है कान मेरे—
बुझ गया आलोक जग में
धधकते है प्राण मेरे—
मौन या एकान्त या
विच्छेद क्यों मुझको सताए ?'

'चरण पर धर चरण' में कवि किसी अलौकिक प्रियतम का अनुसरण करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता प्रतीत होता है। स्वयं को वह उस परमतत्त्व-शतदल की एक पंखुड़ी मानता है—

चरण पर धर—
सिहरते-से चरण।
पार्श्व - मेरा—
किन्तु इससे क्या कि मेरे साथ चलता कौन है
जब कि वह है साथ मेरी यन्त्र चालित देह के
और मैं—मेरा परमतम तत्व-वलयित
साथ तेरे प्राण के—
जबकि आत्मा यह अनाहत और अक्षत

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ ११२
२. वही, पृष्ठ ११२
३. वही, पृष्ठ ११२

चरण-तल की छाप के उस कनक-शत दल
कमल से बिछुड़ी अकेली दोल पंखुड़ी में चमकती
लोल जल की बूंद-सा पर-ज्योति-गुम्फित
तद्गत और अतिशय मौन है ![1]

अपार्थिव के प्रति प्रणयानुभूतियों के ये गीत अज्ञेय के काव्य में यद्यपि उपलब्ध हैं किन्तु यत्र-तत्र वहीं अलौकिक सत्ता के लिए घोर आक्रोश भाव भी प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि के मन में आस्तिकता के प्रति तथा उसके विरुद्ध घोर संघर्ष चल रहा हो—

खड़ा रहूँगा तेरे आगे
क्षण-भर मैं चुपका सा,
लख कर मेरे कुसुम जगेगी
तेरे उर में आशा,
देव अऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार !
तोड़-मरोड़ फूल अपने मैं
पथ में बिखराऊँगा,
पैरों से फिर कुचल उन्हें मैं
पलट चला जाऊँगा,
देव ! आऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार !
क्यों ? मैंने भी तेरे हाथों
सदा यही पाया है—
सदा मुझे जो प्रिय था उसको
तूने ठुकराया है !
देव आऊंगा तेरे द्वार
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार।[2]

इसीलिए अज्ञेय के इन रहस्यवादी गीतों को निराशा के क्षणिक अवसाद के फल-स्वरूप समझना चाहिए; साधना की चरम अनुभूति नहीं। इतना अवश्य है कि अनुभूति के उन क्षणों में वह सत्य हैं और उस रूप में भारतीय काव्य में रहस्यवादी विरहानुभूति की पूर्व परम्परा को सुरक्षित किये हुए है।

अज्ञेय के काव्य में विरहानुभूति का दूसरा और वृहत् पक्ष लौकिक-विरहानुभूति है। यहाँ भी पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण विरह की विविध स्थितियों और अनुभूतियों

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १८३
२. वही, पृष्ठ २६

में, करुण-विरह की नवीन परिस्थिति 'सम्बन्ध विच्छेद' को ही सबसे अधिक प्रश्रय मिला है। 'पूर्वराग', 'मान' और 'प्रवास' सम्बन्धी उक्तियों का सक्षिप्त अध्ययन करने के पश्चात् यहाँ हम करुण-विरह की विभिन्न स्थितियों का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

'पूर्वराग' की अभिलाषा से प्रेरित होकर कोई विरही कहता है—

हा, कि मैं खो जा सकूँ !
हा, कि उसके भाल पर अवतंस-पद मैं पा सकूँ—
हा, कि उसके हृदय पर एकाधिकार जमा सकूँ !
टूटकर उसके करों, चिर ज्योति में सो जा सकूँ—
हा, कि उसके चरण छूकर आत्मभाव भुला सकूँ।[1]

कवि की प्रिया जिसके हृदय पर वह 'एकाधिकार' जमाना चाहता है, लौकिक है अथवा अलौकिक, समझ में नहीं आता; यहाँ यह भाव सर्वथा उलझा हुआ और अस्पष्ट है। एक ओर वह प्रेयसी केवल ज्योति रूप है (टूटकर उसके करों, चिर ज्योति में सो जा सकूँ), अन्तिम पंक्ति से उसके प्रति पूज्य भाव भी प्रकट होता है; दूसरी ओर 'एकाधिकार' का भाव उपासक और उपास्य सम्बन्ध के विरुद्ध है। कवि प्रेयसी के अस्तित्व पर अतीन्द्रियता का आवरण चढ़ाए रखना चाहता है।

'प्रणयमान' में मनुहार का एक चित्र छायावाद की प्रतीक शैली का आश्रय लेकर अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है—

प्रिये तनिक बाहर तो आओ तुम्हें सांध्य-तारा दिखलाऊँ।
रुष्ट प्रतीची के दीवट पर करुण प्रणय का दीप जला है—
लिये अलक्षित अनुनय-अजलि किसे मनाने आज चला है ?
प्रिये इधर तो देखो तुमसे इसका उत्तर पाऊँ
तुम्हे सांध्य-तारा दिखलाऊँ[2]

नायिका के अबाध रोष और उसमें नायक की एकाकी मनुहार के विषय मे कवि का विरही कहता है—

अरुण सकल आकाश किन्तु उसमें है तारादीप्त अकेला !
अनझिप मेरी भी मनुहार, यदपि तुम मूर्तिमती अवहेला !
अपलक-नयन इसी विस्मय में कैसे तुम्हें मनाऊँ।

विरही, प्रतीची और तारे के भावी के विषय में सोचता है और अपने विषय में भी एक ओर सांध्य तारा-रूप मनुहार जब समाप्त हो जाएगी तो सम्पूर्ण आकाश अगणित तारों की मनुहारों से परिपूरित हो जाएगा, दूसरी ओर यदि प्रिया प्रसन्न हो जाय तो उसकी प्रार्थना भी अगणित गीतों के रूप मे प्रस्फुटित हो उठेगी—

---

१. अज्ञेय—चिन्ता, विश्वप्रिया, पृष्ठ २१
२. वही, पृष्ठ १५

नभ का रोष बुझाकर तत्क्षण डूब जाएगा संध्या-तारा।
जाते पर अपने प्रतिबिम्बों से भर जाएगा नभ सारा।
... ...
तुम अनुकूलो तो मैं तत्क्षण चरणों में से शीश हटाऊँ—
सम्मुख होकर अगणित गीतों की मालाएँ तुम्हें पिन्हाऊँ।[1]

मनुहार की यह शैली हिन्दी के विरह-काव्य के लिए एकदम नई चीज है। मनुहार तथा चरणों पर शीश धरने की प्रक्रिया पुरानी होने पर भी नई-सी प्रतीत होती है। संध्या में उगे तारे का मनुहार के साथ साम्य, सुन्दर और सटीक रूपक में बाँधा गया है। संध्याकाश की अरुणिमा नायिका के रोषपूर्ण मुख की सुन्दर व्यजना कर रही है।

अपनी तड़पन और पुकार को पावस की तड़पन मे देखता हुआ कोई विरही प्रणयिनी से रोष त्यागने की याचना करता है। इसको भी 'प्रणयमान' की मनुहार मानना चाहिए —

विद्युद्गति में सुप्तविकलता खोई सी बहती है,
घन की तड़पन में पुकार-सी कुछ उलझी रहती है;
उस प्रवाह से एक कली ही चुन तो लो
देवी सुन तो लो, यह पावस-रजनी क्या कहती है—
क्षण भर रुककर सुन तो लो।[2]

कहीं 'क्वार की बयार' किसी मानिनी नायिका का मान भंग करती हुई दृष्टि-गोचर होती है। यह भी 'प्रणयमान' का चित्र है। नायक नायिका की मनुहार करते-करते स्वयं रूठ गया है, तब—

इतराया यह मौर ज्वार का
क्वार की बयार चली,
शशि गगन पार हँसे न हँसे
शेफाली आँसू ढार चली।[3]

'मान के कारण रूठा प्रिय (शशि) हंसता नहीं, शेफाली को रोना आ रहा है।' नायक का मान और नायिका की विवशता 'अन्योक्ति' में यहाँ अत्यन्त सुन्दरता से व्यंजित हुए है।

अपनी बाज़ी हारने का वर्णन नायिका इस प्रकार करती है—

नभ में रवहीन दीन
बगुलों की डार चली
मन की सब अनकही रही
पर मैं बात हार चली।[4]

---

१. अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ ३५
२. वही, पृष्ठ ३७
३-४. वही, हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ४१

'अन्य सम्भोग दुखिता' नायिका की ईर्ष्या संयुक्त स्वोक्ति अज्ञेय ने बत्ती और शिखा को प्रतीक रूप में रखकर प्रस्तुत की है—

मेरे हृदय रक्त की लाली
इसके तन में छाई है,
किन्तु मुझे तज दीपशिखा ने
पर से प्रीति लगाई है।
इस पर मरते देख पतगे
नही चैन मै पाती हूँ—
अपना भी परकीय हुआ,
यह देख जली मै जाती हूँ।[1]

बत्ती और शिखा दोनों स्त्रीलिग वाची शब्द है। अतः रूपक की सटीकता में अवरोध पड़ता है।

'पानी बरसा' नामक गीत में प्रकृति का उद्दीपक रूप प्रस्तुत करके कवि ने प्रोषितपतिका नायिका की 'अभिलाषा' का वर्णन किया है—

ओ पिया, पानी बरसा !
ओ पिया, पानी बरसा !
घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर सी
झूमी मधु-मालती
... ...
खड़खड़ कर उठे पात
फड़क उठे गात।
देखने को आँखे
घेरने को बाँहें
पुरानी कहानी ?
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष
ओ पिया, पानी।
मेरा हिया तरसा।
ओ पिया, पानी बरसा।[2]

यह गीत 'ग्रामीण गीतों' के अत्यन्त समीप है। प्रकृति के उद्दीपक रूप की पृष्ठ-भूमि में कवि ने मिलन की 'नग्न चाह' को अभिव्यक्त किया है। 'ओ पिया पानी' में 'तृष्णा' की आकुलता अभिव्यंजित हो रही है।

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १९
२. वही, पृष्ठ २०४-२०५

वसन्त के आगमन पर आम्रबौर के विकास से विरह-भावना की उद्दीप्ति का वर्णन स्थान-स्थान पर कवियों ने किया है परन्तु अज्ञेय की नायिका कहती है—

सखि आ गये नीम को बौर !
हुआ चित्रकर्मा वसन्त अवनीतल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता से भी लगा टपकने मादक मधु रस !
क्यों न फड़क फिर उठे तड़पती विह्वलता से मेरी नस नस !
सखि आ गये नीम को बौर ![1]

नीम के बौर का वर्णन करने में ध्वनि यह है कि नीम जैसी कड़वी वस्तु पर भी ऋतु का मादक प्रभाव है, तब अन्य प्राणियों का तो कहना क्या ?

एक और विरहिणी मधु ऋतु के सुन्दर वातावरण को कोसती है—

मधु, मंजरि, अलि, पिक रव, सुमन, समीर—
नव वसन्त, क्या जाने मेरी पीर !
प्रियतम क्यों आते है मधु को फूल,
जब तेरे बिन मेरा जीवन धूल ?[2]

प्रवास में कोई नायक प्रियतमा के चित्र को देखकर सान्निध्य का अनुभव करता है—

मुझे देखकर नयन तुम्हारे
मानो किंचित खिल जाते हैं,
मौन अनुग्रह से भर कर वे
अधर तनिक से हिल जाते है
तुम हो बहुत दूर, मेरा तन
अपने काम लगा रहता है—
फिर भी अनजाने में सहसा
मन दोनों के मिल जाते है।[3]

विरह की 'उन्माद' दशा में विरही को जड़ और चेतन का बोध नहीं रहता। इस दशा में चित्र के दर्शन और आलिंगन का वर्णन संस्कृत काव्यों व नाटकों में मिलता है। यहाँ 'उन्माद' में आलिंगन के लिए प्रयत्नशील होकर भी विरही विवेक नहीं खो सकता क्योंकि उसमें बुद्धि प्रधान है—

घुंट जाते हैं हाथ चौखटे पर
यद्यपि यह पागलपन है,
रोम पुलक उठते हैं, यद्यपि
झूठी वह तन की सिहरन है

१. अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ १११
२. वही, पृष्ठ ११३
३. वही, इत्यलम्, पृष्ठ १२५

'हाथों का चौखटे पर घुंट कर रह जाना' बिलकुल नवीन अनुभाव है जिसका उद्भव, भावना और विवेक के संघर्ष से हुआ है।

करुण-विरह के शास्त्रीय रूप तथा नवीन रूप 'सम्बन्ध-विच्छेद', दोनों की अभिव्यक्ति अज्ञेय की कविताओं में मिलती है। शास्त्रीय करुण-विप्रलम्भ की एक नवीन परिस्थिति 'इत्यलम्' की 'द्वितीया' नामक कविता में प्राप्त होती है। चित्र एक ऐसे व्यक्ति का है जो द्वितीय विवाह हो जाने पर भी अपनी प्रथम मृत पत्नी को भुला नहीं सका है। द्वितीय पत्नी के प्रति मधुर सम्भाषण करता हुआ भी वह जानता है कि यह सम्भाषण उसके लिए नहीं है। वह पत्नी से कहता भी है—

मेरे सारे शब्द प्यार के
किसी दूर विगता के जूठे
... ...
मैं तुमको सम्बोधन कर
मीठी-मीठी बातें करता हूँ
किन्तु हृदय के भीतर किसकी
तीखी चोट सहा करता हूँ
बातें सच्ची हैं यद्यपि वे
नहीं तुम्हारी हो सकती है–
तुमसे झूठ कहूँ कैसे जब
उसके प्रति सच्चा रहता हूँ।[1]

इसको हम 'उद्वेग' की दशा मानते है। 'उद्वेग' दशा में विरही को प्रिय के ध्यान के अतिरिक्त कुछ अच्छा नहीं लगता, मन बेचैन रहता है।

करुण-विप्रलम्भ में यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि नायक अपने प्रणय में दोष स्वीकार करते हुए द्वितीय पत्नी के प्रति मनुहार भी प्रस्तुत करता है—

नहीं अंग खोकर लकड़ी पर
हृदय अपाहिज का थमता है
किन्तु उसी पर धीरे धीरे
पुनः धैर्य उसका जमता है
उर उसको धारे है फिर भी
तेरे लिये खुला जाता है—
उतना आतुर प्यार न हो पर
उतनी ही कोमल ममता है।
शायद यह भी धोखा ही हो
तब तुम सच मानोगी इतना

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १३२

एक तुम्हीं को दे देता हूँ
उससे बच जाता है जितना।[1]

मान और मनुहार के इस उपर्युक्त भाव को भी 'प्रणयमान' की स्वतंत्र विरहानुभूति न मानकर, करुण विरह का संचारी भाव ही मानना चाहिए क्योंकि कवि का लक्ष्य नायक की विवशता का वर्णन करके, मृत प्रियतमा के प्रति उसकी अनन्त अनुरागमयी विरह-वेदना को व्यक्त करना ही है। शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ काव्य में यह परिस्थिति पूर्ण रूप से मौलिक है।

करुण विरह का दूसरा रूप 'सम्बन्ध-विच्छेद' की विभिन्न परिस्थितियों और फलस्वरूप प्राप्त विरहानुभूतियों के विविध चित्रण मे प्राप्त होता है। एक परिस्थिति तो वह है जब नायक-नायिका दोनों परस्पर अनुरक्त हैं किन्तु सामाजिक स्थिति के कारण दोनों का चिरमिलन सम्भव नहीं है। ऐसे समय में वियोग की घड़ी जब उपस्थित होती है तब भावी पीड़ा की आशंका से कोई नायक कह उठता है—

उखड़ा सा दिन, उजड़ा सा नभ
उचटे से हेमन्ती बादल—
क्या इसी शून्य में खोएगा
अपने दुलार का अन्तिम पल?[2]

मन की अव्यवस्थित स्थिति के साथ, 'उखड़ा सा दिन, उजड़ा सा नभ' आदि प्राकृतिक परिस्थिति से साम्य व्यथा की व्यंजना को तीव्रतर कर रहा है। दूसरी परिस्थिति वह है जब एक पक्ष की उदासीनता के कारण मिलन सम्भव नहीं होता। परन्तु दूसरा पक्ष प्रतिदान के अभाव में भी अपने हृदय के प्रेम को जीवित रखने का प्रयास करता है, अपने हृदय के रक्त से वह अपनी पीड़ा को सींच-सींच कर बढ़ाया करता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मन के काल्पनिक आदर्श का एकपक्षीय प्रेम कहलाएगा और मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्मपीड़न में सुखानुभति की स्थिति। प्रियतम की अवहेलना को सहता हुआ कोई विरही कहता है—

लड़ना ही मेरा गौरव, मैं रण में विजयासक्त नहीं,
अपने को देने आया मैं वर का भूखा भक्त नहीं।
नहीं पसीजो, अवहेला में भी पनपेगा मेरा प्यार
क्या घुटघुट कर मरने वालों के उर होते आरक्त नहीं?[3]

प्रतिदान के अभाव में, विरही की निराशा कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि यदि उसे कुछ समय पश्चात् प्रिय के प्रेम का आभास मिलता भी है तो भी वह उसे स्वीकार नहीं करता—

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १३४
२. वही, चिन्ता, पृष्ठ ९३
३. वही, पृष्ठ ५२

क्षण भर पहले ही आ जाते।
प्राण सुधा को क्या तुम तब ऐसी बिखरी ही पाते
भरी भरी आँखों के प्यासे प्यासे सूने आँसू—
नहीं तुम्हारे ही चरणों क्या लोट-लोट लुट जाते।
× × ×
आज लग रहा क्षण क्षण युग सा, पर यदि यदि कुछ होता,
इस क्षण में ही कितने युग युग, हाय क्षणिक हो जाते॥[1]

'भरी भरी आँखों के प्यासे प्यासे सूने आँसू' प्रयोग बहुत सुन्दर है, व्यथा के साथ अतृप्ति का भाव उसमें निहित है। विरह में एक क्षण का युग के समान बीतना और यदि मिलन होता तो युग का भी क्षण के समान बीत जाना बहुत सुन्दर अभिव्यक्तियाँ हैं।

विरह को अपने जीवन के चरम सत्य के रूप मे स्वीकार करता हुआ यह विरही कहता है कि समय बीत जाने पर प्रतिदान का कोई लाभ नही—

देखे है क्या कभी शिशिर के सूखे पत्ते—
मधु में मधु के एक घूंट के लिए तरसते?
विफल प्रतीक्षा में ही उनके सुलग रहे होते हैं प्राण,
क्षण भर-फिर एकाएकी हो जाता उनका जीवन-त्राण।
फिर यदि झोंका आया—क्या आया।
मलय समीरण लाया—क्या लाया?[2]

यह विरही प्रिय के प्रति उदासीनता का आवरण यद्यपि अपने व्यक्तित्व पर आच्छादित रखता है किन्तु उसके हृदय के गहनतम गह्वर में मिलन की आशा बराबर विद्यमान रहती है। वह स्वयं से कहता है—

पूर्व-प्रेम अब भुला चुके हो,
आकर्षण को भुला चुके हो,
फिर क्यों प्रणयी, विजन स्थलों में
उससे मिलने को हो व्याकुल?[3]

विरह का दुख ही उसके लिए सुख बन जाता है।

एक कीर युग्म को साथ-साथ अप्रतिहत गति से उड़ता हुआ देखकर विरही को अपनी खोई हुई प्रियतमा की याद आ जाती है। अस्तित्व के बन्धन में बँधा हुआ होकर भी वह 'स्मृति' के पथ से अपनी प्रियतमा का सामीप्य अनुभव करता है—

देखकर वे दो उड़ते कीर—
कर उठा अन्तस्तल विद्रोह!
× ×

१. अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ ६२
२. वही, पृष्ठ ६२
३. वही, पृष्ठ ७१

मुझे बाँधे है यह अस्तित्व
मूक तुम, किस पर्दे के पार
किन्तु खाकर आस्था की चोट—
खुल गए बन्दीगृह के द्वार!
यही है मिलन मार्ग का सेतु
हृदय की यह स्मृति-प्यार पुकार
इसी में, रह कर भी विच्छिन्न
हमारा है अनन्त अभिसार।[1]

केकी के शब्द से विरही को अचानक अपनी प्रियतमा का उदास मुख याद आ जाता है। वह पुकार अंधकार को बेधती हुई विरही के व्रण को हरा करके लुप्त हो गई मानो मौन से व्रण को ढक लेना चाहती हो किन्तु स्निग्ध संस्पर्श युक्त तारे-सी मधुर स्मृति जो उदय हुई वह क्या ऐसे ही विलीन हो जाती?

एक क्षण! केकी की पुकार से फटा हुआ
रात का रहस्यगर्भ स्पन्दित तिमिर फिर
व्रण निज ढँक कर फैलकर मिल गया
जैसे कोई निराकार चेतना
जीवन की अल्पतम
अनुभव लहर की चोट सोख लेती है
और मानो चोट खाए स्थल को
देने को विशेष कोई स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना—
रात के कुहासे में से एक छोटा तारा फूट निकला।[2]

यहाँ कवि की शैली अत्यन्त व्यक्तिपरक और उलझी हुई हो गई है। स्थूल रूप से केकी के शब्द, हृदय के व्रण और तारे में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। किन्तु वस्तुतः केकी का रव उद्दीपन है और तारे-सी स्मृति आशा का प्रतीक। इसीसे प्रियतमा के मुख की स्मृति को तारा कहा है।

'हरी घास पर क्षण भर' में विरह सम्बन्धी कुछ संक्षिप्त उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक बन गई है। एक स्थान पर कवि प्रिया की स्मृति के सम्मुख अपने अहं की पराजय को स्वीकार करता है—

भोर बेला—नदी तट की घंटियों का नाद।
चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद।
नहीं, मुझको नही अपने दर्द का अभिमान—
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद।[3]

---

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १०७
२. वही, पृष्ठ १८१-१८२
३. वही, हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ १७

प्रभात काल में घंटी के शब्द से उद्दीपन का होना बिलकुल नवीन कल्पना है।

प्रकृति के उपकरण विरही के हेतु उद्दीपक तो होते ही है साथ ही वह उनमें अपनी भावनाओं का रूप भी देखता है—

कली री पलास की !
टिमटिमाती ज्योति मेरी आस की
या कि शिखा ऊर्ध्वमुखी मेरी दीप्त प्यास की।
वासना-सी मुखरा, वेदना-सी प्रखरा
दिगन्त में।[1]

ऋतु का मादक प्रभाव प्रियतमा पर भी पड़ेगा, इसी आशा से विरही कह उठता है—

प्रान्तर में प्रान्त में
खिल उठ, झूल जा, मस्त हो,
फैल जा वनान्त में—
मार्ग मेरे प्रणय का प्रशस्त हो ![2]

स्मृति के अतिरिक्त स्वप्न और अश्रु दशाओं के भी सुन्दर वर्णन अज्ञेय के काव्य में उपलब्ध होते हैं। 'तन्द्रा में अनुभूति, स्वप्न दशा की अत्यन्त सुन्दर कविता है—

उस तम घिरते नभ के पट पर
स्वप्न किरण रेखाओं से,
बैठ झरोखे में बुनता था
जाल मिलन के प्रिय ! तेरे ![3]

स्वप्न में प्रिय के साक्षात्कार के साथ, उसके लुप्त हो जाने की आशका विरही के मन में रहती है। उसका वर्णन कबीर के जोड का है—

बोला हृदय, 'लौटकर देखो—
प्रतिमा खो मत जाए कहीं।'
किन्तु कहीं वह स्वप्न न निकले
इससे साहस हुआ नही।[4]
(आँख न खोलूँ डरपता मत सपना ह्वै जाय)

अश्रु का आँख से बह जाना विरह की वेदना को कम करता है। भवभूति ने आँसू के महत्त्व का वर्णन उत्तर रामचरित में किया है।[5] अज्ञेय का विरही भी कहता है—

---

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १८५
२. वही, पृष्ठ १८६
३. वही, पृष्ठ १०५
४. वही, पृष्ठ १०५
५. देखिये—भारतीय काव्य में विरह भावना : भवभूति, द्वितीय अध्याय

प्रियतम आज बहुत दिन बाद !
आँखों में आँसू बन-चमकी तेरी कसक भरी सी याद
... ...
रो लेने दो मुझको जी भर
यही आज सुख सबसे बढ़कर।
मुझे न रोको आज कि मुझ पर छाया है
उत्कट उन्माद।[1]

विरह का ताप और वेदना की आर्द्रता मिलकर विश्वास के बादल का सृजन करती हैं। विरही के अनन्य विश्वास के विषय में अज्ञेय की यह नई सूझ है—

रो उठेगी जागकर जब वेदना
बहेगी लूहें विरह की उन्मना
उमड़ क्या आया करेगा हृदय में
सर्वदा विश्वास का वारिद घना ?[2]

आशा और भाव-राशि, दो ही निधियाँ विरही के पास ऐसी होती है जो उसकी मौन वेदना के स्पर्श को प्रिय तक पहुँचाती है, उनको अज्ञेय धूप की दो बत्तियाँ कहते हैं; जो मौन होकर भी प्रिय का संस्पर्श करती है—

ये तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं धूप की।
डोरियाँ दो गन्ध की
जो न बोलें
किन्तु तुझको छू सकें
जो
विदेही स्निग्ध बाहों से तुम्हें
वलयित किये रह जाएँ।
क्या है और मेरे पास ?
हाँ आस
मैं स्वयं तुम तक पहुँच सकता नहीं
पर भाव के कितने न जाने सेतु
अनुक्षण बाँधता हूँ।[3]

'धूप की बत्ती' को प्रतीक रूप में रखने में स्वयं को क्षार करके गन्ध के सृजन की ध्वनि भी निकलती है।

---

१. अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ १६४
२. वही, हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ २३
३. वही, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ ७८

'किसने देखा चाँद' नामक कविता में चाँद, विरही के नेत्र का अनझरा आँसू बन जाता है। चन्द्रमा के विषय में यह कवि की एकदम मौलिक कल्पना है—

किसने देखा चाँद
जिसने
उसे न चीन्हा एक अकेली आँखे
अकेला एक अनझरा आँसू
जीवन के इकलौते अपने दुख का
बँधी चिरन्तन आयासों से,
खुली अजाने अनायास
सीपी के भीतर का अनगढ़ मोती ?[1]

अज्ञेय के विरही में सम्बन्ध-विच्छेद से उत्पन्न कुण्ठा के स्थान पर एक नई आशावादिता मिलती है। 'अरमानों की धूल' होने पर भी वह ऐसे प्रणय को अनुभव की निधि के रूप में स्वीकार करता है। विरह के प्रति यह दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक प्रभाव के कारण उत्पन्न कहा जा सकता है। कोई नायक सम्बन्ध विच्छेद की घड़ी में प्रेयसी को सान्त्वना दे रहा है—

कैसे कहूँ 'भुला देना', कैसे यह भी 'मत जाना भूल'
कैसे कहूँ 'फूल मत होना' कैसे कहूँ कि 'होना शूल'।
शंकित मन जो मैं कहता हूँ, शंकित-मन ही तुम सुन लो,
नहीं तुम्हारी ही, यह है मेरे भी अरमानों की धूल ॥

तथा—

जीवन के गहरे अनुभव यों नहीं कभी भूले जाते।

और—

राह-राह के राही सहसा जब पथ पर मिल जाते हैं
चौराहे पर आकर क्या वे अलग नहीं हो जाते हैं ?
प्रणयघात होता है क्या तब जब उस घनिष्टता के बाद
आशापूर्ण हँसी हँसते वे तमसा में खो जाते हैं ?[2]

सम्बन्ध-विच्छेद के बाद पर्याप्त समय के बीत जाने पर कोई नायक विरह वेदना से तड़पता हुआ, अपने अपराध की स्वीकृति करता है और प्रियतमा से क्षमा याचना भी।

आह—
भूल मुझसे हुई—मेरा जागता है ज्ञान,
किन्तु यह जो गाँठ है साझी हमारी,

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ २१४
२. वही, चिन्ता, पृष्ठ ८२-८३

खोल सकता हूँ अकेला
कौन से अभिमान के बल पर ?
—हाँ तुम्हारे चेतना तल पर
तैर आए अगर मेरा ध्यान
और हो अम्लान
(चेतना के सलिल से धुल कर)
तो वही हो क्षमा की वेला[1]

विरह की इस व्यथा को 'आत्म-ग्लानि' की स्थिति कहा जा सकता है।

विरह का एक और नवीन रूप भी अज्ञेय के काव्य में उपलब्ध होता हैं। वह है दो अपरिचित व्यक्तियों का एक रात का मिलन और चिर वियोग। आधुनिक परिस्थिति की अराजकता से उत्पन्न इस स्थिति को यद्यपि प्रेम नहीं कहा जा सकता; वह वासना की क्षणिक तृप्ति ही है। परन्तु उस वासना के धुएँ में अज्ञेय ने कुछ उज्ज्वल कोमल भावों को जन्म दिया है। 'नाम तेरा' नामक कविता में कवि का नायक अपनी एक रात की साथी प्रियतमा से कहता है—

पूछ लूँ मै नाम तेरा
सोच मत, 'यह प्रश्न क्यों जब
अलग ही हैं मार्ग अपने ?'
सच नही होते इसी से
भूलता है कौन सपने ?
मोह हमको है नहीं पर
द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामाना हो
जाय तेरा और मेरा !
पूछ लूँ मै नाम तेरा[2]

यदि वासना ही लक्ष्य था तो नाम पूछने की क्या आवश्यकता थी ? किन्तु यहाँ 'मूर्ख उतना हूँ नही' में 'अह' से प्रेरित अवज्ञा होने पर भी 'इतना नहीं है भाग्य मेरा' मे व्यथा की ध्वनि है। नायक के यह शब्द उसके अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करते है।

और होगा मूर्ख जिसने
चिरमिलन की आस पाली—
'पा चुका—अपना चुका' है
कौन ऐसा भाग्यशाली ?

---

१. अज्ञेय—हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ३५
२. वही, इत्यलम्, पृष्ठ ११८

इस तड़ित को बाँध लेना
दैव से मैंने न माँगा—
मूर्ख उतना हूँ नहीं,
इतना नही है भाग्य मेरा!
पूछ लूं मैं नाम तेरा।[1]

'सोच मत' में आधुनिक परिस्थिति पर घोर व्यंग्य है जहाँ आर्थिक कठिनाइयों के कारण पुरुष स्वय को विवाह के उत्तरदायित्व में बाँधना नहीं चाहता और स्त्री 'खुले आम' न सही, शरीर बेचने को बाध्य होती है।

इस तरह अज्ञेय के काव्य मे विप्रलम्भ के अनेक रूप और विरह-वेदना की अनेक परिस्थितियाँ मिलती है। काव्य के परम्परित रूपों में जहाँ एक ओर अनेक नवीन उद्-भावनाएँ प्राप्त है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक परिस्थिति से उत्पन्न नई वियोग की परिस्थितियों और व्यथाओं का सकेत भी है।

गिरिजाकुमार माथुर

गिरिजाकुमार माथुर वस्तुतः प्रेम और विरह के कवि न होकर जन की व्यथा के कवि हैं। उन्होंने विरह-भावना से सम्बद्ध कुछ अधिक नहीं लिखा किन्तु जो कुछ भी लिखा है, वह अवहेलना के योग्य नहीं।

इस विषय में सबसे मुख्य बात जो इनकी कविता में प्राप्त हुई, वह यह है कि इस कवि से विरही को जीवन से असम्पृक्त, एकाकी, आँसू बहाते नही देखा है। उसे चुपचाप व्यथा का भार ढोते हुए भी जीवन-सघर्षों से जूझते पाया है। गिरिजाकुमार माथुर प्रेम और विरह के लम्बे-लम्बे उच्छ्वासों और मधुर कल्पनाओं के पीछे केवल एक सत्य मानते हैं और वह है 'शरीर की भूख'। उसके अनुसार दैनिक-जीवन की भट्टी में काल्पनिक आदर्शों के यह 'खोटे सिक्के' गल जाते है। 'धूप के धान' की 'प्रौढ़ रोमांस' नामक कविता में कवि कहता है—

पर मुझको है पता
कि बिछुड़ने की इन तीखी पीड़ाओं में
ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की इन बातों में
छिपा हुआ है भेद कौन-सा
तुम इस जीवन का निचोड़ जिसको कहते हो
वह सारा वेदान्त फ़लसफ़ा
काव्य कला की मधुर कल्पना
केवल शारीरिक है
आज नहीं मानोगे तुम मेरी बातों को

१. अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ ११६

नीरस सीख कहोगे जिनको
पर अपनी खिल्ली कल तुम्हीं उड़ाओगे
जब दैनिक जीवन की भट्टी में
गल जाएँगे खोटे सिक्के सारे मन के[1]

कवि का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वियोग-व्यथा होती नहीं अथवा प्रिय का अभाव खटकता नहीं है किन्तु वह यह अवश्य जानता है कि संघर्षमय जीवन में ऐसे रोने-धोने का कोई लाभ नही; वह व्यक्तित्व को अकर्मण्य बनाकर खोखला कर देता है।

कवि के अनुसार सच्चा विरही वही है जो प्रिय की सुधि को मन में रखकर संघर्षों से खेलता है। 'प्रौढ़ रोमास' में उन्होने गार्हस्थिक-विरह का वर्णन किया है—

हमको भी है ज्ञान विरह का
और मिलन का
यह मत समझो बरफ बन गया हृदय हमारा
.....

पर वह तुमसे बहुत भिन्न है
हम मन मे सुधि रखकर भी
है कर्मशील
हैं सघर्षों में डूबे भूले
.....

आज हमारे सम्मुख और समस्याएँ हैं
प्रश्न दूसरे
घर के, बाहर के, समाज के
.....

अब हमको सुधि की पीड़ा है नहीं सताती
केवल ध्यान यही आता है
आज न बच्चे घर में है कूड़ा करने को
खूब सफाई है आँगन, छत पर, कमरों में
पर कुछ खाली-खाली सी है
आज नहीं अच्छी लगती यह
पहले इस कूड़े-करकट से
मन में झुँझलाहट होती थी
आज वही बच्चों का कूड़ा याद आ रहा।[2]

'सुधि की पीड़ा' का यह रूप विरह-भावना के क्षेत्र में कवि की एकदम मौलिक

१. श्री गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २३
२. वही, पृष्ठ २४–२५

उद्भावना है। पत्नी की विरह-वेदना को कवि केवल ध्वनि रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

यह एकांत मकान
और उजली बाँहों सी यह दीवारें
नहीं समेट पा रहीं मुझको
और न दिन-भर की थकान को मिटा रही हैं।[1]

आधुनिक युग से पहले विरह-भावना जीवन की बहुमुखी अभिव्यंजना से दूर थी किन्तु अब वह उसके अत्यन्त समीप आ गई है। पत्नी के वियोग के साथ बच्चों के अभाव की अनुभूति विरह-वेदना को यथार्थ रूप प्रदान कर रही है। वात्सल्य का भाव संचारी बनकर विरहानुभूति को तीव्रतर कर रहा है। विरही की इस व्यथा में उदासी नहीं है क्योंकि वह कर्म के सौन्दर्य से संयुक्त है। कवि कहता है—

पर इनसे मन बोझल आज नहीं होता है
और न मुँह पर छाँह उदासी की आती है
.....
क्योंकि बड़ी भोली मिठास की सुधियाँ हैं ये
जीवन के मासूम सुखों की
तन के मन के स्वस्थ चैन की।[2]

काल्पनिक प्रेम के आदर्श को कवि ने 'खोटा सिक्का' इसलिए कहा है क्योंकि जीवन की वास्तविकता से वह स्थिर सत्य नहीं है—

और हृदय की कलियाँ खिलती देखीं
रुपयों की पूनों में
और प्यार के चाँद बुझ गए
जीवन की सड़कों पर आकर।[3]

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिकतम यथार्थवादी काव्य में विरह-भावना के परम्परागत मूल्य बदल रहे हैं। वह जीवन के ठोस सत्य से अपनी भाव सामग्री ग्रहण करने का प्रयत्न कर रही है इसीसे जीवन के अधिक समीप है।

गार्हस्थिक विरह की नवीन उद्भावना के अतिरिक्त गिरिजाकुमार माथुर की कविता में 'प्रवास' के दो-तीन और सुन्दर चित्र भी उपलब्ध हैं। इनमें पहला चित्र 'न्यूयार्क की शाम' नामक कविता है। नायक को सुदूर देश में अपना घर-बार याद आता है—

दुनिया एक मिट गई, टूटे
नया खिलौना ज्यों मिट्टी का

---

१. श्री गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान, पृष्ठ २५
२. वही, पृष्ठ २६
३. वही, पृष्ठ २४

आँसू की सी बूँद बन गया
मोती का संसार सलोनी
... ...

सभी पराया सभी अचीन्हा
रंग हजारों पर मन सूना
नभ भवनों में याद आ रहे
वे कच्चे घर द्वार सलोनी।[1]

'कच्चे घर द्वारों में बसा हुआ मोती का संसार प्रवास में केवल आँखों का अश्रु बनकर रह गया है' प्रयोग बहुत सुन्दर है।

अन्य दो चित्र ऋतु के उद्दीपक प्रभाव के हैं। इनमें पहला चित्र 'बसन्त' का और दूसरा 'पावस' का है। पहले में बसन्त से उद्दीप्त व्यथा को झेलती हुई कोई नायिका कहती हैं।

आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में
सखी साजे बसन्ती सिंगार
सेंदुर भरे अलकों में
चाँद के संग हँस
बात कहते रुकें
बाँह छोड़ें कसें
... ...

बीती जाय बसंती बहार
रैन बीते पलकों में
आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में[2]

यह गीत लोकगीतों के अत्यन्त समीप है और 'संदेश रासक' में दी गई 'विरह-गाथाओं' की परम्परा को सुरक्षित किये हुए हैं।

दूसरे चित्र में पावस के सौन्दर्य में कोई नायक अपनी प्रियतमा का रूप देखता है। दशा 'स्मृति' की है—

घन घुमड़न भुज बंधन के उन्माद सी
बढ़ती आती रात तुम्हारी याद सी
... ...

रात रसीली बूँदों वाली

१. श्री गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान, पृष्ठ ६२
२. वही, पृष्ठ ८५-८६

जैसे देह रसाल
यहाँ महक उठती मेंहदी की
वहाँ हाथ हैं लाल
विद्युत् दीपन कंगन की चमकार सी
अधर छुवन की सिहरन मंद फुहार सी
घन मतवाले काजल काले
जैसे लम्बे बाल··· ··· ··· .....
.....[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में प्राप्त विरह-भावना के विरल चित्र भी अपनी अनुभूति में अनुपम हैं। उनमें परम्परित विरह-व्यथा जितनी मार्मिक है उतनी ही उसकी नवीन उद्भावना भी। गार्हस्थिक विरह की नवीन उद्भावना जीवन के अधिक समीप होने से अत्यन्त हृदयस्पर्शी हो गयी है। इतना अवश्य है काल्पनिक आदर्श से प्रेरित एकान्तिक विरह-व्यथा को केवल 'शारीरिक भूख' और 'खोटा सिक्का' कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। वह केवल शरीर की भूख न होकर 'मन की भूख' भी है, यह दूसरी बात है कि सामाजिक परिस्थिति उसे प्रश्रय न देती हो परन्तु वह सदा अर्थ पर आश्रित नहीं है। भौतिकता की कसौटियाँ चाहे उसको झूठा प्रमाणित करती हों किन्तु इससे मानव मन की वह चिरन्तन 'भूख' कल्पनिक नहीं हो जाती। व्यक्ति जीवन के साथ उस 'भूख' का समझौता करके स्वस्थ रूप में उसे दे सके यह दूसरी बात है।

धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती के काव्य का मुख्य स्वर रूढ़ियों के प्रति आक्रोश और प्रेमियों के सम्बन्ध-विच्छेद की विरह-व्यथा है। 'ठंडा लोहा' संग्रह की प्रथम कविता 'ठंडा लोहा' समाज की जीर्ण रूढ़ियों का प्रतीक है। रूढ़ियों के बन्धनों के विषय में कवि कहता है कि यह मनुष्य के रक्त की उष्णता और जीवन की स्पंदना, सबको ठंडा कर देते हैं।

ठंडा लोहा ! ठंडा लोहा ! ठंडा लोहा !
मेरी दुखती हुई रगों पर ठंडा लोहा !
मेरी स्वप्न भरी पलकों पर
मेरे गीत भरे होंठों पर
मेरी दर्द भरी आत्मा पर
स्वप्न नहीं अब
गीत नहीं अब
दर्द नहीं अब

१. श्री गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान, पृष्ठ १०९

एक पर्त ठंडे लोहे की।
मैं जम कर लोहा बन जाऊँ—
हार मान लूँ—
यही शर्त ठंडे लोहे की।[1]

प्रेम और मर्यादा (सामाजिक बन्धन) का मानव-जीवन में सदा से संघर्ष चला आ रहा है। रूढ़ि के बन्धन के कारण अपनी प्रियतमा को खोकर कोई प्रेमी कल्पना में उससे निवेदन करता है, चित्र ग्रामीण जीवन का है—

अगर डोला कभी इस राह से गुजरे कुबेला
यहाँ अम्बवा तरे रुक
एक पल विश्राम लेना
मिलो जब गाँव भर से, बात कहना बात सुनना
भूल कर मेरा
न हर्गिज नाम लेना,
अगर कोई सखी कुछ ज़िक्र मेरा छेड़ बैठे
हँसी में टाल देना बात
आँसू थाम लेना
.....

नींद में खो जाय जब
खामोश डाली आम की
तड़पती पगडण्डियों से पूछना मेरा पता—
तुमको बताएँगी कथा मेरी
व्यथा हर शाम की
.....

राह में पाकड़ तले
सुनसान पाकर
प्रीत ही सब कुछ नहीं है, लोक की मरजाद है सबसे बड़ी
बोलना रुँधते गले से—
"ले चलो! जल्दी चलो! पी के नगर।"[2]

'सम्बन्ध-विच्छेद' की करुण व्यथा ही इसको कहा जा सकता है।

'सम्बन्ध-विच्छेद' के पश्चात् यदि भूल से प्रियपात्र कोई पत्र प्रेमी को लिख देता है तो वह उस विरही की व्यथा को उद्दीप्त ही करता है। ऐसे एक पत्र के उत्तर में दिए

---

१. श्री धर्मवीर भारती—ठंडा लोहा, पृष्ठ ९
२. वही, पृष्ठ १८-१९

गए पत्र का विवरण धर्मवीर भारती ने दिया है। उत्तर में दिये गए पत्र का प्रारम्भ इस तरह है—

तुम्हारी पाती मिली अबोध, तुम्हारी पाती मिली अजान
तुम्हारी पाती मिली अजान, कि जैसे मृदु नवजीवन दान
कि जैसे दो पानी की बूंद, धधकता भीषण रेगिस्तान
कि जैसे घिरी घटा के बीच, चपल बिजली की मृदु मुस्कान[1]

यह पत्र विरही की व्यथा को 'नवजीवन दान' तो देता है किन्तु 'धधकते रेगिस्तान में मिली पानी की दो बूंद' जैसे अतृप्ति की भड़कती प्यास को और भी तीव्रतर कर देती हैं वैसे ही वेदना को उकसाता भी है—

लिखा तुमने भेजूं पत्र, मगर मेरे अक्षर अनजान
फिसल जाते है मुझसे दूर, सहम चुप हो जाते अरमान
फड़क उठते हैं मेरे होंठ, होंठ में घुट रह जाते गान
× × ×
ये माना जब थीं मेरे पास, तृप्त था तन मुग्ध था मन,
गुदगुदाता था कलियों को, कभी हँस हँस कर मलय पवन
और अब, मैं अब माँझी एक अकेला दुर्बल बाहु पसार
जरा बढने को करता यत्न मगर पड़ते उल्टे पतवार

स्थिति की इस विवशता को विरही जीवन के ठोस सत्य के रूप में स्वीकार करता हुआ कहता है—

मगर यह सूनापन तो नहीं, यही तो है जीवन की राह
मिलन में मादकता हो मगर विरह में भी तो कितनी चाह

असह्य व्यथा झेलकर भी विरही प्रेम-पात्र के सम्मुख हल्का पड़ना नहीं चाहता। भारती का विरही कहता है—

न मुझसे आशा रक्खो, प्राण कि मैं गूँथूंगा आँसू हार
कि मैं लेकर दो मुरझे फूल, करूँ मृत जीवन का शृंगार
× × ×
तुम्हारी चोट तुम्हारी भेंट करूँ उसको रोकर स्वीकार ?
नहीं इतने दुर्बल हैं प्राण, नहीं इतना दुर्बल है प्यार !

अन्तिम पंक्तियों में व्यंग अत्यन्त कटु हो गया है। व्यंग की कटुता आगे और बढ़ गई है—

अरे पर जाने यह क्या क्या, भूल लिख गया तुम्हारे पास
मृदुल तुम किसलय सी अनमोल, न सह पाओगी मेरा हास

---

१. श्री धर्मवीर भारती—ठंडा लोहा, पृष्ठ ३७

रहो तुम आँसू से संतुष्ट करो तुम पीड़ा पर विश्वास
तुम्हारी खातिर कह दूँ प्राण कि जीवन सूना हृदय उदास

'बातचीत का एक टुकड़ा' नामक कविता में कवि ने 'सम्बन्ध-विच्छेद' की पीड़ा को बड़े करुण स्वरों में मुखरित किया है। 'बिछोह' के बहुत दिन बाद दो प्रेमी मिले हैं। नायक विरही अपनी विरह-व्यथा को दिग्दर्शित करने के लिए दुख का रोना नहीं रोता प्रत्युत अपनी दिनचर्या के विषय में कुछ परिचय देता है—

देखा !
अब मैं पहले से कितना बेहतर हूँ—
तुम मेरी लापरवाही पर सिर धुनती थी
अब रहन सहन में कितनी स्वच्छ व्यवस्था है।
तरतीबवार इस ओर किताबें सजी हुईं
यह एलबम है
.....
न अब अपनी शामें बरबाद नहीं करता
कुछ काम-काज में हरदम खोया रहता हूँ[1]

जीवन को सुव्यवस्थित बनाने का यह प्रयत्न वैसा ही है जैसे अंधेरे से डरा हुआ कोई व्यक्ति अपने-आप को भुलावा देता हुआ कहे कि वह डरा हुआ नहीं है; मन की अव्यवस्थित दशा को वह अधिक सूचित करता है। 'उद्वेग' दशा की यह अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी काव्य की ही निधि है। उससे पहले उसका यह रूप प्राप्त नहीं होता।

प्रत्युत्तर में नायिका का केवल चुपचाप रोना उसके हृदय की मार्मिक व्यथा का सुन्दर अभिव्यंजक है। उभयपक्षी व्यथा का परस्पर विनियम चाय के प्याले पर होने से उसकी ध्वनि तीव्रतर हो जाती है—

पर यह क्या पागल !
मैं बेहतर हूँ सुख से हूँ,
पर इसमें ऐसी कौन बात है रोने की ?
जाने दो—
लो यह चाय पियो !

धर्मवीर भारती के काव्य में 'सम्बन्ध विच्छेद' की विरह-व्यथा का कारण विश्वासघात न होकर रूढ़ियाँ हैं जो दो प्रेमियों को एकता के सूत्र में बँधने नहीं देतीं।

करुण विरह की उपर्युक्त अभिव्यंजना के अतिरिक्त पूर्वराग और मान-मनुहार के दो एक सुन्दर चित्र भी 'भारती' के काव्य में उपलब्ध हैं।

'पूर्वराग' में धर्मवीर भारती ने ऐसी नायिका का वर्णन किया है जो नदी के एकान्त घाट पर नायक से मुठभेड़ कर चुकी है। नायक की ओर से प्रेम की प्रथम अभि-

१. श्री धर्मवीर भारती—ठंडा लोहा, पृष्ठ ७७

व्यक्ति होने के पश्चात् नायिका के मन की जो 'उद्विग्न स्थिति' होती है, उसका ब्योरा सुनिए—

अब तो नींद निगोड़ी सपनों सपनों भटकी डोले
कभी कभी तो बड़े सकारे कोयल ऐसे बोले
ज्यों सोते में किसी बिसैली नागन ने हो काटा
मेरे संग संग अक्सर चौंक चौंक उठता सन्नाटा
पर फिर भी कुछ कभी न जाहिर करती हूँ इस डर से
कहीं न कोई कह दे कुछ, ये ऋतु इतनी बदनाम है !
ये फागुन की शाम है।[1]

ये गीत लोकगीतों की शैली का ही है। अनुभूति में कुछ विशिष्टिता न होने पर भी 'कोयल के बोल का नागन की तरह काटना और नायिका के साथ सन्नाटे के चौंक उठने' के प्रयोग बहुत सुन्दर हैं। नायिका को सदा यह भय रहता है कि उसके हृदयगत भाव कहीं अभिव्यक्त न हो जाएँ।

लज्जा से सकुची हुई किसी नवोढ़ा को मनाता हुआ कोई नायक कहता है—

फूलों के कंधों पर सिर धर
सो रही तितलियाँ अलसा कर,
कुछ चुपके से समझा जाता यह मस्त फिजाँ का सूनापन
अम्बर से बरस रहे रिमझिम,
मनहरन निमंत्रन, आलिंगन, मीठी मनुहारें विष चुम्बन
यह नहीं लाज की बेला प्रिय।[2]

दृश्य, लज्जा से उत्पन्न प्रणयमान की मनुहार का है।

विरह-व्यथा में ऋतु के उद्दीपक प्रभाव को व्यक्त करता हुआ कोई विरही कहता है—

ओस में भीगी हुई अमराइयों को चूमता
झूमता आता मलय का एक झोंका सर्द
काँपती मन की मुँदी मासूम कलियाँ काँपती
और खुशबू सा बिखर जाता हृदय का दर्द।[3]

मलय पवन से मन की मुँदी कलियों (स्मृतियों) के काँप कर खुल जाने पर दर्द रूपी सुगन्ध के बिखर जाने की कल्पना बहुत सुन्दर है। मुक्तक की चित्रमयता का इस मुक्तक में पूर्ण निर्वाह हुआ है।

---

१. श्री धर्मवीर भारती—ठंडा लोहा, पृष्ठ २१
२. वही, पृष्ठ २७
३. वही

इस तरह धर्मवीर भारती के काव्य में विरह-व्यथा के विविध रूप प्राप्त हैं। 'सम्बन्ध-विच्छेद' की विरह-व्यथा के मूल कारण रूढ़ियों के प्रति इस कवि में आक्रोश तो है किन्तु विद्रोह का भाव नहीं। धर्मवीर भारती का विरही रूढ़ियों के अंकुश को चुपचाप स्वीकार करता हुआ, उससे त्रस्त, बिलबिलाया रोया करता है। किन्तु रोने में वह संयम की मर्यादा को भंग नहीं करता, आधुनिक बौद्धिकता से उसे आश्वासन दिया करता है।

उपसंहार

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक काल का प्रारम्भ १८५७ ई० की क्रान्ति से माना जाता है। १८५७ ई० के भयंकर भूचाल में भी सामन्ती व्यवस्था के जो जीर्ण-शीर्ण खण्डहर बच गए थे; उनका आश्रय लेकर इस युग की शृंगारी कविता पलती, रही इसी से नवीनता उसे स्पर्श करके उज्ज्वल न बना सकी। भारतेन्दुयुगीन शृंगारी कवि अपनी विषय सामग्री का आधार कहीं-कहीं भक्तिकाव्य और अधिकांशतः रीतिसाहित्य से ग्रहण करता रहा। यदि वह चाहता तो युग-चेतना के अनुकूल अपनी संस्कृति और इतिहास से शृंगार के स्थलों का चयन करके उनकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर सकता था; वह उसकी सामाजिक परिस्थितियों के अधिक अनुरूप होता। अतः जो कुछ उसने लिखा वह परम्परा का पिष्टपेषण मात्र रह गया। कला पक्ष में अवश्य कजरी विरहा आदि नवीन छन्दों की उद्भावनाएँ हुईं। भारतेन्दुयुगीन कविता के विषय में श्रीयुत विनयमोहन शर्माजी का मन्तव्य उपयुक्त ही है—

"हमारे साहित्य में, वर्षों से 'भोग शृंगार' (जिसमें काम-शास्त्र की ही पद्यबद्ध विवेचना है) की जो लहर बह रही थी, वह हरिश्चन्द्र-काल में एकदम कैसे रुक सकती थी ? हाँ, उसमें एक परिवर्तन अवश्य हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कवि 'नारी' के शरीर तक ही अपनी दृष्टि दौड़ा सके, वहाँ भारतेन्दु काल के कवियों ने उसके अतिरिक्त भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने चारों ओर झाँकने का प्रयास किया।"[१]

शृंगार फलतः विरह-भावना के क्षेत्र में भी भारतेन्दु युग में पूर्व परम्परा के समक्ष कोई मौलिक परिवर्तन उपलब्ध नहीं होता। विरह के पूर्वराग, मान और प्रवास विभेद अपने परम्परागत रूप में ही मिलते हैं। रीतिकाल में 'मान' का वर्णन विशद रूप से हुआ था किन्तु भारतेन्दु युग में बहुत विरल है। अधिकांश विरह-वर्णन 'प्रवास' विप्रलम्भ के हैं जिनमें प्रोषितपतिकाओं के अनुभावों की विविध अनुभूतियाँ और उन पर 'शकुन' आदि के प्रभाव सुष्ठु रूप से व्यक्त हैं। षट्ऋतु, बारहमासा आदि के विस्तृत वर्णन भी इस काव्य में प्राप्त हैं। करुण विप्रलम्भ अपने परम्परागत रूप में नहीं मिलता किन्तु विश्वासघाती प्रिय के प्रति अनन्त प्रेम सजोने के रूप में प्राप्त हो जाता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से उसे एक पक्ष की उदासीनता से उत्पन्न 'सम्बन्ध-विच्छेद' की स्थिति कह सकते हैं। शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ तथा 'सम्बन्ध विच्छेद' से उत्पन्न करुण विप्रलम्भ की

१. श्री विनयमोहन शर्मा—कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ, पृष्ठ ४

विरह-भावना में कोई मूलगत अन्तर नहीं हैं। यह ठीक है कि शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ के समान यहाँ प्रिय का स्थूल अनिष्ट नहीं होता किन्तु फिर भी प्रेमी के लिए उसे इस जीवन में प्राप्त करना दूभर हो जाता है। प्रिय का अस्तित्व उसके लिए हुआ न हुआ बराबर है। केवल काल्पनिक मूर्ति को हृदय में सँजोए ही वह जन्म-जन्मान्तर में भी उससे मिलने की कामना करता है; आशा का परित्याग नहीं करता। करुण विप्रलम्भ में 'सम्बन्ध-विच्छेद' की जिस मर्मस्पर्शी विरहानुभूति का इस युग में संकेत मात्र मिलता है वह आगे चलकर आधुनिक युग की विरह-भावना की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गई। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग से पहले के हिन्दी काव्य में भी यद्यपि उपलब्ध है किन्तु वहाँ धार्मिकता का गहरा आवरण उस पर चढ़ा हुआ है। यह आवरण आधुनिक युग में हट गया।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते-होते परिस्थिति बदल चुकी थी। अंग्रेजी सत्ता के दृढ़ पाँव भारत भूमि पर जम चुके थे। राजनीतिक दासता के साथ सामाजिक और नैतिक पतन से देश की व्यवस्था विशृंखल हो गई थी। संगठन के अभाव में विदेशी सत्ता के खुले विरोध की इनी-गिनी आवाजों का कोई मूल्य न था। (खुले विद्रोह का अर्थ उस समय कारागार था) अतः इस समय के मनीषियों ने भारत के सांस्कृति जागरण का सन्देश देकर, भारतीयों की पराधीनता की बेड़ियों में कसी हुई सुप्त आत्मा को जगाकर स्वतन्त्रता के मार्ग को प्रशस्त करने का कार्य किया।

सांस्कृतिक जागरण के लिए उन्होंने भारतीय इतिहास और पुराण के उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन चरितों को चुना जिनका सम्बन्ध भारतीयता के गौरव से अविच्छिन्न था। द्विवेदी युग में सांस्कृतिक-प्रबन्ध-काव्यों की एक बाढ़ आई जिनकी परम्परा उन्हीं के उद्देश्यों को आदर्श बनाकर आज तक चली आ रही है। कहीं-कही इनमें पात्र काल्पनिक भी हैं।

प्रबन्ध काव्यों में शृंगार तथा विरह-भावना की अभिव्यक्ति और विकास को नवीन अवसर प्राप्त हुआ। विरह-भावना किसी निर्जन एकान्त में बैठे विरही की करुण-गाथा न रही प्रत्युत जीवन की स्पन्दना से गति प्राप्त करने लगी; वह गति जो जीवन की अनेक रूपिणी परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता में परिवर्तित होती रहती है। विरही का संयम और स्वार्थ-बलिदान लोकादर्शों को सम्बल प्रदान करने लगा। सीता, यशोधरा, उर्मिला, माण्डवी, राधा, श्रद्धा और धन्यमालिनी (रावण की स्त्री) के चरित्रों की नई व्याख्याएँ प्रकाश में आईं। कुब्जा जैसे उपेक्षित पात्र के हृदय की धड़कन भी इस युग के कवि ने सुनी। पौराणिक कथाओं के पुनःकथन में विस्मृत चरित्र फिर से जीवित हो गए—राजकुमारी मित्रविन्दा, नूरजहाँ, अनारकली आदि। पौराणिक कथाओं की पुनर्व्याख्या में आधुनिक कवि ने बहुत-से ऐसे चरित्रों का उद्धार भी किया है जो आज तक हेय समझे जाते रहे हैं। ऐसा एक चरित्र तिष्यरक्षिता का है। कुणाल की विमाता भर होने से काव्यशास्त्री की नैतिक दृष्टि में उसके हृदय का सहज उच्छलन, उष्ण रक्त की

माँग हेय बन गई है। 'गुरुजन गतत्व' की विपरीत स्थिति में वह 'रसाभास' है किन्तु मनोविज्ञान से परिचित आज के कवि ने उसके प्रेम और विरह की पवित्रता को घोषित करते हुए उसे रस की कोटि में ला बैठाया है। प्रतिशोध में कुणाल की आँखें निकलवाना भी विरह-भावना की 'परपीड़न' वृत्ति का सहज परिणाम था।

विरह-वर्णन में यथास्थान अनेक मार्मिक विरहानुभूतियों का उद्रेक होता रहा। परम्परागत बारहमासा, ऋतुवर्णन आदि भी विरह की उद्दीप्ति में स्थान पाते रहे किन्तु उनका वर्णन कवि का लक्ष्य न था। 'मेघदूत' की पद्धति के विरह-सन्देश पवनदूति, नदीदूति और चन्द्रदूत आदि के द्वारा भेजे जाते रहे। विरह को जीवन की महान् प्रेरणा-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया।

एक ओर जहाँ प्रबन्ध-काव्यों में जीवन से सम्पृक्त विरह-भावना की विविध अभिव्यक्ति का अवकाश था, वहाँ दूसरी ओर गीति-काव्य की वैयक्तिक अभिव्यक्ति में प्रम और विरह से सम्बद्ध भावों के व्यक्तिकरण को हेय समझा जाता था। द्विवेदी युग के कठोर अंकुश में रहनेवाले युवक के सन्मुख हृदय के राग-द्वेष की अभिव्यक्ति के सब मार्ग अवरुद्ध थे। एक ओर पश्चिम की संस्कृति और अंग्रेजी ढंग की सहशिक्षा का प्रचार रोमानी स्वच्छन्द प्रेम के स्वप्न जगा रहे थे, दूसरी ओर मध्ययुग की जर्जर सामन्ती रूढ़ियाँ अपने बन्धन ढीले करने को तैयार न थीं। निदान उस काल का भावुक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व में डाँवाडोल हो रहा था।

मन के भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति में अवरोध होने से वृत्तियों का अन्तर्मुखी हो जाना स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति में विरह के तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति को भावुक ने अन्तर्मुखी करके धीरे-धीरे सूक्ष्म रूप देने का प्रयत्न किया और प्रकृति के प्रतीक रूपों में उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढ़ लिया। यही प्रवृत्ति छायावादी विरह-भावना की मूल प्रेरक प्रवृत्ति थी। छायावाद के चारों महास्तम्भों—प्रसाद, महादेवी, पन्त, निराला—में लौकिक विरह-भावना की यह प्रवृत्ति अविच्छिन्न भाव से मिलती है किन्तु मानसीकरण के कारण वह सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते-होते छायात्मक बन गई और कवि की वैयक्तिक व्यथा-सी न लगकर प्रकृति के कण-कण में व्याप्त व्यथा का आभास देने लगी। प्रसाद में 'झरना' से लेकर 'लहर' तक उसकी अविच्छिन्न धारा मिलती है। पन्त का समस्त काव्य उससे ओत-प्रोत है यद्यपि प्रारम्भिक कृतियों में इस विषय में उनका स्वर अत्यन्त दबा हुआ है। महादेवी जो इस बुद्धिवादी युग की मीरा कहलाती हैं, वह भी इसके प्रभाव से अक्षुण्ण व अछूती नहीं कही जा सकतीं, चाहे वह अपार्थिवता का कितना ही गहरा आवरण अपनी समस्त विरहानुभूतियों पर चढ़ाने का प्रयास क्यों न करें। उनके प्रियतम के प्रति विश्वासघात और अवहेलना के उपालम्भ अमूर्त ब्रह्म के प्रति नहीं हो सकते। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी वैयक्तिक व्यथा को सफलता से अपार्थिव के प्रति उन्नयनित करने का प्रयत्न किया है जैसा कि निराशा के घोर क्षणों में कोई भी समझदार भावुक कर सकता है। एक निराला ही इन सबमें ऐसा निराला है जिसने हाड़-मांस के मनुष्य की

सुख-दुखानुभूति, आशा-निराशा, मिलन और विरह को प्रारम्भ से ही निर्व्याज रूप में व्यक्त किया और यथास्थान अपने समय की जीर्ण रूढ़ियों का भी खुला विरोध किया।

छायावादी कवियों की विरहानुभूति का एक दूसरा मोड़ अपार्थिव के प्रति प्रणय अर्थात् रहस्यवादी विरहानुभूति के रूप में व्यक्त हुआ। वास्तव में काव्यशास्त्र की 'देव-विषयादि रति' ही रहस्यवादी विरहानुभूति का मूल प्रेरक तत्त्व है। 'देवविषयादि रति' को काव्यशास्त्रियों ने 'रसाभास' माना है किन्तु अपार्थिव के गोचर रूप का आलम्बन प्राप्त करती हुई माधुर्य भक्ति और अगोचर रूप का सम्बल ग्रहण करने वाली रहस्यानुभूति इसका प्रमाण है कि वह रस है, रसाभास नहीं। आधुनिक युग की रहस्यानुभूति भावना से अधिक विचार तथा अनुभूति से अधिक मनन और अध्ययन पर आश्रित है। इसी से आज के कवि को उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के वृहद् ताने-बाने बुनने पड़े हैं। अपनी वैयक्तिक पीड़ा को ब्रह्म के प्रति उन्नयनित करने के लिए भावुक को वेद उपनिषदों की देववाणी का दृढ़ आधार मिल गया (यथा प्रियया भार्यायाः संपरिष्वक्तो न बाह्ये किंचन वेद नान्तरम्'—वृहदारण्यक) और उसकी अजस्र धारा बह निकली। मध्ययुगीन रहस्य-वादी प्रणय-साधना में कष्टसाध्य साधना का बड़ा आधार था, आधुनिक कवि ने केवल उसके मुधुर पक्ष को ग्रहण किया। फिर भी आधुनिक कवि की विरह-भावना अमूर्त की कल्पना में अधिक देर तक नहीं टिक सकी और उसने उसके व्यक्त रूप जगत् के प्रति अपने हृदय का सम्पूर्ण स्नेह अर्पित कर दिया। वैयक्तिक विरहानुभूति का लोककल्याण के रूप में यह उन्नयन अत्यन्त स्वस्थ परिणति है; स्नेह के लिए भूखी मानवता के लिए वह वरदान है।

सन् १९३५ ई० के आसपास काव्य के क्षेत्र में छायावाद की रोमानी कल्पना और रूप विधान के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट होने लगी। छायावादी कवि भारतीय आध्यात्मिकता और ईश्वर कल्पना के मोह को नहीं त्याग सके थे। इसी से भारतीय अद्वैतवाद उनकी पीड़ा का सम्बल पाकर 'भावात्मक सर्ववाद' के रूप में परिणत हो सका। किन्तु परवर्ती साहित्य पर भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रभाव गहरा होता गया। किसी काल्पनिक ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन हास्यास्पद समझा जाने लगा।

ईश्वर की कल्पना से वंचित होकर भौतिकवादी कवि अधिक आत्मनिष्ठ भाव से अहं की रक्षा करने के लिए तत्पर हो गया। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र ने 'मन के जीवन' के सम्बन्ध में अनेक रहस्यपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया। उसके प्रभाव से मन के साथ शरीर की भूख की स्पष्ट स्वीकृति सम्भव हो सकी। इस युग से पूर्व आत्मपीड़ा अथवा वैयक्तिक रति की अभिव्यक्ति को काव्य में हेय समझा जाता था। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतरकर भौतिक धरातल पर आत्मपरक कविता लिखना शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकार से वर्जित ही था।[1]

वैयक्तिक पीड़ा और विरह-भावना की स्वच्छन्द स्पष्ट अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति

१. डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६३

यद्यपि छायावादी कवियों के काव्य में ही यत्र-तत्र प्राप्त होने लगती है, किन्तु बच्चन के काव्य में प्रथम बार वह स्पष्ट धारा बनकर अभिव्यक्त हुई। बच्चन आधुनिक कवि के 'मानस' के वह भावस्तम्भ हैं जहाँ पुरातन के मोह को त्याग कर भी वह नवीन को पूर्णतः नहीं अपना पाया है। धर्म, समाज और रूढ़ि का विरोध करते हुए भी वह प्रेम को केवल भौतिक सत्य के रूप में स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा सका है। इसी से वह छायावादियों की भाँति जग को ब्रह्म की सत्ता का विराट् रूप मानकर उसमें आत्मा की पीड़ा का विलय न कर सका; न प्रेम को शुद्ध क्षुधा और काम के रूप में स्वीकार कर सका। मन की इसी घुमड़न ने उनके काव्य में विरह-भावना को एक 'क्षणिक रंगीनवाद' का रूप दिया जिसका बाह्य रंगीन होते हुए भी अन्तर् व्यथा से ओत-प्रोत है।

परवर्ती कवियों ने मन की घुमड़न के उस रूप का जो बच्चन की रचनाओं में प्राप्त है, घोर विरोध किया। नरेन्द्र शर्मा से लेकर अंचल, सुमन, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती सब ने मन के साथ शरीर की भूख को विरह की सहज स्वाभाविक वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। फलतः जो प्रेम और विरह-काव्य हिन्दी में इस युग में लिखा गया है, वह पूर्ववर्त्ती विरह-काव्य के सन्मुख अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। परम्परित विरह-व्यथा इस व्यथा से मलिन-सी प्रतीत होने लगती है। परम्परा प्रेमी इस बात को कभी स्वीकार न कर सकेगा कि युवक-युवती के क्षण-भर के मिलन की चाह और वियोग वेदना भी विरह की उज्ज्वल भावना हो सकती है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि सामाजिक परिस्थितिजन्य विवशता होने पर भी इस काव्य की क्षणिक तृप्ति और मिलन में सम्पूर्ण जीवन की कसक और वेदना व्याप्त है। अतः इसको विरह की उज्ज्वल गाथाओं से असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता। एकाध कवि को छोड़कर इस युग का भौतिक से भौतिकवादी कवि भी मिलन की चाह को केवल क्षणिक तृप्ति नहीं बना सका है। कसक को हृदय में रखकर जीवन से संघर्ष करने का आग्रह इन सब कवियों का है। अतः उनकी विरह-भावना निराशा से उद्भूत होकर भी एकान्त में बैठकर रोने वाली नहीं है, जीवन-प्रवृत्ति की प्रेरक है। हृदय को अतृप्ति की अग्नि में जीवन पर्यन्त सुलगाने वाली आधुनिक कवि की विरह-गाथा को प्रस्तुत प्रबन्ध में करुण विप्रलम्भ का एक विभेद ही मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त पूर्वराग, प्रवास और मान के हृदयस्पर्शी वर्णन भी यथास्थान प्राप्त होते रहते हैं। शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ की अन्य नवीन मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ भी इस काव्य में प्राप्त हैं। ऋतुवर्णन भी पहले की अपेक्षा मानवीय भावना के अधिक समीप है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विरह-भावना आधुनिक हिन्दी-काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। आलोच्य काल से पूर्व वह या तो राजा-रानियों की करुण गाथा थी या अपार्थिव के प्रति प्रणय-निवेदन। किसी एकाकी विरही के रोने-धोने के रूप में भी वह कहीं-कहीं प्राप्त हो जाती है किन्तु जीवन की गति से असम्पृक्त थी।

आधुनिक युग की गति में विरह-भावना जीवन के प्रवाह से अविच्छिन्न रूप में

गुंथ गई। साधारण जन को काव्य में उसकी आत्माभिव्यक्ति का अवकाश तो मिला ही, साथ में उसे जीवन और संस्कृति की महान् प्रेरणा-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया। भौतिकता के स्थूल वस्तुवादी युग में विरह-भावना हृदय के मूल्यों को सुरक्षित रख सकी, यह भी सौभाग्य की ही बात है। भविष्य का कवि उन मूल्यों को कहाँ तक प्रश्रय देगा, यह अज्ञात के गर्भ में है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत पुस्तकें

ऋग्वेद	अथर्ववेद	ईशोपनिषद्	कठोपनिषद्
केनोपनिषद्	मुंडकोपनिषद्	वृहदारण्यक	महाभारत
मनुस्मृति	शतपथ ब्राह्मण	सूक्ति मुक्तावली	सुभाषितावली
हाल सतसई			

अभिनवगुप्त	अभिनव-भारती
	ध्वन्यालोचन
अमरचन्द्र	काव्यकल्पलतावृत्ति
अमरुक	अमरुक शतक
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
उदभट्	काव्यालंकार-सार-संग्रह
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवित
कुलपति	रस रहस्य
कालिदास	कुमारसम्भव
	रघुवंश
	शाकुन्तलम्
	विक्रमोर्वशीयम्
	मेघदूत
गदाधर भट्ट	रसिक जीवन
जगन्नाथ पंडितराज	रसगंगाधर (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)
जयदेव	चन्द्रालोक (जयकिशन दास हरिदास गुप्ता)
जयदेव	गीत गोविन्द
दण्डी	काव्यादर्श
दिङ्नाग	कुन्दमाला
भरत	नाट्यशास्त्र (काशी संस्कृत सीरीज़)
भर्तृहरि	शृंगार शतक

भामह	काव्यालंकार
भानुदत्त	रस-मंजरी
भोजराज	शृंगार प्रकाश
	सरस्वती कंठाभरण
मम्मट	काव्यप्रकाश
महिमभट्ट	व्यक्ति-विवेक
राजशेखर	साहित्य मीमांसा
रुद्रट	काव्यालंकार
रूप गोस्वामी	उज्ज्वल नीलमणि
वाग्भट्ट प्रथम	वाग्भट्टलंकार
वाग्भट्ट द्वितीय	काव्यानुशासन
वामन	काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति
विद्याधर	एकावली (बम्बई संस्कृत सीरीज़)
विद्यानाथ	प्रतापरुद्र-यशोभूषण
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
शारदातनय	भावप्रकाश
हेमचन्द्र	काव्यानुशासन
क्षेमेन्द्र	औचित्य विचार-चर्चा

हिन्दी पुस्तकें

अंचल	अपराजिता
	वर्षान्त के बादल
अब्दुलरहमान	संदेश रासक
अज्ञेय	इत्यलम्
	चिन्ता
	हरी घास पर क्षण भर
	इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
उमाकान्त गोयल	मैथिलीशरण गुप्त (कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता)
उमाशंकर शुक्ल	सेनापति कृत कवित्त रत्नाकर
कन्हैयालाल	साकेत के नवम् सर्ग का काव्याख्यान
कन्हैयालाल सहल	साकेत के नवम् सर्ग का काव्य वैभव
किशोरीलाल गुप्त	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि
	प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन

केशव	रसिक प्रिया
के० एल० गुप्ता	प्रसाद : विकासात्मक अध्ययन
कृष्णकुमार सिन्हा	गुप्तजी की यशोधरा
गगाप्रसाद पाण्डेय	महाप्राण निराला
	महादेवी का विवेचनात्मक अध्ययन
	कामायनी : एक परिचय
गिरिजाकुमार माथुर	धूप के धान
गिरिजादत्त शुक्ल	गुप्तजी की काव्यधारा
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	महाकवि 'हरिऔध'
गुरु भक्तसिंह	नूरजहाँ
गुलाब राय	सिद्धान्त और अध्ययन
	प्रसादजी की कला
गोकुलनाथ	चैत चन्द्रिका
जगन्नाथ 'रत्नाकर'	बिहारी 'रत्नाकर'
	उद्धव शतक
जयशंकर प्रसाद	आँसू
	झरना
	लहर
	कानन कुसुम
	कामायनी
	काव्यकला और अन्य निबन्ध
तुलसीदास	रामचरितमानस
	बरवै रामायण
	कवितावली
	दोहावली
	गीतावली
द्वारकाप्रसाद मिश्र	कृष्णायन
धर्मवीर भारती	ठंडा लोहा
धीरेन्द्र वर्मा	सूरसागर सार
धर्मेन्द्र	गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा
नकछेदी तिवारी	मनोमंजरी (नखशिख व शृंगार की कलिकाएँ) ४ भाग
नगेन्द्र	आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ
	रीतिकाव्य की भूमिका भाग १, २

नगेन्द्र	विचार और विश्लेषण
	विचार और अनुभूति
	रीति शृंगार
	सुमित्रानन्दन पंत
	साकेत : एक अध्ययन
	हिन्दी ध्वन्यालोक
नंददास	रुक्मिणी-मंगल
नंददुलारे वाजपेयी	जयशंकर प्रसाद
निराला	पंत और पल्लव
	अनामिका
	परिमल
	गीतिका
	आराधना
	तुलसीदास
नरेन्द्र शर्मा	मिट्टी और फूल
	प्रवासी के गीत
	पलाशवन
	हंसमाला
	अग्निशस्य
नागरी प्रचारिणी सभा	ढोला मारूरा दूहा
	भारतेन्दु ग्रन्थावली
पंत	वीणा
	ग्रन्थि
	पल्लव
	गुंजन
	युगवाणी
	युगान्त
	ग्राम्या
	स्वर्णकिरण
	स्वर्णधूलि
	उत्तरा
	वाणी
परमानन्द सुहाने द्वारा संगृहीत	षट्ऋतु हजारा

परशुराम चतुर्वेदी	मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ
	मध्यकालीन प्रेम प्रवाह
पुरुषोत्तम शर्मा	हिन्दी रस गंगाधर
बलदेवप्रसाद मिश्र	साकेत संत
भगवानदीन	बिहारी बोधिनी
भगवतीचरण वर्मा	मधुकण
भागीरथ दीक्षित	महादेवी काव्य परिशीलन
महादेवी वर्मा	यामा
	दीपशिखा
मैथिलीशरण गुप्त	साकेत
	यशोधरा
	जयद्रथ वध
	शकुन्तला
	द्वापर
	जयभारत
	विष्णुप्रिया
	हिडम्बा
रामचन्द्र शुक्ल	रस मीमांसा
	हिन्दी साहित्य का इतिहास
	जायसी ग्रन्थावली
	तुलसीदास
	तुलसी ग्रन्थावली
रामनाथ 'सुमन'	कवि प्रसाद की काव्य-साधना
रामनरेश त्रिपाठी	स्वप्न
	पथिक
रामानन्द तिवारी शास्त्री	पार्वती
रामवृक्ष बेनीपुरी	विद्यापति की पदावली
रामविलास शर्मा	निराला
रामलालसिंह	कामायनी अनुशीलन
रामरतन भटनागर	प्रसाद : साहित्य और समीक्षा
रामेश्वरदत्त खंडेलवाल	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य
राहुल सांकृत्यायन	रूप गोस्वामी
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००)

लक्ष्मीनारायण टंडन	महादेवी वर्मा और नीरजा
	कवि प्रसाद और आँसू
विनयमोहन शर्मा	कवि प्रसाद 'आँसू' तथा अन्य कृतियाँ
विपिनबिहारी त्रिवेदी	चन्द वरदाई और उनका काव्य
विशम्भर 'मानव'	महादेवी की रहस्य-साधना
	सुमित्रानन्दन पंत
विशम्भरनाथ	पंतजी का नूतन काव्य व दर्शन
श्यामसुन्दर दास	कबीर ग्रन्थावली
शम्भूनाथ पाण्डेय	आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद
शम्भूप्रसाद बहुगुना	घनानन्द
	विरहियों की प्रेम-भावना
शचीरानी गुर्टू	महादेवी वर्मा : काव्य-कला
शिवकुमार मिश्र	कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा
शिवमंगलसिंह 'सुमन'	पर आँखे नहीं भरीं
	विश्वास बढ़ता ही गया
	महादेवी की काव्य-साधना
शिवचन्द्र नागर	महादेवी विचार और व्यक्तित्व
स्नातक सहल	कामायनी दर्शन
सावित्री सिन्हा	मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ
सूर्यकिरण पारीक व रामसिंह	बेली क्रिस्न रुक्मिणी री राठौर राज प्रिथी राज री कही
एस० एल० सिन्हा	महादेवी वर्मा
सत्यजीवन वर्मा	वीसलदेव रासो
सोहनलाल द्विवेदी	कुणाल
	उर्वशी
श्री कृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
हरदयालुसिंह	रावण महाकाव्य
हरिऔध (अयोध्यासिंह उपाध्याय)	प्रिय प्रवास
	वैदेही वनवास
	रस कलस
हरिशंकर शर्मा	रस रत्नाकर
हरिहरनाथ टंडन	पद्मावती समय
हरिवंशराय 'बच्चन'	आकुल-अन्तर
	मिलन-यामिनी

हरिवंशराय 'बच्चन'	हलाहल
	सतरंगिणी
	एकान्त संगीत
	निशा निमन्त्रण
	मधुकलश
	मधुशाला
	मधुबाला
	खैय्याम की मधुशाला
	प्रारम्भिक रचनाएँ भाग १, २
हरिवंश कोछड़	अपभ्रंश काव्य
हफीजुल्लाह खाँ	हजारा भाग १, २
हजारीप्रसाद द्विवेदी व नामवरसिंह	संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

अंग्रेजी पुस्तकें

1. A. H. Burlton allen	'A Study in the Psychology of Human Actions'
2. Adler	'Individual Psychology'
3. Allen S.	'Pleasure and Instincts'
4. Altekar	'Position of Women in Hindu Society'
5. Butcher	'Poetry & Fine Arts' (Tragedy-Aristotle)
6. Balwin	'Dictionary of Philosophy & Psychology'
7. Claude A. Claremont	'Innumerable Instincts of Man'
8. D. N. Bose aud Hiralal	'Tantras–their philosophy and occult secrets'
9. Freud's	'Three Essays on Theory of Sexuality' translated by James Strachy
10. Helene Deutsch M.D.	'Psychology of Women'
11. Havelock Ellis	'Psychology of Sex'
12. Jung	'Personality and Problems of Adjustment'
13. J. C. Hugel	'Men and their Motives'
14. Keith	'Religion and Philosophy of Vedas'
15. Martin Baber	'I and Thou'
16. Mac Dougall	'Outlines of Psychology'
17. P. Phillippe	'De La Santa Trinite in Etudes Carnelitaines, April, 1936' (La Recherche de la Personee)

18. Robert Barton ✓ Edited by Rev. A. R. Shillot 'Anat of Melancholy'
19. Sushil Kumar De 'Treatment of Love' (1929)
20. Van-de-Velder 'Ideal Marriage'
21. Kinsay 'Kinsay Report'
22. V. Raghvan 'Number of Rasas'
23. Weinenger 'Sex and Character'
24. J. W Davis and J. Estlin Carpenter 'Deegh nikaya'

●